BHĀṢĀ-VIJÑĀNA EVAM BHĀṢĀ-ŚĀSTRA

[Comparative Philology & General Linguistics]

[*Category* : Hindi Language/Linguistics]

by

Dr. Kapil Deva Dvivedi

ISBN : 978-93-5146-042-8

पंचदश: संस्करण : 2016 ई०

[15th Edition : 2016]

Publisher | प्रकाशक

VISHWAVIDYALAYA PRAKASHAN | **विश्वविद्यालय प्रकाशन**

Post Box No. 1149, Vishalakshi Building, | पोस्ट बॉक्स नं० 1149, विशालाक्षी भवन,

Chowk, Varanasi - 221001 | चौक, वाराणसी-221 001

[U.P. INDIA] | [उत्तर प्रदेश, भारत]

Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082

E-mail : vvpbooks@gmail.com • sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-221 001

आत्म-निवेदन

ग्रन्थ-लेखन का उद्देश्य—मैं १९४४ ई० से अब तक भाषाविज्ञान विषय के अध्ययन और अध्यापन काल में यह अनुभव करता रहा हूँ कि हिन्दी भाषा में भाषाशास्त्र विषय पर प्रामाणिक एवं सुरुचिपूर्ण ग्रन्थों का अभाव है। स्नातकोत्तर कक्षाओं के अध्यापन में अध्यापकों को भी अंग्रेजी में लिखी हुई पुस्तकों का ही आश्रय लेना पड़ता है। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के प्रतिष्ठित होने पर भी प्रामाणिक एवं सर्व-विषयावगाही भाषाशास्त्र की पुस्तकों का हिन्दी में अभाव निरन्तर हृदय को पीडित कर रहा था। इसी अभाव की पूर्ति के लिए यह तुच्छ प्रयत्न किया गया है। आशा है भाषाशास्त्र के प्रेमी अध्यापकों, विद्वानों एवं अध्येताओं का इससे मनस्तोष होगा।

व्याकरण को व्याधिकारक 'व्याकरणं व्याधिकरणम्' कहा जाता है। इसी प्रकार भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र को शिर:शूलकर समझा जाता है—'भाषा-विज्ञानमेतद् हि शिर:शूलकरं परम्', 'भाषाशास्त्रं व्याधिकरम्'। विषय को अरुचिकर या नीरस ढंग से प्रस्तुत करना ही इसका प्रमुख कारण है। मैंने प्रयत्न किया है कि इस कठिन विषय को सरल, सुबोध और रोचक ढंग से प्रस्तुत किया जाए। मुझे पूर्ण विश्वास है कि कोई भी व्युत्पन्न अध्येता एक बार इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ने पर लेखक की इस उक्ति का समर्थन करेगा।

इस ग्रन्थ में प्रयत्न किया गया है कि भाषा-विज्ञान और भाषाशास्त्र का कोई भी महत्त्वपूर्ण विषय छूटने न पावे। ग्रन्थ के आकार की विशालता के परिहारार्थ कुछ उपयोगी विषय एवं विवरण छोड़ने पड़े हैं या अत्यन्त संक्षेप में देने पड़े हैं। तदर्थ लेखक क्षम्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्वनिविज्ञान (Phonetics) और स्वनिम-विज्ञान (Phonemics) विषय पर विशेष महत्त्वपूर्ण सामग्री दी गई है। स्व-निर्मित श्लोकों के द्वारा पारिभाषिक शब्दों आदि की व्याख्या की गई है। इनसे विषय सरलता से स्मरण हो सकेगा। जर्मन, फ्रेंच, चीनी, अरबी आदि भाषाओं के विषय में पर्याप्त उपयोगी सामग्री दी गई है। संस्कृत के प्रामाणिक ग्रन्थों से यथास्थान उपयुक्त उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। इस ग्रन्थ में लेखक का उद्देश्य है—सरलता, संक्षेप और प्रामाणिकता। मल्लिनाथ के शब्दों में कह सकते हैं—

नामूलं लिख्यते किंचिद्, नानपेक्षितमुच्यते।

ग्रन्थ की कतिपय विशेषताएँ

१. विषय को सरल, सुबोध एवं रोचक ढंग से प्रस्तुत करना।
२. भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र का एकत्र समन्वय।
३. भाषाशास्त्र में हुए नवीनतम अनुसंधानों का संकलन।
४. प्राचीन भारतीय वाङ्मय में प्राप्त भाषाशास्त्रीय तथ्यों का संग्रह।
५. भाषाशास्त्र की आधारशिला पाणिनीय व्याकरण का विवेचन।
६. भाषा के स्वरूप का शास्त्रीय विवेचन।
७. 'भाषा की उत्पत्ति' विषय पर नवीन मन्तव्य की स्थापना।
८. बोलने और सुनने की प्रक्रिया का वैज्ञानिक निरूपण।
९. प्रायोगिक ध्वनिविज्ञान का विस्तृत प्रतिपादन।
१०. ध्वनिविज्ञान का विस्तृत विवेचन।
११. विशिष्ट चित्रों द्वारा ध्वनिविज्ञान का स्पष्टीकरण।
१२. स्वनिम, रूपिम, पदिम, अर्थिम आदि का विस्तृत विवेचन।
१३. संस्कृत और अवेस्ता की तुलना।
१४. संस्कृत की संधियों का भाषावैज्ञानिक विवेचन।
१५. पारिभाषिक शब्दों आदि के लिए संस्कृत में श्लोक।

कृतज्ञता-प्रकाशन

मैंने इस ग्रन्थ के लेखन में पाश्चात्त्य और पौरस्त्य सभी विशिष्ट भाषाशास्त्रियों के ग्रन्थों से सहायता ली है। अतः मैं उन सभी विद्वान् भाषाशास्त्रियों के प्रति श्रद्धावनत हूँ। प्रस्तुत ग्रन्थ में जहाँ से भी उपयोगी सामग्री मिली है, उसे अपनाया गया है। 'गागर में सागर' की प्रक्रिया को आधार बनाया गया है। जिन विशिष्ट आचार्यों एवं भाषाशास्त्रियों के ग्रन्थों से विशेष सहायता ली गई है, उनके प्रति विशेष कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं—प्राचीन भारतीय आचार्य—यास्क, पाणिनि, पतंजलि, भर्तृहरि; नवीन भारतीय भाषाशास्त्री—गुणे, तारापोरवाला; पाश्चात्त्य भाषाशास्त्री—ब्लूमफील्ड, ब्लॉख और ट्रैगर, ओटो येस्पर्सन, आर०ए० हाल, आर०एच० रोबिन्स, एच०ए० ग्लीसन, वान्द्रियैज़, डेनियल जोन्स, टी० बरो।

आशा है कि यह ग्रन्थ भाषाशास्त्र के प्रेमी संस्कृत एवं हिन्दी के अध्यापकों और छात्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगा। ग्रन्थ के विषय में उपयोगी संशोधन, परिवर्तन आदि के विचार साभार स्वीकार किये जायेंगे।

शान्तिनिकेतन, ज्ञानपुर (वाराणसी)
कपिलदेव द्विवेदी
दिनांक २६-८-८० ई०
(श्रावणी, २०३७ वि०)

विषय-सूची

पृष्ठ

अध्याय ३

भाषा का स्वरूप, उद्गम और विकास — ५१-१०३

अध्याय ४

ध्वनि-विज्ञान (Phonetics) — १०५-१९८

अध्याय ५

ध्वनि-विचार १९९-२५१

अध्याय ६

पद-विज्ञान (Morphology) २५३-२६१

अध्याय ७

वाक्य-विज्ञान (Syntax) २९३-३१७

अध्याय ८

अर्थविज्ञान (Semantics) ३१६-३५२

अध्याय ९

भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण (Morphological Classification of Languages) ३५३-३६७

*

चित्र-परिचय

❋

यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्। (ऋग्वेद १०-११४-८)

❋

येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा
अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन्। (ऋग्वेद १-६२-२)

❋

पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः।
उप मा देवीर्देवेभिरेत। (अथर्ववेद ७-७५-२)

❋

अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः। (अथर्ववेद ९-१०-२)

❋

आत्मा वै पदम्। (कौषीतकि ब्राह्मण २३-६)

❋

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।
(ब्रह्मबिन्दूपनिषत्, श्लोक १७)

❋

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा
भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥
(ऋग्वेद १०-१२५-३)

❋

एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः
स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।
(महाभाष्य आह्निक १ में उद्धृत)

अध्याय १

सामान्य परिचय

१. भाषा-विज्ञान क्या है?
२. भाषा-विज्ञान का नामकरण
३. भाषा-विज्ञान की परिभाषा
४. भाषा-विज्ञान का क्षेत्र
५. भाषा-विज्ञान के अंग
६. भाषा-विज्ञान की शाखाएँ
७. भाषा-विज्ञान विज्ञान है या कला?
८. भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्र
९. भाषा-विज्ञान की उपयोगिता
१०. भाषा-विज्ञान और अन्य शास्त्र

अध्याय १

सामान्य परिचय

१.१. भाषा–विज्ञान क्या है?

मानव अपने भावों को व्यक्त करने के लिए जिस सार्थक मौखिक साधन को अपनाता है, वह भाषा है। यद्यपि संकेत आदि के द्वारा भी कुछ भावों की अभिव्यक्ति हो जाती है, परन्तु अपने भावों को सूक्ष्म और स्पष्ट रूप में व्यक्त करने का साधन भाषा ही है। मनन, चिन्तन और विचार का साधन भी भाषा ही है। भाषा ही वह एक जींवन-ज्योति है, जो एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करती है। मानव के विचार ही उसका समाज से सम्पर्क स्थापित करते हैं। यह सम्पर्क भाषा के माध्यम से ही होता है। यदि मनुष्य के पास भाषा जैसा अमोघ अस्त्र न होता तो मनुष्य भी पशु-पक्षियों के तुल्य अपने भावों को अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रकट करने में असमर्थ रहता। विश्व के प्रत्येक देश में कोई न कोई भाषा बोली जाती है और वही उनके विचार-विनिमय का माध्यम है। यह भाषा वस्तुतः मानव-शरीर में दैवी अंश है, जो इस सृष्टि में केवल मनुष्य मात्र को ही प्राप्त है।[1] यह दिव्य ज्योति ही समस्त संसार में अपना प्रकाश फैलाए हुए है। इस भाषारूपी ज्योति के बिना संसार घोर अन्धकारमय होता।[2]

भाषारूपी इस दैवी अंश के द्वारा ही मनुष्य इस संसार में सर्वोत्तम जीव माना जाता है। वह अपने वाग्-व्यवहार के द्वारा ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए है। साथ ही वह चर और अचर जगत् का स्वामी भी भाषा के कारण बना हुआ है। इससे भाषा के महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है। वैदिक ऋषियों ने सर्वप्रथम ऋग्वेद (मण्डल १०, सूक्त १२५) में वाग् सूक्त के ८ मंत्रों में इस विषय की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि वाक्-तत्त्व या भाषा ही वह दिव्य ज्योति है जो मानव को ऋषि, देवता या विद्वान् बनाती है।[3]

इससे स्पष्ट है कि व्यावहारिक दृष्टि से भाषा की कितनी उपयोगिता है। भाषा का

---

१. वागूरूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
   न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ (वाक्यपदीय १-१२४)

२. इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
   यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥ (काव्यादर्श १-४)

३. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
   यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ (ऋग्वेद १०-१२५-५)

महत्त्व स्वीकार करते ही भाषा-विषयक अनेक जिज्ञासाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं। जैसे—भाषा क्या है? भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई? भाषा कैसे बनती है? भाषा का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है? भाषा के सूक्ष्मतम अवयव क्या हैं? उनकी उच्चारणविधि क्या है? विश्व की भाषाओं का परस्पर क्या सम्बन्ध है? इत्यादि। इन जिज्ञासाओं का समाधान करने के लिए शताब्दियों से प्रयत्न चालू रहे हैं। शताब्दियों ही नहीं, सहस्राब्दियों के बाद आज भाषा-विज्ञान एक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित हो सका है। इधर लगभग २०० वर्षों से पाश्चात्त्य देशों में भी इस विषय पर गम्भीर मनन और चिन्तन हुआ है। सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) ने १७८६ ई० में संस्कृत भाषा का अध्ययन करते समय संस्कृत की लैटिन और ग्रीक से अनेक अंशों में समानता प्राप्त की और इनके तुलनात्मक अध्ययन पर बल दिया।[1] इस प्रकार संस्कृत भाषा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की मूल बनी। सर विलियम जोन्स द्वारा डाली हुई नींव ही आज विकसित, पुष्पित और पल्लवित होकर भाषा-विज्ञान के रूप में प्रसिद्ध है।

भाषा-विज्ञान भाषा-सम्बन्धी सभी प्रश्नों और समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है या प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध विश्व की समस्त भाषाओं से है। अत: वह एक भाषा से सम्बद्ध विषयों का ही नहीं, अपितु विश्व की समस्त भाषाओं का सामूहिक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। प्रत्येक भाषा का व्याकरण उसकी रूप-सिद्धि, पद-निर्माण और वाक्य-प्रयोग की शिक्षा देता है। परन्तु भाषा-विज्ञान व्याकरण का व्याकरण होने के कारण ध्वनि-परिवर्तन आदि सभी दिशाओं में उसके कारण की भी व्याख्या करता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान व्याकरण-दर्शन कहा जायेगा, क्योंकि यह भाषा के दार्शनिक रूप को भी स्पष्ट करता है।

भाषा-विज्ञान भाषा के उच्चारण, प्रयोग और उपयोग की शिक्षा देता है। भाषा के विभिन्न अंगों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करता है। भाषा के सर्वांगीण विवेचन के साथ ही उसे जीवनोपयोगी भी बनाता है। भाषा-विज्ञान विश्व-भाषा-शिक्षण में अत्यन्त सहायक है। यह विश्व की विभिन्न भाषाओं की समानता की स्थापना करके विश्व-एकता और विश्व-बन्धुत्व का भाव जागृत करता है।

---

१. सर विलियम जोन्स का कथन मूलरूप में यह है—

The Sanskrit Language, whatever may be its antiquity, is of a wonderful structure; more perfect than the Greek, more copious than the Latin, and more exquisitely refined than either; yet bearing to both of them a stronger affinity, both in the roots of verbs and in the forms of grammar, than could have been produced by accident; so strong that no philologer could examine the Sanskrit, Greek, and Latin, without believing them to have sprung from some common source, which, perhaps, no longer exists. There is a similar reason, though not quite so forcible, for supposing that both the Gothic and the Celtic had the same origin with the Sanskrit.

—Quoted by R.H. Robins : *A Short History of Linguistics*, p. 134.

१.२. भाषा–विज्ञान का नामकरण

भाषा-विज्ञान शब्द मूलरूप में पाश्चात्त्य विद्वानों की देन है। प्राचीन समय में भाषा-विषयक विभिन्न अंगों के अध्ययन के लिए अलग-अलग शब्द प्रचलित थे। जैसे—शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण, प्रातिशाख्य आदि। इनका सम्बन्ध भाषा के किसी अंग-विशेष से रहता था। वर्तमान भाषा-विज्ञान का प्रारम्भ १७८६ ई० में सर विलियम जोन्स के संस्कृत, लैटिन, ग्रीक के तुलनात्मक अध्ययन के संकेत से हुआ। भाषा-विज्ञान को पाश्चात्त्य देशों में कई नाम दिये गये हैं। सर्वप्रथम इसे कम्पेरेटिव ग्रामर (Comparative Grammar) नाम दिया गया। इस नाम को अधिक शुद्ध न मानकर कम्पेरेटिव फिलॉलोजी (Comparative Philology) नाम दिया गया। भाषा-विज्ञान सदा कम्पेरेटिव (तुलनात्मक) ही होता है, अतः इसके लिए केवल फिलॉलोजी नाम अधिक पसन्द किया गया। इसके लिए ग्लासोलोजी (Glossology) का प्रयोग डेवीज़ ने १८१७ ई० में प्रस्तुत किया। इसी प्रकार १८४१ ई० में प्रिचर्ड द्वारा ग्लाटोलोजी (Glottology) नाम भी प्रस्तुत किया गया। परन्तु यह नाम अधिक समय न चल सका।

फिलॉलोजी शब्द आज तक प्रचलित है। अंग्रेजी में इसके लिए साइंस ऑफ लेंग्वेज (Science of Language) नाम भी चलता है। यह नाम कुछ लम्बा लघु-वाक्य सा लगता था, अतः इसके लिए वर्तमान अधिक प्रचलित नाम लिंग्विस्टिक्स (Linguistics) है। यह शब्द लैटिन के लिंगुआ (Lingua, जीभ) से बना है। भाषा-विज्ञान के अर्थ में लेंगिस्तीक (Linguistique) शब्द आज भी फ्रांस में प्रचलित है। वहीं से यह लिंग्विस्टिक नाम अंग्रेजी भाषा में लिया गया। १९वीं शताब्दी के षष्ठ दशक में यह लिंग्विस्टिक से लिंग्विस्टिक्स (Linguistics) रूप में परिवर्तित हुआ है। जर्मन भाषा में भाषा-विज्ञान के लिए Sprachwissenschaft (स्प्राखविस्सेनशाफ्ट) नाम है। रूसी भाषा में भाषा-विज्ञान के लिए 'यज़िकाज्नानिये' शब्द है। इसमें 'यज़िक' का अर्थ भाषा है और 'ज्नानिये' का अर्थ विज्ञान है।

फिलॉलोजी (Philology) शब्द ग्रीक भाषा के दो शब्दों को मिलाकर बना है। फिलो-ग्रीक फिलोस (Philos) प्रेमी या प्रिय, लोजी-ग्रीक लोगिया (Logia) एवं लैटिन भाषा के लोगिया (Logia) (ज्ञान की शाखा या विज्ञान) शब्दों के मेल से बना है। फिलॉलोजी शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम १३८६ ई० में मिलता है। परन्तु भाषा-विज्ञान अर्थ में इसका प्रयोग १८वीं शताब्दी के दूसरे दशक से ही मिलता है। आधुनिक विद्वान् इसके साथ कम्पेरेटिव (तुलनात्मक) शब्द को जोड़ना पसन्द नहीं करते हैं।

प्राचीन समय में भाषा-विज्ञान-विषयक अध्ययन के लिए व्याकरण, शब्दानुशासन, शब्दशास्त्र, निर्वचन शास्त्र आदि शब्द प्रचलित थे। वर्तमान समय में इस अर्थ में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, भाषा-विज्ञान, भाषा-शास्त्र, तुलनात्मक भाषा-शास्त्र, शब्द-शास्त्र, भाषिकी आदि शब्द प्रचलित हैं। इनमें से भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्र ये दो शब्द आज सबसे अधिक व्यवहृत हो रहे हैं। भाषा-विज्ञान में भाषा-सम्बन्धी सभी प्रकार के विवेचन का समावेश हो जाता है, अतः भाषा-विज्ञान शब्द अधिक प्रचलित है। इधर

कुछ समय से लिंग्विस्टिक्स (Linguistics) शब्द का अधिक प्रचलन है, अतः उसके लिए भाषाशास्त्र शब्द का प्रयोग विशेष रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्र ये दोनों शब्द फिलॉलोजी और लिंग्विस्टिक्स के रूपान्तरण या भावानुवाद समझने चाहिए।

१.३. भाषा–विज्ञान की परिभाषा

भाषा के विशिष्ट ज्ञान को भाषा-विज्ञान कहते हैं। '**भाषायाः विज्ञानम्—भाषा-विज्ञानम्**'। '**विशिष्टं ज्ञानम्—विज्ञानम्**'। भाषा के वैज्ञानिक और विवेचनात्मक अध्ययन को भाषा-विज्ञान कहा जाएगा। संक्षेप में भाषा-विज्ञान का लक्षण किया जा सकता है—

'**भाषा-विज्ञान वह विज्ञान है, जिसमें भाषा का सर्वांगीण विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।**'

भाषाया यत्तु विज्ञानं, सर्वाङ्गं व्याकृतात्मकम् ।
विज्ञानदृष्टिमूलं तद्, भाषाविज्ञानमुच्यते ॥ (कपिलस्य)

अनेक विद्वानों ने भाषा-विज्ञान की अनेक परिभाषाएँ दी हैं, जिसमें उन्होंने भाषा के विभिन्न पक्षों का संकलन किया है। किसी ने भाषा की उत्पत्ति आदि का संग्रह किया है; किसी ने सामान्य भाषा और विशिष्ट भाषा का संग्रह किया है; किसी ने भाषा के अध्ययन की विधियों को उसके अन्तर्गत रखा है और किसी ने भाषा की रचना, तुलना, प्रयोग आदि को स्थान दिया है। किसी ने उन तथ्यों का संग्रह किया है, जिनके द्वारा भाषा में परिवर्तन आदि होते हैं। वस्तुतः भाषा-विज्ञान की परिभाषा में अध्ययन के प्रकारों, भाषा के स्वरूप एवं परिवर्तन के कारणों आदि का पूर्णतया उल्लेख न सम्भव है, न अभीष्ट ही है। सर्वांगीण संग्रह करने पर भाषा-विज्ञान की परिभाषा एक बृहत् वाग्जाल हो जाएगा।[1]

---

१. भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र की भारतीय और पाश्चात्त्य विद्वानों ने जो परिभाषाएँ दी हैं, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

(1.) Comparative Philology or simply Philology is the Science of Language. Philology strictly means the study of a language from the literary point of view.

—Dr. P.D. Gune, *An Introduction to Comparative Philology*, p. 1.

२. भाषा-विज्ञान उस विज्ञान को कहते हैं, जिसमें सामान्य रूप से मानवीय भाषा का, किसी विशेष भाषा की रचना और इतिहास का, और अन्ततः भाषाओं, प्रादेशिक भाषाओं या बोलियों के वर्गों की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

—डॉ० मंगलदेव शास्त्री, तुलनात्मक भाषाशास्त्र, पृ० ३।

३. (क) भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को ही भाषा-विज्ञान कहते हैं। वैज्ञानिक अध्ययन से हमारा तात्पर्य सम्यक् रूप से भाषा के बाहरी और भीतरी रूप एवं विकास आदि के अध्ययन से है। (*शेष अगले पृष्ठ पर*)

यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि भाषा-विज्ञान को भौतिकी आदि के तुल्य विज्ञान मानना उचित है या नहीं? भौतिकी आदि के नियम गणित-विज्ञान के तुल्य तत्त्वनिष्ठ होते हैं। जैसे—दो तत्त्वों के संयोग से यह परिणाम उत्पन्न होता है। भौतिक-विज्ञान, रसायन-विज्ञान और गणित-विज्ञान इसकी पुष्टि करेगा कि २ + २ = ४ ही होता है। यह ३ या ५ नहीं हो सकता। परन्तु भाषा-विज्ञान में ऐसी इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती है। दो ध्वनियों के मेल से एक भाषा में एक प्रकार का परिवर्तन लक्षित होता है, दूसरी भाषा में दूसरे प्रकार का। अतः यह कहा जा सकता है कि भाषा-विज्ञान में विज्ञान शब्द तात्त्विक आलोचना, तात्त्विक दर्शन और तात्त्विक विश्लेषण के आधार पर है। जिस प्रकार विज्ञान प्रत्येक वस्तु के अंग-प्रत्यंग एवं सूक्ष्मतम अवयव का विवेचन और विश्लेषण करता है, उसी प्रकार भाषा-विज्ञान वर्ण, पद और वाक्य के सूक्ष्मतम अवयवों का विवेचन एवं विश्लेषण करता है। विज्ञान का उद्देश्य है—कार्य-कारण-भाव की नित्यता की स्थापना। विज्ञान बताता है कि अमुक कारण की सत्ता से अमुक कार्य होता है। भाषा-विज्ञान भी इस कार्य-कारण-भाव को अपनाता है। यह बताता है कि इन विभिन्न परिस्थितियों में ये परिवर्तन होते हैं। इन कारणों के फलस्वरूप ये कार्य होंगे। भौतिक-विज्ञान आदि में अपवाद नहीं माने जाते, परन्तु भाषा-विज्ञान में अपवादों की संख्या भी पर्याप्त है। इसमें नियम और अनुभूति दोनों का समन्वय है, अतः यह शुद्ध विज्ञान न होकर मिश्रित विज्ञान है।

१.४. भाषा-विज्ञान का क्षेत्र

अन्य विज्ञानों के तुल्य भाषा-विज्ञान का क्षेत्र भी अत्यन्त विस्तृत है। भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध किसी एक भाषा से नहीं है। इसका सम्बन्ध मानवमात्र की भाषा से है। विश्व

(ख) भाषा-विज्ञान वह विज्ञान है, जिसमें भाषा—विशिष्ट, कई और सामान्य—का समकालिक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक और प्रायोगिक दृष्टि से अध्ययन और तद्विषयक सिद्धान्तों का निर्धारण किया जाता है।

—डॉ० भोलानाथ तिवारी, भाषा-विज्ञान, पृ० ४, ७।

४. भाषा-विज्ञान का सीधा अर्थ है—भाषा का विज्ञान और विज्ञान का अर्थ है विशिष्ट ज्ञान। इस प्रकार भाषा का विशिष्ट ज्ञान भाषा-विज्ञान कहलायेगा।

—डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा, भाषा-विज्ञान की भूमिका, पृ० १७६।

५. भाषा-विज्ञान को अर्थात् भाषा के विज्ञान को भाषिकी कहते हैं। भाषिकी में भाषा का वैज्ञानिक विवेचन किया जाता है।

—डॉ० देवीशंकर द्विवेदी, भाषा और भाषिकी, पृ० १२६।

6. General Linguistics may be defined as the Science of Language. —R.H. Robins, *General Linguistics*, p. 1.

७. भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को भाषा-विज्ञान कहा जा सकता है। Introduction to Theoretical Linguistics (सैद्धान्तिक भाषा-विज्ञान), John Lyons, पृ० १।

की समस्त भाषाएँ भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में आती हैं। समस्त भाषाओं का विवेचनात्मक अध्ययन, विश्लेषण, उनकी उत्पत्ति और विकास तथा उनकी परस्पर तुलना आदि भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में केवल साहित्यिक भाषाओं का ही अध्ययन नहीं होता, अपितु असभ्य, अर्धसभ्य एवं ग्रामीण लोगों की बोलियों का भी विशेष सावधानी के साथ अध्ययन किया जाता है। यहाँ यह समझ लेना उचित है कि भाषाशास्त्री के लिए साहित्यिक भाषा की अपेक्षा बोलचाल की भाषा और ग्रामीण बोलियाँ अधिक महत्त्व की होती हैं, क्योंकि उनसे भाषा की प्रवृत्ति के मौलिक तत्त्वों का ठीक निष्कर्ष निकालना सम्भव होता है। मानव-मात्र की भाषा से सम्बद्ध होने के कारण भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध मानव-मात्र से है।

भाषा-विज्ञान वर्तमान और अतीत दोनों प्रकार की भाषाओं का अध्ययन करता है। वह त्रैकालिक तथ्यों का अनुसंधान करता है और उनका प्रकाशन करता है। मानव की प्रवृत्ति का जितना सूक्ष्मतम अध्ययन भाषा-विज्ञान प्रस्तुत करता है, उतना अन्य विज्ञान नहीं। भाषा-विज्ञान एक ओर व्याकरण का कार्य करता है तो दूसरी ओर मनोविज्ञान का। यह एक ओर सामान्य नियमों का निर्देश करता है तो दूसरी ओर उसके दार्शनिक पक्ष को स्पष्ट करता है। इस दार्शनिक पक्ष की व्याख्या में उसे अन्य अनेक विज्ञानों का सहयोग लेना पड़ता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान का क्षेत्र केवल व्याकरण और दर्शन तक ही सीमित न रह कर विज्ञान और शास्त्रों के अनेक अंगों तक व्याप्त है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उसके सभी अंग सम्मिलित हैं, जिनका वर्णन आगे प्रस्तुत किया गया है।

१.५. भाषा-विज्ञान के अंग

भाषा-विज्ञान भाषा का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत करता है, अतः उसमें भाषा के सभी घटकों का अध्ययन होता है। भाषा शब्द के द्वारा उसके चार घटकों का मुख्य रूप से बोध होता है—१. ध्वनि (Sound), २. पद या शब्द (Form), ३. वाक्य (Sentence), ४. अर्थ (Meaning)। भाषा की सबसे छोटी इकाई ध्वनि है। उसका ही सर्वप्रथम उच्चारण होता है। अनेक ध्वनियों से मिलकर पद या शब्द बनता है। अनेक पदों से वाक्य की रचना होती है और वाक्य से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इनमें से प्रत्येक के विशेष अध्ययन के कारण भाषा-विज्ञान के ४ प्रमुख अंग विकसित हो गये हैं। इनके नाम हैं—

१. ध्वनि-विज्ञान (Phonology)
२. पद-विज्ञान (Morphology)
३. वाक्य-विज्ञान (Syntax)
४. अर्थ-विज्ञान (Semantics)

१. ध्वनि-विज्ञान—इसमें भाषा के मूल-तत्त्व ध्वनि का व्यापक अध्ययन किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से इन विषयों का संकलन होता है—ध्वनि क्या है? ध्वनियाँ कितनी हैं? इनका वर्गीकरण किस प्रकार किया जाता है? ये ध्वनियाँ कैसे और कहाँ

से उत्पन्न होती हैं? किस प्रकार ध्वनियों का सम्प्रेषण होता है? ध्वनियों के भेद का क्या कारण है? एकाधिक ध्वनियों के संयोग से क्या परिवर्तन होते हैं? ध्वनियों में तीव्रता और मन्दता क्यों आती है? ध्वनि-नियम क्या हैं? स्वनिम, स्वनिमी आदि का निरूपण करना।

२. पद-विज्ञान—अनेक ध्वनियों के समन्वय से पद या शब्द बनता है। पद-विज्ञान को रूप-विज्ञान, रूप-विचार और पद-विचार भी कहा जा सकता है। इसमें पद या रूप क्या है? पद कैसे बनता है? पद के घटक अवयव क्या हैं? पदों का विभाजन किस आधार पर होता है? लिंग, विभक्ति, वचन, पुरुष, काल, प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग आदि तत्त्व क्या हैं? इनकी क्या उपयोगिता है? शब्द और पद में क्या अन्तर होता है? पद-निर्माण कितने प्रकार का होता है? इत्यादि विषयों का पद-विज्ञान में विवेचन किया जाता है।

३. वाक्य-विज्ञान—जिस प्रकार विभिन्न ध्वनियों के समन्वय से पद या रूप बनता है, उसी प्रकार विभिन्न पदों या रूपों के समन्वय से वाक्य बनता है। वाक्य-विज्ञान में वाक्य की रचना किस प्रकार होती है? वाक्य में पदों का अन्वय किस प्रकार होता है? अन्वय का आधार क्या है? कर्ता, क्रिया, कर्म आदि का किस स्थान पर निवेश होता है? वाक्य के कितने भेद हैं? इत्यादि बातों का विवेचन किया जाता है। वाक्य-विज्ञान को वाक्य-विचार, वाक्य-रचना-शास्त्र भी कहा जाता है। वाक्य-विज्ञान को ३ भागों में विभक्त किया गया है—

१. वर्णनात्मक वाक्य-विज्ञान (Descriptive Syntax)
२. ऐतिहासिक वाक्य-विज्ञान (Historical Syntax)
३. तुलनात्मक वाक्य-विज्ञान (Comparative Syntax)

वर्णनात्मक वाक्य-विज्ञान में वाक्य की रचना का सामान्य विवरण प्रस्तुत किया जाता है। **ऐतिहासिक वाक्य-विज्ञान** में वाक्य की रचना का इतिहास भी दिया जाता है और **तुलनात्मक वाक्य-विज्ञान** में दो या अनेक भाषाओं के वाक्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

४. अर्थ-विज्ञान (Semantics)—जिस प्रकार मानव-शरीर का सार भाग आत्मा है, उसी प्रकार भाषारूपी शरीर की आत्मा अर्थ है। अर्थ-विज्ञान को अर्थ-विचार भी कहते हैं। इसमें अर्थ किसे कहते हैं? शब्द और अर्थ का क्या सम्बन्ध है? अर्थ का निर्धारण कैसे हुआ? अर्थ-परिवर्तन क्यों और कैसे होता है? अर्थ-परिवर्तन की क्या दिशाएँ हैं? अर्थ-परिवर्तन के क्या कारण हैं? इत्यादि बातों पर विचार किया जाता है। इसका भी समकालिक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक तीनों रूपों में अध्ययन हो सकता है। इसमें पर्यायवाची शब्द, नानार्थक शब्द, विलोम शब्द आदि का भी विवेचन किया जाता है।

(क) भाषा-विज्ञान के गौण अंग

यद्यपि प्रमुख रूप से भाषा-विज्ञान के उपर्युक्त चार अंग ही हैं, परन्तु भाषा-विज्ञान में कतिपय अन्य विषयों पर भी विवेचन किया जाता है। उन्हें इसका गौण अंग समझना

चाहिए। इनमें विशेष उल्लेखनीय ये अंग हैं—

१. भाषा की उत्पत्ति (Origin of Language)—भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई? इस विषय में भाषाशास्त्रियों का क्या मत है? भाषा का विकास कैसे हुआ? आदि बातों पर विवेचन किया जाता है।

२. भाषाओं का वर्गीकरण (Classification of Languages)—संसार की विभिन्न भाषाओं को रूप या आकृति के आधार पर तथा भौगोलिक आधार पर अलग-अलग वर्गों में विभक्त किया गया है। रूप के आधार पर होने वाले वर्गीकरण को रूपात्मक या आकृतिमूलक वर्गीकरण कहते हैं और भौगोलिक आधार पर होने वाले वर्गीकरण को पारिवारिक वर्गीकरण या ऐतिहासिक वर्गीकरण कहते हैं। इस आधार पर निश्चित किया जाता है कि कौन-कौन-सी भाषाएँ किस वर्ग में आती हैं। उनकी समानताओं और विषमताओं का भी इसमें अध्ययन किया जाता है।

३. कोश-विज्ञान (Lexicology)—इस विज्ञान में कोश-रचना का प्रकार बताया जाता है। शब्दों की व्युत्पत्ति क्या है? शब्दों का अर्थ कैसे निर्धारित किया जाता है? प्रत्येक शब्द का किन अर्थों में प्रयोग होता है? एकार्थक, अनेकार्थक, विषमार्थक शब्दों की व्याख्या आदि इस विज्ञान के अंग हैं। व्युत्पत्ति-शास्त्र (Etymology) भी कोश-विज्ञान के अन्तर्गत आता है। व्युत्पत्ति-शास्त्र के लिए संस्कृत का 'निरुक्त' शब्द प्रचलित है। इसकी वेद के षडंगों में गणना है। कोश-विज्ञान में निर्वचन-शास्त्र का पूरा उपयोग होता है, अतः व्युत्पत्ति-शास्त्र को कोश-विज्ञान के अन्तर्गत माना जाता है।

४. लिपि-विज्ञान (Graphonomy, Graphics)—इसमें लिपि की उत्पत्ति, विकास और उसकी उपयोगिता आदि पर विचार किया जाता है। लिपि के आधार पर ही किसी भाषा का अध्ययन किया जाता है, अतः इसे भी भाषा-विज्ञान का अंग माना जाता है।

५. भाषिक-भूगोल (Linguistic Geography)—इसमें भौगोलिक दृष्टि से भाषा का अध्ययन किया जाता है। विश्व के किन-किन भागों में कौन-कौन-सी भाषाएँ बोली जाती हैं? किस भाषा का कितना व्यापक क्षेत्र है? उसकी कितनी बोलियाँ और उप-बोलियाँ हैं? उनकी निश्चित सीमाएँ क्या हैं? इसका अध्ययन किया जाता है। बोली-भूगोल (Dialect Geography) नामक प्रसिद्ध शाखा इसी के अन्तर्गत आती है।

६. प्रागैतिहासिक खोज (Linguistic Palaeontology)—इसमें भाषा-विज्ञान के आधार पर प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता और संस्कृति का अध्ययन किया जाता है। भाषा-विज्ञान ही एकमात्र साधन है, जिसके द्वारा प्राचीन संस्कृतियों का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। यह शाखा अभी तक शैशवावस्था में है।

७. शैली-विज्ञान (Stylistics)—भाषा-विज्ञान की यह नवीन किन्तु महत्त्वपूर्ण शाखा है। इसमें अध्ययन किया जाता है कि किसी भाषा के लेखक या कवि आदि भाषा के किन शब्दों को मुख्य रूप से अपनाते हैं, उनकी शैली की क्या विशेषताएँ हैं? इस विज्ञान के द्वारा लेखक, कवि और वक्ता का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। व्यक्तिगत अन्तर एवं शैली-सम्बन्धी अन्तर का अध्ययन शैली-विज्ञान का विषय है।

८. **भू-भाषा-विज्ञान** (Geo-linguistics)—इसमें विश्व की भाषाओं का विभाजन तथा उनके सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव का संग्रह किया जाता है। साथ ही विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ किस प्रकार भाषा को प्रभावित करती हैं, इसका वर्णन रहता है। राजभाषा एवं जनभाषा आदि समस्याओं का भी इसके अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है।

९. **समाज-भाषा-विज्ञान** (Socio-linguistics)—इसमें भाषा और समाज का सम्बन्ध तथा समाज के विभिन्न स्तरों पर प्रयुक्त भाषा की ध्वनि, रूप, वाक्य और अर्थ आदि की विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है।

१०. **मनोभाषा-विज्ञान** (Psycho-linguistics)—इसमें भाषा और विचार का सम्बन्ध, भाषा का मानस पटल पर प्रभाव, भाषा और अनुभूति आदि मनोवैज्ञानिक पक्ष का अध्ययन किया जाता है।

इसके अतिरिक्त भाषा का कुछ विभिन्न दृष्टिकोणों से भी अध्ययन किया जाता है। ये भाषा-विज्ञान के उपांग ही समझने चाहिए।

(क) भाषा-विज्ञान के इतिहास का अध्ययन—इसमें भारत एवं पाश्चात्त्य देशों में हुए भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन का इतिहास प्रस्तुत किया जाता है।

(ख) बोली-विज्ञान (Dialectology)—इसमें विभिन्न बोलियों का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

(ग) सुर-विज्ञान (Tonetics)—इसमें विभिन्न भाषाओं में सुर या टोन के आधार पर क्या परिवर्तन होते हैं? किस प्रकार अर्थों में परिवर्तन होता है? भाषा में टोन का क्या महत्त्व है? आदि का अध्ययन किया जाता है।

(घ) भाषा-विकास (Linguistic Phylogeny)—इसमें भाषा में होने वाले परिवर्तन और विकास के कारणों का अध्ययन और विवेचन किया जाता है।

(ङ) भाषा-प्रकार-विज्ञान (Linguistic Typology)—इसमें रूपात्मक आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण किया जाता है। इसकी अधिकांश विशेषताएँ आकृतिमूलक वर्गीकरण के तुल्य हैं।

(च) भाषिक पुनर्निर्माण (Linguistic Reconstruction)—इसमें एक परिवार की दो या अनेक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि इन भाषाओं की मूल भाषा क्या थी। इस प्रकार के अध्ययन से ही इण्डोयूरोपियन (भारोपीय) और इण्डोहिट्टाइट आदि अज्ञात भाषाओं का पुनर्निर्माण किया गया है।

१.६. भाषा-विज्ञान की शाखाएँ

भाषा-विज्ञान की तीन शाखाएँ हैं—

१. वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान (Descriptive Linguistics)

२. ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान (Historical Linguistics)

३. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (Comparative Linguistics)

१. वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान (Descriptive Linguistics)—इसमें किसी एक भाषा का किसी काल-विशेष से सम्बद्ध स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है। इसमें भाषा के उस काल के स्वरूप का विवेचन और विश्लेषण किया जाता है। यह भाषा वर्तमान काल की हो सकती है। यदि उसका प्राचीन साहित्य विद्यमान है तो वह भूतकाल की भी हो सकती हैं। जैसे—संस्कृत, ग्रीक, लैटिन और अंग्रेजी आदि का प्राचीन साहित्य उपलब्ध है। इनका वर्णनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता है। वर्णनात्मक विवेचन में उसका ध्वनि-विज्ञान, रूप-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से विवेचन किया जाता है। वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान को दूसरे शब्दों में व्याकरण कहा जा सकता है। वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध उसके विद्यमान स्वरूप से है। इसमें भाषा का विकास या तुलनात्मक अध्ययन विचार का विषय नहीं है, अतः इसे स्थित-रूपात्मक कहा जाता है। जैसे—संस्कृत-व्याकरण या पाणिनीय-व्याकरण को स्थित-रूपात्मक कहा जाएगा। पाणिनि ने संस्कृत-भाषा का जो विश्लेषणात्मक स्वरूप उपस्थित किया है, उसकी पाश्चात्त्य विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान का इससे अधिक सुन्दर उदाहरण नहीं मिल सकता।

वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान सामान्य भाषा-विज्ञान का प्रमुख अंग माना जाता है। इसको आधार मानकर ही ऐतिहासिक और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान आगे बढ़ते हैं। यह भाषा-विज्ञान के एक स्वतंत्र अंग के रूप में विकसित होने लगा है। इस प्रणाली के पक्षपाती भाषा के केवल उच्चरित रूप का ही अध्ययन आवश्यक समझते हैं। वे ध्वनि, पद और वाक्य तक ही इसकी सीमा निर्धारित करना चाहते हैं। उनके मतानुसार वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान में अर्थ-विज्ञान को स्थान नहीं है। यह विचार अत्यन्त आपत्तिजनक और उपेक्षणीय है। ध्वनि, पद और वाक्य भाषा के शरीर हैं। अर्थ आत्मा है। अर्थरूपी आत्मा के बिना शरीर निस्सार है। अर्थ की उपेक्षा करने पर वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान निर्जीव शरीर के चीरफाड़ के तुल्य निस्सार हो जाएगा। अतः वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान में अर्थ-विज्ञान का संकलन अनिवार्य है।

२. ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान (Historical Linguistics)—इसमें भाषा के क्रमिक विकास का इतिहास प्रस्तुत किया जाता है। भाषा का आदि रूप क्या था? उसमें परिवर्तन होते हुए मध्ययुगीन रूप क्या था और उसका वर्तमान रूप क्या है? इसमें कम से कम दो कालों का क्रमिक विकास दिखाना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, वैदिक संस्कृत से लेकर पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के रूप में परिवर्तित होते हुए वर्तमान हिन्दी आदि भाषाओं का क्रमिक विकास इस ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का विषय होगा। ध्वनि, पद और वाक्यों में किस प्रकार क्रमशः विकार आया? किस युग में उसका क्या स्वरूप हुआ और उसका वर्तमान विकसित रूप क्या हुआ? यह ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान बताता है। इस अध्ययन में वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान का पूर्ण उपयोग होता है। भाषा में क्या-क्या परिवर्तन हुए? उनके क्या कारण थे? इत्यादि का विवेचन भी इसका विषय है। यहाँ यह

स्मरण रखना चाहिए कि भाषा विषयक परिवर्तन बहुत सूक्ष्म होते हैं, ये अल्प काल में परिलक्षित नहीं होते, परन्तु अनेक शताब्दी बीतने पर ये परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसी के फलस्वरूप वैदिक संस्कृत के विकसित रूप में पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी आदि भाषाएँ दिखाई देती हैं।

भाषा-विज्ञान में समकालिक (Synchronic) और कालक्रमिक (Diachronic) इस दो पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग उपर्युक्त दोनों स्थितियों के लिए प्रचलित है। समकालिक भाषा-विज्ञान में उस काल-विशेष में प्रचलित भाषा के रूपों का अध्ययन किया जाता है। वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान एककालिक या समकालिक है। ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान कालक्रमिक है। इसमें विभिन्न कालों के रूपों का अध्ययन किया जाता है।

३. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (Comparative Linguistics)—इसमें दो या अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। यह तुलना किसी एक काल-विशेष या अनेक कालों के आधार पर की जाती है। इसमें भाषा की ध्वनियाँ, पद और वाक्य सभी दृष्टि से तुलना की जाती है। इसमें वर्णनात्मक और ऐतिहासिक प्रणालियों का भी अन्तर्भाव होता है। वर्णनात्मक अंश के आधार पर ही दो या अनेक भाषाओं की तुलना की जाती है। इस अध्ययन में ऐतिहासिक प्रणाली भी विभिन्न कालों के रूपों का स्वरूप बता कर सहयोग प्रदान करती है। इस प्रकार तुलनात्मक भाषा-विज्ञान में वर्णनात्मक और ऐतिहासिक दोनों प्रणालियों का पूर्ण सहयोग रहता है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान भाषा-विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है। संस्कृत, लैटिन और ग्रीक की तुलना ने ही इस तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को जन्म दिया है। इसके ही आधार पर तुलनात्मक देवशास्त्र, तुलनात्मक विश्व-संस्कृति आदि अनेक शाखाएँ प्रचलित हुई हैं।

१.७. भाषा-विज्ञान विज्ञान है या कला?

विज्ञान का अर्थ है—'विशिष्ट ज्ञान'। उपनिषदों में ब्रह्म-ज्ञान को भी विज्ञान कहा गया है। विज्ञान में विकल्प या विप्रतिपत्ति को स्थान नहीं है। उसका निर्णय शाश्वत और स्थायी है।

इसके विपरीत कला में विकल्पात्मक प्रतीति होती है। यह देश काल आदि के भेद से विभिन्न हो सकती है। अतएव ज्ञान की दो शाखाएँ की जाती हैं—कला और विज्ञान। शाश्वत मूल्य वाला किन्तु रसबोध से रहित ज्ञान विज्ञान की कोटि में आता है और परिवर्तनशील मूल्य वाला एवं रसबोध से युक्त ज्ञान कला की कोटि में आता है। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि भाषा-विज्ञान कला की कोटि में कम, विज्ञान की कोटि में अधिक है। भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध भाषा की ध्वनियों के विवेचन, विश्लेषण तथा पद-रचना आदि से है। रसबोध इसका विषय सर्वथा नहीं है। साहित्यिक अनुभूति, कल्पना की उड़ान, मनोरंजन आदि इसके लक्ष्य न होकर, शुद्ध तात्त्विक निष्कर्ष पर पहुँचना भाषा-विज्ञान का लक्ष्य है। अतएव भाषा-विज्ञान को विज्ञान की कोटि में रखा

जाता है। विज्ञान में तीन पथप्रदर्शक तत्त्व होते हैं। ये तीनों तत्त्व भाषा-विज्ञान में पूर्ण रूप से मिलते हैं। ये तीन तत्त्व हैं—

१. सर्वांगीण विवेचन (Exhaustiveness)—भाषा-विज्ञान उपलब्ध सामग्री का सर्वांगीण और परिपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करता है।

२. सामंजस्य (Consistency)—इसमें किसी एक निष्कर्ष का आगे विरोध नहीं किया जाता। प्राप्त निष्कर्षों का सदा सामंजस्य रखा जाता है।

३. लाघव (Economy)—भाषा-विज्ञान में शब्द-लाघव और लघुतर शब्दावली का ही उपयोग होता है। उपर्युक्त गुणों के कारण भाषा-विज्ञान को विज्ञान की कोटि में रखा जाता है। यहाँ यह कथन उचित है कि जिस प्रकार विज्ञान साहित्य से विरोध रखता है, उसी प्रकार भाषा-विज्ञान का साहित्य से कोई विरोध नहीं है। अपितु साहित्य भाषा-विज्ञान का एक अत्यन्त उपयोगी और सहायक अंग है। साथ ही साहित्य में जो रसानुभूति की प्रधानता है, वह रसानुभूति भाषा-विज्ञान में सर्वथा नहीं है।

इस बात का वर्णन पहले (१.३.) किया जा चुका है कि भाषा-विज्ञान भौतिकी, रसायन-विज्ञान आदि के तुल्य पूर्ण रूप से विज्ञान नहीं है। भाषा-विज्ञान के सिद्धान्त और निष्कर्ष किसी भाषा-विशेष से और किसी काल-विशेष से सम्बद्ध होते हैं। वे न तो सार्वत्रिक हैं और न शाश्वत। विभिन्न कालों और विभिन्न परिस्थितियों में भाषा-विज्ञान के निष्कर्ष पृथक्-पृथक् होते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि, सर्वांगीण विवेचन, सामंजस्य और लाघव गुणों के कारण इसे विज्ञान कहते हैं।

१.८. भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्र

अंग्रेज़ी में फिलॉलोजी (Philology) और लिंग्विस्टिक्स (Linguistics) दो शब्दों का प्रचलन है। इन दोनों के अनुवाद के रूप में क्रमशः भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्र शब्दों का प्रयोग किया जाता है। कुछ विद्वानों ने लिंग्विस्टिक्स के लिए भी भाषा-विज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। सामान्यतया विज्ञान से सम्बद्ध विषयों के लिए विज्ञान शब्द का प्रयोग होता है। जैसे—भौतिक-विज्ञान, रसायन-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान आदि। साहित्य एवं कला से सम्बद्ध विषयों के लिए शास्त्र शब्द का प्रचलन है। जैसे—धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र आदि। उपर्युक्त दोनों शब्दों के लिए भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्र का अलग-अलग प्रयोग किया जाय, या केवल भाषा-विज्ञान का ही प्रयोग किया जाय, इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है।

इस विषय में मेरा विचार है कि भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्र इन दोनों शब्दों का समानार्थक रूप में प्रयोग किया जा सकता है। भाषा में प्रचलन मुख्य है। प्रचलन शब्द-प्रयोग का नियामक है। आजकल हिन्दी में विज्ञान और शास्त्र शब्दों का मौलिक अन्तर भुला कर समानार्थक रूप में प्रयोग किया जाता है। जैसे—फिज़िक्स के लिए भौतिक-विज्ञान और भौतिक-शास्त्र दोनों शब्द प्रचलित हैं। केमिस्ट्री के लिए रसायन-विज्ञान और

रसायन-शास्त्र। इसी प्रकार समाज-विज्ञान और समाज-शास्त्र, मानव-विज्ञान और मानव-शास्त्र, राजनीति-विज्ञान और राजनीति-शास्त्र, शिल्प-विज्ञान और शिल्प-शास्त्र आदि शब्द समानार्थक रूप में प्रचलित हैं। इस दृष्टि से भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्र दोनों शब्दों का प्रयोग औचित्य के अनुसार समानार्थक के रूप में किया जा सकता है। सामान्यतया फिलॉलोजी के अर्थ में भाषा-विज्ञान शब्द अधिक प्रचलित है और लिंग्विस्टिक्स के लिए भाषा-शास्त्र का प्रचलन है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषा-विज्ञान में भाषा-संबंधी सभी अंगों और उपांगों का विवेचन होता है। परन्तु लिंग्विस्टिक्स में प्रागैतिहासिक खोज, भाषाओं का ऐतिहासिक वर्गीकरण, भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन का इतिहास आदि विषयों को भाषा-शास्त्र की सीमा से बाहर रखा जाता है। भाषा-विज्ञान शब्द अधिक प्रचलित और व्यवहृत है तथा इसमें सभी विषयों का संकलन संभव है। अत: यहाँ पर भाषा-विज्ञान शब्द को अपनाया गया है। लिंग्विस्टिक्स के अर्थ में यथा-स्थान भाषा-शास्त्र शब्द का भी प्रयोग किया जाएगा।

१.९. भाषा-विज्ञान की उपयोगिता

भाषा-विज्ञान एक विज्ञान है। विज्ञान स्वत: निरपेक्ष होता है। तात्त्विक विवेचन और तत्त्वसंदर्शन ही उसका लक्ष्य होता है। तत्त्वसंदर्शन से बौद्धिक शान्ति और आनन्दानुभूति होती है। अतएव वैज्ञानिक चिन्तन निरपेक्ष होते हुए भी सापेक्ष होता है। इसी दृष्टि से भाषा-विज्ञान की भी कतिपय उपयोगिताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। उनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

१. ज्ञान-पिपासा की शान्ति—भाषा-विज्ञान हमारी भाषा-विषयक जिज्ञासाओं को शान्त करता है। ज्ञान की वृद्धि मानवमात्र का कर्तव्य है। भाषा हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग है। उसके विषय में विस्तृत जानकारी प्रत्येक मानव के लिए अनिवार्य है। अतएव आचार्य पतंजलि ने षडंग वेद के अध्ययन की अनिवार्यता पर बल देते हुए कहा है कि ब्राह्मण को निष्काम-भाव से षडंग वेद का अध्ययन करना चाहिए।

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयोज्ञेयश्च।

(महाभाष्य आह्निक -१)

यह ज्ञान-पिपासा की शान्ति हमें बौद्धिक और मानसिक शान्ति प्रदान करती है।

२. भाषा के परिष्कृत रूप का ज्ञान—भाषा-विज्ञान के द्वारा भाषा का सूक्ष्मतम अध्ययन किया जाता है। भाषा हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग है। भाषा-विज्ञान के द्वारा ध्वनियों, वर्णों, प्रकृति, प्रत्यय और अर्थ का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। जिससे शुद्ध अर्थ का बोध होता है; उच्चारण की शुद्धता आती है और भाषा के परिष्कृत रूप के साथ वाग्ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। एक प्राचीन श्रुति का यह कथन सत्य है कि (महाभाष्य आह्निक १ में कैयट द्वारा उद्धृत)—

एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।

(महाभाष्य)

३. भाषा-विज्ञान से वैज्ञानिक अध्ययन की ओर प्रवृत्ति—भाषा-विज्ञान के द्वारा भाषा के सूक्ष्म अध्ययन की ओर मानव की प्रवृत्ति ही नहीं होती, अपितु उसका दृष्टिकोण विज्ञानमूलक हो जाता है। वह प्रत्येक वस्तु के तत्त्वदर्शन और तत्त्वज्ञान की ओर अग्रसर होता है। किसी भी विज्ञान या शास्त्र का तत्त्वदर्शन मानव का लक्ष्य है।

४. वेदार्थ-ज्ञान में सहायक—वेदों के वास्तविक अर्थ के ज्ञान में भाषा-विज्ञान और तुलनात्मक अध्ययन ने विशेष योगदान किया है। लैटिन, ग्रीक, अवेस्ता आदि भाषाओं के अध्ययन ने अनेक वैदिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया है।

५. प्राचीन संस्कृति और सभ्यता का ज्ञान—प्राचीन काल की संस्कृति और सभ्यता के ज्ञान में भाषा-विज्ञान का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भाषाशास्त्री के लिए भाषा के प्रत्येक शब्द बोलते हुए प्राणी हैं और वे अपना परिचय स्वयं देते हैं। इन शब्दों के सूक्ष्म अध्ययन से उस समय की संस्कृति और सभ्यता का ज्ञान होता है। प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति के ज्ञान का साधन एकमात्र भाषा-विज्ञान है। आर्य जाति, द्राविड़ जाति, प्राचीन मिश्र और असीरिया की जातियों की संस्कृति का बोध भाषा-विज्ञान के द्वारा ही हुआ है।

६. विविध भाषा-ज्ञान—भाषा-विज्ञान की सहायता से अनेक भाषाओं का ज्ञान सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। इस विषय में स्वनिम-विज्ञान हमारा विशेष सहायक होता है।

७. विश्व-बन्धुत्व-भावना का प्रेरक—भाषा-विज्ञान विश्व की प्रमुख भाषाओं का ज्ञान करा कर हमारे अन्दर व्याप्त संकीर्ण भावना को दूर करता है। अनेक भाषाओं के साथ सम्बन्ध का ज्ञान होते ही उनसे आत्मीयता की अनुभूति होती है। जैसे, यह ज्ञात होते ही कि संस्कृत उसी परिवार की भाषा है, जिस परिवार के अंग लैटिन, ग्रीक, अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी, अवेस्ता, फारसी आदि भाषाएँ हैं, हमारी आत्मीयता इन भाषाओं के साथ हो जाती है और हम इन्हें अपने परिवार का अंग समझने लगते हैं। इस प्रकार यह विश्व-बन्धुत्व की भावना फैलती जाती है।

८. साहित्य-ज्ञान का सहायक—भाषा-विज्ञान भाषा के सूक्ष्म अर्थों का विश्लेषण करता है। इसका अर्थ-विज्ञान अंग अर्थ-विकास की कहानी प्रस्तुत करता है। इससे न केवल शब्दों का अर्थ ही ज्ञात होता है, अपितु उनमें छिपी हुई काव्य की आत्मा 'ध्वनि' भी प्रस्फुटित होती है।

९. व्याकरण-दर्शन—भाषा-विज्ञान व्याकरण का व्याकरण है। व्याकरण के नियमों का क्या दार्शनिक आधार है, इसका निरूपण भाषा-विज्ञान करता है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, प्रकृति और प्रत्यय का मौलिक अर्थ, पद-विभाजन का आधार आदि बातों का विवेचन दार्शनिक दृष्टि से भाषा-विज्ञान करता है।

१०. वाक्-चिकित्सा—चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से भाषा-विज्ञान एक आवश्यक अंग माना जाता है। तुतलाना, हकलाना, अशुद्ध उच्चारण, अशुद्ध या अस्पष्ट श्रवण आदि दोषों को दूर करने के लिए पाश्चात्त्य जगत् में वाक्-चिकित्सा को विशेष महत्त्व दिया जा

रहा है। भाषा-विज्ञान यह बताने में समर्थ होता है कि किस दोष के कारण अमुक व्यक्ति स्पष्ट बोलने में असमर्थ है तथा किस उपचार से उस रोग का उपशम हो सकता है।

११. संचार-साधनों का उपयोगी सहायक—दूर-संचार (Tele-communication) तथा यान्त्रिक प्रतीकात्मक अनुवाद के लिए भाषा-विज्ञान की सहायता ली जाती है। भाषा-विज्ञान के संकेतों के द्वारा दूर-संचार-पद्धति के लिए आवश्यक संकेत उपलब्ध होते हैं।

१२. भाषिक यंत्रीकरण में सहायक—भाषा-विज्ञान भाषा-विषयक यंत्रों के निर्माण में विशेष सहयोगी है। टाइपराइटर, टेलीप्रिंटर, आडियोविजुअल आदि के विकास में विशेष सहयोगी है। भाषा-विज्ञान इनके लिए शुद्ध एवं उपयोगी संकेत चिह्न प्रदान करता है।

१३. लिपि-विकास में सहायक—भाषा-विज्ञान सांकेतिक लिपि के उन्नयन के द्वारा लिपियों में संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन करने में सहायक होता है।

१४. विभिन्न शास्त्रों से समन्वय—भाषा-विज्ञान का ज्ञान और विज्ञान की अनेक शाखाओं से निकटतम सम्पर्क है। अतः भाषा-विज्ञान का विद्यार्थी व्याकरण, साहित्य, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान, भूगोल, इतिहास, भौतिक-विज्ञान आदि बिषयों से सामान्यतया स्वतः परिचित हो जाता है।

१५. अनुवाद, पाठ-संशोधन, अर्थ-निर्णय आदि में सहायक—विभिन्न भाषाओं के ग्रन्थों आदि का अन्य भाषाओं में अनुवाद करने में, प्राचीन ग्रन्थों के पाठ-निर्णय में तथा प्राचीन शब्दों के अर्थ-निर्णय में भाषा-विज्ञान विशेष सहायक सिद्ध होता है।

१६. विभिन्न विज्ञानों का जन्मदाता—भाषा-विज्ञान के द्वारा ही कई नवीन विज्ञानों की उत्पत्ति हुई है। भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का जन्म हुआ है। इसी प्रकार तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर तुलनात्मक देव-विज्ञान, पुराण-विज्ञान, विश्वसंस्कृति-विज्ञान, नृजाति-विज्ञान आदि विज्ञानों का उद्भव हुआ है। ये विज्ञान तुलनात्मक पद्धति पर आश्रित हैं।

उपर्युक्त विवेचन से भाषा-विज्ञान की उपयोगिता का अनुमान लगाया जा सकता है।

१.१०. भाषा–विज्ञान और अन्य शास्त्र

भाषा-विज्ञान का साक्षात् सम्बन्ध भाषा से है। भाषा का सम्बन्ध मानव मात्र से है। भाषा मानव की प्रवृत्ति और प्रकृति का यथार्थ दर्पण है। भाषा मानव-जीवन का अभिन्न अङ्ग है। अतः मानव-जीवन से सम्बद्ध विज्ञानों और शास्त्रों से भी भाषा-विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता है। जिस प्रकार समाज का एक व्यक्ति अनेक रूपों में अनेक व्यक्तियों से सम्बद्ध होता है, उसी प्रकार भाषा-विज्ञान की अनेक विधाएँ ऐसी हैं, जिससे वह अन्य विज्ञानों से निकटतम सम्पर्क रखता है। भाषा-विज्ञान के तात्त्विक ज्ञान के लिए इन विज्ञानों और शास्त्रों का आश्रय लेना पड़ता है। दूसरी ओर कतिपय तथ्यों के यथार्थ ज्ञान के लिए वे भाषा-विज्ञान का आश्रय लेते हैं। संक्षेप में कतिपय

सम्बद्ध प्रमुख विज्ञानों और शास्त्रों का भाषा-विज्ञान से क्या सम्बन्ध है, इसका विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

(क) भाषा-विज्ञान और व्याकरण

भाषा-विज्ञान और व्याकरण में कतिपय समानताएँ हैं और कुछ विषमताएँ हैं।

समानताएँ

१. व्याकरण का अर्थ है विवेचन और विश्लेषण। व्याकरण की व्युत्पत्ति है— **व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते शब्दाः, प्रकृतिप्रत्ययादयो वा, येन तद् व्याकरणम्।** इसके द्वारा प्रकृति-प्रत्यय का विश्लेषण किया जाता है। भाषा-विज्ञान और व्याकरण दोनों में विवेचन और विश्लेषण ही प्रमुख तत्त्व हैं।

२. दोनों का भाषा के अध्ययन से साक्षात् सम्बन्ध है।

३. दोनों भाषा के सूक्ष्मतम अंश का प्रतिपादन करते हैं।

४. दोनों भाषा के साधुत्व पर बल देते हैं।

५. भाषा का परिष्कार और यथार्थ ज्ञान दोनों का लक्ष्य है।

६. भाषा का सर्वांगीण विवेचन दोनों का उद्देश्य है।

विषमताएँ

१. भाषा-विज्ञान विज्ञान है और व्याकरण शास्त्र है। व्याकरण सिद्ध रूप के प्रकृति और प्रत्यय का विवेचन करता है। उसके उच्चारण और लेखन की शिक्षा देता है। साधु शब्द के प्रयोग का आदेश देता है। व्याकरण भाषा-सम्बन्धी 'क्या या किम्' का उत्तर देता है। भाषा-विज्ञान इससे आगे जाकर 'क्यों या कथम्' का उत्तर देता है। व्याकरण सिद्ध रूप का विवरण प्रस्तुत करके कार्य-विरत हो जाता है। उसके कारण की व्याख्या भाषा-विज्ञान करता है।

२. व्याकरण का क्षेत्र सीमित है, भाषा-विज्ञान का व्यापक। व्याकरण का सम्बन्ध एक भाषा से होता है, भाषा-विज्ञान का अनेक भाषाओं से। इतना ही नहीं, अपितु विश्व की समस्त भाषाओं से भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध है।

३. भाषा-विज्ञान और व्याकरण में कारण-कार्य सम्बन्ध है। भाषा-विज्ञान प्रत्येक भाषा के व्याकरण के कारणों का विवेचन करता है। व्याकरण शिष्ट, प्रयुक्त एवं व्याकरण-सम्मत शब्दों के ही विवेचन पर ध्यान देता है।

४. व्याकरण शरीर है, भाषा-विज्ञान नेत्र है। प्रत्येक भाषा के व्याकरणरूपी शरीर में भाषा-विज्ञान नेत्र का काम देता है। वह व्याकरण के कार्यों का निरीक्षण, परीक्षण और विश्लेषण करता है।

५. प्रत्येक भाषा के व्याकरण एक-एक अवयव का कार्य करते हैं। भाषा-विज्ञान सभी भाषाओं से सम्बद्ध है, अतः अब व्याकरण को अंग और भाषा-विज्ञान को अंगी समझा जाता है।

६. व्याकरण वर्णन-प्रधान एवं विवरणात्मक है, भाषा-विज्ञान व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक है। व्याकरण भाषा-विज्ञान के लिए साधन और सामग्री एकत्र करता है। ऐसी स्थिति में ऐसा होता है, यह बताता है। भाषा-विज्ञान उसका मौलिक कारण बनाता है।

७. व्याकरण एककालिक भाषा के स्वरूप का अध्ययन करता है और वर्तमान के प्रसंग में उसकी व्याख्या करता है। भाषा-विज्ञान अतीत और वर्तमान दोनों स्वरूपों का अध्ययन करता है। ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान प्रत्येक भाषा के उद्‌गम और विकास का इतिहास प्रस्तुत करता है।

८. व्याकरण प्राचीनतावादी और रूढ़िवादी है, भाषा-विज्ञान नवीनतावादी और प्रगतिवादी। व्याकरण प्राचीन एवं परिष्कृत शब्दों को ही शुद्ध मानता है और साधु-शब्द प्रयोग का आदेश देता है। भाषा-विज्ञान नवीनतावादी, प्रगतिवादी और विकासवादी है। वह भाषा को कुण्ठित और जर्जर नहीं मानता है, वह उसे नित-नूतन और नित-युवा मानता है। वह नये रक्त का संचार भाषा के विकास के लिए अनिवार्य मानता है।

६. व्याकरण परिष्कृत भाषा को ही अपनाता है, भाषा-विज्ञान असिद्ध, अशुद्ध, प्राकृत, अपभ्रंश एवं ग्राम्यजन में व्यवहृत भाषा को भी भाषा की बहुमूल्य निधि मानता है। अतएव भाषा-विज्ञान के विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए भाषा की प्रगति और प्रवृत्ति के अध्ययन के लिए साहित्यिक भाषा की अपेक्षा ग्रामीण भाषा एवं बोलचाल की भाषा अधिक उपादेय मानी जाती है। इसमें भाषा के स्वाभाविक प्रवाह का स्वरूप अधिक निखरा हुआ मिलता है।

१०. भाषा-विज्ञान व्याकरण का व्याकरण है। इसमें व्याकरण द्वारा बनाये नियमों का दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाता है।

११. व्याकरण भाषा-विज्ञान का अनुगामी है। भाषा-विज्ञान द्वारा बनाये गये निर्देशक तत्त्वों का अनुसरण व्याकरण को करना पड़ता है। कालक्रम एवं विकास के अनुसार प्रचलित शब्दों के प्रयोग को भाषा-विज्ञान शुद्ध मानता है। अतएव सत्य > सच्च > सच, घृत > घी, जगत् > जग, उपाध्याय > ओझा > झा, सन्ध्या > साँझ आदि शब्द विकसित रूप होने के कारण साधु शब्द हैं। परवर्ती व्याकरण इन्हें शुद्ध रूप मानकर व्याख्या करता है।

१२. दोनों की सामग्री एवं विवेच्य विषय में भी अन्तर है। व्याकरण के मुख्य विषय हैं—शब्दरूप-साधन, वाक्य-विन्यास एवं वाक्य-प्रयोग-शिक्षण। भाषा-विज्ञान में ध्वनि-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, भाषा के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन, विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन, लिपि, कोश-विज्ञान आदि का भी समावेश है।

(ख) भाषा-विज्ञान और साहित्य

भाषा-विज्ञान का व्याकरण से अंगांगिभाव या अवयव-अवयवि-भाव सम्बन्ध है,

तो साहित्य से उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध है। साहित्य भाषा-विज्ञान के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करता है। साहित्य में भाषा का चिर-संचित रूप प्राप्त होता है। भाषा-विज्ञान के दो प्रमुख अंग ऐतिहासिक और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान पूर्णतया साहित्य पर ही निर्भर हैं। साहित्य प्रारम्भिक, मध्यकालीन और वर्तमानकालीन, तीनों रूपों को प्रस्तुत करता है। इसके द्वारा ही ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का आधार भी विभिन्न भाषाओं का साहित्य ही है। यदि विभिन्न भाषाओं का साहित्य उपलब्ध न होता तो तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का विकास असम्भव था। भाषा-विज्ञान का जन्म ही संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं के साहित्य के अध्ययन से ही हुआ है। साहित्य के द्वारा ही हमें ज्ञात होता है कि किस प्रकार वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी आदि भाषाओं का ऐतिहासिक दृष्टि से विकास हुआ। साहित्य ही अर्थ-विज्ञान और अर्थ-विकास का आधार है। शब्दों के अर्थों में किस प्रकार अर्थ-परिवर्तन होते हैं; अनुपयोगी शब्दों का किस प्रकार विनाश होता है; नये शब्दों का किस प्रकार जन्म होता है; आदि की कथा साहित्य में ही संचित है।

भाषा-विज्ञान विज्ञान है और साहित्य कला है। भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है और साहित्य का हृदय से। भाषा-विज्ञान में प्रयुक्त भाषाओं, बोलियों और जन-साधारण में प्रचलित भाषा का भी अध्ययन होता है। साहित्य में केवल प्रयुक्त भाषाओं और शिष्ट सम्मत भाषा का ही संग्रह होता है। इस प्रकार साहित्य की अपेक्षा भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अधिक विस्तृत है।

साहित्य और भाषा-विज्ञान एक दूसरे के उपकारक हैं। साहित्य भाषा के प्राचीन रूपों को सुरक्षित रखकर भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता है। इस प्रकार साहित्य भाषा-विज्ञान का उपकारक है। दूसरी ओर भाषा-विज्ञान भी साहित्य का उपकारी है। साहित्य के अनेक अस्पष्ट और दुर्बोध शब्दों का इतिहास भाषा-विज्ञान की सहायता से ही ज्ञात हो पाता है। वेद के सैकड़ों शब्दों का अर्थ-निर्णय भाषा-विज्ञान की सहायता से हो पाया है। भाषा-विज्ञान की सहायता से ही एक भाषा का विद्वान् अनेक भाषाओं से सम्बद्ध होकर विभिन्न भाषाओं के साहित्य की जानकारी प्राप्त करता है एवं बहुभाषाविद् हो जाता है।

(ग) भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान

भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा-विज्ञान में भाषा का अध्ययन किया जाता है और मनोविज्ञान में मन का। मनोविज्ञान इस बात का विश्लेषण करता है कि मन किस प्रकार गति करता है, किस प्रकार विचार उठते हैं और किस प्रकार अभिव्यक्त होते हैं? भाषा का आधार विचार या भाव हैं। विचारों की अभिव्यक्ति के लिए ही भाषा का प्रयोग किया जाता है। भाषा के मूल में विचार हैं और विचारों का साधन मन है। अत: मनोविज्ञान का भाषा एवं भाषा-विज्ञान से साक्षात् एवं घनिष्ट सम्बन्ध है।

ध्वनि-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान में भी मनोविज्ञान की विशेष आवश्यकता पड़ती

है। विचारों के अनुसार जैसी मन की स्थिति होगी, वैसी ही भाषा का उच्चारण होगा। इस प्रकार ध्वनि-विज्ञान में मनोविज्ञान कारण रहता है। अर्थ-परिवर्तन आदि में भी मनोविज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। एक शब्द का अनेकार्थक होना, अमंगल या अशुभ-बोधक शब्दों के अर्थों में अन्तर तथा राग-द्वेष आदि के कारण होने वाले अर्थ-परिवर्तनों का कारण मनोविज्ञान की सहायता से ही सरलता से समझा जा सकता है। इसका विस्तृत विवेचन अर्थ-विज्ञान के अध्याय में किया गया है।

भाषा के परिवर्तन में प्रयत्न-लाघव, समीकरण, विषमीकरण आदि का आधार मनोविज्ञान ही है। अर्थज्ञान की प्रक्रिया का पूरा विषय मनोविज्ञान से सम्बद्ध है। मनुष्य क्या समझता है? क्यों समझता है? प्रत्येक व्यक्ति के समझने में अन्तर क्यों हैं? इत्यादि भाषा-विज्ञान से सम्बद्ध विषय मनोविज्ञान के ही विषय हैं।

दूसरी ओर भाषा-विज्ञान भी मनोविज्ञान का उपकारक है। मानस-चिकित्सा में भाषा-विज्ञान की उपयोगिता प्रमाणित हो चुकी है। भाषा-विज्ञान के द्वारा मानसिक रोगों का सूक्ष्म परीक्षण और उपचार प्रस्तुत किया जाता है। प्रसिद्ध मनोविज्ञानी फ्रायड (Freud) ने आदिम जाति के संस्कारों का पता लगाते हुए टोटम (Totem, सम्बन्धी सूचक चिह्न), टाबू (Taboo, त्याज्य कर्म) आदि शब्दों का अर्थ भाषा-विज्ञान के द्वारा ही निर्धारित किया है। इस प्रकार दोनों विज्ञान परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हैं।

(घ) भाषा-विज्ञान और भौतिक-विज्ञान

भौतिक-विज्ञान भाषा-विज्ञान के अध्ययन में एक अत्यन्त सहायक अंग है। भाषा का सम्बन्ध वक्ता और श्रोता से है। वक्ता जो कुछ बोलता है, वह श्रोता तक कैसे पहुँचता है और श्रोता कैसे उसे ग्रहण करता है, यह भौतिकी का विषय है। ध्वनि, कम्पन, सम्प्रेषण, ग्रहण, तार, मन्द्र, आरोह-अवरोह, ध्वनि-तरंगें आदि का अध्ययन विस्तृत रूप से भौतिक-विज्ञान में किया जाता है। भाषा-विज्ञान का एक प्रमुख अंग ध्वनि-विज्ञान वस्तुतः भौतिकी पर निर्भर है। भौतिकी के विभिन्न यन्त्रों पैलेटोग्राफ (Palatograph), काइमोग्राफ (Kymograph), ऑसिलोग्राफ (Oscillograph), इंकराइटर (Inkwriter), मिंगोग्राफ (Mingograph), क्रोमोग्राफ (Chromograph), स्पेक्ट्रोग्राफ (Spectrograph), स्पीच-स्ट्रेचर (Speech-stretcher), पैटर्न प्ले बैक (Pattern Play Back), फार्मेण्ट ग्राफिक मशीन (Formant graphic machine) आदि की सहायता से भाषा की ध्वनियों, ध्वनि-तरंगों, आदि का विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाता है। भाषाशास्त्री के लिए भौतिकी का गहन अध्ययन अनिवार्य न होने पर भी सम्बद्ध विषय का भौतिकी से ही ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य होता है।

भौतिकी ने सिद्ध किया है कि ईथर (Ether) नाम का तत्त्व ही ध्वनि-तरंगों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाता है। इसी के माध्यम से वक्ता श्रोता तक अपने विचारों को पहुँचाता है। यही तत्त्व है जो रेडियो आदि के माध्यम से सहस्रों मील दूर उच्चरित भाषण, संगीत या ध्वनियों को हमारे पास पहुँचाता है। ध्वनि-संचरण की पूरी

प्रक्रिया भौतिकी द्वारा ही ग्राह्य है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान और भौतिकी का घनिष्ट सम्बन्ध है।

(ङ) भाषा-विज्ञान और शरीर-विज्ञान

भाषा-विज्ञान की ध्वनि-प्रक्रिया को ठीक समझने के लिए शरीर-विज्ञान का ज्ञान अनिवार्य है। ध्वनि-विज्ञान की पूरी प्रक्रिया का आधार विचारों के उद्‌गम से लेकर विभिन्न ध्वनियों के उच्चारण तक है। ध्वनियों के उच्चारण में वागिन्द्रिय के कण्ठ आदि अवयव विशेष सहायक हैं। ध्वनियों के उच्चारण के ज्ञान के लिए आवश्यक है कि मूल रूप में यह ठीक समझ लिया जाये कि किन-किन ध्वनियों का किस प्रकार उच्चारण होता है। ध्वनियों के उच्चारण में स्वरतन्त्री, कण्ठ, तालु, जिह्वा आदि का क्या उपयोग है, इसको ठीक समझने के लिए शरीर-रचना का ज्ञान अनिवार्य है। शरीर-रचना का विशिष्ट ज्ञान शरीर-विज्ञान के द्वारा होता है।

भाषा-विज्ञान का आधार भाषा है। भाषा के लिए दो पक्षों या दो व्यक्तियों की कम से कम आवश्यकता होती है—एक वक्ता और दूसरा श्रोता। वक्ता कुछ बोलता है और श्रोता कुछ सुनता है। इस पर विचार करने से ज्ञात होता है कि वागिन्द्रियों की सहायता से वक्ता ने कुछ कहा। वह वक्तव्य ध्वनि-तरंगों की सहायता से श्रोता तक पहुँचता है। श्रोता की श्रोत्रेन्द्रिय उसे ग्रहण करती है। वह उसे मन तक पहुँचाती है, जो उसकी सार्थकता आदि का निर्णय करके तदनुकूल कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन के लिए (१) वक्ता की ध्वनि, (२) ध्वनि-तरंगें और (३) श्रोता द्वारा ग्रहण, इन तीन प्रक्रियाओं का ज्ञान आवश्यक होता है। ध्वनि-विज्ञान के दो पक्ष हैं—रचना-पक्ष और बोध-पक्ष। रचना-पक्ष का आधार वक्ता है और बोध-पक्ष का आधार श्रोता। रचना-पक्ष के ज्ञान के लिए वागिन्द्रियों की रचना का ज्ञान आवश्यक है और बोध-पक्ष के ज्ञान के लिए श्रोत्रेन्द्रिय की रचना का। शरीर-विज्ञान के ज्ञान से ही इन दोनों पक्षों का ज्ञान सम्भव है। शरीर-विज्ञान के ज्ञान से ही यह समझना सम्भव है, कि तार, मध्य, मन्द्र, आरोह, अवरोह, संगीतात्मक ध्वनि, बलाघात आदि के क्या कारण हैं?

मुख-सुख या प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति शब्दों के रूप-परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अपनाती है। इस मुख-सुख की प्रवृत्ति की प्रकृति और कारणों पर शरीर-विज्ञान के द्वारा ही प्रकाश पड़ता है।

वागिन्द्रिय के अवयव जिह्वा, दाँत, ओष्ठ, फेफड़े आदि यद्यपि मुख्य रूप से भोजन, श्वास-प्रश्वास आदि कार्यों से सम्बद्ध हैं, परन्तु इनकी सहायता से समस्त संसार की आश्रयभूत भाषा जैसी दिव्य शक्ति उदय होती है। इस प्रकार शरीर-विज्ञान भाषा-विज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

(च) भाषा-विज्ञान और इतिहास

भाषा-विज्ञान और इतिहास का घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के उपकारक

हैं। कहीं पर भाषा-विज्ञान की सहायता से प्राचीन अभिलेखों, शिलालेखों, सिक्कों आदि का अध्ययन करके प्राचीन इतिहास के अज्ञात और अंधकारयुगीन इतिहास पर प्रकाश डाला जाता है और कहीं पर इतिहास की सहायता से शब्दों के अर्थों का निर्णय किया जाता है। ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का आधार ही इतिहास है। शब्दों और अर्थों में किस प्रकार परिवर्तन आया, वह इतिहास ही बताता है। इसी प्रकार भाषाओं के ऐतिहासिक या पारिवारिक वर्गीकरण में इतिहास का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

इतिहास के तीनों अंगों का भाषा-विज्ञान से सम्बन्ध है।

१. **राजनीतिक इतिहास**—यह बताता है कि किस प्रकार शासकों की भाषा का शासित देश में प्रचार होता है। इसके द्वारा हम भारत में अरबी, फारसी, अंग्रेजी, तुर्की और पुर्तगाली आदि शब्दों के आगमन का इतिहास बता सकते हैं। पूर्वी द्वीप समूहों में संस्कृत के शब्दों की अधिकता का कारण भी इसके द्वारा समझा जा सकता है।

२. **धार्मिक इतिहास**—धर्म या सम्प्रदाय पर आश्रित भाषा सम्बन्धी अनेक समस्याओं का उत्तर देता है। जैसे—भारत में हिन्दी-उर्दू-समस्या; हिन्दुओं की भाषा में संस्कृत शब्दों की बहुलता और मुसलमानों की भाषा में अरबी, फारसी के शब्दों की अधिकता। भाषा-विज्ञान के अध्ययन से ही धर्म के प्राचीन रूप का ज्ञान होता है।

३. **सामाजिक इतिहास**—समाज में प्रचलित परम्पराएँ किस प्रकार भाषा को प्रभावित करती हैं, यह सामाजिक इतिहास के द्वारा ही ज्ञात होता है। जिस प्रकार भारतीय भाषाओं में माता-पिता आदि के अतिरिक्त जीजा-जीजी, साला-साली, चाचा-चाची, नाना-नानी, दादा, मौसा, फूफा आदि शब्दों की अधिकता है, उसी प्रकार विदेशी भाषाओं में इतने सम्बन्ध-बोधक शब्दों का अभाव पाया जाता है। अंग्रेजी का Brother-in-law शब्द जीजा, साला आदि अनेक शब्दों के लिए प्रयुक्त होता है। इस प्रकार इतिहास अनेक रूप में भाषा-विज्ञान का सहयोगी है।

(छ) भाषा-विज्ञान और भूगोल

भाषा-विज्ञान का भूगोल से निकट सम्पर्क है। भूगोल कई रूपों में भाषा-विज्ञान की सहायता करता है—

१. भौगोलिक परिस्थितियों का वहाँ के निवासियों पर प्रभाव पड़ता है। अतः भौगोलिक आधार पर उच्चारण में भी अन्तर पाया जाता है। शीतप्रधान देशों में शीत के कारण मुँह कम खोलने के अभ्यास के कारण उच्चारणों में अस्पष्टता रहती है। श-स ध्वनियों में अन्तर का अभाव होता है, आदि। उष्ण देशों में सरलता से मुँह खोलने के कारण उच्चारणों में अधिक स्पष्टता और ध्वनियों की अधिकता रहती है।

२. विश्व की सहस्रों भाषाओं के सीमा-निर्धारण में भूगोल की सहायता ली जाती है। भौगोलिक ज्ञान से ही प्रत्येक भाषा का सीमा-निर्धारण होता है। जिन सीमावर्ती स्थानों पर दो या तीन विभिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं, वहाँ पर भूगोल के साथ ही भाषा-वैज्ञानिक साधनों को भी अपनाया जाता है। जिस भाषा-तत्त्व की वहाँ प्रमुखता होती है, उसके

आधार पर उस क्षेत्र को किसी विशिष्ट भाषा के अन्तर्गत घोषित किया जाता है।

३. भौगोलिक पदार्थों के ज्ञान में भी भूगोल की आवश्यकता पड़ती है। वृक्ष, वनस्पति, नदी, पर्वत, प्रदेश, देश, द्वीप, महाद्वीप आदि के यथार्थ ज्ञान के लिए भूगोल की ही सहायता ली जाती है। सोमलता, सैन्धव (घोड़ा, नमक), उष्ट्र (ऊँट, भैंसा), कश्मीरज (केसर), अर्व देश (अरब) आदि शब्दों के अर्थ के ज्ञान के लिए भूगोल की सहायता आवश्यक है।

४. भाषा-विज्ञान की एक शाखा भाषा-भूगोल पर ही पूर्णतया निर्भर है।

५. किसी भाषा का कम या अधिक विस्तार भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर है। समस्थलों की भाषा अधिक विस्तृत क्षेत्र में फैलती है और विषम पर्वत आदि से युक्त स्थलों की भाषा अल्प क्षेत्र तक सीमित रहती है।

६. भाषाओं में परिवर्तन का आधार भी भौगोलिक परिस्थितियाँ हैं। समस्थलों की भाषा में परिवर्तन की अधिक संभावना रहती है और ऐसी भाषाओं में परिवर्तन अधिक दृष्टिगोचर होता है। विषमस्थलों की भाषा में परिवर्तन कम होता है। उनमें स्थिरता अधिक रहती है। भौगोलिक परिस्थिति के कारण ही उच्च जर्मन (High German) और निम्न जर्मन (Low German) में ध्वनि-परिवर्तनों का कारण सरलता से समझा जा सकता है।

(ज) भाषा-विज्ञान और दर्शन

भाषा-विज्ञान का दर्शन से घनिष्ट सम्बन्ध है। भाषा-विज्ञान का अर्थ-विज्ञान विशेष रूप से दर्शन-शास्त्र से सम्बद्ध है। विश्व के प्राय: सभी देशों में शब्द और अर्थ के चिन्तन का प्रारम्भ दार्शनिकों ने ही किया है। शब्द का क्या स्वरूप है? अर्थ क्या है? शब्दशक्तियाँ क्या और कितनी हैं? शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है या नहीं? भाषा का मूल तत्त्व पद है या वाक्य? आदि प्रश्नों पर भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिकों ने ही सर्वप्रथम चिन्तन किया है। यूरोप में भाषा-विषयक विवेचन दर्शन से ही प्रारम्भ हुआ है। यूनानी दार्शनिकों ने भाषा-विषयक विवेचन किया है। भारत में वैदिक वाङ्मय में भाषा-विषयक विवेचन मूल रूप में प्राप्त होता है। इसका विकास दर्शन ग्रन्थों में, विशेष रूप से भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय में प्राप्त होता है। वैयाकरणों का स्फोटवाद, मीमांसकों का शब्द-नित्यतावाद, नैयायिकों का जातिवाद, बौद्धों का अपोहवाद, पदवादी भाट्टों का अभिहितान्वयवाद, वाक्यवादी प्राभाकरों का अन्विताभिधानवाद—आदि सिद्धान्तों का आधार दर्शन ही है। ऋग्वेद में 'चत्वारि वाक्०' के द्वारा परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी आदि चार विभाग बनाये हैं। ये दर्शन पर ही आश्रित हैं। दर्शन-शास्त्र ने अर्थ-तत्त्व पर अधिक विवेचन किया है। इसके विपरीत तन्त्र ग्रन्थों में शब्द पर विवेचन किया गया है। कतिपय भाषाशास्त्री भाषा-विज्ञान के प्रमुख अंग अर्थ-विज्ञान को दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत ही मानते हैं। वे भाषाविज्ञान में अर्थ-विज्ञान को स्थान देना उचित नहीं समझते हैं। उपर्युक्त विषयों में से कुछ विषय ऐसे हैं, जिनको पूर्णरूप से भाषा-विज्ञान का

विषय नहीं कहा जा सकता है, तथापि ये विषय अंशतः भाषा-विज्ञान से अवश्य सम्बद्ध हैं। अतः भाषा-विज्ञान और दर्शन-शास्त्र का घनिष्ट सम्बन्ध सिद्ध होता है।

(झ) भाषा-विज्ञान और तर्कशास्त्र

भाषा-विज्ञान और तर्कशास्त्र का बहुत अधिक सम्बन्ध न होने पर भी तर्कशास्त्र का उपयोग भाषा-विज्ञान में होता है। तर्कशास्त्र का प्रधान नियम कारण-कार्य-भाव भाषा-विज्ञान की समस्याओं को सुलझाने में सहायक होता है। भाषा में परिवर्तन, अर्थों में परिवर्तन, वाक्यविन्यास में परिवर्तन आदि के कारण की जिज्ञासा तर्कशास्त्र के आधार पर ही होती है। इसी तर्कशास्त्रीय प्रवृत्ति के कारण भाषा की उत्पत्ति, विकास, ध्वनि-परिवर्तन आदि के कारणों का अनुसंधान किया जाता है। तर्कशास्त्र की अन्वय-व्यतिरेक पद्धति भाषा-विज्ञान के लिए भी उतनी ही उपादेय है।

(ञ) भाषा-विज्ञान और मानव-विज्ञान

भाषा-विज्ञान मानव-विज्ञान से भी सम्बद्ध है। मानव-विज्ञान मानव के विकास का अध्ययन करता है। मानव का सभ्यता, संस्कृति, कला, विज्ञान आदि की दृष्टि से किस प्रकार विकास हुआ, इसका विवेचन करता है। संस्कृतियाँ, धार्मिक विश्वास, अंध-विश्वास, परम्पराएँ, धर्म, पर्व आदि का कैसे विकास हुआ और इनमें क्या-क्या परिवर्तन हुए, इसका अध्ययन प्रस्तुत करता है। भाषा मानव की भावाभिव्यक्ति का प्रधान साधन है, अतः विकास के सभी स्तर भाषा के माध्यम से ज्ञात होते हैं। अर्थ-विकास, अर्थ-संकोच और अर्थादेश की प्रक्रिया का ज्ञान मानव-विज्ञान की सहायता से सरलता से होता है। मानव-विज्ञान की सहायता से भाषा के आदिम स्वरूप का पता लगाया जाता है। विविध संस्कृतियाँ भाषा को किस प्रकार प्रभावित करती हैं, इसमें मानव-विज्ञान भाषा-विज्ञान का सहायक है। किस प्रकार अशुभ, अमंगल-वाचक या घृणा-वाचक शब्दों के लिए शुभ शब्दों का प्रयोग किया जाता है, यह मानव-विज्ञान ही बताता है। यथा—चेचक के लिए 'माता', मृत शरीर के लिए 'मिट्टी', विष्ठा के लिए शौच, टट्टी, दिशा आदि शब्द, अंधे के लिए सूरदास या प्रज्ञाचक्षु, सर्प के लिए कीड़ा आदि।

इस प्रकार भाषा-विज्ञान मानव-विज्ञान से सम्बद्ध है।

(ट) भाषा-विज्ञान और समाज-विज्ञान

भाषा सामाजिक वस्तु है। सामाजिक परिवर्तनों के साथ ही भाषा में भी परिवर्तन और विकास होता है। समाज-विज्ञान में मानव के आचार-विचार, आहार-व्यवहार आदि का विवेचन होता है। भाषा में रीति-रिवाज, शिष्टाचार, आचार-विचार और व्यवहार के सैकड़ों शब्द हैं, जिनकी व्याख्या समाज-विज्ञान के ज्ञान से ही सरलता से हो सकती है। समाज-विज्ञान की सहायता से ही यह बताया जा सकता है कि कैसे विकास या ह्रास के

कारण शब्दों के रूप परिवर्तित हुए और अर्थ-परिवर्तन हुआ। जैसे—उपाध्याय—ओझा या झा, चतुर्वेदी—चौबे, त्रिवेदी—तिवारी, द्विवेदी—दूबे, शुक्ल—शुक्ला या सुकुल आदि शब्द मूल रूप में योग्यता-वाचक थे, बाद में जाति-वाचक हो गये। किस प्रकार धार्मिक विद्वेष के कारण अशोक का 'देवानां प्रियः', 'देवानां प्रिय इति च मूर्खे', मूर्ख-वाचक हो गया। दास, दस्यु, अनार्य, काफिर, फिरंगी आदि शब्दों के पीछे इतिहास भरा हुआ है, जो समाज-विज्ञान से ही जाना जा सकता है। इसी प्रकार काव्यशास्त्र, गणित, यांत्रिकी और सांख्यिकी आदि से भी भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध है।

अध्याय २

भाषा की परिभाषा और विविध रूप

१. भाषा का अर्थ
२. भाषा की परिभाषा
३. भाषा के अनेक रूप
४. बोली, विभाषा और भाषा
५. भाषा का आधार
   (क) मानसिक आधार
   (ख) भौतिक आधार
६. भाषा का द्विविध आश्रय
७. भाषा के तीन पंक्ष
८. भाषा और वाक्
९. साहित्यिक भाषा और जनभाषा का अन्तर
१०. भाषा की विशेषताएँ
११. भाषा का व्यवहार

अध्याय २

भाषा की परिभाषा और विविध रूप

२.१. भाषा का अर्थ

भाषा शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में प्रचलित है। भावाभिव्यक्ति के सभी साधनों को सामान्य रूप से भाषा कह दिया जाता है। इस प्रकार के अर्थों में पशु-पक्षियों की बोली, इंगित, विभिन्न संकेत और मानव की भाषा को भाषा शब्द के द्वारा ग्रहण किया जाता है।

(क) पशु आदि की बोली—पशु-पक्षियों की बोली के लिए भी भाषा शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे—कुत्तों की भाषा, बन्दरों की भाषा। गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण में कहा है—'**समुझइ खग खग ही कै भाषा**' (उत्तरकाण्ड, ६२-९, गीता प्रेस संस्करण) इसमें खग की बोली को भाषा कहा है। पशु-पक्षी विभिन्न संकेतों से अपने मनोभावों को प्रकट करते हैं।

(ख) इंगित—इंगित को भी भाषा कहा जाता है। हाथ, आँख, सिर आदि के हिलाने आदि के द्वारा विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति की जाती है। सिर सामने नीचा करने से 'हाँ' का अर्थ और दायें-बायें हिलाने से 'नहीं' का अर्थ सूचित किया जाता है। इसी प्रकार आँखों के इशारे से चलने आदि का संकेत होता है। इस प्रकार आंगिक संचालन या इंगित को भी भाषा कह दिया जाता है।

(ग) संकेत-चिह्न या सांकेतिक भाषा—स्काउट, सैनिक और नाविक आदि झण्डे की सहायता से दूरस्थ अपने साथियों को विभिन्न संकेत भेजते हैं। गार्ड की लाल और हरी झण्डी, रेलवे लाइन पर लगे लाल और हरे सिगनल, बड़े नगरों में चौराहे पर लगी लाल, हरी और पीली बत्तियाँ 'रुकना' और 'जाना' अर्थों को प्रकट करती हैं। तार और वायरलेस की भाषा भी सांकेतिक है। इस प्रकार के संकेतों को भी तार की भाषा आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है।

(घ) मानवीय व्यक्त भाषा—मानव अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए जिस व्यक्त वाणी का उपयोग करता है, उसे भाषा कहते हैं। विचार करने से ज्ञात होता है कि उपर्युक्त प्रथम तीन भेद अपूर्ण और अस्पष्ट हैं। उनके द्वारा गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती है।

भाषा-विज्ञान में जिस भाषा का ग्रहण है वह सांकेतिक आदि से भिन्न मानवीय व्यक्त वाणी है। भाषा शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देने से इस अर्थ की पुष्टि होती है। भाषा शब्द संस्कृत की भाष् (भ्वादिगणी) धातु से बना है। भाष् धातु का अर्थ है—

(भाष व्यक्तायां वाचि) व्यक्त वाणी। 'भाष्यते व्यक्तवाग् रूपेण अभिव्यज्यते इति भाषा', अर्थात् व्यक्त वाणी के रूप में जिसकी अभिव्यक्ति की जाती है, उसे 'भाषा' कहते हैं। वस्तुतः प्रथम तीन अर्थों में भाषा शब्द का प्रयोग गौण रूप में होता है। मुख्य रूप में भाषा शब्द से मानवीय व्यक्त वाणी का ही ग्रहण होता है, क्योंकि इस व्यक्त भाषा के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानवीय भावों को प्रकट किया जा सकता है।

२.२. भाषा की परिभाषा

स्फुटवाक्करणोपात्तो, भावाभिव्यक्तिसाधकः।
संकेतितो ध्वनिव्रातः सा भाषेत्युच्यतेबुधैः॥ (कपिलस्य)

भाषा की परिभाषा के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। अभी तक सर्वसम्मत भाषा का कोई लक्षण नहीं है। संघटनात्मक दृष्टि से भाषा-शास्त्रियों ने भाषा की परिभाषा की है कि—

भाषा यादृच्छिक वाचिक ध्वनि-संकेतों की वह पद्धति है, जिसके द्वारा मानव परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता है।[1]

इस परिभाषा में चार बातों पर ध्यान आकृष्ट किया गया है—१. भाषा एक पद्धति है, २. भाषा संकेतात्मक है, ३. भाषा वाचिक ध्वनि-संकेत है, ४. भाषा यादृच्छिक संकेत है। इन चार विशेषताओं का विवरण समझ लेना उचित है।

१. भाषा एक पद्धति है—भाषा एक सुसम्बद्ध और सुव्यवस्थित योजना या संघटना है, जिसमें कर्ता, कर्म, क्रिया आदि व्यवस्थित रूप से आ सकते हैं। सुव्यवस्थित पद्धति होने के कारण पद-रचना और वाक्य-रचना के विभिन्न नियम हैं, जिनका पालन करना अनिवार्य होता है। किन शब्दों-रूपों में तृतीया एकवचन में न् का ण् होगा, किन में नहीं। किन शब्दों में तृतीया एकवचन में आ लगेगा, कहाँ ना लगेगा, इन (एन) लगेगा। इस व्यवस्था का ही फल है कि किसी भी भाषा का भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन और विश्लेषण किया जाता है और विभिन्न नियम बनाये जाते हैं।

२. भाषा संकेतात्मक है—प्रत्येक भाषा में जो ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं, उनका किसी वस्तु या क्रिया या कार्य से सम्बन्ध होता है। ये ध्वनियाँ प्रतीकात्मक होती हैं। इनका किसी विशेष वस्तु या क्रिया से मौलिक सम्बन्ध नहीं है। कोई भी ध्वनि किसी भाषा में किसी एक वस्तु का बोध कराती है और वही ध्वनि दूसरी भाषा में दूसरे अर्थ को बताती है। इस तथ्य का ध्यान रखना चाहिए कि भाषा की ध्वनियाँ केवल संकेतात्मक या प्रतीकात्मक हैं।

३. भाषा वाचिक ध्वनि-संकेत है—मनुष्य अपनी वागिन्द्रिय की सहायता से जिन संकेतों का उच्चारण करता है, वे ही भाषा के अन्तर्गत आते हैं। अन्य प्रकार के संकेत—इंगित आदि, लाल-पीली झण्डियाँ आदि, तार और वायरलेस के विभिन्न

1. A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a social group cooperates. —*Outlines of Linguistic Analysis*, B. Bloch and G.L. Trager, p. 5.

संकेत—भाषा के अन्तर्गत नहीं आते हैं। इसी प्रकार शंखनाद, भेरीनाद या बिगुल-ध्वनि आदि के संकेत, जो विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए किये जाते हैं, भाषा के अन्तर्गत नहीं आते हैं। तार के संकेतों आदि की विभिन्न विशेषताएँ हैं और उनके द्वारा बहुत सूक्ष्म कार्य किया जाता है, तथापि उनकी तुलना वाचिक ध्वनि-संकेतों से नहीं की जा सकती है। वाचिक ध्वनि-संकेत सूक्ष्मातिसूक्ष्म मूर्त और अमूर्त, दृश्य-अदृश्य, निर्वचनीय और अनिर्वचनीय, सभी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति में पूर्णतया समर्थ हैं। इन ध्वनियों की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। जिस प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण सम्भव है और इसके आधार पर ही 'ध्वनि-विज्ञान' नाम की एक शाखा प्रचलित है।

लिपि या लेखन-पद्धति भी यद्यपि भाषा का कार्य करती है, परन्तु यह मूल ध्वनियों का केवल संकेतात्मक चित्रण है, अतः लिपि को गौण रूप से भाषा कहा जाता है। इसी आधार पर उच्चरित ध्वनियों को लिपिबद्ध किया जाता है और लिपिबद्ध का तात्त्विक रूप से उच्चारण करना सम्भव होता है। यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिए कि वागिन्द्रिय से उत्पन्न सभी ध्वनियाँ सार्थक नहीं हैं और न उनका भाषा में ग्रहण ही होता है। जैसे—छींकना, खाँसना, गुर्राना, थूकना, चिल्लाना आदि। इनका भाषा-शास्त्र की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है और न इनका विवेचन ही किया जाता है।

४. भाषा यादृच्छिक संकेत है—विभिन्न भाषाओं के अध्ययन से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि भाषा में जिन ध्वनि-संकेतों का उपयोग किया जाता है, वे पूर्णतया यादृच्छिक (ऐच्छिक) हैं। किसी भी विशेष ध्वनि का किसी विशेष अर्थ से मौलिक या दार्शनिक सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक भाषा में किसी विशेष ध्वनि को किसी विशेष अर्थ का वाचक मान लिया जाता है और वह परम्परा के अनुसार उसी अर्थ का वाचक हो जाता है। दूसरी भाषा में अन्य शब्द उस अर्थ का बोध कराता है।

यदि हम बालक की भाषा-शिक्षण-पद्धति को ध्यान में रख कर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि बालक अपने माता-पिता एवं सम्बन्धियों के द्वारा उच्चरित ध्वनि-संकेतों का अनुकरण करता है। वे जिसे माता, पिता, भाई, बहिन, गाय, घोड़ा कहते हैं, वह भी उसी प्रकार उन्हें उन नामों से पुकारता है। गाय को गाय और घोड़े को घोड़ा क्यों कहते हैं, इसका विवेचन नहीं करता। इस प्रकार एक समाज में कुछ विशिष्ट शब्द प्रचलित होते हैं, और वह समाज उन विशेष अर्थों को ग्रहण करता है। दूसरे समाज में पला हुआ व्यक्ति उन्हीं अर्थों को व्यक्त करने के लिए पूर्णतया भिन्न शब्दों का प्रयोग करता है। जैसे—अंग्रेज़ी परिवार में पला हुआ बालक उपर्युक्त अर्थों को व्यक्त करने के लिए बचपन से ही मदर, फादर, ब्रदर, सिस्टर, काउ, हॉर्स आदि शब्दों का प्रयोग करता है। इसी प्रकार जर्मन, फ्रेंच, रूसी, चीनी आदि भाषाओं में इन अर्थों के लिए अलग-अलग शब्द हैं। यदि किसी विशेष अर्थ के लिए किसी विशेष ध्वनि का ही नियंत्रण होता तो यह परिवर्तन सम्भव न होता। इससे स्पष्ट है कि भाषा में प्रयुक्त सभी संकेत यादृच्छिक हैं। जिस भाषा में जिस अर्थ के लिए जो संकेत स्वीकृत है, वही अर्थ उस भाषा में लिया जाता है।

यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि यह संकेत पूर्णतया यादृच्छिक नहीं है।

प्रत्येक भाषा में यह संकेत रूढ़ हो गये हैं। उस भाषा में व्यक्ति-विशेष अपनी इच्छानुसार नये ध्वनि-संकेत का किसी विशेष अर्थ में प्रयोग तक तब नहीं कर सकता है, जब तक उसको सामाजिक स्वीकृति प्राप्त न हो गई हो। अतएव संस्कृत में संकेत के लिए 'समय' शब्द का प्रचलन है, जिसका अर्थ है—सामाजिक स्वीकृति। यदृच्छा के साथ में यह सामाजिक स्वीकृति अनिवार्य अंग है।

इस विवेचन से ज्ञात होता है कि भाषा एक व्यवस्थित पद्धति है। इसमें संकेतों के आधार पर अपने भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। ये संकेत वागिन्द्रिय द्वारा जन्य ही होने चाहिए और इस संकेतों का आधार यदृच्छा या मानवीय कल्पना हो। भाषा के इस मौलिक स्वरूप को समझ लेने से उनकी भ्रान्त धारणाओं और अंध-विश्वासों का समूल उन्मूलन हो जाता है।

२.३. भाषा के अनेक रूप

भाषा वह इकाई है, जिसका सम्बन्ध मानव जाति के सबसे छोटे अवयव व्यक्ति से लेकर विश्वमानव की समष्टि तक है। संसार का एकान्त में पड़ा हुआ भी व्यक्ति किसी भाषा का प्रयोग करता है और एक विश्व-विख्यात व्यक्ति भी किसी विशेष भाषा का प्रयोग करता है। काल-भेद, स्थान-भेद, देश-भेद, स्तर-भेद आदि के आधार पर भाषाओं की अनेकरूपता दृष्टिगोचर होती है। भाषा की अनेकरूपता के चार आधार माने गये हैं—१. इतिहास, २. भूगोल, ३. प्रयोग, ४. निर्माता।

१. इतिहास के आधार पर भेद—सर्वप्रथम वैदिक संस्कृत, उसके बाद साहित्यिक संस्कृत, फिर पालि, तत्पश्चात् प्राकृत और उससे अपभ्रंश, फिर आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएँ। संस्कृत से वर्तमान भारतीय आर्य-भाषाओं तक के इस भेद का आधार ऐतिहासिक है। काल-क्रम से भाषा में भेद आता है और उस भेद के आधार पर भाषा में परिवर्तन और रूपान्तरण होता है। विश्व की प्रत्येक भाषा में इस प्रकार का परिवर्तन प्राप्त होता है। इस परिवर्तन का कारण काल-भेद या इतिहास है।

२. भूगोल के आधार पर भेद—भौगोलिक आधार पर भाषा के जो अनेक रूप हो जाते हैं, उसके आधार पर उनके पृथक् नाम रखे जाते हैं। अपभ्रंश से विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाएँ निकली हैं और भौगोलिक या प्रान्तीय आधार पर उनके अनेक रूप हो गये हैं। जैसे—हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, भोजपुरी, बिहारी, उड़िया, बंगाली आदि। इसका क्षेत्र बोली से अधिक विस्तृत होता है। यह प्राय: प्रदेश या प्रान्तीय स्तर की भाषा होती है।

३. प्रयोग के आधार पर भेद—प्रयोक्ता कौन है? इस आधार पर भाषा के अनेक रूप होते हैं। प्रयोक्ता किस वर्ग, जाति, धर्म आदि से सम्बद्ध है, तदनुसार भाषा के अनेक रूप हो जाते हैं। जैसे—साहित्यिक भाषा, राजभाषा, राष्ट्रभाषा, शुद्ध भाषा, अशुद्ध भाषा, ग्रामीण बोली आदि। प्रयोग के आधार पर जो भाषा का भेद किया जा सकता है, उसके तीन आधार माने जाते हैं—१. प्रयोग का क्षेत्र, २. साधुत्व (भाषा साधु है या असाधु),

३. प्रचलन (भाषा प्रचलित है, जीवित है या मृत)।

४. निर्माता के आधार पर भेद—भाषा का निर्माता कौन है? उसका क्या स्तर है? इस आधार पर भी अनेक रूप होते हैं। यदि किसी भाषा का निर्माता समाज या देश है तो उस भाषा का क्षेत्र विस्तृत होता है। वह परम्परागत रूप से प्रचलित रहती है। समाज की स्वीकृति के कारण वह भाषा का स्थान लेती है। इसके विपरीत यदि भाषा का सम्बन्ध व्यक्तिविशेष से है या छोटे वर्ग से है तो वह कृत्रिम भाषा या बोली का स्थान ले पाती है।

भाषा के अन्य कई गौण आधारों पर भी भेद किये जा सकते हैं। जैसे—संस्कृति, ग्राह्यता, सुबोधता, मिश्रण आदि के आधार पर अनेक भेद, उपभेद सम्भव हैं। परन्तु इस आधार पर किये गये भेदों का अध्ययन प्रचलित नहीं है।

भाषा की अनेकरूपता को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। मूल-भाषा, परिनिष्ठित या परिष्कृत भाषा, विभाषा, बोली, व्यक्तिगत बोली, अपभाषा, विशिष्ट भाषा, कूट-भाषा, कृत्रिम भाषा एवं मिश्रित।

१. मूल-भाषा—कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर विश्व की प्रत्येक भाषा का आधार कोई न कोई मूल-भाषा मानी गई है। कुछ अंशों तक यह मूल-भाषा काल्पनिक है। जैसे—इण्डोयूरोपियन या भारोपीय मूल-भाषा की कल्पना। इसका आधार यह माना गया है कि भारत और यूरोप के व्यक्ति मूल रूप में किसी एक स्थान पर रहते थे। धीरे-धीरे वे भौगोलिक या आर्थिक आदि कारणों से इधर-उधर बिखरे। उनकी मूल-भाषा इस विस्तार के साथ ही अनेक रूपों में आयी। एक ओर इसका भारतीय संस्कृत वाला रूप प्रकट हुआ, दूसरी ओर ग्रीक और लैटिन से सम्बद्ध पाश्चात्त्य रूप निखरा। इसमें अंग्रेजी भी आती है। आर्य-धारा का ही एक अंग अवेस्ता, पह्लवी, फारसी आदि के रूप में विकसित हुआ। तुलनात्मक अध्ययन पर यह मूल-भाषा स्वीकृत की गई है। परन्तु इसका कोई ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार अन्य भाषा-परिवारों की भी मूल-भाषा मानी गई है।

२. परिनिष्ठित या परिष्कृत भाषा—इसे स्तरीय भाषा, स्टैण्डर्ड भाषा (Standard Language), आदर्श भाषा या टकसाली भाषा भी कहते हैं। यह भाषा का आदर्श रूप होता है। साहित्यिक रचनाएँ इसी में होती हैं। शासन, शिक्षा एवं शिक्षित वर्ग में इसका ही प्रयोग होता है। यह भाषा व्याकरण की दृष्टि से परिष्कृत होती है। भाषा का व्याकरण इसी को आधार मानकर बनाया जाता है। अनेक समान भाषाओं में से विशिष्ट समाज या जनसाधारण में अधिक प्रचलन के आधार पर किसी एक भाषा को आदर्श भाषा मान लिया जाता है। शिक्षित वर्ग इसी का प्रयोग करता है। यह भाषा राजकीय स्तर पर स्वीकृत होने से आदर्श भाषा के रूप में व्यवहृत होती है। संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी और चीनी आदि भाषाएँ इसी श्रेणी में आती हैं। आदर्श भाषा के प्रान्तीय या प्रादेशिक रूप भी विभिन्न हो जाते हैं। इसके मौखिक और लिखित दो रूप होते हैं। 'मौखिक' में छोटे, सरल और सुबोध वाक्यों का प्रयोग होता है। 'लिखित' में बड़े और कठिन वाक्यों का भी प्रयोग होता है। लिखित रूप में कृत्रिमता की मात्रा अधिक पायी जाती है।

३. **विभाषा** (Dialect)—परिनिष्ठित या आदर्श भाषा के अन्तर्गत अनेक विभाषाएँ होती हैं। विभाषाएँ प्रायः स्थानीय भेद के आधार पर होती हैं। भौगोलिक आधार पर एक भाषा की अनेक विभाषाएँ हो जाती हैं। इसी आधार पर आदर्श-हिन्दी भाषा की अनेक विभाषाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे—राजस्थानी आदि। प्रान्तीय या उपप्रान्तीय आधार पर स्वीकृत भाषाओं को विभाषा की श्रेणी में रखा जाता है। जैसे—पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला, उड़िया, असमी आदि।

४. **बोली** (Sub-Dialect)—कतिपय विद्वानों ने विभाषा और बोली शब्द को समानार्थक माना है और उसे डाएलेक्ट (Dialect) का अनुवाद कहा है। विभाषा और बोली में आपेक्षिक अन्तर है। जो भाषाएँ प्रान्तीय स्तर पर शासन द्वारा स्वीकृत हो जाती हैं और जिनमें प्रान्तीय शासन का कार्य प्रचलित होता है, उनका स्तर उच्च हो जाता है और वे विभाषा की श्रेणी में आती हैं। इसके अतिरिक्त जो भाषाएँ प्रान्तीय स्तर पर स्वीकृत न होकर मण्डलीय स्तर पर स्वीकृत रहती हैं तथा जिनमें साहित्यिक रचनाएँ भी विद्यमान रहती हैं, उन भाषाओं को बोली की श्रेणी में लिया जाना उचित है। जैसे—हिन्दी की बोलियाँ व्रज, अवधी, कुमायूँनी, बुन्देली, भोजपुरी आदि। इनके भी स्थानीय छोटे भेद होते हैं। ये भेद जिला आदि के स्तर पर होते हैं। इन्हें उपबोली कह सकते हैं।

५. **व्यक्तिगत बोली** (Idiolect)—यह भाषा की सबसे छोटी इकाई है। एक व्यक्ति की भाषा को व्यक्तिगत बोली कहेंगे। प्रत्येक व्यक्ति की भाषा में दूसरे व्यक्ति की भाषा से अन्तर होता है। ध्वनि-भेद, स्वर-भेद, सुर-भेद आदि के आधार पर एक-एक व्यक्ति की बोली पृथक् पहचानी जाती है। इसी आधार पर केवल ध्वनि को सुनकर हम किसी व्यक्ति-विशेष को अंधकार में भी पहचान लेते हैं। व्यक्ति-भेद से भाषा में भेद आता है। इस प्रकार व्यक्तियों की पृथक्-पृथक् ध्वनियों का विश्लेषण किया जाता है। व्यक्तिगत बोली ही सामूहिक रूप प्राप्त होने पर उप-बोली बनती है। उससे बोली और विभाषा की सृष्टि होती है।

६. **अपभाषा** (Slang)—अशिष्ट, असभ्य और अपरिष्कृत भाषा को अपभाषा नाम दिया जाता है। महाभाष्यकार पतंजलि ने सर्वप्रथम अपभाषा की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। उनका कथन है—

ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। (महाभाष्य आह्निक-१)

अर्थात् ब्राह्मण या विद्वान् को म्लेच्छ भाषा और अशुद्ध भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अंग्रेजी में स्लैंग शब्द के द्वारा जिस अर्थ को व्यक्त किया जाता है, उसी अर्थ को अपभाषा शब्द व्यक्त करता है। अपभाषा में निम्नलिखित बातें होती हैं—

(क) व्याकरण के नियमों की उपेक्षा—अतएव शब्दों की शुद्धि और अशुद्धि का ध्यान न रखते हुए प्रयोग किया जाता है। एकर—इसका, ओकर—उसका, गउवाँ—गाँव, गवां—गया आदि।

(ख) अपरिष्कृत वाक्य-रचना—जैसे—यद् वा नः, तद् वा नः हमारे लिए जो भी हो, के स्थान पर यर्वाणः, तर्वाणः (महाभाष्य)। मैं बोला (मैंने कहा), मेरे से ये काम

नहीं होगा (मुझसे यह काम नहीं होगा)।

(ग) अशिष्ट शब्द-प्रयोग—शिष्ट समाज में अनुचित माने गये शब्दों का प्रयोग करना। जैसे—रंडा-पुत्रः, वन्ध्यापुत्रः। अरे, अबे आदि सम्बोधन। गालीवाचक सभी शब्द, आदि।

(घ) अपरिष्कृत मुहावरों का प्रयोग—इसमें मनगढ़न्त मुहावरों का प्रयोग समन्वित है। अर्थविज्ञान की दृष्टि से कहीं पर अर्थविस्तार है और कहीं पर अर्थ-संकोच। जैसे—मारकर भुस भरना, मक्खन लगाना, मक्खनबाजी, पिटाई को हजामत बनाना या कचूमर निकालनां।

अपभाषा शैक्षिक और सामाजिक दृष्टि से निम्न वर्ग में प्रचलित रहती है। इसका प्रयोग वर्गविशेष और समाजविशेष में ही प्रचलित है। निम्न वर्ग के व्यक्तियों में और समवयस्क लोगों के हास्य-प्रमोद में इसका प्रचलन देखा जाता है। महाभाष्यकार पतंजलि ने इसको अपभाषा या म्लेच्छभाषा नाम से सम्बोधित किया है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अपभाषा का अध्ययन भाषा-विषयक और सांस्कृतिक अनेक तथ्यों का परिचायक होता है।

७. विशिष्ट भाषा (Professional Language)—व्यक्ति समाज का अंग है। प्रत्येक व्यक्ति किसी समाज या वर्ग से सम्बद्ध होता है। प्रत्येक वर्ग की कुछ विशेष व्यावसायिक या पेशे की शब्दावली होती है, जिसका उसके जीवन से प्रतिपल सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार विभिन्न व्यवसायों के आधार पर भाषा के अनेक रूप समाज में दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे—किसान, मजदूर, लोहार, दर्जी, शिक्षक, वकील, डॉक्टर, पुरोहित, मुल्ला, पादरी आदि की अपने व्यवसाय के अनुसार अलग-अलग शब्दावली होती है। इसी प्रकार विभिन्न विषयों राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, वाणिज्य, मनोविज्ञान और विभिन्न विज्ञानों की अपनी विशिष्ट शब्दावली होती है, जो उस विषय से सम्बद्ध व्यक्तियों में ही चलती है। विशिष्ट शब्दावली के आधार पर यह निर्णय किया जा सकता है कि उस व्यक्ति का किस व्यवसाय से सम्बन्ध है। इस प्रकार एक पण्डित की शब्दावली में संस्कृतनिष्ठ शब्दों की बहुलता, मौलवी की शब्दावली में अरबी और फारसी शब्दों की बहुलता, अंग्रेज़ी पढ़े लोगों की बोलचाल में अंग्रेज़ी शब्दों की बहुलता, वकीलों की भाषा में अंग्रेजी या उर्दू-फारसी के शब्दों की अधिकता दृष्टिगोचर होती है।

८. कूट-भाषा (Secret Language)—कूट-भाषा का उपयोग मनोरंजन और अपह्नुति के लिए किया जाता है। इसमें कुछ विशिष्ट शब्दों का विशेष अर्थ में प्रयोग होता है। जो उन संकेतों को जानता है, वह ही उसका अर्थ समझ सकता है। इस प्रकार की भाषा का प्रयोग राजनीतिज्ञों, विद्रोहियों, क्रान्तिकारियों, चोरों और डाकुओं आदि में प्रचलित होता है। कहीं इसका उद्देश्य मनोरंजन होता है और कहीं बात को छिपाना। भारतीय क्रान्ति के समय क्रान्तिकारी अपने पत्रों में गोपन के लिए बम को रसगुल्ला लिखते थे। राजनीतिज्ञों के तार या पत्रों में ऐसी ही भाषा का प्रयोग होता है। 'आन्दोलन तेजी पर है' के लिए 'गर्मी बढ़ रही है'। इसी प्रकार 'पिटाई' के लिए 'स्वागत करना' आदि प्रयोग होते हैं। कहीं पर कूट-भाषा का प्रयोग वर्ण-परिवर्तन के

द्वारा भी प्रस्तुत किया जाता है। जैसे—चाकू को काचू, पानी को नीपा आदि। चोर-डाकू आदि गोपन की दृष्टि से ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं, जो उनके साथी ही समझ सकते हैं। जैसे—इनको अमर कर दो (मार डालो), प्रसाद देना (जहर देना), नारायण (नाले में डाल दो)। इसी प्रकार शिक्षित युवा वर्ग भी अपने उपयोग के लिए विशेष अर्थों में नये शब्द गढ़ लेते हैं और पत्र आदि में उसका ही उपयोग करते हैं। काव्यशास्त्र में विपरीत लक्षणा, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति और अपह्नुति आदि में कूट-प्रयोग आधार रूप में है। कूट-भाषा के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं पर वर्ण-परिवर्तन, वाक्य-परिवर्तन, प्रत्येक शब्द के साथ कुछ अक्षर जोड़ते जाना, अक्षरों के लिए अंकों का प्रयोग आदि।

६. कृत्रिम भाषा (Artificial Language)—कृत्रिम भाषा परम्परागत या स्वभावसिद्ध नहीं है। यह भाषा की सुबोधता और सुगमता को लक्ष्य में रखकर बनायी जाती है। इस दृष्टि से डॉ० जमेनहाफ की बनायी एस्परेन्तो भाषा विश्व में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। विश्व भर में इसका प्रचार है। अनेक पत्र-पत्रिकाएँ इस भाषा में निकलती हैं। इसका प्रयोग करने वालों की संख्या ८० लाख से अधिक बतायी जाती है। कुछ रेडियो स्टेशनों से इस भाषा में कार्यक्रम भी प्रस्तुत किये जाते हैं। इसका उद्देश्य है—भाषा-भेद से उत्पन्न होने वाली असुविधाओं को दूर करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के योग्य एक सामान्य भाषा को प्रस्तुत करना। इस प्रकार की एक दर्जन से अधिक भाषाएँ प्रस्तुत की जा चुकी हैं। जिनमें आक्सिडेण्टल, इण्टरलिंगुआ, नोवियल आदि मुख्य हैं। कृत्रिम भाषा की कुछ न्यूनताएँ भी हैं, जिनके कारण इनका प्रचलन विस्तृत जनसमाज में सम्भव नहीं है। ये न्यूनताएँ हैं—१. यह कामचलाऊ भाषा होती है। इसमें गम्भीर विषयों का विवेचन सम्भव नहीं। २. इसमें उच्च साहित्य का निर्माण सम्भव नहीं। ३. इसमें हार्दिक मनोभावों का विवेचन या विश्लेषण सम्भव नहीं। ४. यह मातृ-भाषा का स्थान या गौरव नहीं प्राप्त कर सकती है। ५. भौगोलिक भेद के आधार पर ध्वनि-भेद होने से उसमें एकरूपता सम्भव नहीं है।

२.४. बोली, विभाषा और भाषा

ऊपर भाषा के विभिन्न स्वरूपों का उल्लेख किया गया है। संसार की समस्त भाषाओं को विभिन्न कोटियों में बाँटा जाता है। इस वर्गीकरण का आधार आकृतिमूलक आदि वर्गीकरणों के अतिरिक्त बोली, विभाषा और भाषा तीन रूपों में किया जाता है। उसका ही संक्षिप्त रूप यहाँ दिया जाता है—

१. बोली (Sub-dialect)—बोली भाषा की छोटी इकाई है। इसका सम्बन्ध ग्राम या मण्डल से रहता है। इसमें व्यक्तिगत बोली की प्रधानता रहती है। इसमें घरेलू शब्द और देशज शब्दों का भी पर्याप्त प्रभाव रहता है। यह मुख्य रूप से बोल-चाल की भाषा होती है। इसमें साहित्यिक रचना आदि का अभाव रहता है। एक विभाषा में स्थानीय भेदों के आधार पर कई बोलियाँ प्रचलित रहती हैं। इसके लिए फ्रांसीसी शब्द पात्वा (Patois) प्रचलित है। यद्यपि पात्वा की सभी विशेषताएँ बोली में प्राप्य नहीं हैं,

तथापि बोली के लिए इसका प्रचलन है। भाषाशास्त्रियों ने पात्वा की चार विशेषताएँ मानी हैं। (क) यह डाएलेक्ट का छोटा और स्थानीय रूप है। (ख) यह साहित्यिक भाषा नहीं होती है। (ग) यह व्याकरण की दृष्टि से असाधु भाषा होती है। (घ) इसके प्रयोक्ता अशिक्षित या निम्न स्तर के व्यक्ति होते हैं। पात्वा की अधिकांश विशेषताएँ बोली में प्राप्त होती हैं, अतः बोली को सामान्य रूप से पात्वा कहा जा सकता है। जैसे—व्रज, अवधी और भोजपुरी के स्थानीय आधार पर अनेक रूप देखे जाते हैं। भोजपुरी के गाजीपुर, बलिया, शाहाबाद आदि जिलों में थोड़े परिवर्तन से जिला स्तर पर विभिन्न रूप मिलते हैं।

२. **विभाषा** (Dialect)—विभाषा का क्षेत्र बोली की अपेक्षा विस्तृत होता है। यह एक प्रान्त या उपप्रान्त में प्रचलित होती है। इसमें साहित्यिक रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। जैसे—हिन्दी की विभाषाएँ प्रचलित हैं—खड़ी बोली, व्रज भाषा, अवधी, भोजपुरी आदि। विभिन्न बोलियाँ राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि आधार पर अपना क्षेत्र बढ़ा सकती हैं और साहित्य-रचना आदि के आधार पर वे अपना स्थान बोली से उच्च करते हुए विभाषा स्तर पर प्रचलित होने पर ही राजनीतिक, सांस्कृतिक या साहित्यिक गौरव के कारण भाषा का स्थान प्राप्त कर लेती हैं। जैसे—खड़ी बोली मेरठ, बिजनौर आदि की विभाषा होते हुए राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत होने के कारण राष्ट्रभाषा के पद पर अधिष्ठित हुई। इसी प्रकार प्रचलन के आधार पर विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं ने अपने-अपने प्रान्तों में गौरव का स्थान प्राप्त किया है।

बोली और विभाषा निम्नलिखित कारणों से महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती हैं।

(क) जब कोई बोली या विभाषा अपनी सहयोगिनी बोलियों से पृथक् होती है या अकेली शेष रह जाती है तो उसका स्थान महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

(ख) साहित्यिक श्रेष्ठता के आधार या साहित्य-रचना के आधार पर भाषा का स्थान उच्च हो जाता है। सूर-काव्य के कारण व्रज भाषा का और तुलसी के काव्य-ग्रन्थों से अवधी का महत्त्व बढ़ा। साहित्यिक अभिवृद्धि के कारण ही खड़ी बोली राष्ट्र-भाषा पद पर अधिष्ठित हुई।

(ग) सांस्कृतिक या धार्मिक श्रेष्ठता के आधार पर मथुरा, राम-भक्ति के आधार पर अयोध्या का महत्त्व बढ़ा। इस प्रकार व्रज और अवधी को धार्मिक एवं सांस्कृतिक आधार पर बल मिला। आर्यसमाज ने खड़ी बोली को अपने सांस्कृतिक प्रचार का आधार बनाया, अतः उसके प्रचार-क्षेत्र में खड़ी बोली का गौरव बढ़ा।

(घ) प्रयोक्ताओं का महत्त्वपूर्ण होना भाषा को महत्ता प्रदान करता है। अंग्रेज़ और अमरीकी अपनी व्यापारिक उन्नति आदि के द्वारा विश्व में फैले हुए हैं, अतः अंग्रेज़ी भाषा को विश्व में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार रूसी, फ्रेंच और जर्मन भाषाओं की अभिवृद्धि में इनके प्रयोक्ताओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

(ङ) राजाश्रय प्राप्त होने से कोई भी विभाषा भाषा बन जाती है। राजाश्रय के आधार पर अंग्रेज़ी राजभाषा के पद पर अधिष्ठित हुई। इसी प्रकार मुगलकाल में उर्दू और

फारसी को राजभाषा घोषित किया गया था। राजनीतिक आधार पर ही खड़ी बोली को राष्ट्रभाषा का स्थान प्राप्त हो सका है, क्योंकि वह केन्द्रस्थल दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्रों की बोली थी।

३. भाषा, परिनिष्ठित या आदर्श भाषा (Standard Language)—इसको राष्ट्रभाषा या टकसाली भाषा भी कहते हैं। विभिन्न विभाषाओं में से कोई एक विभाषा अपने गुण-गौरव, साहित्यिक-अभिवृद्धि, जन-सामान्य में अधिक प्रचलन या राजाश्रय आदि के आधार पर राजकार्य के लिए चुन ली जाती है और उसको राष्ट्रभाषा या राजभाषा के रूप में घोषित किया जाता है।

संक्षेप में बोली, विभाषा और भाषा का अन्तर यह कहा जा सकता है कि बोली स्थानीय भाषा है, इसका क्षेत्र जिला या कमिश्नरी तक सीमित होता है। विभाषा का क्षेत्र इससे बड़ा होता है। वह प्रान्तीय भाषा के रूप में व्यवहृत होती है। राजभाषा या राष्ट्रभाषा के लिए भाषा शब्द का प्रयोग उचित है।

बोली, विभाषा और भाषा का मौलिक अन्तर बताना संभव नहीं है। ये भेद मुख्यतया व्यवहार-क्षेत्र के विस्तार और अविस्तार पर निर्भर हैं। बोली और भाषा में निम्नलिखित अन्तर किया जा सकता है—

(क) भाषा का क्षेत्र बड़ा होता है, बोली का क्षेत्र छोटा। (ख) भाषा में प्रचुर साहित्य उपलब्ध होता है, बोली में नहीं या अत्यल्प। (ग) बोली भाषा से जन्य है, अतः भाषा और बोली का माता-पुत्री का सम्बन्ध है। (घ) भाषा शिक्षा और उच्चशिक्षा का माध्यम होती है, बोली लोक-साहित्य, लोक-गीत एवं बोल-चाल तक सीमित रहती है। (ङ) एक भाषा-जन्य बोलियों में बोधगम्यता रहती है। ये बोलियाँ कुछ अन्तर से भिन्न होने पर भी परस्पर बोधगम्य होती हैं। (च) एक भाषा की अनेक बोलियाँ हो सकती हैं, पर उनकी आधार भाषा एक ही होगी।

भाषण-विधियों के भेद से भाषा-भेद

प्रोफेसर ब्लूमफील्ड[1] ने भाषण-विधियों के भेद से भाषा के ५ भेद लिए हैं—

(१) साहित्यिक मानक—यह अधिकांशतः औपचारिक वार्तालापों और लेखादि में मिलता है। यह साहित्यिक स्तरीय भाषा होती है।

(२) बोल-चाल का मानक—यह विशेष सुविधा-प्राप्त वर्ग की बोली है।

(३) प्रान्तीय मानक—यह प्रान्तीय स्तर की भाषा है। एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त की भाषा में कुछ भिन्नता रहती है।

(४) उप-मानक—यह स्थानीय भेद से भिन्न होती है। इसमें स्थानीय अन्तर बहुत साधारण होता है। यह प्रान्तीय से कम विस्तृत क्षेत्र में बोली जाने वाली स्तरीय भाषा है।

---

1. L. Bloomfield : *Language*, p. 52.

(५) स्थानीय बोली—यह न्यूनतम सुविधा-प्राप्त वर्ग की बोली है। यह स्थान-विशेष में ही बोली जाती है।

प्रोफेसर जॉन एस० केनियन (John S. Kenyon) ने भाषण-विधि को ४ भागों में बाँटा है[1]—

(१) औपचारिक मानक (Formal Standard)—यह परिष्कृत लेखन, भाषण एवं विशिष्ट परिस्थितियों में ही प्रयुक्त होता है।

(२) अनौपचारिक मानक (Informal Standard)—उच्चवर्गीय व्यक्तियों के द्वारा दैनंदिन व्यवहार में प्रयुक्त होता है।

(३) अनौपचारिक अमानक (Informal non-standard)—यह ब्लूम-फील्ड के उपमानक के समकक्ष है।

(४) औपचारिक अमानक (Formal non-standard)—जब निम्नवर्गीय व्यक्ति उच्चवर्गीय भाषा का व्यवहार करना चाहते हैं तो वे नये अप्रचलित शब्दों या मुहावरों का भी प्रयोग करते हैं। यह निम्नवर्गीय व्यक्तियों की कृत्रिमतायुक्त स्तरीय बोली है।

२.५. भाषा का आधार

(क) मानसिक आधार—भाषा के मुख्यतया दो आधार हैं—एक का सम्बन्ध विचारों से है और दूसरे का उच्चारण से। हम मन में कुछ विचार करते हैं और वाणी के द्वारा उनको प्रकट करते हैं। इसमें विचारों का जो सम्बन्ध है और जिसको हमारी वाणी आधार मानकर वक्तव्य के रूप में प्रस्तुत करती है, वह भाषा का मानसिक पक्ष है। मानसिक आधार से विचारों के स्वरूप का निर्णय होता है और भौतिक आधार से व्यक्त वाणी की प्रक्रिया का। प्रत्येक कथन के पीछे कुछ विचार या चिन्तन होता है। उसका विवेचन और विश्लेषण करना भाषा का मानसिक पक्ष है। वक्ता कमल या गुलाब के फूल का वर्णन करना चाहता है, वह मन के द्वारा उसका चिन्तन करता है, उसके लिए आवश्यक संकेतों का निर्णय करता है। उसके बाद वाग्यन्त्र से उसका प्रकाशन करता है। कमल या गुलाब अर्थ प्रकट करने में उसकी मानसिक भावनायें भी संलग्न होती हैं। अत: कमल के साथ ही तद्विषयक अपनी सहृदयता, मार्मिकता और कोमलता को भी अनुकूल शब्दों के द्वारा प्रकट करता है। हर्ष, शोक, विस्मय, भय आदि भावों को प्रकट करने में मानसिक पक्ष अधिक प्रबल रहता है। वह जिस प्रकार का निर्देश देता है, तदनुसार वाणी प्रकट होती है। यही कारण है कि हर्ष की अभिव्यक्ति में उत्फुल्लता, शोक की अभिव्यक्ति में विकलता भी उच्चरित शब्दों के साथ अभिव्यक्त होती है। मानवीय वाग्यन्त्र मानव के विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति का साधन है। निर्देशक तत्त्व विचार हैं और संवाहक ध्वनियन्त्र। वक्ता जब अपने हार्दिक राग-द्वेष, घृणा या भय को प्रकट करना चाहता है तो वह मन में उसका स्वरूप निश्चित करता है। तदनुकूल शब्दावली का चयन भी बुद्धि करती

---

1. Robert A. Hall : *Introductory Linguistics*, p. 21.

है। मन में भावों की अभिव्यक्ति के लिए जैसी उग्रता या व्यग्रता होती है, तदनुसार वाणी में भी कम्पन दृष्टिगोचर होता है। एक ही बात सामान्य रूप में कही गई है, व्यंग्य के रूप में कही गई है, आवेश में कही गई है, भय की स्थिति में या विस्मय की स्थिति में, इसका बोध वक्ता की ध्वनि स्पष्ट करती है। वक्ता की ध्वनि में कहीं उतार है, कहीं चढ़ाव है, कहीं लयात्मकता है तो कहीं मन्दता। इस प्रकार प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति के लिए हमें मानसिक पक्ष का आश्रय लेना पड़ता है। कतिपय विद्वान् इसको आन्तरिक-भाषा (Inner speech) भी कहते हैं। वे भौतिक पक्ष के लिए बाह्य-भाषा (Outer speech) का प्रयोग करते हैं। भाषा के द्विविध आधार को हम सांख्य दर्शन के शब्दों में पङ्ग्वन्धन्याय कह सकते हैं। मानस पक्ष पङ्गु है, क्योंकि उसमें व्यक्तवाक् के रूप में प्रकाशन की क्षमता नहीं है। ध्वनियन्त्र में भाव-प्रकाशन की क्षमता है, अतः गतिशीलता है, परन्तु उसमें विचार की क्षमता नहीं है, इसलिए वह अन्ध-सदृश है। दोनों के समन्वय से ही भाषा अपना स्वरूप ग्रहण करती है। मानस पक्ष भाषा की आत्मा है और भौतिक पक्ष उसका शरीर।

(ख) भौतिक आधार—विचारों के द्वारा निर्णीत अभिप्राय को वाग्यन्त्र की सहायता से प्रकट किया जाता है। उच्चारण-प्रक्रिया में शरीर के किन-किन अवयवों की क्या-क्या सहायता ली जाती है, इसका विवेचन और विश्लेषण ध्वनि-विज्ञान का विषय है। भाषा की ध्वनियाँ कैसे उत्पन्न होती हैं, स्वरतन्त्री, कण्ठतालु आदि का क्या उपयोग है, किस आधार पर घोष और अघोष या अल्पप्राण तथा महाप्राण का अन्तर होता है, इसका विवेचन ध्वनि-विज्ञान करता है। ध्वनि-विज्ञान भौतिक आधार को लेकर चलता है। भौतिक आधार से ही भाषा अपना स्वरूप ग्रहण करती है। यह भाषा का बाह्य पक्ष है, अतः इसे बाह्य भाषा नाम भी दिया जाता है। भौतिक आधार वस्तुतः भावाभिव्यक्ति का साधन है और मानसिक आधार साध्य है। कमल के स्वरूप का निर्णय करना मानसिक पक्ष का कार्य है और क + म + ल इस रूप में उच्चरित होना यह भौतिक आधार का कार्य है। प्राणसंचार मानस पक्ष करता है और बाह्य शरीर भौतिक पक्ष देता है। चेतना के बिना शरीर निरर्थक है और शरीर के बिना चेतना अव्यवहार्य है। दोनों का समन्वय भाषा की सृष्टि करता है।

आधुनिक पाश्चात्त्य विद्वान् भाषा-विज्ञान में भौतिक आधार को ग्राह्य मानते हैं और मानसिक आधार को दर्शन या मनोविज्ञान का विषय बताकर अग्राह्य कहते हैं। जिस सूक्ष्मता से उच्चरित ध्वनियों का विश्लेषण संभव है, उसी प्रकार भाषा के मूल में विद्यमान विचारों का विश्लेषण संभव नहीं है। वे भाषा-विज्ञान में दर्शन और मनोविज्ञान के विषय को समाविष्ट करना उचित नहीं समझते हैं।

२.६. भाषा का द्विविध आश्रय

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भाषा के दो आश्रय होते हैं—१. वक्ता, २. श्रोता।

(१) वक्ता—किसी वस्तु को देखकर मानव के हृदय में कुछ भाव जागृत होते हैं, उनको वह शाब्दिक रूप देकर प्रकट करना चाहता है, इसके लिए भाषा का आश्रय लेता है। सर्वप्रथम उसके मन में विचार आता है, जिसे हम प्रत्यय (Concept) कहते

हैं। उसको सात्त्विक बिम्ब में परिवर्तित किया जाता है, पुनः इसे वाग्यन्त्र द्वारा ध्वनित किया जाता है। यह भाषा का अभिव्यक्ति पक्ष है। इस अभिव्यक्ति पक्ष के पीछे मानव की सम्पूर्ण ज्ञानार्जन-प्रक्रिया है। वह किस प्रकार समाज से शब्दों को सुनता है, ग्रहण करता है, उनका अर्थ समझता है, अर्थ का वस्तु से संकेत ग्रहण करता है और शब्दार्थ-सम्बन्ध को आत्मसात् करता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह स्वतन्त्र रूप में भाषा के प्रयोग का अधिकारी होता है। भाषा में द्विविध प्रक्रिया प्रतिक्षण काम करती है—अभिव्यक्ति पक्ष और बोधपक्ष। अभिव्यक्ति पक्ष में भाषा का उच्चारण, ध्वनन या प्रकाशन है और बोधपक्ष में उसका ग्रहण करना एवं तदनुकूल चेष्टा करना है। यह आवश्यक नहीं है कि ये दोनों पक्ष अलग-अलग व्यक्तियों में ही नियमित रूप से रहें। वक्ता केवल वक्ता ही रहे और श्रोता केवल श्रोता ही रहे। परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार एक ही व्यक्ति वक्ता और श्रोता दोनों हो सकता है। वह अपने भावों के प्रकाशन के लिए वक्ता है, किन्तु दूसरे के भावों को सुनने के समय श्रोता है। संलाप आदि में कभी-कभी यह प्रक्रिया इतनी तीव्र गति से होती है कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वह वक्ता की कोटि में है या श्रोता की।

(२) **श्रोता**—प्रत्यय के आधार पर जो शब्द-बिम्ब ध्वनि-प्रक्रिया के द्वारा उच्चरित हुआ है, वह ध्वनि-तरंगों के माध्यम से श्रोता तक पहुँचता है। श्रोता की कर्णेन्द्रिय उसको ग्रहण करके ध्वानिक बिम्ब के रूप में परिवर्तित करती है और वह श्रोता के मन में प्रत्यय या संकेत उत्पन्न करता है। इससे ही श्रोता को बोध होता है। इस प्रक्रिया को देखने से ज्ञात होता है कि प्रक्रिया का आरम्भ और अन्त प्रत्यय है। एक ओर इस प्रत्यय के प्रकाशन का साधन वाग्-इन्द्रिय है और दूसरी ओर इसके ग्रहण का साधन कर्णेन्द्रिय है। वक्ता ने कुछ भाव प्रकट किये और श्रोता ने उसको उसी रूप में ग्रहण किया। यदि हम इसकी तुलना वायरलेस (Wireless), टेलीग्राफ (Telegraph) और टेलीविजन (Television) की प्रक्रिया से करें तो यह प्रक्रिया सरलता से समझ में आ सकती है। वहाँ पर ध्वनियों को विद्युत्-तरंगों के माध्यम से भेजते हैं। सांकेतिक भाषा (Code words) के द्वारा भेजी हई ध्वनियाँ ग्रहण किये जाने पर पुनः सांकेतिक रूप में परिवर्तित होती हैं और अपने अर्थ को अभिव्यक्त करती हैं। अभिव्यक्ति और बोध की यह प्रक्रिया भाषा की मूल प्रक्रिया है। यही भाषा को संचालित करती है। सन्देश का लाना और ले जाना इसका ही कार्य है। इसको ही हम भावों का आदान-प्रदान कहते हैं। भावों के प्रदान या अभिव्यक्ति के समय हम वक्ता हैं और आदान या ग्रहण के समय हम श्रोता हैं। इस प्रक्रिया में यह भी उल्लेख्य है कि दूरदर्शन (Television) के तुल्य हम परिचित वक्ता की ध्वनि के ग्रहण में ध्वनि के साथ ही उसकी आकृति (Figure) भी ग्रहण करते हैं।

२.७. भाषा के तीन पक्ष

भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् प्रोफेसर द सोस्यूर (DE SAUSSURE, Ferdinand) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *Cours de Linguistique Generale* (कूर द

लेंगिस्तीक जेनेराल) में भाषा के तीन पक्षों का उल्लेख किया है—१. वैयक्तिक पक्ष, २. सामाजिक पक्ष, ३. सार्वभौम पक्ष।

(१) वैयक्तिक पक्ष—इसको उन्होंने पारोल (Parole) कहा है। अंग्रेज़ी में इसके लिए स्पीच (Speech) शब्द का प्रयोग होता है। इसको 'व्यक्तिवाक्' कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत वक्ता का ज्ञानार्जन और उसकी भाव-प्रकाशन की क्षमता भी सन्निविष्ट है। प्रत्येक व्यक्ति समाज से भाषा सीखता है और समाज को कुछ देता भी है। आदान-प्रदान की इस प्रक्रिया के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का भाषा के निरन्तर प्रवाह में योगदान है। व्यक्ति भाषा को आगे बढ़ाने में योग देता है, साथ ही वह मानवीय न्यूनताओं और अक्षमताओं के कारण कुछ परिवर्तन भी उपस्थित करता रहता है। ये परिवर्तन ही क्रमशः बढ़ते हुए भाषा में परिवर्तन के कारण बन जाते हैं।

(२) सामाजिक पक्ष—भाषा का सामाजिक पक्ष ही प्रमुख है। सामाजिक परिवेश में आकर ही भाषा का स्वरूप निखरता है। भाषा के सामाजिक रूप को श्री द सोसूर ने लांग (Langue) नाम दिया है। इसके लिए अंग्रेज़ी टंग (Tongue) शब्द प्रचलित है। इसको 'समष्टि वाक्' कहा जा सकता है। विश्व की विभिन्न प्रान्तीय और राष्ट्रीय भाषाएँ इसी श्रेणी में आती हैं। भारतीय भाषाएँ हिन्दी, मराठी, बंगला आदि तथा विश्वभाषाएँ अंग्रेज़ी, रूसी, फ्रेंच, जर्मन आदि इसी श्रेणी में आती हैं। इनके वक्ताओं की संख्या का कोई निर्धारण नहीं है। यह अल्प-संख्या भी हो सकती है और करोड़ों की संख्या भी हो सकती है। भाषा का यह सामाजिक पक्ष ही है, जो चिरन्तन होते हुए भी अद्यतनीन है; सनातन होते हुए भी नित-नवीन है; प्रतिक्षण परिवर्तित होते हुए भी अनश्वर एवं शाश्वत है। व्यक्तिगत परिवर्तन भाषा के किसी एक अंश को ही प्रभावित कर सकते हैं। सामाजिक पक्ष में ही आदान-प्रदान की प्रक्रिया चलती है, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है।

(३) सार्वभौम पक्ष—श्री द सोसूर ने भाषा के सार्वभौम पक्ष की भी स्थापना की है। उन्होंने इसको लांगाज़ (Langage) नाम दिया है। इसे 'विश्ववाक्' नाम दिया जा सकता है। यह भाषा का सामान्य एवं सार्वभौम पक्ष है। इसमें भाषाओं के विभिन्न रूपों का भेद नहीं रहता, अपितु मानव मात्र की भाषा का निर्देश होता है। यह भाषा का अभेद या अद्वैत रूप है। भाषा के विश्ववाक् रूप में विश्व की सभी भाषाओं का संकलन होता है। यह वेदान्त के महाकाश के तुल्य एक विश्वजनीन अनिर्वचनीय सार्वभौम सत्ता है, जो मानव-भाषा की समष्टि का निर्देश करती है। यह 'विश्ववाक्' भाषा का दार्शनिक पक्ष है, जो अनेक में एकत्व का दर्शन कराकर भाषा की विश्वरूपात्मकता को प्रकट करता है, जिसके द्वारा विश्वैकत्व और विश्व-बन्धुत्व की भावना का उदय होता है।

२.८. भाषा और वाक्

भाषा शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से अपने व्यापक अर्थ में किया जाता है। इसमें उच्चारण, ग्रहण और बोध सभी का समावेश रहता है। बोलने वाला भी भाषा बोलता है, सुनने वाला भी भाषा सुनता है और बोध भी भाषा रूप में होता है। परन्तु गम्भीरता से

विचार करने पर भाषा के दो रूप प्रकट होते हैं—(१) स्थायी एवं सूक्ष्म रूप, (२) अस्थायी एवं स्थूल रूप। स्थायी एवं सूक्ष्म रूप को 'भाषा' (Language) और अस्थायी एवं स्थूल रूप को 'वाक्' (Speech) कहेंगे। इस 'वाक्' को भाषण भी कह सकते हैं। 'भाषा और वाक्' का अन्तर 'भाषा और भाषण' के अन्तर से भी समझा जा सकता है।

(क) भाषा और वाक्—भाषा सूक्ष्म एवं भावात्मक वस्तु है, वाक् स्थूल और भौतिक वस्तु है। भाषा स्थायी है, वाक् अस्थायी है। जो कुछ हम बोलते और सुनते हैं, वह वाक् है। श्रवण के द्वारा जो हमें ज्ञान होता है, वह भाषा है। वागिन्द्रिय द्वारा उच्चरित और श्रवणेन्द्रिय द्वारा गृहीत भाषा का रूप 'वाक्' की कोटि में आता है। भाषा के आदान और प्रदान—बोलने और सुनने को—की गणना वाक् में होती है। इसके द्वारा जो बोध या ज्ञान होता है, वह भाषा का वास्तविक रूप है। भाषा कूटस्थ है, भावात्मक है, सूक्ष्म है और अनिर्वचनीय है। 'वाक्' भाषा के प्रकाशन का माध्यम है। यह स्थूल एवं नश्वर है। इसका निर्वचन या विश्लेषण हो सकता है। इसी आधार पर ध्वनि-विज्ञान अंग की सत्ता है। वाक्यपदीय के शब्दों में भाषा को 'स्फोट' और वाक् को 'नाद' कह सकते हैं। भाषा साध्य है, वाक् साधन। हम शब्दों या वाक्यों को सुनकर जो कुछ सीखते हैं, वह भाषा है। भाषा को सीखकर जो हम बोलते हैं, वह वाक् है। इस प्रकार भाषा के बोधपक्ष को 'भाषा' कहते हैं और उच्चारण एवं श्रवण-पक्ष को वाक्। ज्ञान भाषा है और उसका प्रकाशन वाक्। भाषा अनुभूति, भाव और विचार के रूप में स्थायी है और वाक् उच्चारण के साथ नष्ट होती रहती है। एक वाक्य को बीस बार बोलने पर 'वाक्' की २० इकाइयाँ होंगी, परन्तु भाषा की वह एक इकाई मानी जायगी। 'भाषा' ज्ञान की समष्टि है और 'वाक्' उसकी अभिव्यक्ति। वाक्य और व्याकरण 'भाषा' के अंग हैं, परन्तु उच्चारण और ग्रहण 'वाक्' के अवयव हैं।

(ख) भाषाविषयक क्षमता एवं संपादन (Linguistic Competence and Linguistic Performance)—भाषा के अध्ययन और प्रयोग से दो प्रकार की दक्षता प्राप्त होती है। एक वह, जिसके द्वारा भाषा-विषयक ज्ञानवृद्धि होती है, भाषा के नियमों को आत्मसात् किया जाता है और यथासमय अर्थ का निर्धारण करते हुए उन्हें स्वनिम का रूप दिया जाता है। इसको **'भाषा-विषयक क्षमता'** कहा जाता है। ज्ञान-वृद्धि के साथ ही साथ यह क्षमता बढ़ती जाती है। इस क्षमता की वृद्धि के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म और गंभीर भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। दूसरी ओर वाक्-पटुत्व है। एक व्यक्ति ज्ञात और अज्ञात अनेक भाषाओं के वाक्यों का साधुत्व के साथ उच्चारण कर सकता है, उन्हें सुन और समझ सकता है, इसको **'भाषाविषयक संपादन'** कहा जाता है। भाषा-विषयक क्षमता बाल्यकाल से ही उस भाषा के व्याकरण के ज्ञान से होती है। यह क्रमशः बढ़ती जाती है। शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण के द्वारा संपादन की योग्यता बढ़ती जाती है।

(ग) क्षमता और संपादन के दो अंग—भाषा-विषयक क्षमता के निर्धारण के दो अंग हैं—(१) जन्म-सिद्ध अंश; (२) अर्जित अंश। जन्म-सिद्ध अंश को भाषा-विषयक सार्वभौम (Linguistic Universal) कहते हैं। ये तत्त्व विश्व की सभी

भाषाओं में समानरूप से पाये जाते हैं। ये अंश मनुष्य में जन्म से ही आते हैं। अर्जित अंश ज्ञानोपार्जन के साधन व्याकरण, साहित्य एवं शब्दकोश आदि से आते हैं। इसी प्रकार सम्पादन के भी दो अंग हैं—(१) वक्ता, (२) श्रोता। वक्ता भाव-संप्रेषण का कार्य करता है। वह किन परिस्थितियों में और किन प्रसंगों में अपने भावों को व्यक्तवाक् का रूप देता है, तदनुकूल उसका प्रभाव होगा। दूसरी ओर श्रोता किन परिस्थितियों में और किन प्रसंगों में उसे सुनता है, तदनुसार वह उसका अर्थ समझता है। इस विषय में वक्ता के वाग्-यन्त्र और श्रोता के श्रवण-यन्त्र का भी विशेष महत्त्व है। वक्ता के वाग्-यन्त्र की विशेषता के आधार पर ही यह पता लग जाता है कि वक्ता बालक है या युवा या वृद्ध, पुरुष है या स्त्री, अमुक व्यक्ति है या अन्य। वाग्यन्त्र में कोई दोष—हकलाना, कण्ठावरोध आदि—होगा तो संपादन दोषयुक्त या अपूर्ण होगा। इसी प्रकार श्रवण-यन्त्र में कोई दोष—बधिरत्व, अशक्तता आदि—होगा तो संपादन का ग्रहणपक्ष सदोष एवं अपूर्ण होगा।

संपादन के कार्य में स्मरण शक्ति का भी विशेष महत्त्व है। वक्ता और श्रोता की जैसी स्मरण शक्ति होगी, तदनुकूल ही संपादन का प्रेषण और ग्रहणपक्ष प्रभावित होगा। इसी प्रकार निम्नलिखित तत्त्व भी संपादन को प्रभावित करते हैं—ध्यान की एकाग्रता का होना या न होना, विषय के प्रति रुचि या अरुचि, क्रोध, क्षोभ या उत्तेजना की स्थिति आदि।

(घ) क्षमता और संपादन परस्पर सापेक्ष हैं—भाषा-विषयक क्षमता के लिए सामग्री की आवश्यकता है और वह सामग्री संपादन के द्वारा प्राप्त होती है। जितनी बातें सुनी या सीखी जायेंगी, उतनी ही क्षमता बढ़ेगी। इस प्रकार क्षमता का आधार संपादन है। दूसरी ओर संपादन का आधार क्षमता है। जो ज्ञान उपार्जित होगा, वही वाग्यन्त्र के द्वारा प्रकट किया जायेगा। इस प्रकार भाषा और वाक् की सापेक्ष स्थिति है। बोलने के लिए वाग्यन्त्र है और ग्रहण के लिए श्रवण-यन्त्र। इन दोनों यन्त्रों के ठीक उपयोग के लिए प्रयोक्ता की तद्विषयक क्षमता अनिवार्य है। अतएव क्षमता का अध्ययन पहले किया जाता है। उसका ठीक ज्ञान होने पर संपादन भी समुचित रूप से होता है। इसमें प्रेषण, ग्रहण और संचार-प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है।

(ङ) संपादन की आवृत्ति नहीं होती—जो वाक्य एक बार बोला जा चुका है, वही दुबारा नहीं बोला जाता है। प्रत्येक बार वह वाक्य नया होता है। यदि एक वाक्य १०० बार बोला गया है तो वह संपादन के लिएं १०० है, किन्तु क्षमता के लिए 'एक' ही माना जायेगा। इस प्रकार संपादन अनन्त होता है। संपादन की इस अनन्तता को सामान्यीकरण के द्वारा सीमित कर दिया जाता है। इससे संपादन में व्यवस्था आती है। यह व्यवस्था क्षमता से निरन्तर संबद्ध रहती है।

(च) भाषा की अनन्तता—यदि एक दृष्टि से संपादन अनन्त है तो दूसरी दृष्टि से भाषा अनन्त है और संपादन शान्त। भाषा निरन्तर प्रवहमान है। उसका कहीं अन्त नहीं है, अतः वह अनन्त है। मानव-शरीर नश्वर है, शान्त है, अतः उसका संपादन भी शान्त होगा। भाषा सूक्ष्म है, अतः कालयुग के किसी एक बिन्दु पर भाषा को नहीं पकड़ा जा सकता

है, इसके विपरीत उसी स्थिति में संपादन को पकड़ा जा सकता है, उसका चित्र लिया जा सकता है और साक्षात् उसे प्रस्तुत किया जा सकता है। टेप रिकार्डिंग आदि के द्वारा यथार्थ रूप में उसे पकड़ कर सामने भी लाया जा सकता है।

२.९. साहित्यिक भाषा और जनभाषा का अन्तर

सामान्यतया यह समझा जाता है कि साहित्यिक भाषा जनभाषा की अपेक्षा अधिक समृद्ध, गौरवशाली और उत्कृष्ट है। इसलिए उसका महत्त्व सर्वत्र निरपवाद है, परन्तु भाषाशास्त्री की दृष्टि में यह तथ्य सर्वथा विपरीत है। भाषाशास्त्री के लिए अशिक्षितों, ग्रामीणों, अर्धसभ्यों और असभ्य जातियों की भाषा (बोली) अधिक महत्त्वपूर्ण और उपादेय है।

भाषाविज्ञान की दृष्टि में साहित्यिक भाषा की अपेक्षा जन-साधारण की भाषा के महत्त्व के निम्नलिखित कारण हैं—

(क) जनभाषा अकृत्रिम होती है—साहित्यिक भाषा कृत्रिम होती है। रस, छन्द, अलंकार, सुन्दर वर्ण-विन्यास उसकी शोभा की वृद्धि करते हैं। उसमें सौन्दर्य है, मोहकता है, मादकता है और रोचकता है, परन्तु स्वाभाविकता और निसर्ग-उज्ज्वलता का अभाव है। जनभाषा में अकृत्रिमता है। वह भाषा का स्वाभाविक रूप उपस्थित करती है। भाषाशास्त्री भाषा के स्वाभाविक रूप को देखना चाहता है, जिससे वह निर्णय कर सके कि भाषा में परिवर्तन और विकास कैसे होता है, विकास की क्या दिशाएँ हैं, ध्वनि-परिवर्तन कैसे होता है, अर्थ-परिवर्तन कैसे होता है, उच्चारण-सम्बन्धी क्या-क्या विशेषताएँ लक्षित होती हैं, इत्यादि। साहित्यिक भाषा सजाई और सँवारी हुई वधू के तुल्य है, जिसका सौन्दर्य दर्शनीय है, पर उसका स्वाभाविक हाव-भाव, अंग-संचालन और स्वभाव अप्रत्यक्ष है, उसकी कृत्रिमता उसकी स्वाभाविकता को नष्ट कर देती है। दूसरी ओर जनभाषा स्वच्छन्द-विहारिणी ग्राम-युवती के तुल्य है, जिसके हाव-भाव-प्रकाशन में किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है। यह स्वाभाविकता जन-भाषा में मिलती है, अतः भाषाशास्त्री के लिए यही विशेष महत्त्वपूर्ण है।

(ख) जनभाषा में गतिशीलता होती है—जनभाषा में गतिशीलता स्वाभाविक रूप में है, साहित्यिक भाषा में वह गतिशीलता अपेक्षाकृत न्यून है। इसमें स्थिरता अधिक है। बहती हुई नदी प्रतिक्षण परिवर्तित होते हुए भी नित-नूतन है। उसमें गति है, प्रवाह है, शक्ति है और शुद्धता है। साहित्यिक भाषाएँ नदी से निकली हुई धाराएँ या नहरें हैं, जो मुख्य धारा से सम्बन्ध-विच्छेद करके स्वतन्त्र रूप में अपना विकास करती हैं। जिस प्रकार नदी से जल काट कर बनाई हुई झील या सरोवर कृत्रिम सौन्दर्य धारण करने पर भी नदी की स्वाभाविक गतिशीलता से पृथक् हो जाते हैं। बहता हुआ पानी शुद्ध रहता है, रुका हुआ पानी दूषित और अशुद्ध होता है। यही स्थिति भाषा की है। भाषा भी साहित्यिक रूप में बद्ध होकर गतिहीन, निश्चल और निष्क्रिय हो जाती है। उसके आधार पर भाषा की स्वाभाविक गतिविधि का निरीक्षण नहीं किया जा सकता है। जनभाषा में स्वाभाविक गतिशीलता बनी रहती है, अतः भाषाशास्त्री को भाषा का स्वच्छ और

स्वाभाविक रूप प्राप्त हो जाता है।

(ग) जनभाषा में संकीर्णता नहीं होती—जनभाषा में किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं होती है। अभीष्ट भाव को व्यक्त करने के लिए जहाँ से जो शब्द मिलता है, उसे जनभाषा अनायास स्वीकार कर लेती है। उसमें जातीय, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय या धार्मिक किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं होती है, अत: विभिन्न भाषाओं से आये शब्द अपने स्वाभाविक रूप में प्राप्त होते हैं। साहित्यिक भाषा में ऐसा नहीं होता है।

(घ) जनभाषा में सजीवता होती है—जनभाषा सजीव होती है। उसमें निरन्तर सक्रियता रहती है। कालक्रम के अनुसार उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन को ही भाषाशास्त्री विकास कहते हैं। जनभाषा में विभिन्न संस्कृतियों के शब्द आते हैं और वे जनभाषा के साथ मिलकर रहते हैं। इससे संस्कृतियों के विभिन्न रूपों का ज्ञान होता है।

(ङ) जनभाषा में पूर्वाग्रह दोष नहीं होता—जनभाषा में पूर्वाग्रह का दोष नहीं होता है। साहित्यिक भाषा में यह दोष होता है कि वह कुछ पूर्वाग्रहों को मान्यता देती है, जिससे भाषा का स्वाभाविक रूप अवरुद्ध हो जाता है। जैसे—संस्कृत या हिन्दी में अरबी, फारसी आदि के शब्दों का बहिष्कार, उर्दू में संस्कृत के शब्दों का बहिष्कार। जनभाषा में ऐसा कोई पूर्वाग्रह नहीं होता। अत: जनभाषा में सभी उपयोगी शब्दों का समावेश मिलता है। यदि उनमें मूलरूप से परिवर्तन है तो वे परिवर्तन की दिशा बताते हैं। इस प्रकार भाषाशास्त्री के लिए वे बहुमूल्य दिशा-निर्देशक तत्त्व सिद्ध होते हैं।

जिन भाषाओं का बोल-चाल का रूप सुरक्षित नहीं है, उनके अध्ययन के लिए साहित्यिक रूप का ही उपयोग किया जाता है।

२.१०. भाषा की विशेषताएँ

मानवीय भाषा में कतिपय विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं, जो मानवेतर जीवों—पशु, पक्षी आदि—की भाषा में प्राप्त नहीं होती हैं। प्रोफेसर हाल (Robert A. Hall Jr.) ने भाषा के सम्बन्ध में मानव और मानवेतर जीवों की तुलना करते हुए प्रो० हॉकेट (Hockett) का मत उद्धृत किया है कि मानवीय भाषा में निम्नलिखित ७ विशेषताएँ हैं, जो मानवेतर जीवों में अप्राप्य हैं।[1]

(क) द्वैतता (Duality)—प्रत्येक भाषा में दो तत्त्व अवश्य होते हैं—(१) सार्थक ध्वनि-अंश (स्वनिम, Phoneme), (२) सार्थक रूप-अंश (रूपिम, Morpheme)।

(ख) उत्पादन-क्षमता (Productivity)—मानवीय भाषा में यह सामर्थ्य है कि वह संघटनात्मक ऐसे वाक्यों की भी रचना कर सकती है, जिसे वक्ता और श्रोता ने उससे पूर्व कभी न कहा हो, न सुना हो। पर दोनों ही पक्ष उसे सरलता से समझ सकते हैं।

---

1. (a) Robert A. Hall, Jr.—*Introductory Linguistics*, pp. 6-7.
   (b) Hockett, *Seven Characteristics of Human Language*, 1958, Chap. 64.

(ग) यादृच्छिकता (Arbitrariness)—भाषा के किसी अवयव (संज्ञा, क्रिया आदि) और अर्थ में कोई जन्मसिद्ध निश्चित सम्बन्ध नहीं है। सभी शब्दों के अर्थ यादृच्छिक (स्वेच्छा से रखे गये) हैं। वे प्रत्येक भाषा में संकेत-जन्य हैं।

(घ) प्रेषण और ग्रहण में परस्पर परिवर्तनीयता (Interchangability)—मानवीय भाषा में प्रेषण और ग्रहण में परस्पर परिवर्तनीयता की क्षमता है। भाषा का उपयोग करने वाला कोई भी व्यक्ति व्यक्त वाक् के द्वारा अपने भाव या सन्देश को दूसरे तक पहुँचा सकता है और साथ ही दूसरे के द्वारा कहे गये वक्तव्य को सुन और समझ सकता है। कहना और सुनना के द्वारा आदान-प्रदान की प्रक्रिया में परिवर्तन-क्षमता रहती है।

(ङ) भाषा में विशेषीकरण (Specialization)—प्रत्येक मानवीय भाषा की अपनी एक विशेष पद्धति है, जिसके द्वारा अपने ढाँचे और अर्थ में सीमित रहते हुए वह भाव-संप्रेषण का कार्य सरलता से करती है। अपने बोध्य अर्थ या क्रिया से इसका साक्षात् भौतिक सम्बन्ध नहीं के बराबर होता है।

(च) भाव-अभाव, मूर्त-अमूर्त का द्योतन (Displacement)—मानवीय भाषा भाव और अभाव एवं मूर्त और अमूर्त सभी प्रकार के अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होती है। भाषा विद्यमान वस्तुओं के अतिरिक्त अविद्यमान वस्तु का भी बोध कराती है; जैसे—घटाभाववद् भूतलम्—यहाँ पृथ्वी पर घड़ा नहीं है। अतीत का प्रकाशन—राम ने रावण का वध किया। राम इस समय विद्यमान नहीं हैं। इसी प्रकार अमूर्त न्याय, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, परमात्मा, ब्रह्म आदि का बोध कराया जाता है। आकाश-कुसुम, व्योमपुरी, वन्ध्या-पुत्र आदि सर्वथा अभावात्मक का भी द्योतन भाषा द्वारा किया जाता है।

(छ) सांस्कृतिक परम्परागतता (Cultural transmission)—मानवीय भाषा पैतृक परम्परा से नहीं, अपितु शिक्षा के द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक संक्रमित होती है। बाल्यकाल में हम अपने से बड़ों का तथा अपने समकालीन व्यक्तियों का अनुकरण करके भाषा सीखते हैं। इस प्रकार तथा अन्य साधनों से जो ज्ञान अर्जित किया जाता है, उसे हम अपनी अगली पीढ़ी को दे देते हैं। यह भाषा का ही महत्त्व है कि मानवीय ज्ञान संगृहीत होता रहता है और भावी पीढ़ी को नये ढंग से शून्य से ज्ञान-वृद्धि करते हुए नया वाङ्मय नहीं तैयार करना पड़ता, अपितु पूर्वजों के ज्ञान का लाभ उठाते हुए शीघ्र ज्ञान-वृद्धि का अवसर मिलता है।

२.११. भाषा का व्यवहार

यदि भाषा का व्यवहार की दृष्टि से विचार किया जाये तो ज्ञात होगा कि भाषा का व्यवहार प्रायः तीन स्थितियों में किया जाता है—(क) व्यक्ति—स्वयं के लिए, (ख) व्यक्ति—दूसरे व्यक्ति के लिए, (ग) व्यक्ति—समाज के लिए।

भाषा (प्रयोक्ता की दृष्टि से)

व्यक्ति (स्वयं)　　व्यक्ति + व्यक्ति　　व्यक्ति + समाज
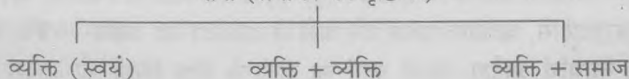
(क) व्यक्ति (स्वयं)

कतिपय विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति अपने लिए ही भाषा का प्रयोग करता है। ये परिस्थितियाँ सामान्यतया ये हैं—**(१) मनोरंजनार्थ**—बच्चों का मनोरंजनार्थ माँ-माँ, पा-पा, चा-चा आदि कहना; युवकों आदि का आनन्दातिरेक में गाना गाना आदि। **(२) स्वगत-भाषण**—प्रेम, श्रद्धा, क्षोभ, क्रोध आदि की अवस्था में प्रायः व्यक्ति अपने भाव अकेले में व्यक्त करते हैं। **(३) जप आदि में**—मन्त्रों आदि के जप, स्तोत्र-पाठ आदि में व्यक्ति अपने लिए ही भाषा का प्रयोग करता है। **(४) पाठ-स्मरण, दुहराना आदि**—अपना पाठ याद करने या याद किये हुए को दुहराने आदि में स्वयं के लिए भाषा का उपयोग किया जाता है। **(५) भय-निवारणार्थ**—एकान्त में, निर्जन वन में, भयानक स्थान में व्यक्ति अपने भय को दूर करने के लिए जोर-जोर से मन्त्रपाठ, गाना या राम-राम आदि करता है। **(६) कष्ट-निवृत्त्यर्थ**—जाड़े में स्नान करते समय शीघ्रतापूर्वक किसी स्तोत्र या भजन आदि का गाना शैत्यजन्य कष्ट की न्यूनता या निवृत्ति के लिए है। **(७) गंभीर चिन्तन**—कवि, लेखक, गायक, साधक, शिल्पी, वक्ता आदि जब गंभीर चिन्तन की मुद्रा में होते हैं तो वे एकान्त में कुछ बोलते हुए अपने अभीष्ट कार्य का चिन्तन एवं विश्लेषण करते रहते हैं। **(८) मनोभावाभिव्यंजन**—मनोभाव-प्रकाशन के लिए बालक, युवा, वृद्ध, योद्धा, अभिनेता आदि अपने आप बात करते रहते हैं। यह प्रवृत्ति सभी वर्ग के व्यक्तियों में दृष्टिगोचर होती है।

इससे ज्ञात होता है कि भाषा का प्रयोग दूसरे के लिए ही नहीं, अपितु अपने लिए भी उतना ही उपयोगी है।

(ख) व्यक्ति + व्यक्ति

भाषा का उपयोग स्वयं के बाद व्यक्ति-विशेष से संपर्क में आने पर होता है। कुछ परिस्थितियों में यह व्यक्तिगत संपर्क ही कार्य करता है। **(१) शिष्टाचार-निर्वाह**—शिष्टाचार के निर्वाह के लिए अनेक प्रसंगों में दूसरे व्यक्ति से कुछ कहना पड़ता है। जैसे—प्रत्येक परिचित व्यक्ति से मिलते ही कुशल-प्रश्न पूछना और दूसरे के द्वारा कुशल-प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर देना। प्रस्थानाभिमुख व्यक्ति के लिए मंगल-कामना, दुःखित के प्रति समवेदना प्रकट करना आदि। **(२) परामर्श एवं मन्त्रणा**—किसी गंभीर विषय पर मंत्रणा करने में या किसी योजना के कार्यान्वयन में परामर्श लेने में व्यक्ति व्यक्ति-विशेष से भाषा का प्रयोग करता है। **(३) दाम्पत्य सम्बन्ध एवं स्नेह-मूलक सम्बन्ध**—पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका एवं स्नेही भाई-बहन आदि एकान्त में परस्पर अपने स्नेह, सुख-दुःख या राग-द्वेष की बातें करते हैं। यह व्यक्ति—व्यक्ति का भाषा-प्रयोग है। **(४) वैयक्तिक संपर्क एवं कार्य**—व्यक्तिगत कार्य मानव मानव को जोड़ते हैं। व्यक्तिगत कार्य से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से बात करता है। शिष्य गुरु से, बालक माता या पिता से, भाई भाई से, ग्राहक दुकानदार से, ऋणग्रस्त उधार देने वाले से इत्यादि। यह व्यक्ति—व्यक्ति की भाषा है। **(५) कार्यार्थ आदेश**—किसी कार्य को करने के लिए किसी को आदेश देना कि

'तुम ऐसा करो'। बालक या युवा आदि को ऐसे आदेश देने में भी व्यक्ति—व्यक्ति की भाषा का प्रयोग होता है। **(६) भाव-प्रकाशन या आत्माभिव्यक्ति**—अपने हर्ष, राग-द्वेष, शोक, कष्ट आदि के प्रकाशन के लिए या अपने रोष, क्षोभ, सहमति-असहमति आदि के भावों को व्यक्त करने के लिए व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से भाषा का प्रयोग करता है।

(ग) व्यक्ति + समाज

भाषा का सर्वोत्तम उपयोग व्यक्ति को समाज से समन्वित करने का है। भाषा समाज का समन्वय-सूत्र है, जिससे समाज समन्वित, संगठित एवं संपृक्त है। भाषा के द्वारा ही व्यक्ति समाज का एक सजीव सदस्य बनता है। भाषारूपी सूत्र न हो तो व्यक्ति और समाज विशृंखल हो जायेंगे। अतएव वेद ने कहा है कि भाषा राष्ट्री—राष्ट्र-निर्मात्री और संगमनी—समन्वित करने वाली शक्ति है।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्। (ऋग्वेद १०-१२५-३)

सामाजिक दृष्टि से भाषा के ५ प्रमुख उपयोग हैं—

(१) भाव-संप्रेषण, (२) संसूचन, (३) उद्बोधन, (४) रसास्वादन, (५) दर्शन एवं चिन्तन।

(१) भाव-संप्रेषण—सामाजिक दृष्टि से भाषा का सर्वाधिक व्यवहार भाव-संप्रेषण में होता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने भावों और विचारों का आदान-प्रदान करता है। यह सामाजिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया व्यक्ति और समाज को एकान्वित करके एकता की सृष्टि करती है। भावों के आदान और प्रदान के लिए ही समाज भाषा का सर्वाधिक ऋणी है। इसी आदान-प्रदान के महत्त्व को यजुर्वेद में इस प्रकार वर्णित किया गया है—

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा॥ (यजु० ३-५०)

'तुम मुझे दो, मैं तुम्हें देऊँ; तुम मेरे लिए सुरक्षित रखो, मैं तुम्हारे लिए सुरक्षित रखूँ; तुम मुझे अर्पित करो और मैं तुम्हें समर्पित करूँ'।

दैनिक व्यवहार एवं सामाजिक-धार्मिक-राष्ट्रीय आदि कार्यों में प्रतिक्षण भाषा का भाव-संप्रेषण के रूप में सामाजिक व्यवहार होता है।

(२) संसूचन—भाषा का दूसरा सामाजिक उपयोग है—आवश्यक सूचनाएँ देना। ज्ञान, विज्ञान, कला, संस्कृति आदि के सभी अंगों में आवश्यक सूचना देकर समाज को अग्रसर करना ही उद्देश्य रहता है। भौतिक एवं रसायन-विज्ञान आदि वैज्ञानिक सामग्री तथा ज्ञान समाज को देते हैं तो विविध भाषाएँ भाषा-तत्त्व की सूचना देती हैं। इतिहास और भूगोल आदि अतीत और वर्तमान की सूचना देते हैं। हमारा लिखित और प्रकाशित साहित्य मानवोपयोगी सूचनाएँ प्रसारित करता है। समाचार पत्र-पत्रिकाएँ दैनिक घटनाओं और राष्ट्रीय गतिविधि आदि की सूचना देते हैं। पत्र-पत्रिकाएँ, रेडियो, वायरलेस, टेलीविजन आदि इसी प्रक्रिया के अंग हैं।

(३) उद्‌बोधन—उद्‌बोधन भाषा का सामाजिक पक्ष है। समाज में चेतना उत्पन्न करना, जागरूकता लाना, कर्त्तव्य की दीक्षा देना, इष्ट मार्ग पर प्रवृत्त करना, राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सहयोग की भावना जागृत करना, देश के शत्रुओं से सावधानी का निर्देश देना, जनमत अनुकूल बनाना आदि ऐसे कार्य हैं, जो साहित्य, समाचार पत्र और प्लेटफार्म के माध्यम से जनता तक पहुँचाये जाते हैं। इसमें जनता को प्रेरणा देना, उन्हें जागृत करना और कर्त्तव्य-मार्ग पर ले जाना अभीष्ट होता है। यह सब कार्य भाषा के माध्यम से होता है।

(४) रसास्वादन—भाषा का चतुर्थ सामाजिक उपयोग है—साहित्य, विश्व-साहित्य एवं विविध भाषा-वाङ्मय के द्वारा अपने ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि करते हुए आत्मिक सुखानुभूति करना और रसास्वादन करना। साहित्य रसबोध का साधन है, आत्मिक आनन्द का दाता है और सुखानुभूति का भावक है। शृंगाररसपूर्ण काव्य संसूचन, उद्‌बोधन आदि न करके हमें रसास्वादन कराता है। इसी प्रकार विविध रस-युक्त गद्य-पद्यात्मक काव्य या साहित्य-रसबोध, सौन्दर्यबोध आदि के उपादान कारण हैं। भाषा का यह रसास्वादन-पक्ष मानव के जीवन को प्रभावित, सन्तुलित और स्वस्थ रखने में अत्यन्त प्रभावकारी है।

(५) दर्शन एवं चिन्तन—भाषा का पंचम सामाजिक उपयोग है—दर्शन या चिन्तन। भाषा उच्च-स्तर पर दार्शनिक हो जाती है। इसमें चिन्तन, मनन, अनुभूति का समावेश हो जाता है। अपने लिए चिन्तन या विचार वैयक्तिक है, इसे समाज-निरपेक्ष क़हेंगे, परन्तु साहित्य या वाङ्मय समाज के लिए है, अतः वह समाज-सापेक्ष है। समाज एवं विश्व के हित को ध्यान में रखते हुए जो विचार, चिन्तन, मनन किया जाता है, वह दर्शन की कोटि में आता है। यह चिन्तन या दर्शन ही मानव-व्यक्ति और मानव-समष्टि का सार होता है। यही भाषा का सतत प्रवहमान अविच्छिन्न रूप है, जो भावी पीढ़ी को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होता है। भाषा का यह दर्शन-पक्ष ही भाषा का सर्वोत्कृष्ट एवं उदात्त पक्ष है। यही भाषा की ज्योति है, प्रकाश है और उसका अतीन्द्रिय रूप है।

*

अध्याय ३

भाषा का स्वरूप, उद्गम और विकास

१. भाषा का स्वरूप और प्रवृत्तियाँ
२. भाषा की उत्पत्ति
   (विविध मतों की समीक्षा)
३. भाषा की परिवर्तनशीलता
४. भाषा में परिवर्तन की दिशाएँ
५. भाषा में परिवर्तन के कारण
   (क) आभ्यन्तर कारण
   (ख) बाह्य कारण
   (ग) सादृश्य (मिथ्या सादृश्य)

अध्याय ३

भाषा का स्वरूप, उद्गम और विकास

३.१. भाषा का स्वरूप और प्रवृत्तियाँ

भाषा की प्रवृत्तियों को जानने से पूर्व उसके स्वरूप का ज्ञान अनिवार्य एवं उपयुक्त है। भाषा की कुछ विशेषताएँ और प्रवृत्तियाँ हैं, जो सामान्यरूप से विश्व की सभी भाषाओं में प्राप्त होती हैं। भाषा के इस स्वरूप का ही विवेचन और विश्लेषण भाषा-विज्ञान का प्रमुख उद्देश्य है। प्रत्येक भाषा के अपने व्याकरण हैं। उनके नियम उसी विशेष भाषा पर लागू होते हैं। परन्तु आगे वर्णित भाषा की विशेषताएँ सभी भाषाओं पर लागू होती हैं।

(१) भाषा सर्वोत्तम ज्योति है

भाषा ही संसार की सर्वोत्कृष्ट ज्योति है, जो मानव के हृदय के अंधकार को दूर करती है। यह ज्ञान-ज्योति ही विश्व के समस्त मानवों का कार्य-कलाप सिद्ध करती है। यह कल्पना भी नहीं की जा सकती है कि भाषा के बिना मानव की क्या दयनीय स्थिति होती! प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी आचार्य भर्तृहरि का कथन है कि भाषा ही ज्ञान को प्रकाशित करती है। उसके बिना सविकल्पक (नाम-रूपादि-गुणयुक्त) ज्ञान संभव नहीं है।

वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ (वाक्यपदीय १-१२५)

आचार्य दण्डी ने भाषा की इस प्रकाशशीलता को ध्यान में रखते हुए कहा है कि यदि शब्दरूपी ज्योति संसार में न जलती तो संसार में चारों ओर अँधेरा ही रहता।

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥ (काव्यादर्श १-४)

(२) भाषा समाज को एकसूत्र में बाँधती है

भाषा में ही वह शक्ति है कि वह सारे संसार को एकसूत्र में बाँध सके। भाषा समन्वय-सूत्र है। प्रत्येक भाषा स्वभाषा-भाषी को एकता के सूत्र में बाँधे रखती है, अतः वे भिन्न होते हुए भी एकत्व की अनुभूति करते हैं। विश्व-भाषा विश्व-मानव को एकसूत्र में समन्वित कर विश्वबन्धुत्व का भाव जागृत करती है। ऋग्वेद में भाषा को राष्ट्री (राष्ट्र-निर्मात्री) और संगमनी (संबद्ध करने वाली) कहा गया है। आचार्य भर्तृहरि ने उसे विश्व-निबन्धनी (विश्व को मिलाने वाली या जोड़ने वाली) कहा है।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्। (ऋग्वेद १०-१२५-३)
शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी। (वाक्यपदीय १-११६)

(३) भाषा सर्वशक्तिसंपन्न है

भाषा विश्व की सबसे महान् शक्तिसंपन्न वस्तु है। भाषा में वह शक्ति है कि नवीन सृष्टि की रचना कर दे। वह निष्प्राण समाज में चेतना फूँक देती है और हतप्रभ में क्रान्ति ला देती है। ऋग्वेद में इसको वायु के तुल्य सर्वगामी शक्ति बताया गया है। इसे विश्व की रचना का श्रेय दिया गया है।

अहमेव वात इव प्र वामि, आरभमाणा भुवनानि विश्वा।
(ऋग्वेद १०-१२५-८)
वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे, वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।
वाक्यपदीय १-१२१ (हरिवृषभ-टीका में उद्धृत)

ऋग्वेद में इस बात का उल्लेख मिलता है कि भाषाओं की अनेकरूपता है और अलग-अलग इनकी स्थिति है। भाषा जन-जीवन में समाविष्ट होकर जीवित रहती है, इसकी ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है।

तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा, भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।
(ऋग्वेद १०-१२५-३)

(४) भाषा सर्वव्यापक है

मानव के प्रत्येक कार्य भाषा द्वारा संचालित हैं। व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति-समाज या व्यक्ति स्वयं, सभी स्थितियों में मानव का आधार भाषा ही है। मानव का आन्तरिक और बाह्य कार्य, चिन्तन-मनन-अभिव्यंजन, वैयक्तिक और सामाजिक कार्यों के लिए भाषा की ही सहायता ली जाती है। ज्ञान-विज्ञान, धर्म-दर्शन, आचार-विचार, हेय-उपादेय का विवेक, सभी का आधार भाषा है। इसीलिए आचार्य भर्तृहरि ने सभी लौकिक कार्यों का आधार भाषा को माना है। भाषा से ही ज्ञान होता है, ज्ञान से ही सब काम होते हैं, अतः भाषा सर्वत्र अनुस्यूत है।

(क) इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया । (वाक्य० १-१२२)
(ख) न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ (वाक्य० १-१२४)

(५) भाषा विराट् और विश्वकर्मा है

भाषा का स्वरूप इतना विशाल और अगाध है कि उसे ब्रह्म के तुल्य विराट् रूप माना गया है। विश्व की सारी भाषाएँ उसमें अन्तर्निहित हैं। ज्ञान-विज्ञान का ऐसा कोई अंग नहीं है, जो भाषा में समाहित न हो। जिस प्रकार ब्रह्म के विराट् रूप में सभी लोक-लोकान्तर, ग्रह-उपग्रह एवं सभी सौर-मण्डल समाविष्ट हैं, उसी प्रकार भाषा में सभी भाषाओं का वाङ्मय संगृहीत होता है। शतपथ ब्राह्मण में अतएव भाषा को 'विराट्' कहा

गया है। यजुर्वेद (१३-५८) में वाक्तत्त्व (भाषा) को विश्वकर्मा नाम दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण इसकी व्याख्या करता है कि वाणी (भाषा) के द्वारा विश्व के सभी कर्म किये जाते हैं, अत: वाणी को 'विश्वकर्मा' कहते हैं। भाषा में सब कुछ कर सकने की शक्ति है, अत: भाषा का 'विश्वकर्मा' नाम अन्वर्थ है।

वाग्वै विराट्। (शतपथ ब्राह्मण ३-५-१-३४)
इयमुपरि मतिस्तस्यै वाक्... विश्वकर्म ऋषि:०। (यजु० १३-५८)
वाग् वै विश्वकर्मर्षि:। वाचा हीदं सर्वं कृतम्। (शत० ८-१-२-९)

(६) भाषा का प्रवाह अविच्छिन्न है

जिस प्रकार मानव-सृष्टि का क्रम अविच्छिन्न रूप से चल रहा है, उसी प्रकार भाषा का प्रवाह भी अविच्छिन्न रूप से मानव के साथ-साथ चल रहा है। तांड्य महाब्राह्मण में भाषा की उपमा नदी की धारा से दी गई है। जिस प्रकार नदी की धारा निरन्तर प्रवहमान रहती है, उसमें कहीं रुकावट या विच्छेद नहीं होता है, उसी प्रकार भाषा भी नित-नूतन सरस होती हुई प्रवाहित होती है। वह 'संतता' (सदा अविच्छिन्न) रहती है।

सा (वाक्) ऊर्ध्वोदातनोद् यथाऽपां धारा संततैवम्। (तांड्य० २०-११४-२)

ऐतरेय ब्राह्मण में ऋग्वेद (४-५८-१) की व्याख्या करते हुए भाषा के एक अन्य तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है कि भाषा समुद्र है। जिस प्रकार समुद्र कभी क्षीण नहीं होता है, उसी प्रकार भाषा भी कभी क्षीण नहीं होती है। भाषा समुद्रवत् अनन्त और अथाह है। तांड्य महाब्राह्मण में भी भाषा को समुद्र कहा गया है।

वाग् वै समुद्र:। (तांड्य० ७-७-९)
वाग् वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते, न समुद्र: क्षीयते। (ऐतरेय० ५-१६)

(७) भाषा परंपरागत वस्तु है

भाषा के स्वरूप पर विचार करने से ज्ञात होता है कि भाषा परंपरागत वस्तु है। यह परंपरा से मनुष्य को प्राप्त होती है और वह वंश-परंपरा से अग्रसर होती हुई चली जाती है। संस्कृत भाषा सहस्रों वर्षों से परंपरा से चली आ रही है। इसी प्रकार भारत में हिन्दी, मराठी, बंगला, गुजराती, पंजाबी आदि परंपरा से चली आ रही हैं। किसी एक पीढ़ी की रचना नहीं है। ऐसा ही अंग्रेज़ी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी और चीनी आदि भाषाओं का इतिहास है। बालक बाल्यकाल में मातृ-भाषा सीख लेता है और जीवन-भर उसका उपयोग करता रहता है।

ऋग्वेद में भाषा की इस परंपरा का कारण भी बताया गया है कि भाषा 'हृद्य' होती है। यह मनोरम होने के साथ हृदयपक्ष को प्रभावित करती है। अतएव एक भाषा-भाषियों में धर्मभेद, जातिभेद आदि होने पर भी एकता रहती है। ऋग्वेद में विभिन्न भाषाओं की सीमाबद्धता को 'व्रज' (बाड़ा) कहते हुए 'शतव्रजा:' सैकड़ों बाड़ों वाली कहा है, अर्थात् भाषाओं के सैकड़ों वर्ग हैं!

एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा:०। (ऋग्वेद ४-५८-५)

जिस प्रकार नदी की गतिशीलता नदी के जल को पवित्र एवं शुद्ध रखती है, उसी प्रकार भाषा की गतिशीलता भी भाषा को पवित्र रखती है। इसमें विद्वानों और विशेषज्ञों का कार्य यह होता है कि वे मनन और चिन्तन के द्वारा भाषा को परिष्कृत करते रहते हैं। ऋग्वेद का कथन है कि हृदय के द्वारा भाषा की सरसता को और बुद्धि के द्वारा उसके परिष्कार को करके भाषा को पवित्र रखा जाता है।

सम्यक् स्त्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।

(ऋग्वेद ४-५८-६)

'वाणी (भाषा) हृदय और मन के द्वारा पवित्र की जाती हुई नदी के प्रवाह के तुल्य निरन्तर चलती है।'

भाषा में निरन्तर संशोधन और परिष्करण की प्रक्रिया चलती रहती है, अतएव भाषा पुरानी होने पर भी नवीन, कालातीत होने पर भी अद्यतनीन (up-to-date) और वृद्धा होने पर भी नव-युवती (Ever-young) बनी रहती है। ऋग्वेद (३-६१-१) में उषा को 'पुराणी युवतिः' कहा गया है। भाषा भी वस्तुतः 'पुराणी युवतिः' (प्राचीन होने पर भी सदा युवती) है। ऋग्वेद में इस प्रक्रिया को चलनी से सत्तू छानने की उपमा दी है। ग्राह्य ले लिया जाता है, भूसी फेंक दी जाती है। भाषा में सुदृढ़ और उपादेय शब्दों को चलाते जाते हैं तथा जो शब्द जीर्ण-शीर्ण, अरुचिकर या अप्रचलित (obsolete) हो गये हैं, उन्हें नमस्कार करके विदा किया जाता है और उनके स्थान पर नये रंगरूट भर्ती किये जाते हैं। ऋग्वेद का कथन है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। (ऋग्वेद १०-७१-२)

'विद्वान् चलनी से सत्तू के तुल्य भाषा को विचारपूर्ण चिन्तन के द्वारा परिष्कृत करते हैं।'

(८) भाषा सामाजिक वस्तु है

जिस प्रकार मनुष्य समाज से वेश-भूषा, उठना-बैठना, खाना-पीना आदि की प्रारम्भिक शिक्षा लेता है, उसी प्रकार समाज से ही भाषा भी सीखता है। समवयस्क साथियों से उसे प्रतिदिन कुछ नये शब्द सुनने को मिलते हैं, उनका प्रयोग भी अपने साथियों या संबंधियों से सीखता है। इस प्रकार उसकी ज्ञान-राशि एवं शब्दकोश बढ़ता है। मनुष्य की मातृभाषा से केवल इतना ही अभिप्राय होता है कि सर्वप्रथम बालक को भाषा की शिक्षा माता ने दी। माता बालक के निकटतम संपर्क में आती है, अतः उसकी भाषा दूध के साथ ही बालक को प्राप्त होती है। मातृभाषा का यह अभिप्राय नहीं है कि वह भाषा जन्मसिद्ध है या उस भाषा को जानने में माता के अतिरिक्त अन्य किसी का योगदान नहीं है। मनुष्य समाज से ही सब कुछ सीखता है। उसी प्रकार भाषा भी समाज से ही सीखी जाती है। मनुष्य को भाषा समाज की ही देन है, अतः भाषा को सामाजिक वस्तु माना जाता है।

(९) भाषा मानव की अक्षय निधि है

भाषा मानवमात्र का अक्षय कोष है। यही मानवता की पूँजी है, मानव-समाज का चिर-संचित कोष है, जिसको लेकर भावी पीढ़ी अपना काम चलाती है। मानव ने सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक जो कुछ सोचा, समझा, देखा और अनुभव किया है, उसका ही संकलन भाषा के रूप में विद्यमान है। इस बहुमूल्य निधि की सुरक्षा और वृद्धि अगली पीढ़ी करती जाती है। यह मानवजाति का सार और सर्वस्व है, अतः इसे 'रस' कहा गया है। ऋग्वेद ने इसे अमृत की नाभि (केन्द्र) और 'देवों की जिह्वा' कहा है।

(क) पुरुषस्य वाग् रसः, वाच ऋग् रसः। (छान्दोग्य उपनिषद् १-१-२)

(ख) जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः। (ऋग्वेद ४-५८-१)

(१०) भाषा में कर्तृत्व, धर्तृत्व और हर्तृत्व

भाषा में कर्तृत्व, धर्तृत्व और हर्तृत्व ये तीनों गुण हैं। समस्त रचनात्मक कार्य, विविध योजनाएँ, २०सूत्री आदि आर्थिक कार्यक्रम, शिक्षण, ज्ञान-विज्ञानविषयक सभी कार्य भाषा के माध्यम से होते हैं। भाषा ही समाज को धारण किये हुए है, एक सूत्र में बद्ध किये हुए है, अन्यथा समाज विशृंखल हो जाता। भाषा ही अनुपयोगी शब्दों का विनाश, शत्रु-सैन्य-विनाश आदि का कारण होती है। इस प्रकार भाषा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तीनों का काम करती है। ऋग्वेद के वाक्-सूक्त में भाषा को ऋषि, विद्वान्, तेजस्वी बनाने वाला बताया गया है। उसे समाज का पालक और समाज-विरोधी तत्त्वों का नाशक कहा गया है।

(क) यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।
(ऋग्वेद १०-१२५-५)

(ख) मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति०। (ऋग्वेद १०-१२५-४)

(ग) अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
(ऋग्वेद १०-१२५-६)

(घ) वाग् वै प्रजापतिः। (शतपथ० ५-१-५-६)

(ङ) वाग् वै लोकंपृणा। (शतपथ० ८-७-२-७)

(११) भाषा सत् और असत् दोनों की बोधक है

भाषा की ही यह विशेषता है कि वह मूर्त-अमूर्त, सत्-असत्, निर्वचनीय-अनिर्वचनीय, ज्ञात-अज्ञात, भाव-अभाव सभी प्रकार के अर्थों को प्रकट कर सकती है। शश-विषाण (खरगोश के सींग), ख-पुष्प (आकाश का फूल), अलातचक्र (मशाल का चक्र) आदि अत्यन्त अभाव वाली वस्तुओं का भी बोधक हो जाता है। सूक्ष्म, अनिर्वचनीय, आत्मा, परमात्मा, ज्ञान, कल्पना आदि का बोध भाषा के द्वारा ही होता है।

(क) अत्यन्तासत्यप्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति च।
(श्रीहर्ष—खण्डनखण्डखाद्य)

(ख) अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात्।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकार-निरूपणा॥ (वाक्यपदीय १-१३१)

(ग) शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। (योगदर्शन १-९)

(१२) भाषा पैतृक एवं जन्मसिद्ध नहीं है

भाषा मनुष्य को जन्म के साथ नहीं मिलती है। शरीर के तुल्य भाषा भी उसे जन्मसिद्ध नहीं है। भाषा पैतृक-परंपरा के रूप में अनायास नहीं मिलती है। भाषा सीखनी पड़ती है, अर्जित की जाती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि मानव के जन्म के समय समाज में भाषा की स्थिति है, पर वह बालक को स्वतःसिद्ध नहीं होती है। बालक में बोलने की शक्ति है। उसे वाक्-शक्ति मिली है, परन्तु शब्द और अर्थ का सम्बन्ध समाज से अर्जित करना पड़ता है। माता और पिता आदि से शिक्षण के द्वारा प्राप्त होने पर भी उसे पैतृक नहीं कह सकते। इसी प्रकार भाषा जन्म से ही प्राप्त न होने के कारण जन्मसिद्ध नहीं है। जंगल में छोड़े हुए बालक कुछ भी बोलने में असमर्थ रहते हैं।

(१३) भाषा भाव-संप्रेषण का साधन है

भाषा ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने भावों और विचारों को दूसरे तक पहुँचाता है। विविध संकेतों और आंगिक साधनों के द्वारा अपना अभिप्राय स्पष्ट रूप से श्रोता तक नहीं पहुँचाया जा सकता है, इसका उल्लेख पहले (२-१ ख, ग) किया गया है। भाषा के द्वारा सूक्ष्मतम भावों को, अमूर्त भावों को, स्वारस्य को, आरोह-अवरोह को, सजीव भावनाओं को बोलकर या लिखित रूप में जितनी विशदता के साथ व्यक्त कर सकते हैं, उतना अन्य किसी प्रकार से नहीं। अतएव जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में मनोभावों को प्रकट करने के कारण भाषा को कुल्या (नहर, Channel) कहा गया है। तांड्य महाब्राह्मण में भी मनोभावाभिव्यंजकता भाषा की स्वीकार की गई है।

तस्य (मनसः) एषा कुल्या यद् वाक्। (जैमि० उप० ब्रा० १-५८-३)
यद् हि मनसाभिगच्छति तद् वाचा वदति। (तांड्य० १-१-१-३)

(१४) भाषा अर्जित संपत्ति है

मानवशरीर के साथ भाषा भी जन्म से ही नहीं आती है। भाषा को समाज से, समीपस्थ वातावरण से, सहयोगियों एवं साथियों से सीखा जाता है। अपनी-अपनी योग्यता और प्रतिभा के अनुसार मनुष्य बाल्यकाल में भाषा को अर्जित करता है। बच्चा एक-एक शब्द सैकड़ों बार बोलकर सीखता और समझता है, तब वह शब्द उसकी पूँजी बनता है। संस्कृत के एक सुभाषितकार का यह कथन सत्य है कि भाषा और धन क्षण और कण को पकड़ने से ही प्राप्त होते हैं। क्षण-त्याग करने पर भाषा और विद्या नहीं आयेगी, कण (अन्न-कण) त्याग देने से कभी धन एकत्र नहीं होगा।

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
क्षणत्यागात् कुतो विद्या, कणत्यागात् कुतो धनम्॥

(१५) भाषा अनुकरण और व्यवहार से अर्जित की जाती है

भाषा सीखने की प्रक्रिया पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि शिशु समाज से ही भाषा सीखता है। बचपन में वह माता-पिता आदि के द्वारा उच्चरित शब्दों का अनुकरण करता है। असंख्य बार अशुद्ध एवं अस्पष्ट उच्चारण करता है। धीरे-धीरे शुद्ध शब्दों को बोलने में समर्थ हो जाता है। यह सीखने की प्रक्रिया बाल्यकाल से लेकर जीवनभर चलती रहती है। बाल्यकाल में अनुकरण की प्रक्रिया मुख्य रहती है, बाद में लोक-व्यवहार एवं शिक्षण से अर्जन की क्रिया चलती है। आचार्य पाणिनि और पतंजलि ने लोक-व्यवहार को ही भाषा-ज्ञान का प्रमुख साधन माना है।

प्रधानप्रत्ययार्थवचनम् अर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्। (अष्टा० १-२-५६)

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः। (महाभाष्य आह्निक-१)

आचार्य जगदीश ने 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' में शब्दार्थज्ञान के ८ साधनों का उल्लेख किया है[1]—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

(शब्दशक्तिप्रकाशिका, श्लोक २०)

(१) व्याकरण से, (२) उपमान (सदृशवस्तु) के द्वारा, (३) कोषग्रन्थों के द्वारा, (४) आप्तवाक्य (प्रामाणिक व्यक्तियों के कथन) से, (५) लोक-व्यवहार से, (६) वाक्यशेष (प्रकरण) से, (७) विवरण से, (८) ज्ञातपद के साहचर्य से।

(१६) भाषा स्वाभाविक आत्मोद्गार की प्रक्रिया है

भाषा के दो पक्ष हैं—१. सीखना, २. बोलना। भाषा-शिक्षण भी दो प्रकार से होता है—१. अनुकरण से, २. यत्नसाध्य। मातृभाषा मुख्यतया अनुकरण से सीखी जाती है, परन्तु दूसरी भाषाएँ, मुख्यतया विदेशी भाषाएँ, यत्न-साध्य होती हैं। अंग्रेज़ी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी और चीनी आदि भाषाएँ प्रयत्नपूर्वक सीखी जाती हैं। दोनों प्रकार की भाषाओं में श्रम अपेक्षित होता है। मातृभाषा में कम, विदेशी भाषाओं में अधिक। मातृभाषा पर अधिकार शीघ्र हो जाता है, क्योंकि बचपन से ही मातृभाषा स्वाभाविक आत्मोद्गार के रूप में बोली जाती है। इसके बोलने में कठिनाई नहीं होती। विदेशी भाषाएँ भी आत्मसात् हो जाने पर उसी सरलता से लिखी और बोली जा सकती हैं।

(१७) भाषा परिवर्तनशील है

भाषा के विषय में उल्लेख किया गया है कि भाषा अनुकरण से सीखी जाती है (३.१.१५)। यह अनुकरण ही भाषा का मौखिक रूप है। यही प्रतिक्षण व्यवहार का विषय है। लिखित भाषा मौखिक भाषा पर आश्रित रहती है। इस मौखिक प्रक्रिया में

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए—लेखककृत 'अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन', पृ० २१६ से २२१।

निर्धारित सीमा में उस भाषा के शब्दों का एक रूप में व्यवहार होता है। उस सीमा से बाहर जाने पर भाषाभेद, अर्थभेद आदि प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार अंग्रेज़ी, रूसी, चीनी आदि की भौगोलिक निश्चित सीमाएँ हैं। पतंजलि ने 'सर्वे देशान्तरे' (महाभाष्य, आ० १) कहकर इस तथ्य का संकेत किया है।

एतस्मिन् अतिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियत-विषया दृश्यन्ते। (महाभाष्य, आ० १)

(२१) भाषा की ऐतिहासिक सीमा भी होती है

जिस प्रकार प्रत्येक भाषा की भौगोलिक सीमा होती है, उसी प्रकार उसकी ऐतिहासिक सीमा भी है। ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान प्रत्येक भाषा के इस ऐतिहासिक पक्ष को लेता है। प्रत्येक भाषा प्रारम्भ में किस रूप में थी, बाद में बदलकर किस रूप में आयी, वह किस समय से किस समय तक प्रचलित रही, इन बातों पर ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान में विचार होता है। इस दृष्टि से संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, आर्यभाषाओं आदि का समय निर्धारित किया गया है।

(२२) प्रत्येक भाषा की संरचना पृथक् होती है

विश्व की प्रत्येक भाषा की संरचना या ढाँचा पृथक् है। शब्दावली, व्याकरण, उच्चारण, शब्दरूप, धातुरूप, वाक्य-प्रयोग आदि में आकाश-पाताल का अन्तर है। इसलिए प्रत्येक भाषा को एक स्वतंत्र इकाई माना जाता है। संस्कृत में तीन वचन हैं, पालि-प्राकृत-अपभ्रंश और हिन्दी में केवल एकवचन और बहुवचन ही हैं। संस्कृत में तीन लिंग हैं, पर हिन्दी में दो ही लिंग हैं—पुंलिंग और स्त्रीलिंग। इसी प्रकार सभी भाषाओं में अपने स्वतंत्र नियम हैं। उनके अनुसार ही भाषा संचालित होती है।

(२३) भाषा प्रकृत्या स्वतन्त्र होती है

तांड्य महाब्राह्मण (२०-१४-२) में कहा गया है कि **'अपां धारा संततैवम्'** अर्थात् भाषा जल के प्रवाह के तुल्य है। यदि इसको पर्वतीय नदी की धारा कहें तो भाषा का स्वरूप अधिक सुस्पष्ट होता है। जिस प्रकार पर्वतीय नदी की धारा में तीव्रता, अधृष्यता एवं गत्वरता रहती है और वह सन्मुख आये हुए बड़े से बड़े चट्टानों तक को तोड़ती हुई निकल जाती है, उसी प्रकार भाषा की धारा अविच्छिन्न एवं अधृष्य होती है। जहाँ पर साहित्यिक भाषा के नाम पर उसमें गतिरोध उत्पन्न किया जाता है या संचयन की प्रक्रिया प्रारम्भ की जाती है, वहाँ भाषा अपना विरोधी रूप प्रकट करती है और सभी बन्धनों को तोड़ती हुई जनभाषा के रूप में अग्रसर होती है। भाषा को साहित्यिक भाषा या स्तरीय भाषा के नाम पर बद्ध करना ऐसा ही है जैसे स्वच्छन्दचारी सिंह को किसी कटघरे में बन्द करना। इस बन्धन का परिणाम यह होता है कि प्रत्येक भाषा के सामयिक रूप से दो स्वरूप हो जाते हैं—१. साहित्यिक, २. लोकप्रयुक्त। साहित्यिक भाषा सजाये हुए सरोवर के तुल्य कृत्रिम सौन्दर्य से युक्त होती है और लोकप्रयुक्त भाषा

अनुकरण ही मुख्य है। शिशु में यह क्षमता नहीं है कि वह प्रत्येक शब्द का पूर्णतया शुद्ध उच्चारण कर सके। वह शब्दों को अस्पष्ट और अशुद्ध बोलता है। यह अनुकरण की अपूर्णता प्रतिक्षण भाषा में परिवर्तन लाती है। भाषा के दो आधारों में मानसिक और भौतिक आधारों का उल्लेख किया गया है (२.५. क, ख)। कभी सुनने और समझने में त्रुटि होती और कभी बोलने में। इस प्रकार भाषा में परिवर्तन आ जाता है। वंश-परंपरा से भाषा अग्रसर होती जाती है। ये परिवर्तन भी, जो प्रारम्भ में छोटे होते हैं, बाद में विशाल रूप ग्रहण करके भाषा में विशेष परिवर्तन ला देते हैं। यही कारण है कि वैदिक संस्कृत से संस्कृत, संस्कृत से पालि > प्राकृत > अपभ्रंश > हिन्दी तक परिवर्तन की दिशा दिखाई पड़ती है।

(१८) भाषा के उच्चरित रूप में पहले परिवर्तन होता है

यद्यपि अनुकरण के साथ ही परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, तथापि परिवर्तन का प्रथम प्रभाव भाषा के उच्चरित रूप पर पड़ता है। व्यक्तिगत उच्चारण में अन्तर होते-होते वह समाज के उच्चरित रूप में भी परिलक्षित होने लगता है। फलस्वरूप अग्नि > अग्गि > आग हो जाता है। चतुर्वेदी > चौबे, द्विवेदी > दूबे, उपाध्याय > ओझा > झा, सत्य > सच, घृत > घी, शर्करा > शक्कर हो जाते हैं। उच्चरित रूप धीरे-धीरे साहित्य में प्रवेश पाकर परिष्कृत या विकसित रूप मान लिये जाते हैं।

(१९) भाषा का कोई स्थायी रूप नहीं है

भाषा भी मानव-जीवन के तुल्य जीवित सत्ता है। मानव में शैशव, यौवन और वृद्धत्व आते हैं। प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। इसी प्रकार भाषा के जीवन-क्रम में भी परिवर्तन होता रहता है। मानव 'वासांसि जीर्णानि०' के तुल्य एक जीवन के बाद पुनर्जन्म प्राप्त कर नया रूप ले लेता है, इसी प्रकार भाषा भी एक जीवन बिताकर नया स्वरूप धारण कर लेती है। भाषा के जीवन में भी शैशव, यौवन और वृद्धत्व आते हैं। चोला बदलता है और नया जीवन प्रारम्भ हो जाता है। संस्कृत से हिन्दी तक आने में संस्कृत ने कितने चोले बदले हैं, यह भाषा-विज्ञान का प्रत्येक छात्र जानता है। भाषा में स्थिरता या स्थायित्व उसके विनाश का चिह्न है। भाषा में नित-परिवर्तन और नित-नूतनता उसके विकास और गतिशीलता के चिह्न हैं। यही विकास है, यही नूतनता है, यही रमणीयता है।

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः। (शिशुपालवध ४-१७)

(२०) भाषा की भौगोलिक सीमा होती है

एक प्राचीन कहावत है—'चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर बानी'। स्थान-भेद से भाषा-भेद होता जाता है। यद्यपि थोड़ा-थोड़ा अन्तर एक भाषा में भी स्थान-भेद से होता है, परन्तु साधारण भेदों को नगण्य मानते हुए एक भाषा के अन्तर्गत रखा जाता है। जैसे—हिन्दी के अन्तर्गत व्रज, अवधी, भोजपुरी आदि। परन्तु बंगला, मराठी, गुजराती आदि हिन्दी से अलग हैं। सबकी अपनी-अपनी भौगोलिक सीमा है। उस

स्वच्छन्द विचरणशील रहती है, जिसके कारण भाषा का स्वाभाविक रूप सुरक्षित रहता है। भाषा की इसी प्रवृत्ति के कारण उसमें नये शब्दों का आदान-प्रदान अव्याहत गति से चलता रहता है।

(२४) भाषा की धारा कठिनता से सरलता की ओर जाती है

जिस प्रकार जल की धारा ऊपर से नीचे की ओर जाती है, उसी प्रकार भाषा भी कठिनता से सरलता की ओर उन्मुख होती है। जनसाधारण में, मुख्यतः बालकों में, यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे कठिन शब्दों को सरल बना लेते हैं। इसका कारण यह है कि मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति यह है कि वह अल्प श्रम से अधिक लाभ उठाना चाहता है, अतः उपाध्याय को उपधिया, हिरण्य + मय को हिरणमय, त्रि + ऋच को तृच, मुख्योपाध्याय को मुखर्जी, वन्द्योपाध्याय को बनर्जी, लौहकार को लोहार और चर्मकार को चमार कहता है। वैदिक भाषा के व्याकरण के पश्चात् संस्कृत-व्याकरण, पालिव्याकरण तथा प्राकृत अपभ्रंश और हिन्दी के व्याकरणों की तुलना करते हैं तो ज्ञात होता है कि वैदिक व्याकरण में जितनी विभिन्नता, रूपों का वैविध्य, क्रियापदों की अनेकता प्राप्त होती है, वह शनैः शनैः न्यून होती चली गई है। संस्कृत-व्याकरण के बाद द्विवचन का नाम ही उठ गया। तीन लिंगों में से नपुंसकलिंग-प्रयोग बहिष्कृत हो गया। इसी प्रकार शब्दरूप, धातुरूप, कृदन्त पदों में बहुत सरलता लाई गई है। सरलता के साथ ही भाषा कृत्रिमता को छोड़कर अकृत्रिम रूप को अधिक रुचिकर मानती है। अतएव सामान्य भाषा में लम्बे समासों वाली पदावली, पाण्डित्य-प्रदर्शन वाले प्रयोग अरुचिकर माने जाते हैं।

(२५) भाषा स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाती है

भाषा के विकास पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि भाषा निरन्तर स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाती है। वह विकास के साथ ही अप्रौढ़ता से प्रौढ़ता की ओर गतिशील रहती है। भाषा के प्रारम्भिक रूप में सूक्ष्म और गंभीर भावों की अभिव्यक्ति कठिनता से होती है। भाषा के विकास के साथ ही साहित्यिक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक सूक्ष्म तत्त्वों की अभिव्यक्ति भाषा में होने लगती है। इसी प्रकार भाषा में जो अप्रौढ़ता रहती है, वह धीरे-धीरे प्रौढ़ता को प्राप्त कर लेती है। शास्त्रीय और पारिभाषिक शब्दावली में ऐसे शब्दों की अधिकता भाषा की प्रौढ़ता को सिद्ध करता है। धातु, प्रकृति, प्रत्यय, लोप, विकार और अध्याहार जैसे शब्द भाषा की प्रगति और प्रौढ़ता को सूचित करते हैं।

(२६) भाषा संयोगावस्था (Synthetic) से वियोगावस्था (Analytic) की ओर जाती है

मूलरूप में प्रायः सभी भाषाएँ संयोगावस्था में थीं। उनका स्वरूप संहिति या संश्लेष प्रधान था। इनमें प्रकृति और प्रत्यय को समन्वित रूप में रखा जाता था। परन्तु भाषा के प्रवाह के साथ वियोग या विश्लेष की प्रवृत्ति बढ़ती गई और अन्त में भाषा वियोगावस्था को प्राप्त हो गई। संस्कृत में रामेण कार्यं कृतम्, रामः भोजनं पचति में हम

प्रकृति और प्रत्यय को समन्वित रूप में पाते हैं, परन्तु इसके वर्तमान हिन्दी रूप में हमें वियोगावस्था दृष्टिगोचर होती है। 'रामेण' एक पद के स्थान पर 'राम ने' दो पद हो गये, 'कार्य' 'काम को' दो पद हो गये। इसी प्रकार कारक-चिह्न और क्रिया-चिह्न पृथक् हो गये। रामाय = राम के लिए, वृक्षे = वृक्ष पर, पठति = पढ़ता है, आदि में वियोगावस्था स्पष्ट दिखाई देती है। इससे ज्ञात होता है कि भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर चलती है।

(२७) भाषा का कोई अन्तिम स्वरूप नहीं होता

भाषा के विषय में लिखा गया है कि यह सतत् प्रवहमान एवं गत्वर है, अतः इसका कोई एक अन्तिम स्वरूप नहीं हो सकता है। विश्व की समस्त वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं, उसी प्रकार भाषा भी परिवर्तनशील है। सदा परिवर्तनशील वस्तु का अन्तिम स्वरूप नहीं होता है। न संसार का कोई अन्तिम स्वरूप है, न मानव-शरीर का और न मानवीय भाषा का। मृत शरीर के तुल्य मृत भाषा का अवश्य अन्तिम स्वरूप हो सकता है। जीवित भाषा का नहीं। जहाँ जीवन है, वहाँ परिवर्तन है; जहाँ परिवर्तन है, वहाँ विकास है; जहाँ विकास है, वहाँ नित-नूतनता है। इसलिए भाषा के अन्तिम स्वरूप की न कल्पना की जा सकती है और न उसके विषय में कोई भविष्यवाणी ही संभव है।

(२८) भाषा में सामाजिक दृष्टि से स्तर-भेद होता है

प्रत्येक भाषा में सामाजिक दृष्टि से स्तर-भेद होता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति समानरूप से शिक्षित नहीं होता है। शिक्षितवर्ग की भाषा में जो परिष्कार दृष्टिगोचर होता है, वह अशिक्षितवर्ग की भाषा में नहीं होता। अतः भाषा के परिष्कृत और अपरिष्कृत दो स्वरूप सामने आते हैं। दोनों स्वरूप लिखित और भाषित दोनों रूपों में प्राप्त होते हैं। भाषा लिखित और भाषित दोनों रूपों में वर्ग-भेद, स्तर-भेद, शिक्षा-भेद आदि के आधार पर परिष्कृत या अपरिष्कृत होगी। साहित्य में, उच्चवर्ग के संलाप में, विशिष्ट आयोजनों में परिष्कृत भाषा ही प्रयुक्त होगी। अपरिष्कृत भाषा को ग्राम्य (गँवारू), अपभ्रंश या भ्रष्ट कहा जाता है। विश्व की प्रत्येक भाषा में सामाजिक दृष्टि से स्तर-भेद देखा जाता है। उच्चस्तरीय भाषा में शब्दकोष का बाहुल्य, व्याकरण-नियमों का सुप्रयोग, ध्वनियों का सुस्पष्ट उच्चारण और शैली-सौन्दर्य रहेगा। निम्नस्तरीय भाषा में इन गुणों का अभाव रहेगा।

(२९) भाषा स्थिरीकरण से प्रभावित होती है

जिस प्रकार मानव-शरीर में दो विरोधी प्रवृत्तियाँ प्रतिक्षण कार्य करती हैं—संजीवनी और संहरणी उसी प्रकार भाषा में भी दो प्रवृत्तियाँ कार्य करती हैं—स्थिरीकरण और अस्थिरीकरण। मानव-शरीर को संजीवनी शक्ति स्फूर्ति, चेतना, उत्साह और स्थिरता प्रदान करती है, जिससे वह अकालमृत्यु से बचता है। दूसरी ओर संहरणी शक्ति उसमें विकार, दोष और अस्थिरता प्रदान करती है, इससे वह मृत्यु और विनाश की ओर अग्रसर होता है। भाषा में भी दो विरोधी शक्तियाँ सदा काम करती हैं—(१) केन्द्राभिगामी, (२)

केन्द्रापगामी। केन्द्राभिगामी शक्तियाँ अस्थिरता, परिवर्तन एवं ह्रास को रोकती हैं। केन्द्र को पुष्ट करती हैं, अतः भाषा में परिवर्तन की गति रोकी जाती है। यह स्थिरीकरण या मानकीकरण (Standardization) की प्रक्रिया है। इससे भाषा अपने परिष्कृत रूप को सुरक्षित रख पाती है और विनाश या ह्रास से अपना बचाव करती है। दूसरी ओर केन्द्रापगामी शक्तियाँ हैं। ये भाषा को केन्द्रित होने से बचाती हैं। ये विकेन्द्रीकरण (Decentralization) को मुख्यता देकर भाषा में नव-जीवन का संचार करती हैं और उसमें परिवर्तन लाती हैं। विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया भाषा में परिवर्तन के साथ ही अस्थिरता लाती है। इसके द्वारा भाषा अपने स्वाभाविक रूप में परिवर्तित होती जाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्थिरीकरण या मानकीकरण से भाषा परिष्कृत एवं स्थिर होती है तथा अस्थिरीकरण की प्रक्रिया से भाषा में परिवर्तन और अस्थायिता आती है।

(३०) भाषा का मूलरूप वाक्य है, पद केवल व्यावहारिक हैं

यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाता है तो यह सिद्ध होता है कि भाषा का मूल वाक्य है। अतएव पाश्चात्त्य भाषाशास्त्री भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'Sentence is a significant unit'।[1] वाक्य ही वह सत्ता है, जो मानव के विचार को पूर्ण एवं स्पष्टरूप में प्रस्तुत करती है। वाक्यों का आधार विचार है और विचारों का मूर्तरूप वाक्य है। किसी एक भाव को मन में रखकर विचार किया जाता है। वह विचार पदों के द्वारा नहीं, अपितु वाक्यरूप में होता है। वाक्य की सत्ता को सर्वोच्च माना जाता है। वाक्य के संघटक अवयवों का विभाजन करने पर हमें पदों की सत्ता प्राप्त होती है। इसी प्रकार पदों के निर्मापक अवयवों का परीक्षण करने पर वर्णों की सत्ता प्राप्त होती है। उपयोगिता एवं शास्त्रीय दृष्टि से वाक्य ही भाषा के सार्थक अंग हैं। व्यावहारिक दृष्टि से तथा बाल-बोधार्थ वाक्यावयवों और पदावयवों पर विचार होता है। जो विचार भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में चतुर्थ शताब्दी ईसवीय में, अब से लगभग १६०० वर्ष पूर्व, प्रस्तुत किया था, उसका ही समर्थन और प्रतिपादन पाश्चात्त्य भाषाशास्त्री विद्वान् अब कर रहे हैं।[2] भर्तृहरि के निम्नलिखित श्लोक इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ (वाक्य० १-७३)

---

1. Traditionally the longest structure within which a full grammatical analysis is possible has been taken as the 'Sentence' or potentially complete utterance.—General Linguistics : *An Introductory Survey*, R.H. Robins, p. 190.
2. It is the utterance and the sentences in it that are the primary meaningful stretches, the meanings of the component words must be taken as the contribution they make to the meaning of the sentences in which they appear.—General Linguistics, R.H. Robins, p. 25.

वाक्य में पदों की सार्थकता के विषय में भर्तृहरि का कथन है कि जिस प्रकार पद में प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार वाक्य में पदों की कल्पना और सार्थकता समझी जाती है।

यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयः।
अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते॥ (वाक्य० २-१०)

३.२. भाषा की उत्पत्ति
(विविध मतों की समीक्षा)

'भाषा की उत्पत्ति' यह विषय अत्यन्त उलझा हुआ है। इस विषय पर विद्वानों ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वे अपूर्ण और अनिर्णयात्मक हैं। अधिकांश विचार एकांगी हैं। केवल एक मत को मानने से भाषा की उत्पत्ति की समस्या हल नहीं होती है। कुछ विचार पूर्णतया त्रुटिपूर्ण हैं और कुछ अंशतः। विद्वानों द्वारा प्रस्तावित मतों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है। साथ ही उनकी न्यूनताओं का संकेत किया गया है।

भाषा की उत्पत्ति के लिए दो बातें अनिवार्य हैं—१. वाग्यन्त्र से ध्वनन या वर्णोच्चारण की क्षमता प्राप्त करना। २. उच्चरित ध्वनि का अर्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रारम्भ। प्रथम बात प्रायः सभी पशु-पक्षियों एवं अन्य जीवों में प्राप्त होती है। उनके पास ध्वनि-यन्त्र मुँह है। उसके द्वारा वे कुछ न कुछ ध्वनि उत्पन्न करके अपना अभिप्राय प्रकट करते हैं। काँव-काँव, चीं-चीं, भों-भों, म्याऊँ-म्याऊँ आदि ऐसे ही शब्द हैं। पशु-पक्षियों में स्पष्ट उच्चारण या व्यक्त वाक् का अभाव है, अतः वे स्पष्ट रूप से बोलने में असमर्थ हैं। मनुष्य को बोलने या कुछ कहने की क्षमता जन्म से प्राप्त है, अतः वह जन्म से वाग्-यन्त्र या वागिन्द्रिय का प्रयोग करता है। विचारणीय विषय दूसरी बात है—मनुष्य ने सर्वप्रथम शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कैसे स्थापित किया? इस बात का उत्तर ही जिज्ञासा का विषय है। एक बार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर आगे के लिए यह प्रक्रिया स्वयं चल पड़ती है।

भाषोत्पत्ति-विषयक अनेक सिद्धान्तों के प्रचलन के बाद भी भाषा की उत्पत्ति का निश्चित और निर्णयात्मक उत्तर प्राप्त न होने के कारण भाषा-वैज्ञानिकों ने इस विषय को भाषा-विज्ञान के क्षेत्र से बाहर घोषित किया है। १८६६ ई० में पेरिस में भाषा-विज्ञान की एक समिति (ला सोसिएते द लेंगिस्तीक, La sociètè de linguistique) की स्थापना हुई थी। उसने अपने अधिनियम में निर्देश दिया है कि 'भाषा की उत्पत्ति और विश्वभाषा-निर्माण' इन दो विषयों पर विचार नहीं होगा।[1] इस बहिष्कार का कारण यह है कि भाषोत्पत्ति-विषयक सिद्धान्त अनुमान पर आश्रित हैं। विज्ञान अनुमान पर आश्रित न होकर तथ्यों पर निर्भर होता है। भाषा का मूलरूप अप्राप्य है, अतः भाषा-विज्ञान इस दिशा में अपनी असमर्थता प्रकट करता है। यह दर्शन, मानव-विज्ञान या समाज-विज्ञान का विषय हो सकता है।

---

1. Otto Jespersen : *Language*, p. 96.

यह विषय सामान्य लोकप्रियता का है, अतः प्रस्तावित सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा रहा है।

१. दिव्योत्पत्ति-सिद्धान्त (Divine Theory)—यह सबसे प्राचीन मत है। इस मत का कथन है कि जिस प्रकार परमात्मा ने मानव-सृष्टि की, उसी प्रकार मानव के लिए एक परिष्कृत भाषा भी दी। इस मत में प्रत्येक कार्य के मूल में दैवी शक्ति की सत्ता मानी जाती है। उस दैवी शक्ति ने ही सृष्टि के प्रारम्भ में ही वेदों का ज्ञान दिया, जिससे मानव अपना कार्य-कलाप चला सका। इस प्रकार वैदिक संस्कृत-भाषा मूल भाषा के रूप में प्राप्त हुई। वेद, उपनिषद्, दर्शन-ग्रन्थ और स्मृतियों में अनेक प्रमाण इस विषय के प्राप्त होते हैं कि ईश्वर से ही वेदों की उत्पत्ति हुई।[1]

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।

(ऋग्वेद ८-१००-११)

अर्थात् वाग्देवी (भाषा) को देवों ने उत्पन्न किया और उसे सभी प्राणी बोलते हैं।

इस मन्त्र में भाषा की दैवी उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख है। 'अइउण्' आदि १४ माहेश्वर सूत्र शिव के डमरू से उत्पन्न माने जाते हैं। यह भी भाषा की दैवी उत्पत्ति का सूचक है।

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।

संस्कृत आदिभाषा है, इस कथन की परंपरा को लेकर बाद में अनीश्वरवादी जैन और बौद्धों ने भी अर्धमागधी और पालि (या मागधी) को आदिभाषा कहना प्रारम्भ किया। ईसाइयों, मुख्यतया कैथोलिकों ने 'प्राचीन विधान' (Old Testament) की हिब्रूभाषा को और मुसलमानों ने कुरान की भाषा अरबी को आदिभाषा घोषित किया है। बाइबिल में उल्लेख है कि मनुष्य-जाति महत्त्वाकांक्षा के कारण स्वर्ग तक पहुँचने के लिए बाबुल में गगनचुम्बी मीनार बना रही थी। ईश्वर ने मानव-जाति की शक्ति से भयभीत

---

१. (क) **तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानिजज्ञिरे ।**
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ (ऋग्० १०-९०-९)

(ख) **यस्माद् ऋचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।**
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसोमुखम्० ॥ (अथर्व० १०-७-२०)

(ग) **अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम् एतद्**
यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः०।
(बृहदारण्यक उपनिषद् २-४-१०)

(घ) **ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य—१-१-३ पर शंकराचार्य।**

(ङ) **ननु चोक्तम्। नहि छन्दांसि क्रियन्ते। नित्यानि छन्दांसीति। यद्यप्यर्थो नित्यः। या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सा अनित्या।** (महाभाष्य ४-३-१०१)

(च) **अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।**
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम् ऋग्यजुः सामलक्षणम् ॥ (मनुस्मृति १-२३)

(छ) **सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।**
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ (मनु० १-२१)

होकर कारीगरों की भाषा गड़बड़ा दी। फलस्वरूप कारीगर एक दूसरे की भाषा न समझ सके और मीनार नहीं बन पाई। अन्यथा सर्वत्र हिब्रूभाषा ही होती।

एक जर्मन विद्वान् सुसमिल्श (Süssmilch) ने भाषा की दैवी उत्पत्ति का समर्थन करते हुए कहा है कि 'भाषा मानवकृत नहीं है, अपितु परमात्मा से साक्षात् उपहार रूप में प्राप्त हुई है।'[1] जर्मन लोग जर्मन भाषा को आदिभाषा एवं देवभाषा कहते हैं। इसी प्रकार ग्रीस के विद्वानों में 'फूसेइ-थेसेइ' का विवाद शताब्दियों तक चला कि भाषा ईश्वरीय देन है या मानवकृत।

समीक्षा

इस सिद्धान्त पर मुख्य आपत्तियाँ ये की गई हैं—

१. यह सिद्धान्त तर्क या विज्ञान-संगत नहीं है। केवल आस्था पर निर्भर है। अपनी भाषा को मुख्यता देने के लिए सबने उसे आदिभाषा या देवभाषा कहा है।

२. यदि भाषा ईश्वर-प्रदत्त होती तो सृष्टि में भाषा-भेद नहीं होता। पशु-पक्षियों की भाषा के तुल्य मानवमात्र की एक भाषा होती।

३. १८वीं शती के प्रसिद्ध विचारक जर्मन विद्वान् हेर्डेर (Johann Gottfried Herder) ने अपने पुरस्कृत निबन्ध 'Origin of Language' (१७७२) में दैवी सिद्धान्त का दृढ़ता से खण्डन करते हुए लिखा है कि यदि भाषा ईश्वरकृत होती तो यह अधिक सुव्यवस्थित और तर्कसंगत होती। अधिकांश भाषाएँ अव्यवस्थित और त्रुटिपूर्ण हैं।[2]

४. यदि भाषा ईश्वर-प्रदत्त होती तो वह पूर्ण विकसित होती। उसमें विकास संभव नहीं था। भाषा में विकास, परिवर्तन और परिवर्धन दिखाई देता है, अतः ईश्वरीय नहीं माना जा सकता है।

५. यदि भाषा ईश्वरीय देन होती तो वह जन्म से ही मनुष्य को प्राप्त हो जाती। उसे समाज से सीखने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है।

सभी विद्वान् इस विचार से सहमत हैं कि किसी भाषा की उत्पत्ति ईश्वरीय या दैवी हो या न हो, परन्तु एक बात सत्य है कि सार्थक एवं स्पष्ट उच्चारण के योग्य ध्वनि-यन्त्र और उसको संचालित करने वाली बुद्धि मनुष्य को ईश्वरीय देन है। यदि यह व्यक्तवाक् मानव को ईश्वरीय देन के रूप में प्राप्त न होती तो मानव भी पशुओं के तुल्य दयनीय होता।

सामान्यतया यह मत विद्वानों को स्वीकार्य नहीं है।

२. संकेत-सिद्धान्त (Agreement Theory)—इस सिद्धान्त को निर्णयवाद, निर्णय-सिद्धान्त, स्वीकारवाद आदि नामों से भी कहा जाता है। इस मत के प्रवर्तक १८वीं

---

1. 'Language could not have been invented by man, but was a direct gift from God'. Süssmilch.
   Otto Jespersen : *Language*, p. 27.
2. *Language* : Otto Jespersen, p. 27.

शती के प्रसिद्ध फ्रेंच विचारक रूसो (Rousseau) हैं।[1] इसके प्रवर्तक का अभिप्राय है कि प्रारम्भ में मनुष्य पशुओं आदि के तुल्य सिर हिलाना आदि आंगिक संकेतों से अपना अभिप्राय स्पष्ट करता था। बाद में इन संकेतों से काम नहीं चला तो उन्होंने एक सभा की और निर्णय किया कि इन-इन वस्तुओं के ये-ये नाम निर्धारित किये जाते हैं। इसको 'सामाजिक समझौता' समझा जा सकता है। इस समझौते से ध्वन्यात्मक संकेतों की उत्पत्ति हुई और उससे भाषा का प्रादुर्भाव हुआ।

इससे मिलता-जुलता हुआ भाव भामह ने 'काव्यालंकार' में प्रस्तुत किया है—

इयन्त ईदृशा वर्णा ईदृगर्थाभिधायिनः।
व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः॥ (काव्यालंकार ६-१३)

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में लोक-व्यवहार के लिए यह निर्णय किया गया था कि इतने वर्ण, इस क्रम से रखे जाने पर इस प्रकार के अर्थों का बोध करायेंगे।

समीक्षा

इस सिद्धान्त की कुछ स्पष्ट न्यूनताएँ हैं—

१. बिना भाषा के सभा का आयोजन कैसे हुआ?

२. भाषा के बिना विचार-विनिमय कैसे हुआ?

३. विचार-विनिमय की क्या भाषा थी?

४. विभिन्न अर्थों के लिए संकेत-शब्दों के निर्माण के लिए क्या आधार था? व्यक्ति-विशेष के कथन को सर्वसम्मत मान लिया गया, या सबने अपने सुझाव दिये। अन्तिम निर्णय की क्या प्रणाली थी?

५. यदि भाषा के बिना सभा का आयोजन, संकेत-निर्माण एवं संकेतों की सामाजिक संपुष्टि हो सकती है तो भाषा की क्या आवश्यकता रह जाती है।

६. भाषा के बिना सभा का आयोजन, विचार-विनिमय एवं निर्णय आदि कार्य असंभव हैं।

अतः यह सिद्धान्त मान्य नहीं है।

३. रणन-सिद्धान्त (Ding-dong Theory)—इस सिद्धान्त को धातु-सिद्धान्त (Root Theory), अनुकरणन-सिद्धान्त, अनुरणनमूलकतावाद, अनुरणात्मक अनुकरण, डिंग-डांग-वाद आदि नामों से निर्दिष्ट किया गया है। इस मत के मूलप्रवर्तक प्लेटो (Plato) थे। इसको हेस (Heyes) ने बढ़ाया और मैक्स मूलर (Max Müller) ने व्यवस्थित रूप दिया। इस मत के अनुसार शब्द और अर्थ में एक रहस्यात्मक स्वाभाविक

---

1. "Rousseau imagined the first men setting themselves more or less deliberately to frame a language by an agreement similar to the 'Contract Social', which according to him was the basis of all social order."

Otto Jespersen : *Language*, p. 26.

सम्बन्ध है। इस मत का कथन है कि प्रकृति में एक सामान्य नियम है कि किसी भी वस्तु पर चोट मारने पर एक विशेष ध्वनि (झंकार) होती है। यह विशेष ध्वनि ही उसकी विशेषता है। लोहा, टिन, लकड़ी, काँच आदि पर चोट मारने पर विशेष ध्वनि (नाद) निकलती है, इसे रणन कहा जाता है। यही उस वस्तु की पहचान है। इसी रणन के आधार पर लोहा, लकड़ी और काँच आदि में अन्तर किया जाता है।[1]

सृष्टि के प्रारम्भ में प्रत्येक वस्तु को देखकर मानव-मस्तिष्क में झंकार (रणन) हुई। उसी आधार पर प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग नाम रखा गया। यह नामकरण-प्रक्रिया रणन-मूलक थी। नदी की कल-कल या नद-नद ध्वनि से प्रेरित होकर उसका नाम नदी रखा गया। इसी प्रकार गो, अश्व, पर्वत, मनुष्य आदि नाम रखे गये। इसी प्रकार लगभग ४००-५०० मूलशब्दों या मूलधातुओं का निर्माण किया गया। वस्तुओं का नाम रखने के बाद मानव की यह विशेष शक्ति समाप्त हो गई। पुरानी धातुओं से ही बाद में नये शब्दों की रचना होती रही।

समीक्षा

१. यह सिद्धान्त विचार करने पर इतना सदोष था कि स्वयं प्रो० मैक्स मूलर ने इसे बाद में छोड़ दिया था।

२. 'डिंग-डांग' घण्टे की ध्वनि को कहते हैं। घण्टे की झंकार के आधार पर इसका यह नाम पड़ा। इस सिद्धान्त में ४००-५०० मूलधातुएँ या मूलशब्द स्वीकार किये गये, अतः इसे धातु-सिद्धान्त भी कहा जाता है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि किस वस्तु को देखकर क्या ध्वनि मस्तिष्क में झंकृत होती है। प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में पृथक् ध्वनियाँ झंकृत हो सकती हैं और एक वस्तु के अनेक नाम पड़ेंगे।

३. यह सिद्धान्त शब्द और अर्थ में रहस्यात्मक स्वाभाविक सम्बन्ध मानता है। शब्द और अर्थ का सांकेतिक सम्बन्ध है, न कि स्वाभाविक।

४. कुछ सीमित धातुओं की कल्पना नितान्त त्रुटिपूर्ण है।

५. आदिम मानव में शब्द या धातु के निर्माण की शक्ति थी। वह बाद में नष्ट हो गई। यह अत्यन्त अवैज्ञानिक कल्पना है।

६. घण्टे आदि में यह ध्वनि है, परन्तु सभी पदार्थों में यह ध्वनि नहीं है, अतः उनका नामकरण संभव नहीं है।

यह मत अस्वीकृत होने पर भी रोचकता के लिए प्रचलित है।

---

1. "Ding-dong theory, according to which there is a mystic harmony between sound and sense.' 'Language is the result of an instinct, a faculty peculiar to man in his primitive state, by which every impression from without received its vocal expression from within. A faculty which became extinct when its object was fulfilled."

—*Language* : Otto Jespersen, p. 415.

४. ध्वन्यनुकरण-सिद्धान्त (Onomatopoic Theory, Bow-wow Theory, Echoic Theory)—इस सिद्धान्त को अनुकरण-सिद्धान्त, ध्वन्यात्मकानुकरण-सिद्धान्त, अनुकरणमूलकतावाद, शब्दानुकरणवाद, भों-भों-वाद आदि कहा जाता है। अंग्रेज़ी में कुत्ते की ध्वनि को Bow-wow बाउ-वाउ कहते हैं, अतः हिन्दी में यह भों-भों-वाद हुआ। इस सिद्धान्त का मूल नाम 'ओनोमेटोपोइक थ्योरी' है, जिसका अर्थ है ध्वन्यनुकरण-सिद्धान्त। इसको 'इकोइक थ्योरी' भी कहते हैं, क्योंकि यह सिद्धान्त Echo (इको) प्रतिध्वनि पर निर्भर है। प्रो० मैक्स मूलर ने इस सिद्धान्त को उपहासास्पद बताते हुए इसका नाम 'बाउ-वाउ सिद्धान्त' अर्थात् भों-भों-वाद मनोरंजनार्थ रखा।

इस सिद्धान्त का अभिमत है कि प्राकृतिक वस्तुओं, पशु-पक्षियों आदि की ध्वनि के अनुकरण पर विभिन्न वस्तुओं के नाम रखे जाते हैं। जो वस्तु जो या जैसी ध्वनि करती है, उसका वैसा ही नाम पड़ता है। इस प्रकार भाषा की रचना हुई। जैसे—काँव-काँव से काक और कौवा, कू-कू से कोयल, झर-झर ध्वनि से निर्झर (झरना), पट्-पट् से पटाखा, दर्-दर् ध्वनि से दर्दुर (मेंढक) आदि। भाषा में ध्वनिसाम्य के आधार पर ऐसे कुछ शब्द मिलते हैं। जैसे—भोंकना, खाँसना, थपथपाना, गुर्राना, रिरियाना, रंभाना, हिनहिनाना, खटखटाना, सर-सर, पट-पट, खटा-खट, चट-पट, झन-झन, धड़ा-धड़, बड़-बड़, तड़-तड़ आदि। श्रावण प्रत्यक्ष के तुल्य चाक्षुष प्रत्यक्ष के आधार पर भी कुछ शब्द बनते हैं। जैसे—चमाचम, जगमग, चकमक, लकलक आदि। ध्वनि-मूलक कुछ नाम बालक भी रख लेते हैं। जैसे—म्याऊँ (बिल्ली), पों-पों (मोटर), भों-भों (कुत्ता), में-में (भेंड़), बे-बे (बकरी), घुग्घू (उल्लू) आदि।

समीक्षा

इस सिद्धान्त पर ये आपत्तियाँ की गई हैं—

१. प्रो० रेनन (Renan) ने इस पर आपत्ति की है कि यदि मनुष्य पशु-पक्षियों जैसे तुच्छ जीवों के शब्दों का अनुकरण करके भाषा बना सकता है, तो वह पशु-पक्षियों से निकृष्ट सिद्ध होता है।

२. विश्व की भाषाओं में ध्वन्यनुकरण वाले शब्दों की संख्या एक प्रतिशत भी नहीं है, अतः यह भाषोत्पत्ति की समस्या का उचित समाधान नहीं है।

३. कुछ भाषाओं में ध्वन्यनुकरण-शब्द हैं ही नहीं। जैसे—उत्तरी अमेरिका की 'अथवस्कन' भाषा। इसमें ऐसे शब्दों का अभाव है।

४. यदि ध्वन्यनुकरण ही आधार होता तो सभी भाषाओं में उन अर्थों के लिए समान शब्द होते। काक-कौवा, कोयल-कोकिल, झरना-निर्झर आदि का ही भेद नहीं है, अपितु अंग्रेज़ी, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं में कौवा, मेढक, बिल्ली, कुत्ता आदि के लिए सर्वथा पृथक् शब्द हैं।

५. यह मत अधिक से अधिक एक प्रतिशत शब्दों का समाधान प्रस्तुत करता है। ९९ प्रतिशत शब्दों के लिए यह मत मौन है।

आंशिक रूप में स्वीकार्य होते हुए भी यह मत सम्पूर्ण भाषा की उत्पत्ति के लिए अस्वीकार्य है। ऑटो येस्पर्सन (Otto Jespersen) ने इसे आंशिक मान्यता प्रदान की है।

५. आवेग-सिद्धान्त (Interjectional Theory, Pooh-pooh Theory)—इस सिद्धान्त को मनोभावाभिव्यञ्जकतावाद, मनोभावाभिव्यक्तिवाद, मनोरागव्यंजकशब्द-मूलकतावाद, पूह-पूह-वाद आदि नामों से व्यक्त किया जाता है। इस सिद्धान्त का कथन है कि आदिकाल में मनुष्य ने अपने हर्ष, शोक, विस्मय, भय, घृणा, क्रोध आदि भावावेश को प्रकट करने वाले शब्दों या ध्वनियों का उच्चारण किया। इन ध्वनियों से ही बाद में भाषा बन गई। हर्ष में अहो, अहा, आहा, वाह आदि; शोक में आह, ओह, हाय, हाय रे; क्रोध में आः; घृणा में छिः, धत्, दुत्, धिक् आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। अंग्रेज़ी में मनोभाव-सूचक Pooh (पूह), Pish (पिश), Fie (फाइ), Oh (ओह) आदि शब्द हैं। इन आवेग-सूचक ध्वनियों के प्रयोग से प्रारम्भ में मनुष्य अपने मनोभावों को प्रकट करता था। धीरे-धीरे भाषण-शक्ति का विकास हुआ और भाषा का प्रारम्भ हुआ।

विकासवाद के जन्मदाता डार्विन (Darwin) ने 'The Expression of the Emotions' में आवेग ध्वनियों का कारण शारीरिक माना है। घृणा में पूह (Pooh) या पिश (Pish) ध्वनि निकलती है, विस्मय की स्थिति में ओह (Oh) ध्वनि निकलती है।

समीक्षा

इस सिद्धान्त में ये दोष हैं—

१. आवेग-शब्द आवेगात्मकता को ही प्रकट करते हैं, सामान्य भावाभिव्यक्ति को नहीं, अतएव इनका सम्बन्ध भाषा के मुख्य अंग से नहीं है।

२. प्रो० बेन्फी (Benfey) ने इस मत का खण्डन किया है।[1] आवेग-ध्वनियाँ भाषा की अक्षमता को सूचित करती हैं कि ये भाव भाषा द्वारा व्यक्त नहीं किये जा सकते हैं, अतः इनसे भाषा की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

३. आवेग-ध्वनियाँ सभी भाषाओं में समान नहीं हैं। जैसे, पीड़ा को प्रकट करने के लिए जर्मन—Au (आउ), फ्रेंच—Ahi (आहि), अंग्रेज़—Oh (ओह) कहते हैं। किप्लिंग (Kipling) ने मनोरंजक उदाहरण दिया है कि रोते समय अफगान ऐ-ऐ (Ai, Ai) कहता है, हिन्दुस्तानी—ओह! हो! और अंग्रेज़—ओ! ओ! (Ow, ow)। इससे ज्ञात होता है कि सभी भाषाओं में आवेग-शब्द समान नहीं हैं।

४. ये शब्द विचार-पूर्वक प्रयुक्त नहीं होते हैं, अपितु आवेग की तीव्रता में अनायास निकल पड़ते हैं।

५. भाषा में आवेग-शब्दों की संख्या नगण्य होती है।

---

1. 'The interjection is the negation of language, for interjections are employed only when one either cannot or will not speak'.

—(Benfey) *Language* : Otto Jespersen, p. 415.

६. भाषा चिन्तन-प्रधान होती है। आवेग-शब्दों में चिन्तन का नाम भी नहीं है।

७. आवेग-ध्वनियों को यथावत् लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता है। ये ध्वनियाँ इतनी अस्पष्ट होती हैं कि कोई उन्हें च···च समझता है, कोई त···त।

यह सिद्धान्त भाषोत्पत्ति की समस्या हल करने में सर्वथा असमर्थ है।

६. श्रम-ध्वनि-सिद्धान्त (Yo-he-ho Theory)—इस सिद्धान्त को श्रमापहारमूलकतावाद या यो-हे-हो-वाद भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक न्वारे (Noiré) नामक भाषाशास्त्री हैं। इस सिद्धान्त का अभिप्राय है कि जब मनुष्य शारीरिक परिश्रम करता है, उस समय उसके श्वास-प्रश्वास बढ़ जाते हैं। मांसपेशियों में ही नहीं, अपितु स्वरतन्त्री में भी संकोच-विस्तार बढ़ जाता है। फलस्वरूप कुछ ध्वनियाँ अनायास निकल जाती हैं। इससे परिश्रम करने वाले को कुछ आराम मिलता है। श्रम-जन्य ध्वनि होने के कारण इसे **श्रम-ध्वनि** कहा गया है। जैसे, कपड़ा धोते समय धोबी 'हियो' या 'छियो' कहता है। इसी प्रकार भारी सामान उठाते समय मजदूर हो-हो, हूँ-हूँ कहते हैं; मल्लाह हैया-हैया आदि कहते हैं।

न्वारे के मतानुसार ऐसे शब्दों से भाषा की उत्पत्ति हुई है।

समीक्षा

१. यह मत भाषा की उत्पत्ति के लिए सर्वथा असन्तोषजनक है।

२. शारीरिक परिश्रम-जन्य ये शब्द निरर्थक हैं। भाषा की उत्पत्ति के लिए सार्थक शब्दों की आवश्यकता है।

३. अर्थ-हीन शब्दों से भाषा की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

यह मत सबसे निकृष्ट और अग्राह्य है।

७. इंगित-सिद्धान्त (Gesture-Theory)—इस सिद्धान्त के प्रस्तावक डॉ० राये हैं। १९३० ई० के लगभग प्रो० रिचार्ड ने अपनी पुस्तक 'Human Speech' में 'मौखिक इंगित सिद्धान्त' (Oral gesture Theory) नाम से इसे प्रस्तुत किया है। आइसलैण्ड की भाषाओं के विद्वान् अलेक्जेन्डर जोहानसन ने भारोपीय, हिब्रू, चीनी आदि भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अपनी तीन पुस्तकों में इंगित सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना की है। डार्विन ने भी छह असंबद्ध भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इस सिद्धान्त की पुष्टि की थी। ये भाषा के विकास की चार सीढ़ियाँ मानते हैं। १. भावव्यंजक ध्वनियाँ—भय, हर्ष, क्रोध आदि की अवस्था में ध्वनियों द्वारा अपने भावों को प्रकट करना। २. अनुकरणात्मक शब्द—पशु-पक्षियों आदि की ध्वनियों के अनुकरण पर शब्द-रचना। ३. भावसंकेत या इंगित—अंगों के संकेतों द्वारा भाव-प्रकाशन। इसे जोहानसन ने 'अनजाने अनुकरण' (Unconscious imitation) कहा है। इसमें केवल स्थूल वस्तुओं के लिए शब्द बने। ४. इसमें सूक्ष्म भावों के लिए शब्द बने।

इस मत का कथन है कि प्रारम्भ में मानव ने अपनी आंगिक चेष्टाओं का ही वाणी के द्वारा अनुकरण किया और उससे भाषा बनी। जैसे—पानी पीने के समय होंठों के मिलने और साँस अन्दर खींचने पर 'पा' जैसी ध्वनि हुई। इसलिए 'पा' का अर्थ 'पीना'

हुआ। इसी प्रकार पीने के समय सर या सरब ध्वनि को लेकर 'शरबत' शब्द बना। इसी प्रकार अनेक शब्द बने हैं।

समीक्षा

यह सिद्धान्त भी सारहीन है।

१. अपने अनुकरण पर शब्द-रचना हास्यास्पद है। दूसरे के अनुकरण पर शब्द-रचना मान्य हो सकती है।

२. हाथ, पैर, ओष्ठ आदि के आधार पर शब्द-रचना की कल्पना निर्मूल है।

३. इंगित से भाषोत्पत्ति मानने पर पशु-पक्षियों की भाषा भी विकसित रूप में होती। उसमें भी विकास दृष्टिगोचर होता।

४. इंगित-सिद्धान्त पर बने शब्दों की संख्या भाषा में बहुत कम है।

८. संपर्क-सिद्धान्त (Contact Theory)—इस मत के प्रवर्तक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जी० रेवेज़ (G. Revesz) हैं। इस मत का कथन है कि मनुष्य सामाजिक जीव है। उसमें पारस्परिक संपर्क की प्रवृत्ति जन्मसिद्ध है। इसी आधार पर समाज बनता है। प्रारम्भ में भूख आदि की अभिव्यक्ति के लिए इंगित एवं मौखिक अभिव्यक्ति का सहारा लिया गया होगा। उस समय जो मौखिक ध्वनियाँ निकलीं, उनसे ही धीरे-धीरे भाषा बनी। पहले यह संपर्क भावों के स्तर (Emotional Contact) पर रहा होगा। बाद में विकास होने पर विचार के स्तर (Intellectual Contact) पर हुआ होगा। संपर्क ध्वनि का विकास संसूचक ध्वनि से होता है, इसमें हल्ला करना, पुकारना आदि सम्मिलित है। इसी अवस्था में भाषा के आदिम रूपों का प्रारम्भ हुआ होगा। प्रारम्भ में ये शब्द सम्बन्धियों और निकटस्थ वस्तुओं के लिए होंगे। प्रारम्भिक शब्दों का सम्बन्ध क्रिया से रहा होगा। जैसे—'माँ' का अर्थ रहा होगा—माँ दूध दो या पानी दो। बाद में छोटे वाक्य बने होंगे। विचारों के स्तर पर संपर्क बढ़ने से भाषा का विकास हुआ होगा।

समीक्षा

प्रो० रेवेज़ मनोविज्ञान के आचार्य हैं। यह मत बाल-मनोविज्ञान, जीव-मनोविज्ञान और आदिम प्राणि-मनोविज्ञान पर आश्रित है एवं तर्कसंगत है। कुछ भाषाशास्त्री इस मत का सुविस्तृत रूप एवं विवरण चाहते हैं, अतएव कासिडी जैसे विद्वान् इस मत को अमान्य न कहते हुए भी भाषोत्पत्ति के प्रश्न को अनिर्णीत मानते हैं।

९. संगीत-सिद्धान्त (Sing-song Theory)—इसको प्रेम सिद्धान्त (Woo-woo Theory) भी कहा जाता है। डार्विन, स्पेन्सर और येस्पर्सन अंशतः इस सिद्धान्त को मानते हैं। इस सिद्धान्त का कथन है कि मानव के संगीत से भाषा की उत्पत्ति हुई है। आदिम मानव भावुक एवं संगीत-प्रिय रहा होगा। वह रिक्त समय में कुछ गुनगुनाता रहा होगा। उसकी गुनगुनाने की निरर्थक ध्वनियाँ धीरे-धीरे वस्तुओं से संबद्ध हो गईं और वे सार्थक हो गईं। प्रेम, शोक, दुःख, हर्ष आदि के अवसर पर उच्चरित ये ध्वनियाँ सार्थक शब्द बनीं और भाषा की उत्पत्ति हुई।

समीक्षा

गुनगुनाने से भाषा की उत्पत्ति होना केवल अनुमान पर आश्रित है। इसका कोई प्रमाण नहीं है। प्रारम्भिक व्यक्ति गुनगुनाता था, इसका भी कोई पुष्ट आधार नहीं है। अत: यह सिद्धान्त अस्वीकार किया गया है।

१०. प्रतीक-सिद्धान्त (Symbolic Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार यह माना जाता है कि संयोग से या अन्य किसी सामान्य सम्बन्ध से किसी शब्द का किसी अर्थ से सम्बन्ध हो जाता है और वह शब्द उस अर्थ का प्रतीक हो जाता है। प्रो० स्वीट ने प्रारम्भिक भाषा में ऐसे शब्दों की संख्या बहुत अधिक मानी है। भाषा-विज्ञान में ऐसे शब्दों को 'नर्सरी' शब्द (Nursery Word) कहते हैं। ये माता, पिता, भाई, बहिन आदि से सम्बद्ध होते हैं। इनमें अधिकांश में प्रारम्भिक ध्वनि ओष्ठ्य होती है। अत: अधिकांश भाषाओं में माता, पिता, भाई आदि के वाचक शब्द पवर्ग से प्रारम्भ होते हैं। हिन्दी—माता, पिता, भाई, बाबा, मामा, मामी आदि। अंग्रेज़ी में—Mother, Father, Brother आदि। जर्मन—Mutter (मुट्टेर, माँ), Vater (फाटेर, पिता), Bruder (ब्रुडेर, भाई), फ्रेंच—Mēre (मैर, माँ), Pēre (पैर, पिता), Frēre (फ्रैर, भाई), ग्रीक—Meter (मेटेर, माँ), लैटिन—Mater (माटेर, माँ) आदि।

समीक्षा

प्रतीक सिद्धान्त मूलत: भाषा के प्रारम्भिक शब्दों की व्याख्या करता है। भाषा में प्रारम्भ में 'नर्सरी' शब्द आये, इसमें कोई संदेह नहीं है। यह सिद्धान्त स्थूल अर्थ के बोधक शब्दों की उत्पत्ति बता सकता है, सूक्ष्म अर्थ के बोधक शब्दों की उत्पत्ति बताने में असमर्थ है।

११. समन्वय-सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के समर्थक एवं प्रवर्तक प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री हेनरी स्वीट (Henry Sweet) हैं। उन्होंने कोई नया सिद्धान्त प्रस्तुत करने की अपेक्षा सर्व-सिद्धान्त-संकलन को अधिक उपयुक्त समझा है। उनका कथन है कि यदि उपर्युक्त सिद्धान्तों में से आवश्यक सिद्धान्तों को एकत्र कर लिया जाय तो भाषा की उत्पत्ति की समस्या बहुत कुछ हल हो जाती है।

प्रो० स्वीट के मतानुसार भाषा का प्रारम्भ अनुरणनात्मक, भावाभिव्यंजक और प्रतीक शब्दों से हुआ। उन्होंने इसके साथ 'उपचार-प्रयोग' को भी स्थान दिया है। उपचार से अभिप्राय है—सादृश्यमूलक गौण या लाक्षणिक प्रयोग। जैसे—चापलूसी के लिए 'मक्खन' शब्द के आधार पर 'मक्खन लगाना' शब्द। सादृश्य के आधार पर 'आलू की आँख', गुरु वचन, लघु चेष्टाएँ, मधुर आकृति, कटु वचन, आदि प्रयोग होने लगे और शब्दों का अनेक अर्थों में प्रयोग होने से अर्थ-विकास हुआ। इस प्रकार भाषा का विकास हुआ।

प्रो० स्वीट ने प्रारम्भिक शब्दों को तीन भागों में बाँटा है—१. अनुकरणात्मक (Imitative)—जैसे म्याऊँ (बिल्ली), Cuckoo (कुकू, कोयल), काक (कौवा), घुग्घू (उल्लू) आदि। २. मनोभावाभिव्यंजक (Interjectional)—जैसे हा, ओह, धिक्, छि: आदि। ३. प्रतीकात्मक (Symbolic)—जैसे उपर्युक्त नर्सरी शब्द। योग्यतमावशेष

(Survival of the Fittest) नियमानुसार प्रारम्भिक असंख्य शब्दों में से योग्यतम शब्द शेष बचे हैं।

समीक्षा

भाषा की उत्पत्ति समझाने के लिए अन्य कोई एकमत शुद्ध न होने से सबका समन्वय उपयुक्त माना गया। यह सिद्धान्त सामान्यतया निर्विरोध रूप से स्वीकार किया जाता है।

१२. प्रतिभा-सिद्धान्त—प्रतिभा-सिद्धान्त के संस्थापक आचार्य भर्तृहरि हैं। वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने प्रतिभा को विश्व की आत्मा माना है और उसे सर्वशक्ति-सम्पन्न बताया है।

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी ।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते ॥ (वाक्य० १-११८)

अर्थात् शब्दों (भाषा) में ही विश्व को बाँधने की शक्ति है। शब्द (भाषा) नेत्र है और प्रतिभा आत्मा है। यही शब्द (भाषा) विभिन्न रूपों में प्रकट होता है।

ऊपर ११ सिद्धान्त भाषा की उत्पत्ति के विषय में दिये गये हैं, परन्तु संपर्क सिद्धान्त, प्रतीक-सिद्धान्त और समन्वय-सिद्धान्त, इन तीन सिद्धान्तों को छोड़कर शेष सिद्धान्त पूर्णतया और कुछ अंशतः अस्वीकृत किये गये हैं। ११ सिद्धान्तों को मिला देने पर भी भाषा के १ या २ प्रतिशत शब्दों की समस्या का समाधान हो पाता है, ९८ या ९९ प्रतिशत शब्द अछूते ही रहते हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित वाक्य में एक भी शब्द ऐसा नहीं है, जो इन सिद्धान्तों के समन्वित रूप से भी बनाया जा सके—

'भाषा यादृच्छिक ध्वनि-संकेतों की वह पद्धति है, जिसके द्वारा मानव परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता है।'

इन सिद्धान्तों में कुछ मौलिक न्यूनताएँ हैं—

१. ये सिद्धान्त यह मानकर चलते हैं कि—

(क) मानव आदिकाल में मूक था। यह सिद्धान्त शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से स्वीकार्य नहीं है।

(ख) आदिकाल में विकास की प्रक्रिया जितनी शीघ्रता से पशु-पक्षियों आदि पर परिलक्षित होती है, उतनी मनुष्य पर नहीं। पशु-पक्षियों में रंभाना, चहचहाना, शब्द करना जन्मसिद्ध है, पर मनुष्य में नहीं।

(ग) मनुष्य में कोई मौलिक उद्भावना या शक्ति नहीं थी।

(घ) मनुष्य आदिकाल में अत्यन्त असहाय था। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थ था। वह कुछ बोल नहीं सकता था।

२. इन सभी सिद्धान्तों के द्वारा स्थूल अर्थ के बोधक कतिपय शब्दों की व्याख्या हो जाती है, पर ९९ प्रतिशत शब्दों के लिए कोई उत्तर नहीं मिलता है। सूक्ष्म अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए कोई भी शब्द इन सिद्धान्तों के द्वारा नहीं बन पाते हैं।

भर्तृहरि का अभिमत

प्रतिभा का स्वरूप—भर्तृहरि का कथन है कि मनुष्य में प्रतिभा जन्मसिद्ध है। प्रत्येक प्राणी में प्रतिभा है। उसे जन्म से ही कुछ विशेषताएँ उपलब्ध हैं। उसी प्रकार मनुष्य में कुछ विशेषताएँ जन्म से आती हैं। मानव में प्रतिभा आत्मा के रूप में है। यह ईश्वरीय देन है। प्रतिभा के बिना मानव की सत्ता संभव नहीं है। वस्तु क्या है? ध्वनि क्या है? किस वस्तु का क्या गुण है? किस ध्वनि का क्या प्रभाव पड़ता है? इसका निर्णय प्रतिभा के द्वारा होता है। विश्व का ऐसा कोई मानव नहीं है, जो प्रतिभा की सत्ता को अस्वीकार करता हो या उसे प्रमाण नहीं मानता हो। भर्तृहरि का कथन है कि मानव ही नहीं, पशु-पक्षी भी उसी को आधार मानकर बचपन से ही कार्य करते हैं।

प्रमाणत्वेन तां लोकः सर्वः समनुपश्यति ।
समारम्भाः प्रतीयन्ते तिरश्चामपि तद्वशात् ॥ (वाक्य० २-१४७)
सर्वः कश्चित् तामेव भगवतीं स्वप्रतिभां प्रमाणत्वेन पश्यति।
तिरश्चां च जातमात्राणां तन्मूल एव व्यवहारः। (हेलाराज)

प्रतिभा का कर्तृत्व—यह प्रतिभा प्रत्येक जीव में पृथक्-पृथक् रूप में रहती है और आवश्यकतानुसार विभिन्न स्थितियों में वह प्रस्फुटित होती है। यह प्रत्येक व्यक्ति में संस्कार-जन्य होती है। यही मानव-जीवन को संचालित करती है।

यथा द्रव्यविशेषाणां परिपाकैरयत्नजाः ।
मदादिशक्तयो दृष्टाः प्रतिभास्तद्वतां तथा ॥ (वाक्य० २-१४८)
तथैवेयं प्रतिनियतसंस्कारजन्या प्रतिभावतां स्फुटमुपलभ्यत एव। (हेलाराज)

भर्तृहरि ने इसे प्रयोगात्मक रूप से सिद्ध किया है कि विश्व के प्रत्येक प्राणी में प्रतिभा आत्मा के रूप में कार्य करती है। यही पशुप्रवृत्ति के रूप में पशु-पक्षियों को विभिन्न समयों में विशेष क्रिया करने के लिए प्रवृत्त करती है। यही प्रत्येक जीव को आवश्यकतानुसार कार्य करने की प्रेरणा देती है। उदाहरण के रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया है कि वसन्त मास में कौन कोयल को मधुर ध्वनि दे देता है और उसे मधुर गान के लिए बाध्य करता है? गौरैया आदि पक्षियों को सुन्दर घोंसला बनाना आदि कौन सिखाता है? मकड़ी को जाला बनाना किसने सिखाया है? बन्दर को कूदना, गाय का मांसाहार न करना, सिंह का मांसाहारी होना, कुत्ते का स्वामिभक्त होना, गाय आदि का जल में तैरना आदि कार्य ऐसे हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि पशु-पक्षियों में भी जातीय गुण और वंश-परंपरागत गुण जन्म से ही आते हैं। प्रत्येक प्राणी के आहार, प्रेम, द्वेष, चलना-फिरना, कूदना और ध्वनि में अन्तर है। यह इस बात को सिद्ध करता है कि प्रत्येक प्राणी अपनी विशिष्ट प्रतिभा के कारण ऐसा करता है।

स्वरवृत्तिं विकुरुते मधौ पुंस्कोकिलस्य कः ।
जन्त्वादयः कुलायादिकरणे केन शिक्षिताः ॥ (वाक्य० २-१४९)
आहारप्रीत्यभिद्वेष-प्लवनादिषु क्रियासु कः ।
जात्यन्वयप्रसिद्धासु प्रयोक्ता मृगपक्षिणाम् ॥ (वाक्य० २-१५०)

प्रतिभा की उत्पत्ति—प्रतिभा की उत्पत्ति शब्द से होती है। इसमें मानव के संस्कार (या भावनाएँ) आधार रूप में कार्य करते हैं। ये संस्कार इस जन्म के भी हो सकते हैं और पूर्वजन्म के भी हो सकते हैं। ये संस्कार प्रतिभा को उद्‌बुद्ध कर जीवन का संचालन करते हैं।

भावनानुगतादेतदागमादेव जायते ।
आसत्ति-विप्रकर्षाभ्यामागमस्तु विशिष्यते ॥ (वाक्य० २-१५१)

स चागमः कदाचिदासन्नोऽस्मिन्नेव जन्मन्यवगतः, कदाचिद् जन्मान्तर इत्यासत्ति-विप्रकर्षाभ्यां शब्द एव प्रतिभाहेतुः। (हेलाराज)

प्रतिभा के ६ भेद—भर्तृहरि ने प्रतिभा के ६ भेद माने हैं। **१. स्वाभाविक**—जिस प्रकार बन्दर आदि में जन्मसिद्ध कूदने आदि की शक्ति। **२. चरणजन्य**—चरण का अर्थ है सदाचार या तपःसाधना आदि, उससे जन्य। **३. अभ्यासजन्य**—विशिष्ट विषय में निरन्तर अभ्यास से जन्य। **४. योगजन्य**—यौगिक साधनाओं से ऋषि-मुनियों को प्राप्य। **५. अदृष्ट-जन्य**—पूर्व-संस्कारों से प्राप्य। **६. विशिष्टोपहित**—विशेष व्यक्तियों या परिस्थितियों द्वारा उद्‌बोधित।

स्वभावचरणाभ्यासयोगादृष्टोपपादिताम्।
विशिष्टोपहितां चेति प्रतिभां षड्विधां विदुः॥ (वाक्य० २-१५२)

प्रतिभा का स्वरूप—प्रतिभा का अर्थ है—प्रति + भा, प्रत्येकं वस्तु प्राप्य भाति भासते इत्यर्थः, जो प्रत्येक वस्तु को प्राप्त करके प्रदीप्त होती है। इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानेन्द्रियों (आँख, नाक, कान आदि) से गृहीत कोई भी ज्ञान या तत्त्व प्रतिभा तक पहुँचता है तो प्रतिभा में प्रकाश की कुछ किरणों का विकिरण होता है। यह विकिरण प्रत्येक ज्ञान या तत्त्व का विश्लेषण करता है, उसके स्वरूप का यथार्थ निर्णय करता है और यह भी निर्णय करता है कि उसमें कितना अंश ग्राह्य है एवं कितना त्याज्य है। अतएव प्रतिभा का लक्षण किया गया है कि नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं।

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। (इति रुद्रः)

भर्तृहरि ने इस विषय को विस्तार के साथ स्पष्ट किया है कि किस प्रकार प्रत्येक वस्तु को देखने पर विभिन्न प्रकार की प्रतिभा होती है। यह प्रतिभा पदार्थ के दर्शन के द्वारा अभिव्यक्त होती है। यह अनुभव-सिद्ध है। इसके स्वरूप का वर्णन करना संभव नहीं है। यह सभी तत्त्वों का यथायोग्य संयोग कराती है, अतः इसको सर्वरूपात्मक माना गया है।

विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभाऽन्यैव जायते ।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् ॥ (वाक्य० २-१४३)
उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता ।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते ॥ (वाक्य० २-१४५)

प्रतिभा के दो पक्ष—प्रतिभा दो प्रकार की है—भावयित्री और कारयित्री। भावयित्री प्रतिभा का कार्य है—ज्ञानार्जन, चिन्तन और मनन। कारयित्री प्रतिभा का कार्य है—भावों को क्रियात्मक रूप देना। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भावयित्री

प्रतिभा ज्ञान का भावपक्ष है और कारयित्री प्रतिभा कलापक्ष है। प्रत्येक ज्ञान में दो पक्ष हैं—ज्ञान को ग्रहण करना, उसका विवेचन, विश्लेषण, मनन और चिन्तन करना। इसके द्वारा यह निर्णय किया जाता है कि भावों या विचारों को किस रूप में उपस्थित किया जाये। दूसरा क्रियात्मकपक्ष है। यह भावों को व्यक्त रूप देता है। इसके द्वारा ही व्यक्त वाणी का प्रयोग होता है। विचार सिद्धान्तपक्ष है और व्यक्त वाणी क्रियात्मकपक्ष। भाषा की उत्पत्ति के लिए ये दोनों पक्ष अनिवार्य हैं।

भाषा का प्रारम्भिक रूप—हेलाराज ने वाक्यपदीय (२-१५२) की व्याख्या में इस विषय को स्पष्ट किया है कि भाषा का प्रारम्भिक रूप क्या होता है। उसका कथन है कि प्रलयावस्था में सभी शब्दशक्ति के बीज निरुद्ध या अव्यक्त रूप को प्राप्त हो जाते हैं और नवीन सृष्टि के साथ वे अव्यक्त रूप में विद्यमान शब्दशक्ति के बीज पुनः अत्यन्त सूक्ष्म रूप में विकसित होते हैं और धीरे-धीरे पनपते हुए व्यक्त भाषा के रूप में प्रकट होते हैं।

एवं प्रतिभा बहुविधाऽपि..............प्रत्यस्तमित-निविष्टशब्दशक्तिबीजकारणान्तर्भूता निबद्धबीजा वृत्तिकाले प्रथमं सूक्ष्मेणापि वर्त्मना विवर्तमानामनुभूय क्रमेण वर्ण-वाक्य-नियताभिरवस्थाभिः सम्मूर्च्छन्ती प्राप्तबीजपरिपाकाकारा पुनः पुनर्व्यक्तेन रूपेण प्रत्यव-भासते। वाक्य० २-१५२ (हेलाराज)

भर्तृहरि ने अतएव समस्त लौकिक व्यवहार का आधार शब्द को बताते हुए 'पूर्वाहितसंस्कार' अर्थात् पूर्व-जन्म के संस्कारों को भाषा की उत्पत्ति का कारण माना है। ये संस्कार कभी नष्ट नहीं होते हैं और ये ही बालक में शब्द-भावना को उत्पन्न करते हैं।

इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया ।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते ॥ (वाक्य० १-१२१)

ऋग्वेद में कुछ संकेत—ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ७१ के प्रारम्भिक तीन मन्त्रों में भाषा की उत्पत्ति के विषय में कुछ उपयोगी संकेत मिलते हैं। इनमें निम्न बातों के संकेत हैं—१. भाषा का आविष्कार हुआ (मंत्र में इसका सूचक आविः = आविष्कार शब्द है); २. सर्वप्रथम वस्तुओं के नाम रखे गये; ३. भाषा में से छाँटकर उपयुक्ततम शब्दों को अपनाया गया; ४. चलनी से सत्तू की तरह छानकर अनुपयोगी शब्दों को हटाया गया; ५. भाषा का स्रोत विद्वानों में पाया गया; ६. भाषा के स्रोत को विविध रूपों में फैलाया गया।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्, प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥
(ऋग् ० १०-७१-१)

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
(ऋग्० १०-७१-२)

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा०। (ऋग्० १०-७१-३)

प्रथम मन्त्र में वाणी के सर्वप्रथम प्रयोग का संकेत है (**प्रथमं वाचो अग्रं···प्रैरत**), वस्तुओं का नाम रखा गया (**नामधेयं दधानाः**), उपयुक्त और निर्दोष शब्द लिये गये (**यदेषां श्रेष्ठं०**), भाषा का आविष्कार हुआ (**निहितं गुहा + आविः**), भाषा के अनुपयुक्त शब्दों को निकाला गया (**सक्तुमिव०**), भाषा का मार्ग ढूँढ़ा गया (**वाचः पदवीयमायन्**), भाषा का स्रोत विद्वानों में मिला (**तामन्वविन्दन्०**), भाषा को विविध रूप में फैलाया (**तामाभृत्या०**)।

उपर्युक्त मन्त्रों से इस भ्रान्त धारणा का समूल निराकरण होता है कि वेदों में अन्धविश्वास के मन्त्र भरे पड़े हैं। इसका मुख्य कारण विषय के ज्ञान का अभाव है।

भाषा-उत्पत्ति की प्रक्रिया—पहले संपर्क-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। आदि-सृष्टि में मानव एक दूसरे के संपर्क में आया। उसकी कुछ आवश्यकताएँ थीं, उसके कुछ भाव थे, उसकी कुछ अनुभूतियाँ थीं, वह उनको प्रकाशित करना चाहता था। मानवीय भाषा या व्यक्त वाक् जैसी कोई चीज उसे उपलब्ध नहीं थी। 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' इस सिद्धान्त के अनुसार जब उसकी भावनाएँ तीव्र होती हैं, वह अपने हर्ष, शोक, क्रोध, भय, क्षुधा आदि के भावों को इंगित के द्वारा प्रकट करता है। थोड़ा-बहुत काम इंगित की प्रक्रिया से चलता है, पर यह प्रक्रिया अधिक समय तक साथ न दे सकी। उसने पशु-पक्षियों के स्वाभाविक शब्द सुने। उनके आधार पर उसकी चेतना जागृत हुई। छींकना, खाँसना, थूकना आदि पहले से आता था। अब हर्ष, शोक आदि के प्रकाशनार्थ नये शब्दों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। ये मनोभावाभिव्यंजक शब्द सर्वप्रथम प्रकट हुए। इसके पश्चात् मनुष्य ने अपने समीप कुछ जीव-जन्तु, पशु-पक्षी देखे। इनका नामकरण इनकी ध्वनि आदि के आधार पर प्रारम्भ हुआ। उसने अपने समीप अपने कुछ निकट सम्बन्धी भी देखे। अब उनके नामकरण की आवश्यकता पड़ी। सर्वप्रथम माता, पिता आदि के नाम पड़े। बोलने के लिए कुछ शब्दों का सहारा मिला।

अभी तक प्रतिभा अनुद्बुद्ध रूप में थी। अब उसकी आवश्यकता पड़ी। आवश्यकता ने बाध्य होकर प्रतिभा पर बल दिया। प्रतिभा सहायक रूप में उपस्थित हुई। इस प्रकार आवश्यकता और प्रतिभा के समन्वय से भाषा की उत्पत्ति प्रारम्भ हुई। आवश्यकता प्रेरक तत्त्व था और प्रतिभा उत्पादक तत्त्व। अभी तक फुटकर कुछ शब्दों की राशि ही मानव के पास थी। अब उसे भाषा-विकास के लिए कुछ बीजों की आवश्यकता पड़ी। ये बीज कहाँ से प्राप्त हों? इसके लिए कुछ क्रियावाचक शब्दों को सर्वप्रथम जन्म दिया गया। जैसे—जाना, चलना आदि अर्थों की धातुएँ। गम् (जाना), Go (जाना) आदि धातुएँ इसी प्रकार की हैं। इन धातुओं ने डूबते को तिनके का सहारा दिया। एक मार्ग दिखाई पड़ा। इन प्रारम्भिक धातुओं का धुआँधार प्रयोग प्रारम्भ हुआ। जिस प्रकार एक छोटा बालक सभी स्त्रियों को माँ कहने लगता है और सभी पुरुषों को पा-पा या भइया आदि, उसी प्रकार इन धातु शब्दों की गति हुई। एक ओर ये क्रिया का बोध कराते थे—गच्छति (जाता है), पचति (पकाता है) आदि। दूसरी

और इनसे अनेक संज्ञा-शब्द भी बनने लगे। जैसे—गम् से गति (जाना), गमन (जाना), आगम, निगम, संगम, उद्गम आदि।

यहाँ यह स्मरण रखना उचित है कि प्रत्येक भाषा की उत्पत्ति में आवश्यकता खेत (क्षेत्र, field) तैयार करती है और प्रतिभा बीजों का निर्माण करती है। प्रतिभा की स्वाभाविक विशेषता है कि वह आवश्यकतानुसार इष्ट ज्ञान प्रदान करती है। भाषा के मौलिक तत्त्वों की रचना प्रतिभा का कार्य है। प्रत्येक आवश्यकता के अनुसार प्रतिभा में स्फोट (Explosion) होता है और उसकी ध्वनि (Sound) शब्द का रूप ग्रहण करती है। प्रतिभा सर्वशक्तिसंपन्न, अनेक रूप, अनिर्वचनीय, नवनवोन्मेषशालिनी और नित-नूतन है, अतएव यह कहना असंभव है कि किस पदार्थ को देखकर किसकी प्रतिभा में क्या स्फोट या विस्फोट होगा। प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिभा में भेद है, अतः स्फोट और ध्वनि का रूप भी पृथक् होगा। अतएव विश्व में सैकड़ों भाषाओं की सृष्टि हुई है। इसी प्रतिभामूलक भाषा-सृष्टि का एक रूप वैदिक भाषा या वैदिक संस्कृत है। मानव की उत्पत्ति से लेकर आज तक ऐसा कोई समय नहीं रहा है, जब मानव में प्रतिभा का अभाव रहा हो। जहाँ प्रतिभा है, वहाँ असहाय-भावना नहीं होगी। मानव का समाज से संपर्क हुआ; उसे भाषा की आवश्यकता हुई; व्युत्पन्न या प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने उसके लिए कुछ ध्वनियाँ प्रस्तुत कीं; उसमें से उपयुक्ततम ध्वनियों को चुन लिया गया और उसे समाज की स्वीकृति प्राप्त हुई। वे ध्वनियाँ कुछ निश्चित अर्थों को प्रकट करने लगीं। धीरे-धीरे इन ध्वनियों में अर्थ-विस्तार की प्रक्रिया चालू हुई और एक ध्वनि अनेक वस्तुओं का बोध करने लगी। इसका मुख्य आधार सादृश्यमूलक प्रयोग था। वेदों में गो (गाय) शब्द का गाय, बैल, किरण, पृथ्वी, सूर्य, चर्म, प्रत्यंचा आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता था (देखो निरुक्त अध्याय २.५ से ७)। इस प्रकार उपचार-मूलक या गौण प्रयोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती जाती है। एक-एक धातु के सैकड़ों संज्ञावाचक शब्द बन जाते हैं और उनमें से प्रत्येक अनेक अर्थों का बोधक होता है। इस प्रकार एक-एक धातु सौर-मण्डल के तुल्य अपना मण्डल बना लेती है।

भाषा की उत्पत्ति में धातु-शब्दों (धातुओं या क्रियावाचक शब्दों) का अनुपम योगदान है। भाषा की उत्पत्ति में धातुओं के योगदान की ओर यास्क, पाणिनि, पतंजलि आदि ने भी ध्यान आकृष्ट किया है। पाणिनि ने **'धातोः' (अष्टा० ३-१-९१)** सूत्र की रचना इसी उद्देश्य से की है।

तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। (निरुक्त १-१२)
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। (महाभाष्य)
श्लेष्मादि...शब्दयोनिश्च धातवः। (अमरकोष ३-३-६५)

धातु से संज्ञाशब्दों की उत्पत्ति के बाद उनके भेद प्रारम्भ होते हैं। सर्वप्रथम व्यक्तिवाचक शब्द होते हैं और उनके सामान्यीकरण से जातिवाचक शब्द बनते हैं। इनके भेद पारिवारिक शब्द, जीव-जन्तुवाचक शब्द, प्राकृतिक-वस्तुवाचक शब्द, सर्वनाम शब्द आदि बनते हैं। क्रियावाचक शब्दों से उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष वाले शब्द

पहले आते हैं। तत्पश्चात् विभिन्न कालों का भेद प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम वर्तमान काल आता है, उसके बाद भूत और भविष्यत्।

मानव-विकास की प्रथम धारा में पहले भौतिक शब्द ही बनते हैं। ज्ञान, मनन, चिन्तन, विश्लेषण, परीक्षण और भावानुभूति वाले शब्दों की रचना क्रमशः प्रारम्भ होती है। इसको संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—
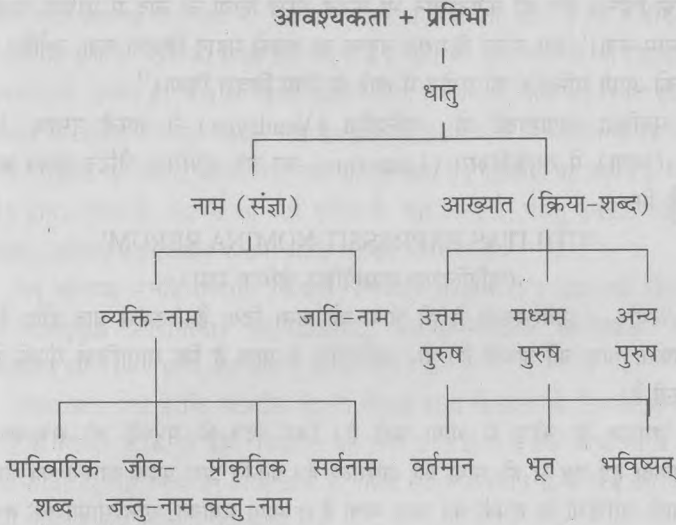
प्रतिभा का वैज्ञानिक स्वरूप—प्रतिभा का कार्य स्पेक्ट्रोग्राफ (Spectrograph) मशीन की कार्य-पद्धति से समझा जा सकता है। जिस प्रकार स्पेक्ट्रोग्राफ मशीन प्रकाश और ध्वनि के स्पेक्ट्रा (Spectra, एकवचन में Spectrum स्पेक्ट्रम) को पृथक्-पृथक् करके उन्हें अलग-अलग एकत्र (Arrange) करती है, उसी प्रकार प्रतिभा भी आँखों से देखी गई वस्तुओं और कान से सुनी गई ध्वनियों के स्पेक्ट्रा को अलग-अलग करती है। उनके विश्लेषण के द्वारा प्रतिभा ही निर्णय करती है कि उसमें क्या ग्राह्य है और क्या हेय है। किसी भी देखी या सुनी गई वस्तु को क्या नाम दिया जाय, यह भी प्रतिभा का कार्य है। प्रतिभा सर्वशक्तिमान् है, अतः वह नव-नवोन्मेष के साथ व्यक्तिभेद के आधार पर एक ही वस्तु के विभिन्न नाम सुझाती है। अतः भाषाभेद होता है। विवेचन, विश्लेषण और विवेक प्रतिभा का ही कार्य है। विवेचन के द्वारा पृथक्-पृथक् करने का कार्य (Analysis) होता है और विवेक के द्वारा ग्राह्य और हेय आदि का निर्णय होता है।

पाश्चात्त्य विद्वानों का मत—पाश्चात्त्य विद्वानों और वैज्ञानिकों ने यह स्वीकार किया है कि आदिम मनुष्य हर्ष, भय, शोक आदि की स्थितियों में विभिन्न चेष्टाओं द्वारा अपना भाव प्रकट करता था और कुछ शब्द बोलता था। बाह्य पदार्थों का मनुष्य की बुद्धि पर प्रभाव पड़ता है और वह उनके लिए उपयुक्त ध्वनियों या शब्दों का निर्माण करता है। यह प्रक्रिया ही भाषा की उत्पत्ति में सहायक होती है।

प्रसिद्ध प्राणि-विज्ञान-शास्त्री 'हेण्ड्रिक विलेम वान लून' (Hendrick Van Loon) ने अपनी पुस्तक 'The Story of Mankind' (मनुष्यजाति की कहानी) में लिखा है कि—

'प्रकृति की शक्तियों पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए सर्वप्रथम उसने ही अपने मस्तिष्क का उपयोग किया।' 'उसने अपने बच्चों को खतरे से सावधान करने के लिए एक विचित्र ढंग की कण्ठध्वनि भी करना सीख लिया जो बाद में परस्पर वार्तालाप का माध्यम बना।' 'इस प्रकार हिमयुग मनुष्य का सबसे महान् शिक्षक बना, क्योंकि इसने मनुष्य को अपने मस्तिष्क को प्रयोग में लाने के लिए विवश किया।'[1]

सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री प्रो० वान्द्रियैज़ (Vendryes) ने अपनी पुस्तक Language (भाषा) में ल्यूक्रेटिअस (Lucretius) का यह सुप्रसिद्ध लैटिन वाक्य उद्धृत किया है कि—

'UTILITAS EXPRESSIT NOMINA RERUM'

(यूटिलिटास एक्सप्रेसिट नोमिना रेरम)

अर्थात्—'आवश्यकता ने ही भाषा को जन्म दिया है।' इससे ज्ञात होता है कि आवश्यकता भाषा की जननी है। प्रो० वान्द्रियैज़ ने माना है कि सामाजिक संपर्क से ही भाषा बनी है।

'समाज के क्रोड़ में भाषा बनी है। जिस दिन से मनुष्यों को संभाषण की आवश्यकता हुई तब से ही भाषा का अस्तित्व है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त साधनों का उपयोग करने वाले व्यक्तियों के संपर्क का फल भाषा है।...भाषा प्रधानतः एक सामाजिक तथ्य है तथा सामाजिक संपर्क का फल है।'[2]

प्रो० ओटो येस्पर्सन (Otto Jespersen) ने अपनी पुस्तक Language में स्वीकार किया है कि ऐसा कोई समय नहीं था, जब मनुष्य के पास कोई भाषा-जैसा साधन नहीं था और वह पशुतुल्य मूक प्राणी था। ऐसा मानना शरीरविज्ञान के अनुसार सर्वथा असंभव है। साथ ही उन्होंने माना है कि भाषा की उत्पत्ति किसी आवश्यकता को लेकर सहसा हुई और वे सांकेतिक शब्द सर्वजन-ग्राह्य होने के कारण भाषा के रूप में विकसित हुए।

'They all tacitly assume that up to the creation of language man had remained mute or silent : but this is most improbable from a physiological point of view.'

'Primitive man came to attach meaning to what were originally rambling sequences of syllables in pretty much the

---

१. मनुष्यजाति की कहानी, हेण्ड्रिक विलेम वॉन लून (हिन्दी अनुवाद), पृ० ४, ६ और १८।

२. जे० वान्द्रियैज़ (J. Vendryes) : Language (भाषा), हिन्दी अनुवाद, डॉ० ज०कि० बलवीर, १९६६, पृ० १५, १२।

same way as child comes to attach a meaning to many of the words he hears from his elders.' 'The development of our ordinary speech has been largely an intellectualization, and the emotional quality which played the largest part in primitive utterances has to some extent been repressed.'[1]

दिव्योत्पत्ति-सिद्धान्त पर पुनर्दृष्टि—दिव्योत्पत्ति-सिद्धान्त की समीक्षा में कतिपय विद्वानों ने कुछ असंगत बातें कही हैं। उन पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने तथ्यों को वास्तविक रूप में रखने का प्रयत्न नहीं किया है। भाषा का मूल रूप जो भी रहा हो, यह सर्वमान्य है कि ऋग्वेद ही विश्व का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। उसकी भाषा को लेकर ही भाषा के विकास का इतिहास प्रस्तुत किया जाता है। वेदों को ईश्वरीय या अपौरुषेय मानने के बारे में महर्षि पतंजलि का मत ही भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से ग्राह्य है। पतंजलि का कथन है कि वेद (अर्थात् ज्ञान) नित्य है। वेदों में जो अर्थ वर्णित है, वह नित्य है, परन्तु उनकी वर्णानुपूर्वी (वर्णक्रम) अनित्य है। अतएव काठक आदि शाखाएँ प्रचलित हैं।

ननु चोक्तम्—'नहि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसीति'। यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति—काठकं कालापकं मोदकं पैप्पलादकम् इति। (महाभाष्य, तेन प्रोक्तम् ४-३-१०१)

इससे ज्ञात होता है कि पतंजलि वेद या छन्दस् शब्द से ज्ञान की नित्यता मानते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर दैवी-सिद्धान्त का तथ्य ज्ञात होता है कि परमात्मा ने मानव को प्रतिभा दी है, वह नित्य है, अतः ज्ञान भी नित्य है। सर्वप्राचीन ग्रन्थ होने की दृष्टि से वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है।

देवीं वाचमजनयन्त देवाः०। (ऋग्० ८-१००-११)

का अभिप्राय यह है कि भाषा को जन्म देने का श्रेय वस्तुतः देवों अर्थात् विद्वानों को ही है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विद्वानों को ही देव कहा गया है।

विद्वांसो हि देवाः। (शतपथब्राह्मण ३-७-३-१०)

इस मन्त्र से यह संकेत भी मिलता है कि भाषा की उत्पत्ति प्रतिभाशाली विद्वानों ने की है। **अग्निवायुरविभ्यस्तु० (मनु० १-२३)** का अभिप्राय यही है कि ऋग्, यजुः और साम इन तीन वेदों में अग्नितत्त्व, वायुतत्त्व और सूर्यतत्त्व का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अग्नि, वायु और सूर्य के दुहने का यही अभिप्राय है कि उनके सभी गुणों का वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। यही तत्त्व-विश्लेषणों वेद का महत्त्व है।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भाषा ईश्वरीय नहीं है, अपितु प्रतिभा ईश्वरीय है। उसके द्वारा ही भाषा की सृष्टि होती है। इसी अर्थ में भाषा को ईश्वरीय देन कहा जा सकता है। पहले कहा जा चुका है कि प्रतिभा सर्वशक्ति-संपन्न है और नव-नवोन्मेषशालिनी है। प्रतिभा एकरूप नहीं है, अतः भाषा भी एकरूप नहीं है और न हो सकती है। भाषा-भेद का कारण प्रतिभा की विविधरूपता या सर्वरूपता ही है।

---

1. Otto Jespersen : *Language*, pp. 416, 441.

३.३. भाषा की परिवर्तनशीलता

परिवर्तन और विकास—परिवर्तन सृष्टि का नियम है। संसार की प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन है। इस परिवर्तन को ही हम विकास कहते हैं। परिवर्तन ही जीवन है, चेतना है, विकास है और उल्लास है। जहाँ परिवर्तन नहीं है, वहाँ जीवन भी नहीं है। मानव में जीवन है, चेतना है, अतः परिवर्तन भी स्वभावसिद्ध है। मानव की भाषा मानव का एक अंग है, अतः उसमें भी सृष्टि के नियमानुसार परिवर्तन, परिवर्धन, क्षरत्व और नित-नूतन रमणीयत्व है। आचार्य यास्क ने निरुक्त में आचार्य वार्ष्यायणि का मत उद्धृत किया है कि प्रत्येक भौतिक तत्त्व में षड्विध (६ प्रकार का) विकार होता है—उत्पत्ति, स्थिति, विकास, वृद्धि, क्षय और विनाश। उसका जन्म या प्रारम्भ होता है; उसकी सत्ता होती है; उसमें विकास एवं परिवर्तन होता है; उसमें वृद्धि होती है; उसमें क्षीणता आती है और अन्त में उसका विनाश हो जाता है।

षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति। (निरुक्त १.२)

परिवर्तन के आधार पर ही इस सृष्टि के जगत् और संसार नाम पड़े हैं। गच्छतीति जगत्, जो निरन्तर गतिशील है। संसरतीति संसारः संसृतिर्वा, यह चलता है, गतिशील है, परिवर्तनशील है, अतः इसे संसार या संसृति कहते हैं।

यह परिवर्तन संसार के प्रत्येक पदार्थ में प्रतिदिन दृष्टिगोचर होता है। फूल कली के रूप में आता है, खिलता है, मुरझाता है, नष्ट हो जाता है। वृक्ष-वनस्पतियाँ प्रकट होती हैं, बढ़ती हैं, नष्ट हो जाती हैं। बालक जन्म लेता है, युवा होता है, वृद्ध होता है, नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार भाषा भी उत्पन्न होती है, बढ़ती है, फलती-फूलती है और परिवर्तित होती जाती है। जिस प्रकार मनुष्य '**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय०**' के अनुसार पुराने वस्त्र के तुल्य पुराने शरीर को छोड़कर नये वस्त्र-सदृश नये शरीर को धारण करता है, उसी प्रकार भाषा भी परिवर्तन के इस क्रम में अपना पुराना चोला उतार कर नया चोला पहन लेती है। जैसे—प्राचीन वैदिक संस्कृत ने अपना पुराना चोला बदला तो वह लौकिक संस्कृत हो गई। फिर चोला बदलते हुए वह पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और वर्तमान आर्य-भाषा हिन्दी आदि के रूप में अभिनय के लिए प्रस्तुत हुई है। यह परिवर्तन ही उसके आकर्षण का केन्द्र है।

अभिनेता नये रूप में आता है तो उसमें नवीनता होती है, नवीन माधुर्य होता है और नवीन आकर्षण होता है। नये बालक का जन्म किसके लिए उल्लास का कारण नहीं है? इसी प्रकार पुरानी भाषा जब नये रूप में अवतीर्ण होती है तो उसमें नई चेतना, नई स्फूर्ति और नई ज्योति दिखाई देती है। भाषा की परिवर्तनशीलता में यही आकर्षण और माधुर्य है।

भाषा की उपमा नदी के प्रवाह से दी जाती है। जिस प्रकार नदी अपने उद्गम-स्थल से निकलकर निरन्तर बहती जाती है, उसमें अनेक नाले, स्रोत, नदी और नद मिलते जाते हैं, उसके स्वरूप में परिवर्तन और परिवर्धन होता जाता है, परन्तु उसका नाम वही प्रचलित रहता है, जैसे—गंगा गंगोत्री से प्रादुर्भूत होती है, असंख्य छोटे स्रोतों का पानी उसमें मिलता जाता है। हरिद्वार में आकर वह दो भागों में विभक्त हो जाती है। एक मुख्य

प्रवाह, जो आगे भी गंगा के नाम से चलता है। दूसरा छोटा प्रवाह, जिसे गंगा की बड़ी नहर (Upper Ganges Canal) कहते हैं। यह उपधारा मूलधारा से पृथक् हो जाती है और स्वतन्त्र रूप से अपना प्रवाह चालू रखते हुए विभिन्न जिलों में सिंचाई का काम करती है। इसमें सुन्दर घाट हैं, सुन्दर प्रपात (Water Falls) हैं, जिनसे विद्युत् का उत्पादन होता है। यह देखने में अधिक सुन्दर और सुनियोजित है। उपर्युक्त उदाहरण से भाषा की गति को अधिक अच्छे ढंग से समझा जा सकता है। मूलधारा स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द ढंग से विचरण करती हुई आगे बढ़ती है। इसमें गोमती, सरयू (घाघरा), यमुना, सोन आदि नदियाँ मिलती हैं और सभी मिलकर अपना अस्तित्व समाप्त कर गंगा नाम से संबोधित होती हैं। इसमें यमुना आदि ने आज तक कोई आपत्ति नहीं की है कि उसे प्रयागस्थ संगम के बाद यमुना आदि क्यों नहीं कहा जाता है। इन नदियों की अपनी नहरें हैं। वे अपने स्वतन्त्र रूप में विकसित होती हैं।

जनभाषा और साहित्यिक भाषा में यही अन्तर है। जनभाषा परिवर्तित होते हुए भी नदी की मूलधारा के तुल्य निरन्तर गतिशील है, चिरस्थायी है और विकासोन्मुख है। इसमें सैकड़ों परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन होते हैं, परन्तु इसकी गति अबाध है। साहित्यिक भाषाएँ मूलधारा से निकाली हुई उपधाराएँ या नहरें हैं, जो विविध अलंकरणों से अलंकृत होती हुई नव-वधू के तुल्य मनोहारिणी होती हैं। परन्तु विवाहिता वधू के तुल्य इनका प्रवाह स्वच्छन्द नहीं रह जाता है। ये व्याकरण आदि के नियमों में बद्ध होकर स्थिर हो जाती हैं, अतः इनकी प्रगति रुक जाती है।

जिस प्रकार गंगा में विभिन्न नाले, नदी और नद मिलते जाते हैं और अपना नाम-रूप समाप्त करके गंगा नाम से ही प्रचलित हो जाते हैं, उसी प्रकार जनभाषा में भी विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के शब्द निरन्तर आकर मिलते रहते हैं और जनभाषा की धारा अबाध गति से चलती रहती है। इस संयोग का परिणाम यह होता है कि जिस प्रकार गंगा के जल में अनेक नदियों के जल के मिश्रण से उसकी विशालता, उसके स्वरूप, उसके रस आदि में अन्तर आ जाता है, उसी प्रकार शक, कुषाण, हूण, यवन, पुर्तगाली, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ आदि जातियों के भारत में आगमन और शासकीय स्थिति के कारण भारत की जनभाषा में भी सैकड़ों शब्द इन जातियों की भाषाओं के समाविष्ट हो गये। इसी प्रकार इस्लाम और अंग्रेज़ी संस्कृति के सैकड़ों शब्दों का जनभाषा में प्रवेश हुआ है। इस प्रकार भाषा में परिवर्तन होता जाता है। जनता शासक की भाषा को सादर अपनाती है, अतएव फारसी, अरबी और अंग्रेज़ी आदि के सैकड़ों शब्द हमारी भाषा में प्रचलित हो गये हैं।

स्थान, काल और परिस्थिति-भेद से भिन्नता—विभिन्न भाषाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि स्थान-भेद, काल-भेद और परिस्थिति-भेद से उनमें परिवर्तन या भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। भारतीय आर्यभाषाएँ एक ही मूल भाषा से निकली हैं, परन्तु स्थान-भेद से वे आज हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि विभिन्न रूपों में प्रचलित हैं। इन भाषाओं में पर्याप्त अन्तर हो गया है। एक भाषा-भाषी दूसरी भाषा को अनायास नहीं समझ सकता है। इसी प्रकार काल-भेद से मूल वैदिक भाषा से संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश,

हिन्दी आदि विभिन्न भाषाएँ हुई हैं। प्रत्येक भाषा में काल-भेद से रूप-भेद दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन अंग्रेज़ी भाषा एंग्लो-सैक्सन (Anglo-Saxon) नाम से प्रचलित थी। इसका ही विकसित रूप वर्तमान अंग्रेज़ी है। इन दोनों के स्वरूप में बहुत अन्तर हो गया है। परिस्थितियों के भेद होने से भी भाषा में भिन्नता आ जाती है। यह परिस्थिति की विभिन्नता राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आदि कारणों से होती है। प्रतिकूल परिस्थितियों में भाषा का प्रवाह रुक जाता है या मन्द पड़ जाता है और अनुकूल परिस्थिति में उसका प्रवाह तीव्र हो जाता है। अंग्रेज़ों के शासन के कारण भारत की सभी भाषाओं में अंग्रेज़ी के शब्दों की पर्याप्त संख्या प्रविष्ट हो गई है। प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण प्राचीन यज्ञपरंपरा नष्ट हो जाने से सैकड़ों यज्ञ-संबंधी पारिभाषिक नाम और पात्र आदि के नाम नष्ट हो गये हैं। विभिन्न परिस्थितियाँ भाषा के ह्रास और विकास में कारण होती हैं। आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इन तीनों कारणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि अवस्था या परिस्थिति-भेद, देश-भेद और काल-भेद से प्रत्येक वस्तु में शक्ति-भेद होता है।

अवस्थादेशकालानां भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु। (वाक्य० १-३२)

३.४. भाषा में परिवर्तन की दिशाएँ

भाषा में परिवर्तन स्वाभाविक है। यह उसका धर्म है। इस परिवर्तन को ही विकार या विकास कहा जाता है। भाषा के पाँचों रूपों में यह परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, अतः परिवर्तन की पाँच प्रमुख दिशाएँ हैं—

१. ध्वनि-परिवर्तन, २. शब्द-परिवर्तन, ३. पद-परिवर्तन, ४. वाक्य-परिवर्तन, ५. अर्थ-परिवर्तन।

१. ध्वनि-परिवर्तन—भाषा के मूल-आधार ध्वनि-चिह्न हैं। ध्वनि-चिह्नों की समष्टि ही भाषा है। भाषा में जो कुछ परिवर्तन होता है, उसका प्रथम सूत्रपात ध्वनि-परिवर्तन से होता है। ध्वनि-परिवर्तन अकारण और सकारण दोनों प्रकार के होते हैं। इसका विशेष वर्णन अध्याय ४ में किया जाएगा। प्रयत्नलाघव या मुखसुख, मिथ्यासादृश्य, अपूर्ण अनुकरण, अपूर्ण श्रवण आदि कारणों से ध्वनियों में परिवर्तन होता है। छोटा बालक नए शब्दों को पूर्ण शुद्ध रूप में नहीं सुन पाता है, अतः उसका अनुकरण भी अपूर्ण होता है। इसी प्रकार नई भाषा या विदेशी भाषा के शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं हो पाता है। फलस्वरूप विकृत शब्द प्रचलित हो जाते हैं। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और आर्यभाषाओं हिन्दी आदि में सैकड़ों ध्वनि-परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं। जैसे—कहीं पर आदि-स्वर का लोप होता है—अन्नाद्य > अनाज > नाज, अपिधान > पिधान (ढक्कन), अपिधेहि > पिधेहि (ढक दो), अवगाहन > वगाहन (स्नान), अभ्यन्तर > भीतर (अन्दर)। इसी प्रकार मध्य-स्वरलोप, अन्त्य-स्वरलोप, व्यंजन-लोप, अक्षरलोप, आगम, वर्ण-विपर्यय आदि होते हैं। मीरजापुर > मिर्जापुर, स्थाली > थाली, सूची > सूई, भाण्डागार > भंडार, स्वर्गगंगा > स्वर्गङ्गा, नाककटा > नकटा, स्नान > अस्नान, स्टेशन > इस्टेशन या सटेशन, मेघ > मेह, स्तन > थन, स्नान > नहाना आदि।

२. शब्द-परिवर्तन—अनेक ध्वनियों के समन्वय से शब्द बनता है। सार्थक ध्वनि-समूह को शब्द कहते हैं। जिस प्रकार ध्वनियों में परिवर्तन से भाषा में परिवर्तन होता है, उसी प्रकार शब्दों में परिवर्तन से भाषा में परिवर्तन की दिशा का संकेत मिलता है। संस्कृत के सैकड़ों शब्द प्राकृत, अपभ्रंश में परिवर्तित होते हुए आज हिन्दी में सर्वथा नये परिवर्तित रूप में प्राप्त होते हैं। वैदिक मातृ, पितृ, भ्रातृ शब्द माता, पिता, भ्राता हुए और अब माँ, बाप, भाई हो गये हैं। द्वि > दो, त्रि > तीन, चतुर् > चार, पंचम् > पाँच हो गये हैं। अग्नि > आग, सत्य > सच, घृत > घी, ग्राम > गाँव, सुनर > सुन्दर, सुनरी > सुन्दरी, चक्र > चाक, भक्त > भात, भ्रातृजाया > भौजाई, उपाध्याय > ओझा > झा, वन्द्योपाध्याय > बनर्जी, गंगोपाध्याय > गांगुली हो गये हैं। ध्वनि-परिवर्तन के तुल्य शब्द-परिवर्तन की भी अनेक विधाएँ हैं।

३. पद-परिवर्तन—'सुप्तिङन्तं पदम्' (अष्टा० १-४-१४) सुबन्त और तिङन्त को पद कहते हैं। शब्दों और धातुओं से सुप् या तिङ् प्रत्यय लगाने पर प्रयोग के योग्य पद या रूप बनते हैं। 'अपदं न प्रयुञ्जीत' संस्कृत में पद बनाये बिना शब्द या धातु का प्रयोग नहीं हो सकता है। अतः सुबन्त और तिङन्त रूपों में होने वाले परिवर्तनों को पद-परिवर्तन कहते हैं। इन्हें रूप-परिवर्तन भी कह सकते हैं। संस्कृत, पालि और प्राकृत में शब्दरूप और धातुरूप संयोगावस्था में हैं, परन्तु हिन्दी में ये वियोगावस्था में हैं। वर्तमान आर्यभाषाओं बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि में भी वियोंगावस्था प्रचलित है। रामः गृहं गच्छति—राम घर को जाता है। संस्कृत में तीन पद हैं, परन्तु हिन्दी में ये पाँच पद हो जाते हैं। हिन्दी में कारक-चिह्नों और क्रिया-चिह्नों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की जाती है। भूमौ बालकः शेते—भूमि पर बालक सो रहा है। श्यामः फलम् अखादत्—श्याम ने फल को खाया। इन स्थलों पर कारक-चिह्नों और क्रिया-चिह्नों के परिवर्तन के कारण भाषा में पद-परिवर्तन की दिशा सूचित होती है।

४. वाक्य-परिवर्तन—पदों के संयोग से वाक्य बनते हैं। संस्कृत में वाक्य-रचना परिष्कृत एवं व्यवस्थित है, अतः किसी भी पद को आगे या पीछे कर देने पर भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है। अन्य भाषाओं में यह स्थिति नहीं है। उनमें कर्ता, कर्म, क्रिया आदि का स्थान निर्धारित है। स्थान-परिवर्तन करते ही उनके अर्थ में अन्तर आ जाता है। संस्कृत में सामान्यतया कर्ता, कर्म, क्रिया, यह क्रम है, परन्तु इसमें परिवर्तन करने पर भी अर्थ वही रहता है। रामः पुस्तकं पठति, पुस्तकं रामः पठति, पठति रामः पुस्तकम्, पठति पुस्तकं रामः (राम पुस्तक पढ़ता है)। इन चारों वाक्यों का अर्थ एक ही है। हिन्दी में कर्ता, कर्म, क्रिया, यह क्रम है। क्रम बदल देने पर अर्थ में अन्तर आ जायगा। 'शेर आदमी खाता है' और 'आदमी शेर खाता है' इन दोनों वाक्यों में अर्थ पूर्णतया बदल जाता है। प्रथम वाक्य में खाई जाने वाली वस्तु आदमी है और दूसरे वाक्य में स्थान-परिवर्तन से आदमी के द्वारा शेर खाया जाता है। यही स्थिति अंग्रेजी में भी है। अंग्रेज़ी में कर्ता, क्रिया, कर्म, यह क्रम है। अतः स्थान बदलते ही अर्थ बदल जाता है। जैसे—Ram Kills Ravana. (राम रावण को मारता है), Ravana Kills Ram. (रावण राम को मारता है)

केवल स्थान बदल देने से अर्थ बदल जायगा। इसी प्रकार अन्य भाषाओं में भी स्थान-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। चीनी भाषा में ज़ेन का अर्थ है—आदमी, ता का अर्थ है—बड़ा या महान् है। 'ता' क्रिया और विशेषण दोनों हो सकता है। ज़ेन ता (आदमी महान् है), ता ज़ेन (महान् व्यक्ति, बड़ा आदमी)। पहले वाक्य में 'ता' क्रिया है, दूसरे में विशेषण।

५. अर्थ-परिवर्तन—अर्थ-परिवर्तन के द्वारा भी भाषा में परिवर्तन की दिशा का बोध होता है। प्रायः देखा जाता है कि जो शब्द मूलरूप में जिस अर्थ के बोधक थे, वे कालान्तर में अपने मूल अर्थ को छोड़कर दूसरे अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं। कहीं पर अर्थ में विस्तार होता है, कहीं पर अर्थ में संकोच और कहीं पर अर्थादेश या अर्थ में मौलिक परिवर्तन। इनको अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच और अर्थादेश कहा जाता है। इसका विस्तृत विवेचन अध्याय ६ में किया गया है। 'कुशल' शब्द का मुख्यार्थ था—कुशों को काटने की योग्यता। कुश-छेदन में चतुरता एवं सावधानी की आवश्यकता थी, अतः बाद में कुशल शब्द चतुर का पर्यायवाची हो गया। इसी प्रकार 'प्रवीण' का मुख्य अर्थ था—'प्रकृष्टो वीणायाम्' वीणा वादन में चतुर। परन्तु अर्थ विस्तार से अब चतुर अर्थ का ही बोधक है। 'तैल' का अर्थ था—तिल का सारभाग। परन्तु अर्थ-विस्तार से यह सभी द्रव्यों के सार के लिए प्रयुक्त होने लगा है। सरसों का तेल, गोले का तेल, मूँगफली का तेल। इतना ही नहीं 'मिट्टी का तेल' भी तेल हो गया है। वेद में 'मृग' शब्द पशुमात्र का वाचक था। वह बाद में केवल 'हिरन' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह अर्थसंकोच है। इसी प्रकार पंकज, नीरज, सरोज, उपनयन, संन्यास आदि शब्दों में अर्थसंकोच है। वेद में 'पत्' धातु का उड़ना अर्थ था, अब 'गिरना' अर्थ हो गया है। वेद में 'सह्' धातु का अर्थ 'जीतना' था, अब 'सहन करना' अर्थ हो गया है। वेद में असुर का अर्थ था—असु + र (प्राणशक्तिसंपन्न), अब वह अ + सुर होकर दानव हो गया है। इस प्रकार अर्थ-परिवर्तन भी भाषा-परिवर्तन की एक दिशा है।

३.५. भाषा में परिवर्तन के कारण

भाषा में परिवर्तन के कारणों पर प्राचीन समय से विचार होता रहा है। इस विषय पर संस्कृत में जिन शब्दशास्त्रियों ने विचार किया है, उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं—आचार्य यास्क, पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, वाक्यपदीयकार भर्तृहरि, काशिकाकार जयादित्य और वामन, कैयट, भट्टोजि दीक्षित और नागेश भट्ट। वर्तमान समय में भाषा-परिवर्तन विषय पर अनेक विद्वानों ने विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। यूरोप में इस विषय पर सर्वप्रथम विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करने वाले डेनिश विद्वान् जे०एच० ब्रेड्सडॉर्फ (J.H. Bredsdorff) थे। इन्होंने १८२१ में एक पुस्तिका प्रकाशित की थी। उसमें भाषा-परिवर्तन के ७ कारण बताये थे।[1] इस विषय पर प्रो० ई०एच० स्टुर्टवेंट (E.H. Sturtevant : Linguistic Change), ओटो येस्पर्सन (Otto Jespersen : Lan-

1. Otto Jespersen : *Language*, p. 70.

guage, pp. 255-301) और हेनरी एम० होनिग्सवाल्ड (Henry M. Hoenigswald : Language Change and Linguistic Reconstruction) ने आधुनिक पद्धति से बहुत विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

आभ्यन्तर और बाह्य कारण—भाषा में परित्र्तन या विकास के कारणों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—१. आभ्यन्तर या आन्तरिक, २. बाह्य या बाहरी। आभ्यन्तर कारण वे हैं, जिनका.सम्बन्ध भाषा की अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से है या जो प्रयोक्ता और श्रोता की शारीरिक या मानसिक स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं। बाह्य कारण वे हैं, जो बाहर से भाषा को प्रभावित करते हैं। इसमें सामाजिक वातावरण या परिवेश आदि सम्मिलित हैं।

३.५. (क) आभ्यन्तर कारण

आभ्यन्तर कारणों को मौलिक कारण भी कहा जा सकता है। ये कारण भाषा के मूल में रहते हैं, अत: जाने या अनजाने भाषा में परिवर्तन या विकास उपस्थित करते रहते हैं। आभ्यन्तर कारण भाषा में साक्षात् परिवर्तन नहीं करते हैं, अपितु परिवर्तन का कारण प्रस्तुत करते हैं, जिससे धीरे-धीरे वह परिवर्तन समाज की स्वीकृति प्राप्त करके सर्वजनग्राह्य हो जाता है।

(१) अपूर्ण श्रवण

यह पहले उल्लेख किया गया है कि भाषा अर्जित संपत्ति है। भाषा अपने पूर्वजों से, शिक्षकों से, समाज से एवं यान्त्रिक विधियों से सीखी जाती है। बालक अपने माता-पिता आदि से भाषा सीखता है। इस सीखने की क्रिया में तीन बातें होती हैं—१. सुनना, २. स्मरण रखना और ३. पुन: उच्चारण। कितनी ही ध्वनियाँ ऐसी हैं, जो प्रथम बार सुनने पर स्पष्ट सुनाई नहीं पड़ती हैं। मात्रा ह्रस्व है या दीर्घ, व है या ब, श है या स। अनेक बार उच्चारण करने पर एक-एक शब्द का उच्चारण ठीक होता है। यदि सुनने में ही अशुद्धि है तो बालक अशुद्ध ही स्मरण रखेगा और अशुद्ध ही उच्चारण करेगा। जिस प्रकार सुनने में त्रुटि संभव है, उसी प्रकार याद रखने में भी त्रुटि हो सकती है। जैसा शब्द का संस्कार बुद्धि पर पड़ेगा, उसी प्रकार उच्चारण भी शुद्ध या अशुद्ध होगा। अतएव व-ब, स-श, इ-ई, उ-ऊ आदि की सैकड़ों अशुद्धियाँ इसी प्रकार भाषा में प्रचलित हो गई हैं।

(२) अपूर्ण अनुकरण

अपूर्ण, अधूरा या अस्पष्ट अनुकरण भाषा में परिवर्तन का प्रमुख कारण है। यदि अनुकरण सर्वथा पूर्ण है तो शब्दों का उच्चारण ठीक उसी प्रकार होगा। परन्तु देखा जाता है कि अनुकरण अधिकांशत: अपूर्ण ही होता है। बाल्यावस्था में बालक माता-पिता आदि के द्वारा उच्चरित शब्दों को सुनकर अनुकरण करके बोलता है। उसका उच्चारण ठीक न होने पर उसे बार-बार बुलवाकर ठीक कराया जाता है। ध्वनि का अनुकरण सुनकर तथा उच्चारण-अवयवों के संचालन को देखकर किया जाता है। ध्वनि, शब्द या वाक्य को सुनकर उसे स्मरण किया जाता है और तदनुसार ही उच्चारण का प्रयत्न एवं अभ्यास किया जाता है। इस प्रक्रिया में दो बातें सामान्यतया घटित होती हैं—१. अनुकरण में अनुकर्ता

भाषा के कुछ तात्त्विक अंश को छोड़ देता है। २. ज्ञात या अज्ञातरूप में अपनी ओर से कुछ अंश जोड़ देता है। इस प्रकार भाषा में परिवर्तन की प्रक्रिया प्रचलित होती है। अनुकरण की अपूर्णता के कई कारण हैं—

(क) वागिन्द्रिय की विभिन्नता—प्रत्येक व्यक्ति की वागिन्द्रिय समान नहीं होती है। पुरुषों और स्त्रियों के उच्चारणावयवों में यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। बालक, युवा और वृद्ध के उच्चारण अवयवों में बहुत विभिन्नता होती है। अतएव किसी की ध्वनि मोटी, किसी की पतली, किसी की सुरीली और किसी की बेसुरी होती है। वागिन्द्रिय में कोई दोष या न्यूनता होती है तो भाषण-ध्वनि भी प्रभावित होती है। ध्वनि की स्पष्टता वाग्यन्त्र पर निर्भर है। अतएव आचार्य पाणिनि ने पाणिनीय शिक्षा में आदेश दिया है कि वर्णों को अस्पष्ट और बहुत दबाकर न बोलें। मधुरता, स्पष्ट अक्षरोच्चारण, पदों का पृथक् प्रयोग, सस्वरता, शान्ति से उच्चारण और लयात्मकता, ये ६ पाठक या उच्चारणकर्ता के गुण हैं।

एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः ।
सम्यग् वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ॥ (पा० शिक्षा ३१)
माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः ॥ (पा० शिक्षा ३३)

अग्निपुराण का कथन है कि निम्नलिखित व्यक्ति वाग्यन्त्र आदि के दोष के कारण स्पष्टरूप से वर्णोच्चारण नहीं कर पाते हैं—विकृत मुख वाले, लम्बे ओष्ठ वाले, अज्ञानग्रस्त, नाक से बोलने वाले, भावावेश के कारण गद्‌गद ध्वनि वाले या रुद्धकण्ठ और बद्धजिह्वा अर्थात् जिनकी जीभ पूरी खुली हुई नहीं है।

न करालो न लम्बोष्ठो नाव्यक्तो नानुनासिकः ।
गद्‌गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति ॥ (अग्निपुराण)

(ख) अनवधानता—सावधानी से न सुनना भी अनुकरण की अपूर्णता का कारण है। वागिन्द्रिय की विभिन्नता अनुकरण का '**आंगिक पक्ष**' है और ध्यान से न सुनना, अस्पष्ट सुनना या कुछ अनसुना करना, यह अनुकरण का '**मानसिक पक्ष**' है। यदि शब्द या वाक्य सावधानी से नहीं सुना है, तो उसका अनुकरण भी त्रुटिपूर्ण होगा। ऐसे सदोष उच्चारण भाषा में परिवर्तन लाते रहते हैं।

(ग) अशिक्षा—शिक्षा के अभाव के कारण ग्रामीणजन, अर्धशिक्षित एवं अशिक्षित व्यक्ति ध्वनियों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते हैं। उनका अनुकरण सदा दोषयुक्त होता है। इससे भाषा में परिवर्तन होता है। अशिक्षा के कारण ब को व, व को ब, श को स, ष को स, क्ष को च्छ, ण को न आदि उच्चारण किया जाता है। जैसे—वार > बार, देश > देस, शरीर > सरीर, कृष्ण > किसन, कक्षा > कच्छा, छात्र > क्षात्र, क्षत्रिय > छत्रिय, गुण > गुन, सगुण > सगुन, निर्गुण > निरगुन आदि। विदेशी भाषा के शब्दों के अनुकरण में अशिक्षा के कारण असाधारण परिवर्तन हो जाते हैं, लार्ड > लाट, गार्ड > गाड या गारद, टाइम > टेम, लाइब्रेरी > रायबरेली, आर्ट्स कालेज > आठ कालेज, पोस्टकार्ड > पोसकाड,

आर्डर्ली > अर्दली, रिपोर्ट > रपट, इन्स्पेक्टर > सिपट्टर, कोर्ट इन्स्पेक्टर > कोट साहब, सिग्नल > सिंगल आदि। भर्तृहरि मानते हैं कि अशिक्षा आदि के कारण अपभ्रंश (अशुद्ध) शब्द चल पड़े हैं। भर्तृहरि का कथन है कि अशिक्षा आदि के द्वारा जो अशुद्ध शब्दों का प्रयोग किया जाता है, उन स्थानों पर विद्वान् श्रोता शुद्ध शब्दों को समझ लेते हैं।

एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंशः प्रयुज्यते ।
तेन साधु-व्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते ॥ (वाक्य० १-१५२)
दैवी वांग् व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः । (वाक्य० १-१५४)

(घ) अज्ञान—अशिक्षा के अतिरिक्त अज्ञान को पृथक् कारण कहा जा सकता है। अशिक्षितों के अनुकरण-दोष अशिक्षा के कारण क्षम्य हैं, परन्तु शिक्षितों में भी उच्चारण-सम्बन्धी अनेक दोष पाये जाते हैं। सुशिक्षित व्यक्तियों में भी बहुत से अज्ञानवश व-ब, श-स, य-ज, क्ष-छ, र-ड़ आदि का अन्तर नहीं कर पाते हैं। बहुत से शिक्षित व्यक्ति भी यजमान को जजमान, शरीर को सरीर, वोट को बोट, छात्र को क्षात्र, क्षत्रिय को छत्रिय, अधीन को आधीन, उपर्युक्त को उपरोक्त आदि प्रयोग करते हैं। अज्ञानमूलक ये अनुकरण भाषा में प्रचलित हो गये हैं।

(ङ) लिपि की अपूर्णता—प्रत्येक भाषा में कुछ विशिष्ट ध्वनियाँ हैं, जिनका शुद्ध और स्पष्ट लेखन दूसरी भाषा में संभव नहीं है। फलस्वरूप संस्कृत की टवर्ग ध्वनियाँ, अंग्रेज़ी जेड (z), अरबी की काकल्य ध्वनियाँ, जर्मन-फ्रेंच और रूसी भाषा की विभिन्न ध्वनियाँ दूसरी भाषा में ठीक-ठीक नहीं लिखी जा सकती हैं। विभिन्न संस्कृतियों के मिलने पर मूल भाषा की ध्वनियों में बहुत अन्तर आ जाता है। अंग्रेज़ी में शुद्ध राम, कृष्ण, आर्य, शुक्ल, मिश्र, गुप्त आदि शब्द Rama, Krishna, Arya, Shukla, Mishra, Gupta आदि लिखे जाने के कारण अब रामा (रामा स्टोर), कृष्णा (कृष्णाप्रसाद), आर्या (आर्यासमाज), शुक्ला, मिश्रा, गुप्ता आदि प्रचलित हो गये हैं।

(३) प्रयत्नलाघव (The Ease Theory ; Economy of Effort)

प्रयत्नलाघव का अर्थ है 'कम प्रयत्न करना'। मानव की प्रवृत्ति है कि वह कम परिश्रम से अधिक लाभ प्राप्त करना चाहता है। यदि यह कहें कि 'कामचोरी' या आलस्य का ही परिष्कृत नाम 'प्रयत्नलाघव' है, तो विषय अधिक स्पष्ट हो जायेगा। जहाँ संक्षेप या लघुमार्ग (short cut) से काम चल जाय, वहाँ अधिक प्रयत्न क्यों किया जाये? 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में इसके लिए एक सुन्दर श्लोक दिया गया है कि—'यदि घर के कोने में ही मधु (शहद) मिल जाये, तो कौन मधु के लिए पहाड़ पर जायेगा? थोड़े से काम चल जाय तो कौन समझदार व्यक्ति अधिक परिश्रम करेगा?'

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत् ॥
(सांख्य० का० १ की टीका)

ओटो येस्पर्सन ने प्रो० ह्विटनी (Whitney) का कथन उद्धृत किया है कि मानव

की प्रवृत्ति रही है कि वक्तव्य वाग्यन्त्र के लिए सुकर होना चाहिए। इसमें श्रम और समय की बचत भी होनी चाहिए।

The prevalent opinion among the older school was that the chief tendency was, in Whitney's words, "To make things easy to our organs of speech, to economize time and effort in the work of expression." —Otto Jespersen, Language, p. 261.

आलस्य, आरामतलबी, कामचोरी या यत्नलाघव की प्रवृत्ति भाषा में परिवर्तन के आभ्यन्तर कारणों में सबसे महत्त्वपूर्ण है। चाहे बालक हो या अध्यापक, मजदूर हो या लिपिक, काम करने के समय की सूचना को बड़ी अन्यमनस्कता से सुनता है, पर वही अवकाश की सूचना बड़ी तत्परता से सुनता है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य में कम प्रयत्न करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। इसका सीधा प्रभाव भाषा पर भी पड़ता है। भाषा में ऐसे सैकड़ों शब्द संक्षिप्त रूप में प्रचलित हो गये हैं। व्यक्तिनाम प्राय: संक्षिप्त ही बोले जाते हैं—मदनमोहन > मदन, कपिलदेव > कपिल, रामचन्द्र > रामू, श्यामसुन्दर > श्याम, मोहनदास कर्मचन्द गाँधी > गांधीजी, बाल गंगाधर तिलक > तिलकजी, महर्षि दयानन्द सरस्वती > दयानन्दजी।

प्रयत्नलाघव को 'मुखसुख' भी कहते हैं। संक्षेपीकरण का तो यह गुरुमन्त्र (गुर) है। प्रयत्नलाघव से कितने ही नये शब्द चल पड़ते हैं। बहुलपक्ष दिवस > ब-दि > बदी (कृष्णपक्ष का दिन), शुक्लपक्ष दिवस > शुदि > सुदी (शुक्लपक्ष का दिन)। प्राचीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों आदि में संक्षेप के लिए शुदि और ब-दि शब्द मिलते हैं। मीसा (Maintenance of Internal Security Act, आन्तरिक सुरक्षा कानून > आंसुका), डी०आई०आर० (Defence of India Rule, भारत सुरक्षा कानून), नेफा (North East Frontier Agencies) इसी संक्षेप के उदाहरण हैं।

प्रयत्नलाघव, मुख-सुख या सरलता की प्रवृत्ति के कारण ही बड़े शब्दों को छोटा करके बोलते हैं। पोस्टकार्ड > कार्ड, कृपया पन्ना उलटिए > कृ०प०उ०, टेलिफोन > फोन, न्यूज़ पेपर > पेपर (समाचार-पत्र), एयरोप्लेन > प्लेन (विमान), रेलवे ट्रेन > रेल, रेलवे स्टेशन > स्टेशन, मास्टर साहब > मास्साहब, दादाजी > दाज़ू (भाई, कुमायूँनी), भारतवर्ष > भारत। इसी प्रकार सरलता के लिए शब्दों के प्रथम अक्षर लेकर संक्षिप्त नाम प्रचलित हो जाते हैं। अंग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक दृष्टिगोचर होती है। विज्ञान के इस युग में स्थान और समय की कमी के कारण छोटे एवं संक्षिप्त शब्द बहुत उपादेय हो गये हैं। फ्रेंच भाषा के समाचार-पत्रों में वर्गीकृत संक्षिप्त विज्ञापनों को समझने के लिए कोशग्रन्थ की सहायता अपेक्षित होती है। आजकल भारतवर्ष में भी संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। संयुक्त विधायक दल > संविद, काशी विश्व-विद्यालय > का०वि०वि०, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी > B.H.U., प्रयाग विश्व-विद्यालय > प्र०वि०वि०, उत्तर-प्रदेश > उ०प्र०, मध्यप्रदेश > म०प्र०। इसी प्रकार D.M. (डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट, जिलाधीश), S.D.M. (सब-डिविजनल मजिस्ट्रेट, परगनाधीश), D.E. (डाइरेक्टर ऑफ एजुकेशन, शिक्षानिदेशक > शि०नि०), U.N.

(युनाइटेड नेशन्स, राष्ट्रसंघ) आदि हैं। H.S., B.A., M.A., Ph.D., D.Phil., M.B.B.S. आदि उपाधियाँ प्रथम अक्षरों को लेकर प्रयुक्त होती हैं।

प्रयत्नलाघव के कारण अनेक प्रकार के ध्वनिपरिवर्तन होते हैं। जैसे—समीकरण, विषमीकरण, आगम, लोप, वर्ण-विकार, वर्ण-विपर्यय, मध्याक्षरलोप, स्वरभक्ति आदि। इनका विस्तृत विवेचन अध्याय ५ में किया गया है।

(४) प्रयोगाधिक्य

जिस प्रकार अन्य वस्तुएँ अधिक प्रयोग से घिस जाती हैं, उसी प्रकार भाषा में शब्द भी अधिक प्रयोग के कारण घिस जाते हैं और बहुत छोटे हो जाते हैं। यह भी प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति का एक रूप है। जैसे—उपाध्याय > ओझा > झा, चतुर्वेदी > चौबे, त्रिपाठी > तिवारी, द्विवेदी > दूबे, वन्द्योपाध्याय > बनर्जी, मुख्योपाध्याय > मुकर्जी, सत्य > सच्च > सच, घृत > घी, अभ्यन्तर > भीतर, अंगुलीयक > अंगूठी। हिन्दी में नामों के अन्त में लगने वाला आदरार्थक 'जी' शब्द 'उपाध्याय' का घिसा हुआ रूप है। कुछ विद्वान् 'जी' की उत्पत्ति 'आर्य' > अज्ज > अज्जी > जी शब्द से मानते हैं। संस्कृत के कारक-चिह्न और तिङ् प्रत्यय पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में घिसते हुए समाप्त हो गये हैं या नाममात्र शेष हैं। वयम् > अम्हे > हम, अस्माकम् > अम्हाणं > हमारा, युष्माकम् > तुम्हाणं > तुम्हारा, द्वौ > दो, त्रीणि > तीन, त्रयः > त्रै (पंजाबी), चत्वारि > चार, विंशतिः > बीस, सप्त > सत्त > सात, सप्ताशीति > सत्तासी। वर्तते > वट्टइ > वाटे (है, भोजपुरी), कुर्वन् वर्तसे > करत वाड़ > करताड़ (भोजपुरी, कर रहे हो)। भ्राता > भ्रा > प्रा (भाई, पंजाबी), अस्मान् नु > साँनु (हमको, पंजाबी), स्त्रैण > स्याँणि (स्त्री, कुमायूँनी), आदित्यवार > इतवार, बृहस्पतिवार > बीफे।

(५) भावातिरेक

प्रेम, क्रोध, शोक आदि भावों के अतिरेक (अधिकता) के कारण भी शब्दों का रूप बदल जाता है। जैसे—अधिक प्रेम-प्रदर्शनार्थ भाई > भइया, बाबू > बबुआ, बच्चा > बाचा या बचवा, जी > जिअरा (हृदय), राजेन्द्र > रज्जू, विजय > बिज्जू हो जाता है। क्रोधावेश में राम > रामू या रमुआ, चमार > चमरवा हो जाता है। शोकावेग में कर्म > करमवा फूट गइल (कर्म नष्ट हो गये), पुत्र > पुतवा क मुँह देख लेती (पुत्र का मुँह देख लेते)। भावातिरेक के कुछ अन्य उदाहरण हैं—माता > महतारी, बाप > बप्पा, आर्याजी > अइया या आजी (दादी), भाभीजी > भौजी, लघु > लहुरा (लघुवीर > लहुराबीर)।

(६) लयात्मकता

मानव-जीवन में लयात्मकता का भी बहुत महत्त्व है। समरूपता, एकरूपता या समानता की प्रवृत्ति सामान्यतया सुरुचिपूर्ण व्यक्तियों में पाई जाती है। वेश-भूषा में, सजावट में, वस्तुओं को यथास्थान लगाने आदि में यह ध्यान दिया जाता है कि किस रंग के साथ कौन-सा रंग खपता है—तदनुसार वेश-भूषा आदि पहनी जाती है। यही प्रवृत्ति

भाषा में भी पाई जाती है। किस मात्रा के साथ कौन-सी मात्रा ठीक जँचती है और किस वर्ण के साथ कौन-सा वर्ण अच्छा लगता है, इस आधार पर भी भाषा में परिवर्तन किये जाते हैं। यह लयात्मकता तीन रूपों में प्राप्त होती है—१. बलाघातात्मक लय (Stress Rhythm), २. स्वरात्मक लय (Pitch-Rhythm), ३. मात्रात्मक लय (Quantitative-Rhythm)।

१. बलाघातात्मक लय (बलाघात)—बोलने में किसी शब्द, वर्ण या ध्वनि पर अधिक बल दिया जाता है, किसी पर कम। भाषण में भी विशेष बात पर अधिक बल देना होता है, तो उसे जोर से बोलते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बलाघात वाली ध्वनि प्रबल हो जाती है और उसके आगे-पीछे वाली ध्वनि निर्बल हो जाती है। प्राकृत, अपभ्रंश आदि के काल में निर्बल ध्वनियों का लोप हो जाता है। संस्कृत में जिन स्वरों पर उदात्त होता है, उन्हें गुण या वृद्धि हो जाती है। यदि उन पर उदात्त नहीं होता है, तो उन्हें गुण नहीं होता है। जैसे—कृ > कारक, करण, कृति। प्रथम दो में वृद्धि या गुण है, तृतीय में गुण नहीं हुआ। चतुर् + ईय = तुरीय। य का अ उदात्त होने से च निर्बल हो गया, अतः उसका लोप होकर तुरीय (चतुर्थ) रूप बनता है। सर्व > सब, अब + ही > अभी, सब + ही > सभी, मयूर > मोर, मजदूर > मजूर, मजदूरी > मजूरी, उत्थान > उठना। अंग्रेज़ी में भी उदात्त-रहित दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाते हैं।[1] अन्य उदाहरण हैं—स्वर्णकार > सुनार, लौहकार > लोहार, चर्मकार > चमार।

२. स्वरात्मक लय (सुर)—छन्द के नियमों के अनुसार आरोह-अवरोह का ध्यान रखते हुए कहीं ह्रस्व को दीर्घ, कहीं दीर्घ को ह्रस्व, कहीं वर्णलोप किया जाता है। संस्कृत छन्दःशास्त्र का नियम है कि 'अपि माषं मषं कुर्यात्, छन्दोभङ्गं न कारयेत्' माष (उड़द) को मष कर दे, पर छन्द-भंग न करे। रामायण का एक दोहा लें—

बिनु गुर होइ कि ग्यान, ग्यान कि होइ बिराग बिनु ।
गावहिं वेद पुरान, सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु ॥

(रामचरितमानस, उत्तर० ८६ क)

इसमें छन्द की आवश्यकता की पूर्ति के लिए बिना > बिनु, गुरु > गुर, क्या > कि, ज्ञान > ग्यान, वैराग्य > विराग, पुराण > पुरान, भक्ति > भगति; स्वरात्मक लय के लिए भक्त > भगत, योग्य > जोग, युक्ति > जुगुति, में > महुँ हो जाते हैं। स्वरात्मक लय श्रि > अशिश्रियत् (लुङ् प्र० १, लिया), चुर् > अचूचुरत् (लुङ् प्र० १, चुराया), पट् + णिच् > अपीपठत् (पढ़ाया, लुङ् प्र० १) आदि द्वित्व वाले रूपों में दर्शनीय हैं।

३. मात्रात्मक लय (मात्राभेद)—लय के लिए मात्रा को लघु या गुरु कर लिया जाता है। जैसे—

पुनि सिय चरन धूरि धरि सीसा ।
जननि जानि सिसु दीन्हि असीसा ॥ (राम० अयोध्या० १११-४)

---

1. Nearly all unaccented vowels have been shortened.
—*Linguistic Change,* Sturtevant, p. 60.

इसमें सीता > सिय, शीर्ष > सीसा, जननी > जननि, आशीष > असीसा है। कहीं ह्रस्व को दीर्घ किया है और कहीं दीर्घ को ह्रस्व।

(७) प्रमाद या असावधानी

प्रमाद या असावधानी के कारण कभी-कभी शब्दों को तोड़-मरोड़ दिया जाता है; कभी वर्ण-विपर्यय कर दिया जाता है; कभी अन्य अर्थ वाले शब्दों को अन्य अर्थ में प्रयुक्त कर दिया जाता है; कभी व्याकरण की दृष्टि में अशुद्ध शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता है, जो कालान्तर में बद्धमूल होकर प्रचलित हो जाता है। जैसे—गुरु को गरु (भारी), उत्साह को उछाह, आश्रय > आसरे, चाकू > काचू, लखनऊ > नखलऊ, ज्योति > जोत, वैदिक कीनाश (कृषक) से किसान, बलीवर्द (बैल) से दो शब्द > बैल और बरधा। उपेक्षा > अपेक्षा, उपर्युक्त को उपरोक्त, शाप > श्राप। अशुद्ध प्रयोग—महत्ता को महानता, विद्वत्ता > विद्वानता, सौन्दर्य > सौन्दर्यता, श्रेष्ठ को श्रेष्ठतम, गरिष्ठ > गरिष्ठतम (बहुत भारी)। विद्वस् + ता > विद्वत्ता होगा, न कि विद्वानता। अतिशय अर्थ में इष्ठ होने पर तम नहीं लगेगा, अतः श्रेष्ठ होगा, श्रेष्ठतम अशुद्ध है।

(८) नवीनीकरण की प्रवृत्ति

मनुष्य की प्रवृत्ति है कि वह प्रत्येक वस्तु में कुछ नयापन लाना चाहता है, अतः जान-बूझकर अन्य भाषाओं के शब्दों को संस्कृत-निष्ठ या हिन्दी-निष्ठ आदि कर दिया जाता है। यह प्रवृत्ति अधिकांशतः प्रबुद्ध वर्ग में पायी जाती है। जैसे—मैक्समूलर को मोक्षमूलर, ऑक्सीजन (Oxygen) > ओषजन, नाइट्रोजन (Nitrogen) > नत्रजन, एकेडमी (Academy) > अकादमी, अरबी अफियून (अफीम) > अहिफेन, तुर्क > तुरुष्क, चश्मा > चक्ष्मा, अलेक्जेण्डर > अलक्षेन्द्र, वकील > वाक्कील। पारिभाषिक शब्दों को अपनी भाषा के अनुरूप बनाने में यह प्रवृत्ति अधिक देखी जाती है। जैसे, भाषा-विज्ञान के शब्द मार्फीम (Morpheme) को मर्षिम या मर्फिम, मार्फ (Morph) > मर्ष, टेक्निकल > तकनीकी, लिंग्विस्टिक्स (Linguistics) > भाषिकी, फिज़िक्स (Physics) > भौतिकी।

(९) बौद्धिक स्तर

प्रत्येक वक्ता का बौद्धिक स्तर एक-सा नहीं होता है। बौद्धिक स्तर का विचारों पर साक्षात् प्रभाव पड़ता है। भाषा विचारों की अभिव्यक्ति है। बौद्धिक स्तर में अन्तर के कारण शब्दों के अर्थ में, विशेष रूप से अमूर्त अर्थ वाले शब्दों के अर्थ में, विशेष अन्तर हो जाता है। एक के लिए सन्ध्या, हवन, दान, पुण्य उत्तम कार्य हैं, दूसरे के लिए केवल ढोंग। धर्म, अधर्म, पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक, प्रायश्चित्त, यमराज, काल, अत्याचार, अनाचार, चरित्र-हत्या आदि शब्द प्रत्येक व्यक्ति के बौद्धिक स्तर के अनुकूल पृथक् अर्थ बताते हैं। मांसाहारी का बोधक पिशाच राक्षस-वाचक हो गया। धर्म-कर्म पाखण्ड-युक्त होने पर

धरम-करम हो गये। ब्राह्मण (विद्वान्) बिगड़कर बाम्हन हो गया। बौद्धिक स्तर की न्यूनता के कारण शुक्ल > शुकुल, सुकुल हो गया और मिश्र > मिसिर, जाति-पंक्ति > जात-पाँत।

(१०) जातीय मनोवृत्ति

प्रत्येक जाति की कुछ विशेषताएँ होती हैं और वे विशेषताएँ उस जाति की भाषा में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इसका सीधा प्रभाव भाषा पर भी पड़ता है। आर्य-जाति प्रगतिशील रही है, अतः संस्कृत में गत्यर्थक धातुओं की संख्या बहुत अधिक है—गम्, व्रज्, इ, अट् आदि। यह अधिक गतिशीलता संस्कृत में ध्वनियों की संख्या में अधिकता का कारण है। अंग्रेज़ी में २६ अक्षर हैं, संस्कृत में ४८। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार संस्कृत में ६३ या ६४ वर्ण माने गये हैं। **'त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।' (पा० शिक्षा ३)** फ्रांसीसियों में कोमलता है, अतः उनकी भाषा में सुकुमारता है। जर्मनों में कठोरता, परिश्रमशीलता अधिक है, अतः उनकी भाषा में कठोरता है। अंग्रेज़ों में समय-निष्ठा मुख्य है, अतः अंग्रेज़ी के धातुरूपों में काल (Tenses) पर बहुत बल है। 'मैं जाता हूँ' और 'मैं जा रहा हूँ' में अन्तर है—I go, I am going. फ्रेंच में रेस्त्राँ (होटल) है, वही अंग्रेज़ी में रेस्टॉरेन्ट (Restaurant) है। जातीय मनोवृत्ति के अन्तर से भाषा के शब्दों और उच्चारण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। आर्यजाति धर्मप्रधान है, अतः संस्कृत में धर्म-कर्म से संबद्ध सैकड़ों शब्द हैं। इसके विपरीत अंग्रेज़ी आदि में धर्म आदि से संबद्ध शब्द बहुत न्यून हैं। संस्कृत और हिन्दी में सैकड़ों देवता हैं, अंग्रेज़ी आदि में God (गॉड, ईश्वर) अकेला ही सब काम कर लेता है। जातीय भेद-भाव के कारण भारत में प्राकृत, अपभ्रंश के अतिरिक्त अनेक म्लेच्छ भाषाएँ प्रचलित रही हैं। भारतवर्ष में भाषाओं की संख्या बहुत अधिक होने का कारण जातीय मनोवृत्ति और जातीय भेद-भाव है।

(११) सादृश्य या मिथ्या-सादृश्य

भाषा-परिवर्तन के आभ्यन्तर कारणों में सादृश्य प्रमुख कारण है। इसका विशेष विवरण आगे दिया गया है।

३.५. (ख) बाह्य कारण

जो भाषा को बाहर से प्रभावित करते हैं, उन्हें बाह्य कारण कहा जाता है। बाह्य कारण भौगोलिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि हैं।

(१) भौगोलिक प्रभाव

भूगोल या जलवायु का भाषा पर प्रभाव पड़ता है या नहीं, इस विषय पर पर्याप्त मतभेद रहा है। जर्मन भाषाशास्त्री हाइनरिश मेयर बेन्फी (Heinrich Meyer Benfey) और कोलित्स (Collitz) आदि ने भाषा के परिवर्तन में भौगोलिक प्रभाव को विशेष महत्त्व दिया है।[1] उनका कहना है कि उच्च जर्मन में वर्ण-परिवर्तन का कारण

1. Otto Jespersen : *Language*, pp. 256-57.

भौगोलिक परिस्थितियाँ हैं। उनका कथन है कि मनुष्य पर जलवायु का प्रभाव पड़ता है। पर्वत या मरुस्थल में रहने वाले अधिक पुरुषार्थी होते हैं, समस्थल में रहने वाले कम श्रम-निष्ठ होते हैं। अतएव उच्च जर्मन में वर्ग के तृतीय वर्ण के स्थान पर प्रथम वर्ण हो जाते हैं और प्रथम वर्ण के स्थान पर महाप्राण वर्ण अर्थात् ग द ब को क त प और क त प को ह थ फ। ओटो येस्पर्सन ने इस सिद्धान्त पर आपत्ति की है कि हृष्ट-पुष्ट होना या फेफड़े मजबूत होना भाषा में परिवर्तन का कारण नहीं है। भाषा का आधार वाग्यन्त्र या भाषणेन्द्रियाँ हैं।

इस विषय में यह कहना उचित है कि ओटो येस्पर्सन की आपत्ति सर्वथा ठीक नहीं है। जलवायु फेफड़ों को प्रभावित करती है। फेफड़ों से निकली हुई वायु ध्वनियों का कारण है। फेफड़ों में जितना बल होगा, उतनी ही पुष्ट या अपुष्ट ध्वनि भी निकलेगी। ध्वनि का मोटा-पतला होना, सुरीला-बेसुरा होना, कर्णसुखद या कर्णकटु होना, कठोर या मृदु होना, फेफड़ों से आने वाली वायु पर निर्भर होता है। अतः भूगोल या जलवायु को भी कारण मानना उचित है। भौगोलिक अन्तर से मनुष्यों की आकृति में अन्तर मिलता है; पशु-पक्षियों में अन्तर मिलता है और वृक्ष-वनस्पतियों में भी अन्तर मिलता है। अतः मानव-निर्मित भाषा में अन्तर होना अवश्यंभावी है।

एक मूलभाषा से वैदिक संस्कृत और अवेस्ता भाषाएँ निकली हैं। दोनों में भौगोलिक भेद से ध्वनियों में अन्तर हो गया है। संस्कृत का स् अवेस्ता में ह् हो जाता है। सप्त > हप्त, सिन्धु > हिन्दु, असि > अहि (है)। भ का ब और ध का द हो जाता है। भ्राता > ब्रात, मधु > मदु। भौगोलिक भेद या स्थान-भेद से शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी, ये प्राकृत भाषा के भेद हैं। भौगोलिक भेद के कारण ही एक मूल भाषा से निकलने पर भी पंजाबी, मराठी, गुजराती, हिन्दी, भोजपुरी आदि पृथक्-पृथक् हैं। महर्षि पतंजलि ने भौगोलिक भेद से भाषा में अन्तर को स्वीकार किया है। उनका कथन है कि स्थान-भेद, देश-भेद से भाषा-भेद हो जाता है। दरांती को पूर्व में 'दाति' कहते हैं, उत्तर में 'दात्र'। संस्कृत में 'जाना' अर्थ में गम् धातु है, कम्बोज की भाषा में शव् धातु इसी अर्थ में है। संस्कृत में शव मृत या लाश के लिए है।

'सर्वे देशान्तरे'। एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा-शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एवैनमार्या भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु॥ (महाभाष्य आ० १)

अंग्रेज़ी और जर्मन भाषा—ये दोनों भाषाएँ ट्यूटानिक या जर्मन भाषा-परिवार से निकली हैं। निम्न जर्मन (Low German) से अंग्रेज़ी निकली है और उच्च जर्मन (High German) से जर्मन भाषा। पर्वतीय भाग में अर्थात् उच्च भाग में बोले जाने के कारण 'उच्च जर्मन' कही जाती है और निम्नस्थल, समभूमि या मैदान में बोले जाने के कारण वहाँ की जर्मन भाषा 'निम्न जर्मन' कही जाती है। भौगोलिक प्रभाव के कारण किस प्रकार निम्न जर्मन और अंग्रेज़ी की ध्वनियाँ उच्च जर्मन में भिन्न हो गई हैं, यह नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट है—

ध्वनि-परिवर्तन	अंग्रेज़ी शब्द	उच्च जर्मन शब्द	अर्थ
द् को त्	Drink (ड्रिंक)	Trinken (त्रिंकेन)	पीना
,,	Do (डू)	Tun (तुन)	करना
थ् को द्	North (नार्थ)	Nord (नोर्द)	उत्तर
प् को फ्	Up (अप)	Auf (आउफ)	ऊपर
,,	Open (ओपेन)	Offen (ओफेन)	खोलना
फ् को ब्	Wife (वाइफ)	Weib (वाइब)	पत्नी
ट् को त्स्	Two (टू)	Zwei (त्स्वाई)	दो
ट् को स्स्	Foot (फूट)	Fuss (फुस्स)	पैर
क् को ख्	Book (बुक)	Buch (बुख)	पुस्तक

सम और उपजाऊ भूमि में भाषा का प्रचार-प्रसार अधिक होता है, क्योंकि लोगों को एक-दूसरे से मिलने का अवसर अधिक मिलता है। विभिन्न जातियाँ भी वहाँ मिलती हैं; जिससे भाषा-परिवर्तन अधिक और सरलता से होता है। पर्वतीय, मरुस्थलीय और दुर्गम स्थानों की भाषा में परिवर्तन और प्रसार कम होता है। ऐसी भाषाएँ अलग-अलग रहकर स्वतंत्र रूप में विकसित होती हैं। यातायात की सुविधा के कारण नैनीताल-अल्मोड़ा की कुमायूँनी भाषा प्रायः एक-सी है, परन्तु पृथक् होने के कारण गढ़वाल की भाषा में बहुत अन्तर है। पर्वतीय भूमि होने के कारण यूनानी की स्वतंत्र अनेक उपभाषाएँ हो गई हैं। भौगोलिक कारणों को भौतिक कारण या भौतिक वातावरण भी कहा जाता है।

(२) ऐतिहासिक प्रभाव (राजनीतिक प्रभाव)

भाषा के परिवर्तन में इतिहास का प्रभाव बहुत स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि इतिहास में राजनीति, धर्म, संस्कृति आदि सभी का ग्रहण है, तथापि ऐतिहासिक प्रभाव से विशेष अभिप्राय राजसत्ता परिवर्तन, क्रान्ति, विप्लव, आक्रामक जाति का आगमन, व्यापारिक सम्बन्ध आदि से है। अतः इसे राजनीतिक प्रभाव भी कहा जाता है।

भारतवर्ष में शक, हूण, आभीर, यवन, फ्रांसीसी, पुर्तगाली और अंग्रेज़ आदि आये। जो शासक के रूप में आये, उन्होंने अपनी भाषा के शब्दों का प्रयोग बढ़ाया। परतन्त्र राष्ट्र अपने शासक की शब्दावली को स्वेच्छया, अनिच्छया या बलात् स्वीकार कर लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि वे शब्द भी भाषा में चालू हो जाते हैं और भाषा में परिवर्तन आ जाता है।

भारतीय भाषाओं का भी यही इतिहास है। जो शासक जाति भारत में आयी है, उसने अपना प्रभाव भाषा पर छोड़ा है। फलस्वरूप हमें हिन्दी में फारसी, अरबी, तुर्की, अंग्रेज़ी आदि के सैकड़ों शब्द प्राप्त होते हैं। इनमें से कुछ शब्द भाषा में ऐसे घुल-मिल गये हैं कि उन्हें विदेशी शब्द कहना कठिन होता है। विदेशी भाषा के प्रभाव ने ध्वनि, शब्द, अर्थ और वाक्य-विन्यास पर भी अपना प्रभुत्व दिखाया है। क़, ख़, ग़, ज़ आदि ध्वनियाँ संस्कृत या हिन्दी में नहीं थीं, परन्तु अरबी, अंग्रेज़ी आदि के प्रभाव के कारण ये ध्वनियाँ भी हिन्दी में आ गई हैं।

हिन्दी में प्रयुक्त कुछ विदेशी शब्द ये हैं—फारसी के फुर्सत, ईमान, इनाम, मैदान आदि; अरबी के किताब, मकतब (पाठशाला), हवा, हुनर, क़त्ल, क़ातिल, मसजिद, मुस्लिम, इस्लाम, सलाम, मालिक, मुल्क, जुल्म, ज़ालिम, मुन्तज़िम (व्यवस्था करनेवाला), इन्तज़ाम (व्यवस्था), मतलब (अर्थ), मुतालिबा (अधिकार माँगना); तुर्की भाषा के कुली, गलीचा, चाकू, तोप, बहादुर, काबू, कैंची आदि; अंग्रेज़ी के स्टेशन, पोस्टऑफिस, ऑफिस, ऑफिसर, प्रिन्टिंग, प्रिन्टिंग प्रेस, स्कूल, कॉलेज, यूनिवर्सिटी, हाउस, टैक्स, रोड आदि।

कुछ स्थानों पर अरबी, अंग्रेज़ी आदि का व्याकरण भी कुछ अंशों में अपना लिया गया है। जैसे—मकान > मकानात, किताब > कुतुब (पुस्तकें), कुतुबखाना (पुस्तकालय), किताब > किताबत (लिखना), जुल्म (अत्याचार) > ज़ालिम (अत्या-चारी), कागज़ > कागज़ात (बहुवचन), लेटर (पत्र) > लेटर्स (पत्रों), ड्यूटी > ड्यूटीज़, स्कूल > स्कूल्स, कॉलेज > कॉलेजेज़। दूसरी ओर इनका हिन्दी रूपान्तरण होता है। हिन्दी का व्याकरण प्रयुक्त होता है। जैसे—स्कूलों, कॉलेजों, प्रेसों, मकानों, किताबों, ज़ालिमों आदि। ऑफिसर > अफसर, लैन्टर्न > लालटेन, रिपोर्ट > रपट, ग्लास > गिलास आदि।

अंग्रेज़ी भाषा का भी ऐसा ही इतिहास है। अंग्रेज़ी भाषा में अपने शब्द कम हैं, लैटिन, ग्रीक, फ्रेंच आदि के शब्द बहुसंख्या में हैं। अतः इसे 'भानुमती का पिटारा' कह सकते हैं। इंग्लैंड रोमन साम्राज्य का अंग था, अतः उसमें लैटिन के बहुत से शब्द और प्रत्यय आदि आये हैं। १०वीं शताब्दी में इंग्लैंड पर फ्रांसीसी नार्मन जाति का अधिकार था, अतः सैकड़ों फ्रेंच शब्द अंग्रेजी में आये हैं। सांस्कृतिक महत्त्व के कारण ग्रीक भाषा के सैकड़ों शब्द अंग्रेजी में आये हैं।

इस प्रकार ऐतिहासिक प्रभाव भाषा में परिवर्तन लाता है।

(३) सांस्कृतिक प्रभाव (धार्मिक प्रभाव)

संस्कृति समाज का जीवन है। संस्कृति ही किसी देश को उन्नत या अवनत करती है। भाषा पर भी इसका प्रभाव अमिट होता है। सांस्कृतिक प्रभाव विभिन्न संस्थाओं द्वारा, महापुरुषों द्वारा या विभिन्न संस्कृतियों के सम्मेलन से पड़ता है। विश्व में अनेक सांस्कृतिक क्रांतियाँ हुई हैं, जिन्होंने उन देशों को विशेष रूप से प्रभावित किया है। भारतवर्ष में इस प्रकार की सांस्कृतिक क्रांति का सूत्रपात महर्षि दयानन्द ने १८७५ ई० में आर्यसमाज की स्थापना के द्वारा किया।

(क) सांस्कृतिक संस्थाएँ—सांस्कृतिक संस्थाएँ जहाँ धार्मिक विचार प्रस्तुत करती हैं, वहाँ वे भाषा-विषयक भी अपना निश्चित मत प्रस्तुत करती हैं। ईसाई अंग्रेज़ी को, मुसलमान उर्दू, अरबी या फारसी को विशेष प्रश्रय देते हैं। आर्यसमाज ने १९वीं शती के अन्त में और २०वीं शती के पूर्वार्ध में हिन्दी भाषा पर अमिट प्रभाव छोड़ा है। महर्षि दयानन्द ने अन्य भाषाओं के शब्दों के स्थान पर संस्कृत-निष्ठ हिन्दी पर बल दिया। सभी आर्य-संस्थाओं और आर्य-विद्वानों ने इस नियम का पालन किया। परिणामस्वरूप हिन्दी

में संस्कृत-निष्ठ शब्दावली बहुत बड़ी मात्रा में प्रयुक्त होने लगी। पंजाब में हिन्दी भाषा के प्रचार का पूरा श्रेय आर्यसमाज को है।

(ख) संस्कृतियों का मिलन—विभिन्न संस्कृतियों के मिलने से भाषा के जीवन में नया रूप आ जाता है। भारत में अनेक संस्कृतियों का मिलन हुआ है। जैसे—आस्ट्रिक (आग्नेय) और द्रविड़, आर्य और द्रविड़, आर्य और यवन, आर्य और इस्लाम, आर्य और यूरोपीय संस्कृति। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारतीय भाषाओं में उपर्युक्त सभी संस्कृतियों के सैकड़ों शब्द प्रचलन में आ गये हैं। आग्नेय (आस्ट्रो-एशियाटिक, जिसमें मुण्डा आदि भाषाएँ हैं) परिवार के संस्कृत में प्रचलित कुछ शब्द ये हैं—मातंग (हाथी), लवंग (लौंग), अंगना (स्त्री), अलाबु (लौकी), उन्दुरु (चूहा), कदली (केला), कर्पास (कपास), जिम् > जेमन (जीमना, भोजन करना), ताम्बूल (पान), मरिच (मिर्च), लांगल (हल), सर्षप (सरसों)। इसी प्रकार द्रविड़-परिवार की भाषाओं के सैकड़ों शब्द संस्कृत में प्रचलित हो गये हैं। जैसे—अगुरु (अगर), अनल (आग), अर्क (धतूरा), कटु (कड़वा), कठिन (कठोर), कानन, कुटिल, कुण्डल, कुन्तक, कुवलय, कूर्द् (कूदना), कोण, खल (दुष्ट, खलिहान), चतुर (कुशल), चन्दन, चुम्ब् (चूमना), तूल (रुई), दण्ड (लाठी), नीर (जल), पण्डित (विद्वान्), पालि (पंक्ति), पिण्ड (ढेला), बिडाल (बिलाव), मयूर (मोर), मषि (स्याही), माला, मीन (मछली), वलय (चूड़ी), वल्ली (बेल), शव (मुर्दा), शूर्प (सूप) आदि।

(४) वैयक्तिक प्रभाव

महापुरुष भी भाषा को बहुत प्रभावित करते हैं। महात्मा गांधी के प्रभाव के कारण स्वदेशी-आन्दोलन, हिन्दी-आन्दोलन, स्वाधीनता-आन्दोलन आदि चले। इनके द्वारा हिन्दी भाषा को बहुत अधिक बल मिला, आर्यभाषा हिन्दी के प्रचार के लिए उन्होंने अनेक संस्थाएँ भी प्रचलित कीं। गोस्वामी तुलसीदास ने हिन्दी के साथ ही अवधी को, सूरदास ने हिन्दी के साथ ब्रजभाषा को बहुत अधिक प्रभावित किया है। हिन्दी के प्रचार में तुलसीकृत रामायण का बहुत योगदान है। कबीर मिश्रित भाषा-प्रयोग के उन्नायकों में प्रमुख हैं।

(५) सामाजिक प्रभाव

भाषा समाज का दर्पण है। समाज की उन्नति और अवनति के साथ भाषा में भी विकास और ह्रास होता है। समाज में कभी क्रान्ति है, कभी शान्ति; कभी युद्ध है, कभी विप्लव; कभी धार्मिक आन्दोलन है, कभी राष्ट्रीय; कभी विजय है, कभी पराजय। भाषा पर भी इसका पूरा प्रभाव पड़ता है। शान्ति के समय कला, साहित्य, संगीत, धर्म और दर्शन की उन्नति होती है, उसी प्रकार युद्ध के समय वीरकाव्य, शूर-गाथा, रणनीति, शस्त्रविद्या और शैन्यशिक्षा की उन्नति होती है। शान्ति के समय धर्म, दर्शन और कला आदि के सैकड़ों नये शब्दों का अभ्युदय होता है तथा युद्धकाल में वीरकाव्य और सैन्यशिक्षा आदि से संबद्ध सैकड़ों नये शब्दों का जन्म होता है।

भारतवर्ष में विभिन्न विदेशी जातियों के आगमन से रहन-सहन आदि के भेद के साथ भाषा-भेद बहुत हुआ है। अपभ्रंशकाल का पूरा साहित्य इस भाषा-परिवर्तन का उदाहरण है। शक, हूण, पारसी, मुसलमान, ईसाई लोगों के आगमन ने सहस्रों नये शब्द दिये हैं। कचहरी, अदालत, नायब, तहसीलदार, जच्चा, मेहतर-मेहतरानी, बीबी, गुलाम, कोर्ट, कलक्टर, गवर्नर, डी०एम०, एस०डी०एम०, टाउन, सिटी, रोड, सिनेमा, वायोलिन, वायरलेस आदि शब्द इसी के प्रतीक हैं। युद्धकाल में संक्षेप और संकेतचिह्नों की प्रवृत्ति बहुत बढ़ती है। अतएव एन०सी०सी०, पी०ए०सी०, सी०आर०पी०, बी०एस०एफ०, सी०आई०डी०, नेफा, पेप्सू, डी०आई०जी०, आई०जी०, एस०पी०, एस०एस०पी०, थ्री-नॉट-थ्री आदि संक्षिप्त नामों की परम्परा चल पड़ती है।

(६) साहित्यिक प्रभाव

भाषा के परिवर्तन में साहित्य का भी बहुत बड़ा योगदान है। साहित्य जन-मानस की भावनाओं को प्रस्तुत करता है। जनमानस अपनी बोल-चाल की भाषा में साहित्य चाहता है। प्राचीन समय में उच्चवर्ग की भाषा संस्कृत का साम्राज्य था। महावीर और गौतम बुद्ध ने लोकभाषा को अपनाया और सारा साहित्य अर्धमागधी और पालि भाषा में दिया। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के सहस्रों ग्रन्थ प्राप्य हैं। इन्होंने भाषा को नया रूप दिया। भाषा जनता के लिए दूर की वस्तु न होकर चिर-परिचित वस्तु हो गई। हिन्दी भाषा के मध्ययुग में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी ने भक्ति-आन्दोलन में लोकभाषा का प्रयोग करके लोकतन्त्र की स्थापना की। बिहारी, मतिराम, देव और घनानन्द ने जहाँ शृंगार की रस-धारा बहायी; वहाँ भूषण ने वीर-रस सरसाया और वृन्द, गिरिधर कविराज, बाबा दीनदयाल गिरि आदि ने नीति, अन्योक्ति आदि की रचनाएँ प्रस्तुत कीं। हिन्दी खड़ी बोली की रूक्षता को छायावादी और रहस्यवादी कवियों ने दूर किया, जिनमें जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त और महादेवी वर्मा विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास भाषा के सरस प्रवाह के उत्तम उदाहरण हैं। सुभद्राकुमारी चौहान भूषण के तुल्य वीरता की मूर्ति हैं। इनकी ओजस्विनी भाषा ने जनमानस को आन्दोलित किया है। इस प्रकार साहित्य भाषा के परिवर्तन में असाधारण योग देता है।

(७) वैज्ञानिक प्रभाव

यह विज्ञान का युग है। विज्ञान ने विश्व के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। भाषा भी विज्ञान के प्रभाव से दूर नहीं है। आज विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिवर्ष सैकड़ों नये शब्द आ रहे हैं। नये आविष्कारों और अनुसंधानों के साथ नयी शब्दावली बनती जा रही है। प्राचीन समय में जो कार्य शताब्दियों में होता था और जितनी शब्दावली सैकड़ों वर्षों में बढ़ती थी, उतनी शब्दावली अब १०-२० वर्षों में बढ़ती जा रही है। अन्य विषयों को छोड़कर केवल भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्र को ही लें, तो प्रतिवर्ष सैकड़ों नये शब्द भाषा-शास्त्र में आते जा रहे हैं। इससे भाषा में असाधारण परिवर्तन उपस्थित होता जा रहा है। विज्ञान का दूसरा प्रभाव यह भी है कि भाषा में पारिभाषिक (Technical) शब्दों की

संख्या बढ़ती जा रही है और संक्षेप एवं संकेत-शब्दों की ओर अभिरुचि बढ़ गई है। अब सैकड़ों संकेत शब्द प्रचलित हो गये हैं। जैसे, Skt = संस्कृत, Lat = लैटिन, Gk = ग्रीक, S = Sentence, वा = वाक्य, NP = Noun Phrase, संप = संज्ञापदबन्ध, VP = Verb Phrase, क्रिप = क्रिया-पदबन्ध, V = Verb, क्रि = क्रिया, N = Noun, सं = संज्ञा, Det = Determiner, नि = निर्धारक, मिसं = मिश्र संकेत, Aux = Auxiliary, स = सहायक। भाषाशास्त्र की आधुनिक पुस्तकों में ये संकेतचिह्न अत्यन्त प्रचलित हो गये हैं। उपयोगिता की दृष्टि से इन्हें स्मरण कर लेना चाहिए।

(८) सभ्यता का प्रभाव

समाज का बाह्य रूप सभ्यता का प्रतिबिम्ब है। समाज के बाह्य रूप में कृषि, उद्योग, व्यापार, वाणिज्य, वेश-भूषा, भवन, कला, शिल्प, मनोरंजन के साधन आदि सभी चीजें आती हैं। विज्ञान की उन्नति के साथ सभ्यता का विकास विशेष प्रगति से हो रहा है। कृषि, उद्योग, व्यापार, वेश-भूषा आदि में सैकड़ों नयी वस्तुएँ निकल रही हैं। नये यन्त्र, नये औजार, नयी मशीन, नये शिल्प, नयी पोशाकें, नये खेल, नये मनोरंजन के साधन आदि प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। प्रत्येक वस्तु के लिए नया नाम निकाला जा रहा है। कुछ पुराने शब्द भी नये अर्थों का बोध करा रहे हैं, पर नये शब्दों की रचना की गति बहुत वेग से चल रही है। इस प्रकार भाषा का शब्दकोश बहुत बढ़ रहा है। आमोद-प्रमोद, प्रसाधन आदि की वस्तुएँ नित्य नये नाम से आ रही हैं। इस प्रकार भाषा में नव-शब्द-निर्माण की प्रक्रिया उग्ररूप से चल रही है। दूसरी ओर सभ्यता के प्रबल प्रवाह में अनुपयोगी या अप्रयुक्त शब्द बहुत वेग से वीरगति को प्राप्त हो रहे हैं। वे केवल कोशग्रन्थों की शोभा ही बढ़ा रहे हैं। 'योग्यतमावशेष' (Survival of the fittest) इस वैज्ञानिक नियम के अनुसार भाषा में भी योग्यतम शब्द शेष रह जाते हैं और अनुपयोगी शब्द नष्ट हो जाते हैं।

३.५. (ग) सादृश्य (मिथ्या सादृश्य)

भाषा के विकास या परिवर्तन में सादृश्य का बहुत महत्त्व है। यह सादृश्य वास्तविकता पर निर्भर न होकर अंधानुकरण पर निर्भर होता है। अतः इसे 'मिथ्या सादृश्य' कहा जाता है। विश्व की प्रत्येक भाषा में इस नियम की महिमा दृष्टिगोचर होती है। महत्त्व की दृष्टि से इसे आभ्यन्तर और बाह्य, दोनों कारणों से पृथक् रखा जाता है। इसका प्रभाव आभ्यन्तर और बाह्य दोनों रूपों में दिखाई देता है। यह ध्वनि, शब्द, अर्थ और वाक्य-रचना सभी को प्रभावित करता है।

द्वादश = द्वि या द्वा + दश में द्वा शब्द में आ की मात्रा ठीक है, पर एकादश = एक + दश में आ नहीं होना चाहिए था। द्वादश के साथ के कारण मिथ्यासादृश्य से एकदश > एकादश हो गया। करिणा = करिन् + आ में 'ना' या 'णा' ठीक है, क्योंकि शब्द के अन्तिम अक्षर न् में आ जुड़ गया है, पर अग्निना = अग्नि + आ, भानुना = भानु + आ में न् कहाँ से आ गया? इसका कोई उत्तर नहीं है। करिणा, दण्डिना, हस्तिना आदि के साम्य पर अग्निना,

भानुना आदि सभी इकारान्त और उकारान्त शब्दों में तृतीया एकवचन में 'ना' लगने लगा। यह सादृश्य का ही माहात्म्य है। 'पाश्चात्त्य' का विलोम शब्द 'पौरस्त्य' है, परन्तु पश्चिम का विलोम शब्द पूर्व लेकर 'पौर्वात्य' एक नया शब्द गढ़ लिया गया है। 'निर्गुण' के सादृश्य पर 'सगुण' को 'सर्गुण' भी लिखा जाता है। पंचम, सप्तम, अष्टम में अन्त में 'म' प्रत्यय है, उसी के साम्य पर 'षष्ठ' को 'षष्ठम' भी लिखने लगे हैं। वस्तुत: पौर्वात्य, सर्गुण, षष्ठम ये अशुद्ध प्रयोग हैं। मालीय, शालीय, भवदीय आदि के सादृश्य पर राष्ट्र > राष्ट्रीय शब्द का प्रचलन है। शुद्ध शब्द 'राष्ट्रिय' है। वृद्धाच्छ: (४-२-११४) से छ > ईय प्रत्यय करके राष्ट्रीय शब्द भी बनाया जा सकता है।

अंग्रेज़ी भाषा में भी इसी प्रकार सादृश्य (Analogy) के आधार पर अनेक शब्द प्रचलित हैं। Sing (गाना) > Sang, Sung ठीक हैं, इसी के साम्य पर Ring (घंटी बजना) > Rang, Rung भी भूतकाल और Past Participle में बनने लगे। इसी प्रकार Shall > Should, Will > Would, 'शुड' और 'वुड' रूपों में व्यंजन L 'शैल' और 'विल' के ल् के आधार पर ल् आ सकता है, परन्तु Can > Could (कुड) में ल् कहाँ से आ गया? यह शुड, वुड के सादृश्य पर L युक्त 'कुड' हो गया।

प्रो० आर०एच० रोबिन्स (R.H. Robins)[1] का कथन है कि Help, Climb और Snow के भूतकाल के प्रचलित रूप थे Holp, Clomb और Snew, परन्तु सादृश्य के आधार पर इनके रूप Helped, Climbed और Snowed बनने लगे हैं। Cow (काउ, गाय) का वास्तविक बहुवचन Kine (काइन) है, पर सादृश्य के आधार पर Cows (काउज़) प्रचलित हो गया है।

प्रो० स्टुर्टवेंट (E.H. Sturtevant)[2] ने अंग्रेज़ी के Male (मेल, पुरुष) और Female (फीमेल, स्त्री) का इतिहास बताया है कि ये दोनों शब्द फ्रेंच भाषा के Male और Femelle से बने हैं। फ्रेंच के दोनों शब्दों में कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, परन्तु अंग्रेज़ी में Male के सादृश्य पर Femelle के e को a करके Female बना लिया गया है। इस सादृश्य के प्रभाव के कारण ही अंग्रेज़ बच्चे Foot > Foots, फुट > फीट (पैर > पैरों) के स्थान पर फुट का बहुवचन फुट्स बोलते हैं। शुद्ध प्रयोग Feet (फीट) है। Ox (ऑक्स, बैल) > Oxen (ऑक्सन, बैलों) रूप बहुवचन में बनता है, परन्तु Oxes भी बच्चे बोलते हैं। इसी प्रकार बच्चे और अशिक्षित लोग Bring > Brung ब्रिंग (लाना) का ब्रंग रूप भूतकाल में बोलते हैं। इसका रूप Brought (ब्रॉट, लाया) होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सादृश्य या मिथ्या सादृश्य भाषा-परिवर्तन के कारण के रूप में विश्व की सभी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व रखता है।

1. R.H. Robins, *General Linguistics*, pp. 316-17.
2. E.H. Sturtevant, *Linguistic Change*, pp. 38-40.

अध्याय ४

ध्वनि-विज्ञान

(क) ध्वनि–शिक्षा

१. ध्वनि–विज्ञान क्या है?
२. ध्वनि–विज्ञान की उपयोगिता
३. फोनोलॉजी और फोनेटिक्स में अन्तर
४. हम कैसे बोलते हैं?
५. हम कैसे सुनते हैं?
६. ध्वनि की उत्पत्ति और श्रवण
७. प्रायोगिक ध्वनि–विज्ञान
८. ध्वनि–विज्ञान की तीन शाखाएँ
९. वाग्यन्त्र (ध्वनियंत्र)
१०. वाग्यन्त्र का वर्गीकरण
११. स्वर और व्यंजन
१२. वैदिक ध्वनियाँ
१३. संस्कृत ध्वनियाँ
१४. हिन्दी ध्वनियाँ
१५. स्वरों का वर्गीकरण
१६. व्यंजन
    (क) स्थान
    (ख) प्रयत्न
१७. व्यंजनों का वर्गीकरण (आधुनिक भाषा–शास्त्र के अनुसार)
१८. प्रयत्न के आधार पर वर्गीकरण
१९. संयुक्त व्यंजन
२०. समकालिक प्रयत्न ध्वनियाँ
२१. अक्षर और आक्षरिक
२२. ध्वनिगुण
    (क) मात्रा
    (ख) आघात (बलाघात)
    (ग) स्वर या सुर
    (घ) संगम

अध्याय ४

ध्वनि-विज्ञान

(क) ध्वनि-शिक्षा

ध्वनेर्विश्लेषणं शिक्षा, वर्णनं च विभाजनम् ।
परिवृत्त्यादीतिहासश्च, ध्वनिविज्ञानमुच्यते ॥ (कपिलस्य)

४.१. ध्वनि–विज्ञान क्या है?

ध्वनिविज्ञान भाषाशास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके लिए अंग्रेज़ी में फोनोलॉजी और फोनेटिक्स (Phonology, Phonetics) दो शब्द प्रचलित हैं। दोनों शब्दों का सम्बन्ध ग्रीक फोन (Phone) शब्द से है। फोन का अर्थ ध्वनि है। यह शब्द संस्कृत भण् (ध्वनि करना या कहना) धातु का ही परिवर्तित रूप है। ग्रीक में संस्कृत के चतुर्थवर्ण का द्वितीय वर्ण हो जाता है, अतः भ का फ हो गया है। दोनों का अर्थ ध्वनि-विज्ञान ही है। समानार्थक होने पर भी दोनों के अर्थ में अन्तर किया जाता है। फोनोलॉजी शब्द अधिक व्यापक अर्थ का बोधक है। इसमें फोनेटिक्स (Phonetics, ध्वनि-शास्त्र, स्वानिकी या ध्वनि-शिक्षा) और फोनेमिक्स (Phonemics, स्वनिम-विज्ञान, स्वनिमी) दोनों का समावेश होता है। फोनेटिक्स में मुख्य रूप से ध्वनि-शिक्षा, ध्वनि की परिभाषा, भाषा की विविध ध्वनियाँ, वाग्यंत्र, ध्वनियों का वर्गीकरण, ध्वनि-गुण, ध्वनि की उत्पत्ति, ध्वनि का श्रोता तक पहुँचना, श्रवण और ग्रहण आदि का विचार किया जाता है। अतएव इस अध्याय में फोनेटिक्स (ध्वनि-शिक्षा) का वर्णन किया गया है। फोनोलॉजी में स्वनिमविज्ञान, ध्वनि-परिवर्तन, ध्वनियों का इतिहास आदि का अध्ययन किया जाता है। यह अगले अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। दोनों शब्दों का अन्तर आगे दिया गया है।

संस्कृत में छः वेदांगों में शिक्षा भी एक अंग है। शिक्षा-ग्रन्थों में, प्रातिशाख्य ग्रन्थों और व्याकरण आदि में ध्वनि-शिक्षा पर गहन मनन, चिन्तन और वर्णन प्राप्त होता है। प्राचीन समय में फोनेटिक्स के लिए ध्वनिशिक्षा, ध्वनिशास्त्र, वर्णविज्ञान आदि शब्द प्रचलित थे।

४.२. ध्वनि–विज्ञान की उपयोगिता

१. ध्वनि-विज्ञान भाषा की विभिन्न ध्वनियों का ठीक-ठीक ज्ञान कराता है और उसके ठीक उच्चारण की शिक्षा देता है। इसके द्वारा मनुष्य का उच्चारण-सम्बन्धी ज्ञान पूर्ण

होता है। महाभाष्य में अतएव एक उक्ति वर्णित है कि—'शुद्ध एक शब्द का ज्ञान और प्रयोग भी मनुष्य को स्वर्ग-प्राप्ति का साधन होता है।'

एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।

(महाभाष्य, प्रदीप टीका आ० १)

२. ध्वनिविज्ञान प्रत्येक ध्वनि के ठीक-ठीक उच्चारण-स्थान और प्रयत्न को बताता है। ठीक उसी स्थान से और उतना ही प्रयत्न करके वह ध्वनि शुद्ध रूप में उच्चारण की जा सकती है। ऐसा करने से व-ब, श-स, आदि का अन्तर स्पष्ट रूप से समझ लेता है। इन ध्वनियों के भेद के ठीक ज्ञान न होने से अनेक अनर्थकारी उच्चारण हो जाते हैं। जैसे—सर (तालाब) को शर कहने से बाण अर्थ हो जायगा। इसलिए प्राचीन वैयाकरणों ने ध्वनि-उच्चारण को महत्त्व देते हुए कहा है कि थोड़ा व्याकरण और उच्चारण-शिक्षा का बोध प्रत्येक मनुष्य को अवश्य होना चाहिए, जिससे स्वजन (अपने सम्बन्धी) श्वजन (कुत्ते) न हो जायँ, सकल (सब) शकल (आधा) या सकृत् (एक बार) शकृत् (विष्ठा, मल) न हो जाय।

यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम् ।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत् ॥

३. ध्वनिविज्ञान का उपयोग विश्व की विभिन्न भाषाओं को सीखने में अत्यन्त उपयोगी है। यह प्रत्येक भाषा की मूल ध्वनियों का ज्ञान कराता है, अतः किसी भी नयी भाषा का उच्चारण अत्यन्त सरलता से सीखा जा सकता है। इनके ज्ञान से ही वह तीन, दीन, हीन का अन्तर समझता है। इनमें ईन समान होने पर भी त, द, ह के अन्तर से अर्थ-भेद हो जाता है। इस प्रकार के सभी भेदों को वह समझ पाता है।

४. ध्वनिविज्ञान में ३ बातें मुख्य रूप से सिखायी जाती हैं—१. विश्लेषण (Analysis), २. वर्णन (Description), ३. वर्गीकरण (Classification)। इनकी उपयोगिता इस प्रकार है—**१. विश्लेषण**—वह वाग्यन्त्र की रचना और उसके कार्यों को जानता है, अतः विदेशी ध्वनियों का विश्लेषण कर सकता है। सूक्ष्म विश्लेषण के कारण वाग्यंत्र के द्वारा उन ध्वनियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म उच्चारण कर सकता है। **२. वर्णन**—इसके द्वारा किस ध्वनि का किस स्थान और किस प्रयत्न से उच्चारण होता है, इसका ठीक बोध होता है। **३. वर्गीकरण**—इसके द्वारा मूलभूत ध्वनियों का स्थान और प्रयत्न के अनुसार सूक्ष्मता से विभाजन किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि किसी की भाषा की बहुत अधिक संख्या में दीखनेवाली ध्वनियाँ सिमटकर अत्यन्त कम हो जाती हैं।

५. यह प्रत्येक भाषा के शुद्ध उच्चारण और शुद्ध लेखन में सहायक होता है।

६. ध्वनिविज्ञान शुद्ध और स्पष्ट वैज्ञानिक संकेतों के निर्माण में सहायक होता है। तार, वायरलेस एवं भौतिकी आदि के वैज्ञानिक संकेतों के लिए इसका आश्रय लिया जाता है।

७. ध्वनिविज्ञान प्राचीन और नवीन ध्वनियों के क्रमिक विकास का इतिहास स्पष्ट करता है।

८. ध्वनिविज्ञान ध्वनि-परिवर्तन एवं ध्वनि-विकास और उसके कारणों को स्पष्ट

करता है। इसके द्वारा विश्व की भाषाओं में हुए परिवर्तनों का इतिहास बताया जाता है। संस्कृत के शब्द पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में किस प्रकार परिवर्तित हुए और आज इनका क्या स्वरूप है—यह स्पष्ट करता है। सत्य-सच, घृत-घी, उपाध्याय-ओझा, उत्थान-उठना, विकृत-विकट, संध्या-साँझ, प्रच्छ्-पूछना, पुरुष-पुरिष-पुलिस, भक्त-भात, दुर्लभ-दुल्हा, ग्राम-गाँव, कर्म-काम, हस्त-हाथ, मक्षिका-मक्खी, क्यों और कैसे हो जाते हैं? यह ध्वनिविज्ञान स्पष्ट करता है।

९. ध्वनिविज्ञान विभिन्न भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध को भी स्पष्ट करता है। जैसे—संस्कृत और अंग्रेज़ी के शब्द त्रि-Three, गो-Cow, पितृ-Father, मातृ-Mother, भ्रातृ-Brother आदि। इसी प्रकार संस्कृत और अवेस्ता का, संस्कृत और जर्मन का तथा अन्य भाषाओं का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट करता है।

१०. ध्वनिविज्ञान विभिन्न भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध के द्वारा विश्व-बन्धुत्व और विश्व-संस्कृति की स्थापना में सहयोग देता है।

११. ध्वनिविज्ञान ध्वनियों के परिवर्तन के साथ मानव की प्रगति या अवनति का इतिहास बताता है। शब्दों के अशुद्ध एवं विकृत रूप भाषा के बोलनेवालों की शैक्षिक एवं सांस्कृतिक अवनति के द्योतक हैं। जैसे—चतुर्वेदी-चौबे, त्रिपाठी-तिवारी, द्विवेदी-दूबे, मिश्र-मिसिर आदि। दूसरी भाषाओं की ध्वनियों और शब्दों को आत्मसात् करने से विकास और प्रगति की सूचना मिलती है। संस्कृत और हिन्दी में टवर्ग का आगमन विकास को सूचित करता है। इसी प्रकार अंग्रेज़ी, अरबी और फारसी ध्वनियों का हिन्दी में आगमन भाषा-विषयक विकास को सूचित करता है।

१२. ध्वनिविज्ञान का सम्बन्ध उच्चरित ध्वनियों से है, लिखित वर्णमाला से नहीं। अतः ध्वनिविज्ञान उच्चारण पर ही विचार करता है।

१३. ध्वनिविज्ञान शिक्षा देता है कि प्रत्येक भाषा की कुछ निजी विशेषताएँ होती हैं। उनकी कुछ विशेष ध्वनियाँ होती हैं। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक भाषा की ध्वनियाँ अन्य भाषाओं में मिलें। जैसे—संस्कृत में टवर्ग है, इसका अन्य भारोपीय भाषाओं में अभाव है। संस्कृत में तवर्ग दन्त्य है, परन्तु अंग्रेज़ी, जर्मन और फ्रेंच में यह वर्त्स्य है। फ्रेंच में ञ् ध्वनि है, परन्तु जर्मन में इसका अभाव है। जर्मन भाषा में ख ध्वनि है, परन्तु फ्रेंच में इसका अभाव है। अतः उस विशिष्ट भाषा के अध्ययन में अनावश्यक ध्वनियों को छोड़ दिया जाता है। विश्व की किन्हीं दो भाषाओं में पूर्ण रूप से मिलती हुई वही ध्वनियाँ नहीं मिलती हैं। सामान्य ध्वनिविज्ञान का प्रशिक्षण प्राप्त किया हुआ छात्र इस योग्य होता है कि नयी ध्वनियों का विवेचन सरलता से कर सके।

१४. ध्वनिविज्ञान शुद्ध उच्चारण की शिक्षा के द्वारा मानव को अधिक सुसंस्कृत और सुसभ्य बनाता है। अतएव प्राचीन भारत में ६ वेदांगों में शिक्षा अर्थात् ध्वनि-शिक्षा को एक स्वतंत्र और अनिवार्य अंग बताया गया था।

१५. ध्वनिविज्ञान भाषाशास्त्रियों, संगीतज्ञों, कलाकारों और वक्ताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी साधन है।

४.३. फोनोलॉजी (Phonology) और फोनेटिक्स (Phonetics) में अन्तर

ध्वनि-विज्ञान शब्द का प्रयोग फोनोलॉजी और फोनेटिक्स, दोनों शब्दों के लिए प्रचलित है। कुछ विद्वान् दोनों शब्दों को समानार्थक भी मानते हैं। शाब्दिक दृष्टि से दोनों शब्दों के अर्थ में अन्तर नहीं है। दोनों शब्दों की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'Phone' फोन से है। 'लॉजी' और 'टिक्स' शब्द 'विज्ञान' अर्थ के बोधक हैं। दोनों में ध्वनियों का विवेचन और विश्लेषण होता है। वर्तमान भाषाशास्त्री दोनों शब्दों में अन्तर मानते हैं। उनके मतानुसार फोनोलॉजी शब्द अधिक व्यापक शब्द है, इसमें फोनेटिक्स (Phonetics) और फोनेमिक्स (Phonemics) दोनों का संग्रह होता है। फोनेटिक्स केवल एक अंग का बोधक है।

D. Steible (डी० स्टाइबिल) ने Phonology और Phonetics का अन्तर इस प्रकार दिया है—

PHONOLOGY—The study of the system that controls the use of the sounds in speech; the units of the system are phonemes; in other words, the study of phonetics and phonemics together in the history of the sound changes that have occurred in the evolution of a language.[1]

PHONETICS—The branch of linguistics dealing with the analysis, description, and classification of speech-sounds, including both the physiological process, or articulation, and the physical attributes, or acoustics; the study of the system of sounds in a language with more refined description than the phonemes.[२]

प्रो० आर०एच० रोबिन्स (R.H. Robins) ने फोनोलॉजी और फोनेटिक्स का अन्तर निम्नलिखित रूप में प्रकट किया है—

As a result two separate ways of studying speech sounds are recognized in linguistics : 'Phonetics', the study and analysis of the sounds of languages, in respect of their articulation, transmission, and perception without reference to any particular language or to their function therein, and 'Phonology', the study and analysis of the exploitation of different ranges of speech sounds by different languages and of the systems of contrasting sound features maintained by languages.

1. D. Steible : *Concise Handbook of Linguistics*, London, 1967, p. 95.
२. वही, पृष्ठ ६४।

Phonetics and Phonology are both concerned with the same subject-matter or aspect of language, speech sounds as the audible result of articulation, but they are concerned with them from different points of view. 'Phonetics' is general (that is, concerned with speech sounds as such without reference to their function in a particular language), descriptive, and classificatory; 'Phonology' is particular (having a particular language or languages in view) and functional (concerned with the working or functioning of speech sounds in a language or languages). Phonology has in fact been called functional phonetics.[1]

प्रो० रोबिन्स का मत है कि ध्वनि के अध्ययन के दो विभिन्न प्रकार हैं— फोनेटिक्स (स्वानिकी) और फोनोलॉजी (ध्वनि-विज्ञान या स्वन-विज्ञान)। फोनेटिक्स में मुख्य रूप से ओच्चारिकी (उच्चारण-प्रक्रिया), सांचारिकी (ध्वनियों का संवहन) और श्रौतिकी (ध्वनियों का श्रवण और ग्रहण) का वर्णन किया जाता है। इनमें किसी विशेष भाषा को नहीं लिया जाता है और न उसकी कार्यविधि की समीक्षा की जाती है। इसके विपरीत फोनोलॉजी में किसी एक (या अनेक) भाषा की ध्वनियों का विवेचन, विश्लेषण किया जाता है। उनमें ध्वनि-परिवर्तन आदि का विचार किया जाता है। फोनोलॉजी और फोनेटिक्स एक ही कार्य-विषय का दो विभिन्न दृष्टिकोण से विवेचन प्रस्तुत करते हैं। फोनेटिक्स सामान्य है। यह किसी भाषा-विशेष को अपनाये बिना ध्वनियों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है, उनका वर्णन करता है और उनका वर्गीकरण करता है। फोनोलॉजी का सम्बन्ध विशेष से है। वह किसी एक या अनेक भाषा को लेता है। उसकी कार्यविधि और ध्वनि-परिवर्तन आदि का वर्णन करता है। अत: फोनोलॉजी को 'फंक्शनल फोनेटिक्स' (क्रियात्मक स्वानिकी) कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि मूलत: समानार्थक होने पर भी फोनोलॉजी और फोनेटिक्स शब्दों का समानार्थक के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता है। सामान्यतया फोनोलॉजी शब्द अधिक व्यापक है। इसमें फोनेटिक्स (स्वानिकी) और फोनीमिक्स (स्वनिमी) दोनों का संग्रह है। फोनोलॉजी में ध्वनि-सम्बन्धी समस्त विज्ञान का संग्रह हो जाता है। इसमें ध्वनियों का इतिहास, ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धान्त भी सम्मिलित हैं। परन्तु फोनेटिक्स (स्वानिकी) में ध्वनियों का इतिहास और ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धान्त आदि का वर्णन निषिद्ध है। इसमें ध्वनियों का विवेचन, विश्लेषण और वर्गीकरण मुख्य रूप से समाविष्ट हैं। अत: प्रो० रोबिन्स का कथन उचित है कि फोनेटिक्स में किसी भाषा-विशेष को न लेते हुए ध्वनि-शिक्षा, ध्वनि-विश्लेषण, ध्वनि-वर्गीकरण एवं ध्वनि-वर्णन का समावेश है। फोनोलॉजी में एक या अनेक भाषाओं को लेते हुए ध्वनियों का इतिहास, ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धान्त और उनका प्रयोग आदि का भी समावेश होता है।

---

1. R.H. Robins : *General Linguistics*, London, 1967, p. 127.

४.४. हम कैसे बोलते हैं?

ध्वनि-उत्पादन—ध्वनि-विज्ञान को समझने के लिए आवश्यक है कि ध्वनि की उत्पत्ति की प्रक्रिया को भी समझ लिया जाय। मानवीय ध्वनि का आधार वायु है। यह वायु हमें फेफड़ों से प्राप्त होती है। फेफड़े ध्वनि-उत्पादन में धौंकनी का काम करते हैं। हारमोनियम आदि वाद्य-यन्त्रों में धौंकनी के द्वारा वायु को बाहर से अन्दर लेकर उसके उपयोग के द्वारा सरगम की ध्वनि निकाली जाती है। मानव-शरीर में भी दो प्रक्रियाएँ प्रतिक्षण काम करती हैं—१. साँस लेना, २. साँस निकालना। प्रथम को **श्वास या प्रश्वास** कहते हैं और दूसरे को **निःश्वास**। श्वास या प्रश्वास अन्दर खींची गई वायु है। यह मुख और नाक दोनों के द्वारा खींची जाती है। यह अन्दर खींची गई वायु ऑक्सीजन (Oxygen) या प्राण वायु है। यह रक्त को शुद्ध करती है। अन्दर से बाहर फेंकी गई वायु निःश्वास है।[1] इसके द्वारा शरीर से कार्बन डाइ-आक्साइड (Carbon-dioxide) या दूषित अपान वायु बाहर निकलती है। प्रश्वास मानव-जीवन के लिए अनिवार्य है। यही शक्ति का स्रोत है। निःश्वास वायु अन्दर की गन्दगी को बाहर निकालती है।

उच्चारण की दृष्टि से श्वास वायु का उपयोग अत्यन्त कम होता है। कुछ भाषाओं में आश्चर्य आदि की बोधक ध्वनियों और अमेरिका, अफ्रीका आदि की क्लिक आदि ध्वनियों के उच्चारण में श्वास वायु का उपयोग होता है। सामान्यतया निःश्वास वायु (बाहर फेंकी गई वायु) ही भाषा एवं ध्वनि का प्राण है। प्रकृति की यह विचित्रता है कि वह एक अत्यन्त अनावश्यक और अनुपयोगी तत्त्व 'निश्वास' से ध्वनि एवं भाषा जैसे बहुमूल्य तत्त्व को जन्म देती है। इस प्रकार ध्वनि या भाषा निःश्वास का उपजात (By-product, बाई-प्रोडक्ट) तत्त्व है। मानव की समस्त बौद्धिक उपलब्धियाँ इसी उपजात के परिणाम हैं।

शरीर में फेफड़ों की सफाई के बाद यह वायु श्वास-नली के मार्ग से निःश्वास रूप में बाहर आती है। स्वर-यन्त्र तक पहुँचने से पूर्व इसमें कोई विकार नहीं होता है। ज्योंही यह वायु स्वरतन्त्रियों के मार्ग से अग्रसर होती है, इसके अनेक स्वरूप हो जाते हैं। श्वास-नाद, घोष-अघोष, तार-मन्द्र, अल्पप्राण-महाप्राण आदि भेद स्वरतन्त्री की विशेष स्थितियों के कारण होते हैं। स्वरतन्त्री से आगे बढ़ने पर यह वायु आवश्यकतानुसार तीन भागों में विभक्त हो जाती है—१. केवल मुख-मार्ग से, २. केवल नासिका-मार्ग से, ३. मुख और नासिका दोनों मार्गों से समन्वित रूप में। जीभ, कंठ, तालु, दन्त, ओष्ठ आदि की सहायता से ध्वनि को इच्छानुसार रूप दिया जाता है। इस प्रक्रिया में कौवा (अलिजिह्वा) भी सहायक होता है। यह नासिका द्वार को रोक देता है तो नासिक्य-भिन्न सभी ध्वनियाँ मुख से उच्चरित होती हैं। नासिक्य ध्वनियों के उच्चारण में कौवा थोड़ा नीचे झुक जाता है, अतः वायु नाक से निकलती है। ऐसी ध्वनियों को नासिक्य या अनुनासिक कहते हैं।

मुख से उच्चरित होते ही ध्वनि बाहर की वायु में एक विशेष प्रकार के कम्पन से

---

१. कुछ विद्वानों ने निःश्वास के अर्थ में प्रश्वास शब्द का प्रयोग किया है। वे श्वास-प्रश्वास कहते हैं।

तरंगें उत्पन्न करती हैं। ये तरंगें श्रोता के कान तक पहुँचती हैं और उसकी श्रवणेन्द्रिय में कम्पन पैदा करती हैं। इन ध्वनि-तरंगों की गति सामान्यतया ११००-१२०० फीट प्रति सेकेण्ड होती है। ये ध्वनि-तरंगें ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती हैं, इनकी तीव्रता कम होती जाती है। तरंगों की गति न्यून होने के कारण दूर स्थित व्यक्ति को ध्वनि धीमी सुनाई पड़ती है या नहीं सुनाई पड़ती।

ये तरंगें श्रोता के कान में पहुँच कर बाह्य कर्ण की झिल्ली से टकरा कर कम्पन उत्पन्न करती हैं। ये कम्पन मध्यवर्ती कर्ण की अस्थियों से होते हुए अन्तःकर्ण के द्रव पदार्थ (कोक्लिया) तक पहुँचते हैं। इनसे जो तरंगें उठती हैं, उसकी सूचना श्रवण-तन्त्रिकाएँ मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं। इस प्रकार प्राप्त ध्वनि-सूचनाओं को मस्तिष्क ग्रहण करके तदनुसार कार्य करता है।

४.५. हम कैसे सुनते हैं?

वक्ता की ध्वनि श्रोता तक वायु और ध्वनि-तरंगों के माध्यम से आती है और इसको कान के द्वारा सुना जाता है। यहाँ पर कान की रचना का संक्षिप्त विवरण जान लेना उचित होगा।

खोपड़ी की जड़ में जुड़े हुए दो कान हैं—एक दाहिनी ओर और दूसरा बायीं ओर। कान को तीन भागों में विभक्त किया जाता है—१. बाह्य कर्ण (External ear), २. मध्य कर्ण (Middle ear) और ३. अन्तःकर्ण (Internal ear or labyrinth)[1]।
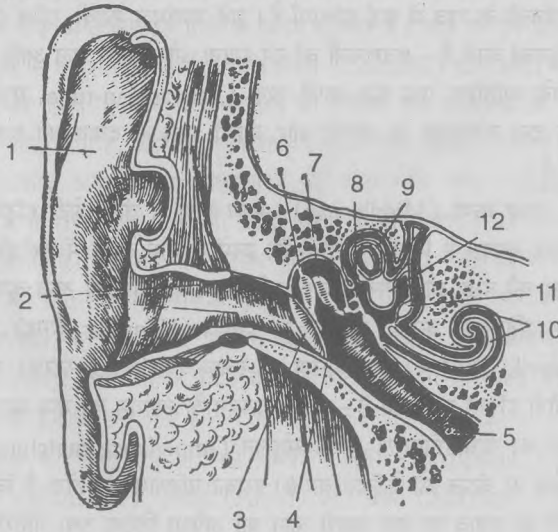
चित्र-संख्या—१.

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—ध्वनि और कम्पन : डॉ० अरविन्द मोहन, हिन्दी समिति उ० प्र०, प्रथम संस्करण १९७०, पृ० ६ से ८।

कान के मुख्य भाग

चित्र परिचय—

१. बाह्य कर्ण, कर्णपुट	७. निहाई
२. कर्णनली, कर्णकुहर	८. रकाब-अस्थि, रकाब
३. कर्णपटह	९. अर्धवृत्ताकार नलियाँ
४. मध्यकर्ण-गुहा	१०. कोक्लिया
५. श्रवणनली	११. सेक्युलस
६. हथौड़ी, मुद्गर	१२. यूट्रिक्युलस

१. बाह्य कर्ण (External ear)—इसके दो अंश होते हैं—(क) कर्णपुट और (ख) कर्णकुहर। (क) कर्णपुट (Pinna, पिन्ना) यह एक उपास्थि है। इसको श्रवण-नली का बाहरी भाग भी कह सकते हैं। यह शब्दों का संग्रह करती है। (ख) कर्णकुहर (External auditory meatus, एक्सटर्नल आडिटरी मीटस)। कर्णकुहर को श्रवण-नली भी कहा जाता है। यह भीतर की ओर पतला और संकीर्ण होकर एक झिल्ली से मिल गया है। इस झिल्ली को कर्ण-पटह या टिम्पैनम (Tympanum, or Tympanic membrane) कहते हैं। कर्णपुट द्वारा संगृहीत ध्वनि कर्णकुहर के मार्ग से होकर कर्णपटह पर टकराती है। इस झिल्ली का कार्य है—बाहर से आये हुए कम्पन या ध्वनि को भीतर हथौड़े जैसी मैलियस (malleus) हड्डी तक पहुँचाना।

कर्णनली के गात्र में कई ग्रन्थियाँ हैं। इन्हें कर्णमल-स्रावी-ग्रन्थि (Wax gland) कहते हैं। इनका कार्य है—श्रवणनली को तर रखना और बाहरी धूल आदि से बचाव।

इसके अतिरिक्त एक कंठ-कर्णी-नली (Eustachian-tube, यूस्टेशियन ट्यूब) है, जिसके द्वारा कर्णकुहर के भीतरी और बाहरी भाग के दबाव की समता ठीक-ठीक बनी रहती है।

२. मध्य कर्ण (Middle ear)—मध्य कर्ण में तीन छोटी हड्डियाँ होती हैं। ये शंख की तरह आपस में मिली हुई होती हैं। इनमें से एक देखने में हथौड़ी जैसी होती है, दूसरी निहाई की तरह और तीसरी रकाब की तरह। ये ध्वनि को अन्तःकर्ण तक ले जाती हैं। इन तीन हड्डियों को क्रमशः मुद्रास्थि या हथौड़ी (Hammer, हैमर), शूर्मिकास्थि या निहाई (Anvil, आन्विल), रकाबास्थि या रकाब (Stirrup, स्टरप) कहते हैं। मध्य कर्ण की तीनों हड्डियों का काम है—बाहरी कम्पन के आयाम को कम करना, बाहरी तथा भीतरी कर्ण का बाधा-निवारण-पूर्वक संतुलन (impedance matching) करना तथा छोटे क्षेत्रफल पर कंपन को केन्द्रित करना। इसका परिणाम यह होता है कि मध्यकर्ण पर ध्वनि-तरंगों का दबाव या बल बाहरी कान की अपेक्षा तिगुना तथा भीतरी कर्ण पर मध्य कर्ण की अपेक्षा लगभग ५०-६० गुना होकर एक उच्चायी ट्रांसफॉर्मर (Step-up transformer) जैसा कार्य करता है।

३. अन्तःकर्ण (Internal ear or Labyrinth)—इसमें तीन अंश हैं—१. छल्ला या अँगूठी की आकृति का अंश, २. अंडाकार खिड़की, ३. कर्णावर्त या कोक्लिया

(Cochlea) वृत्ताकार सर्पिल नली या घोंघे के आकार का अंश। अन्तःकर्ण की रचना बहुत विचित्र है। यह पानी जैसे तरल पदार्थ से भरा रहता है। मस्तिष्क से निकलकर श्रवण स्नायु या श्रवण तंत्रिका (Auditory nerve), इसमें प्रवेश करने के बाद हजारों पतली-पतली स्नायु में बँट जाती है।

अन्तःकर्ण में वृत्ताकार सर्पिल नली कोक्लिया है। इसके भीतर लम्बाई में एक पर्दे के द्वारा दो कोष्ठ बनते हैं। इसी कोक्लिया में तरल पदार्थ भरा होता है। इसकी प्रतिबाधा बाहरी कर्ण की वायु से अत्यधिक है। इस पर्दे के ऊपर श्रवण-तंत्रिका दौड़ती है। यह टेलीफोन एक्सचेंज के तुल्य ध्वनि का ज्ञान विद्युत्धारा के रूप में मस्तिष्क तक पहुँचाती है।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि बाह्य कर्ण केवल समाचार-संग्रह करता है और उसे कर्णपटह तक पहुँचा देता है। कर्णपटह अपने स्पन्दन से उसकी तेजी बढ़ा देता है। कान में प्रसारक और उत्थापिका नाम की दो पेशियाँ हैं। ये शब्दों को ठीक-ठीक नियोजित करती हैं। कर्णास्थियाँ कम्पनों को ठीक-ठीक स्थान पर पहुँचाती हैं और कंठकर्णी नली से शब्दों का दबाव और सामंजस्य ठीक रहता है।[1]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि श्रवण का केन्द्र भीतरी कर्ण है। उसमें कोई दोष आने पर बधिरत्व (बहरापन) आता है। इसी प्रकार बाहरी झिल्ली फट या टूट जाने से श्रवण-शक्ति प्रभावित होती है।

४. श्रवण-संवेदी केन्द्र (Auditory sensory centre) **तथा संवेदक तन्त्रिका** (Sensory nerve)—बाह्य-कर्ण और मध्य-कर्ण ध्वनि के दाब-परिवर्तन का आवर्धन करके उन्हें अन्तःकर्ण के द्रवों के ऊपर पहुँचाते हैं। यहाँ पर इन दाब-परिवर्तनों को उनके तारत्व के अनुसार कर्णावर्त या कोक्लिया (Cochlea) द्वारा छाँटा जाता है तथा विकृत रासायनिक क्रिया के रूप में कोक्लिया की तंत्रिका द्वारा मस्तिष्क के श्रवणसंवेदी केन्द्रों तक पहुँचाया जाता है, जहाँ वे अपने स्वरूप के अनुसार पहचाने जाते हैं।[2]

जिस प्रकार अन्य संचार-व्यवस्थाओं में आस-पास शोर (Back-ground noise) की मात्रा पायी जाती है, उसी प्रकार कान में भी पार्श्वशोर की एक न्यून मात्रा अवश्य पायी जाती है। इस शोर का कारण रुधिर-प्रवाह द्वारा उत्पादित कंपन, श्वास-निःश्वास, सिर की गति तथा मांसपेशियों की गति है। हमारे कान की यह विशेषता है कि वह आन्तरिक शोर का कम और बाहरी ध्वनि का अधिक उत्तम ग्रहणकर्ता (Receiver) है। अतएव कान बाहरी ध्वनि-दाब के अत्यन्त सूक्ष्म परिवर्तनों को भी पकड़ लेता है, जिस पर हमें आश्चर्य होता है।

कर्णपटह के पीछे वायु से भरी मध्यकर्ण गुहा (Tympanic Cavity) है, जिसमें हथौड़ी (Hammer), निहाई (Anvil) और छल्ला (Stirrup) हैं। इनके द्वारा

---

१. होम्योपैथिक पारिवारिक चिकित्सा : एम० भट्टाचार्य एण्ड कं०, कलकत्ता, १९५९, मानव-शरीर की रचना, कान, पृ० ७९-८१।

२. ध्वनि और कम्पन, पृ० ४४८।

पटह तथा कोक्लिया में संपर्क स्थापित किया जाता है। मध्यकर्ण गुहा की दीवार में हथौड़ी के सामने कोक्लिया के छिद्र दो खिड़कियों के रूप में होते हैं—एक गोल तथा दूसरा अंडाकार। गोल खिड़की पर एक झिल्ली चढ़ी रहती है। छल्ले के नीचे की आधार-पट्टिका (foot plate) अंडाकार खिड़की के ऊपर रहती है। हथौड़े की मूठ लम्बाई में कर्णपटह के भीतर धँसी रहती है और उसका सिरा निहाई से चिपका रहता है। निहाई का निचला भाग छल्ले से मजबूती के साथ जुड़ा रहता है। निम्न आवृत्ति पर यह तीनों एकसाथ मिलकर कम्पन करते हैं।

कर्णावर्त (कोक्लिया) दो अंगों में विभाजित है। यह विभाजन आधार झिल्ली द्वारा होता है। आधार झिल्ली की भीतरी कोर पर ३५०० बाल के समान कोशिकाएँ (Sensory cells) हैं। बाहरी कोर पर भी तीन-चार पंक्ति में लगभग १२ हजार से १ लाख २० हजार बाल के समान कोशिकाएँ होती हैं। ये सब मिलकर तन्त्रिका व्यवस्था का आधार स्थापित करते हैं।[1]

प्रत्येक जीवित सेल की भाँति ये बाल के सेल भी विद्युत्-ध्रुवीकृत (Polarised) रहते हैं। ये सेल विद्युत् धारा के आरम्भ करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काम करते हैं और कोक्लिया से मस्तिष्क तक सूचना भेजने के हेतु श्रवण-संवेदी-केन्द्र (Auditory sensory centre) को चालू करते हैं।

कोक्लिया और श्रवण-संग्रहण (Reception) केन्द्रों के बीच में अनेक जोड़ हैं। इसके अतिरिक्त अन्य मार्ग भी प्रत्येक कर्णावर्त (कोक्लिया) को मस्तिष्क के दोनों ओर से जोड़ते हैं। कर्ण का यह अंग अत्यन्त विस्मयकारी समुदाय है, जिसका ज्ञान अभी नवीन रूप में प्राप्त हुआ है।[2] जैसे—तान्त्रिक रेशे आधार झिल्ली के विभिन्न भागों से कर्णावर्त में उपयुक्त स्थान पर क्रमानुसार पहुँचते हैं तथा केन्द्रिका में ठीक-ठीक जुड़ जाते हैं।

मस्तिष्क में एक 'अग्र अनुप्रस्थ कपालस्थ कटक' है। यह श्रवण-संग्रहण-केन्द्र (Reception centre) का स्थान है। यदि इस अंग को बाहर से स्पर्श किया जाय, तो हमें ध्वनि उत्पन्न होती हुई प्रतीत होगी।

कर्णावर्त (कोक्लिया) पर पड़नेवाला दाब कभी-कभी वायु कम्पन के ध्वनि दाब का सौ गुना तक बढ़कर हो जाता है। कर्ण की स्वाभाविक कम्पन-आवृत्ति ५०० से १५०० कम्पन प्रति सेकेंड के बीच में ही रहती है।[3]

ध्वनि और कम्पन[4]—ध्वनि का उत्पादन वस्तुओं के कम्पन से होता है। इसका अनुभव सरलता से किया जा सकता है। यदि हमारी वाक्-तन्तु कम्पन करना बन्द कर दे तो एकाएक मुँह से निकलनेवाली ध्वनि समाप्त हो जाती है। सितार के तार को छेड़ने पर

---

१. ध्वनि और कम्पन, पृ० ४४६ से ४५५।

2. Richardson : *Technical Aspects of Sound*; quoted ref. 27, p. 274, Vol. I.

३. ध्वनि और कम्पन, पृ० ४५३-५५।

४. वही, पृ० २-६।

उसका ऊपर-नीचे दोलन (कम्पन) ध्वनि उत्पन्न करता है, जैसे ही तार को स्पर्श द्वारा रोक देते हैं, वैसे ही उसकी झंकार बन्द हो जाती है। यही स्थिति द्विभुज (Tuning fork) तथा लाउडस्पीकर के शंकु में भी पायी जाती है। प्रयोगों द्वारा सिद्ध है कि प्रत्येक ध्वनि का उद्गम या स्रोत कोई कम्पन करती हुई वस्तु होती है।

क्या प्रत्येक कम्पंन ध्वनि है?

प्रत्येक ध्वनि कम्पन है। इसी प्रकार प्रत्येक कम्पन में ध्वनि है। हम अनेक बार वस्तुओं में कम्पन देखते हैं, परन्तु ध्वनि का अभाव पाते हैं। जैसे—पत्ते या कपड़े का हिलना। इन कम्पनों से ध्वनि उत्पन्न होती है, परन्तु हमारे कर्ण उसको नहीं सुन पाते। इसका मुख्य कारण ध्वनि की कम तीव्रता या आवृत्ति का विशेष सीमा के भीतर न रहना है।

यदि ध्वनि अत्यन्त कम तीव्रता (Intensity) को है, तो कर्ण उसको पकड़ नहीं पाते हैं। विशेष यन्त्रों की सहायता से हमें इन ध्वनियों का ज्ञान हो सकता है।

हम केवल उन्हीं ध्वनियों को सुन सकते हैं, जिनकी आवृत्ति (frequency) २० चक्र प्रति सेकेंड से अधिक है और २० हजार चक्र से कम है। इसलिए २० चक्र प्रति सेकेंड से कम और २० हजार चक्र से अधिक आवृत्तिवाली ध्वनियाँ हमें नहीं सुनाई पड़ती हैं। २० हजार चक्र से अधिक आवृत्तिवाली ध्वनियों को 'पराश्रव्य' कहते हैं। कुत्ते, चमगादड़, मछलियों आदि की श्रवण शक्ति मनुष्य से बहुत अधिक है। जो ध्वनि हम नहीं सुन पाते हैं, उनको सुनकर भी कुत्ते सजग होकर कान खड़े कर लेते हैं।

ध्वनि-संचरण और माध्यम—ध्वनि-संचरण के बारे में न्यूटन (१६४२-१७२७) ने जो मत प्रकट किया है, वह आज भी मान्य है। वायु के कण (या अणुओं) का कम्पन ध्वनि-उत्पादक नहीं है, क्योंकि अणुओं में तो स्वयं गति है। मुँह से उत्पन्न होनेवाला कम्पन जब वायु के सम्पर्क में आता है तो वायु के कणों में भी उसी प्रकार के कम्पन पैदा होने लगते हैं और ये कम्पन एक सतह से दूसरी सतह को प्रभावित करते हुए आगे बढ़ते हैं। वायु के सूक्ष्म परतों का कम्पन (जिसके साथ अनेक अणु होते हैं) विरलन या संघनन (Rarefaction & Compression) का स्वरूप लेकर ध्वनि संचरण करता है।

ध्वनि-संचरण के लिए एक माध्यम की आवश्यकता है। प्रयोग से सिद्ध है कि वायु-रहित स्थान की ध्वनि क्षीण हो जाती है और वायु आने पर ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है। काँच के जार में निर्वात (Vacuum, वेक्यूम) पैदा कर देने पर उसके अन्दर की हवा निकल जाती है, अतः उसमें रखी हुई घड़ी की ध्वनि बाहर नहीं सुनाई पड़ती है। वायु पुनः प्रविष्ट करा देने पर उसकी ध्वनि फिर सुनाई देने लगती है। इससे सिद्ध होता है कि ध्वनि निर्वात में नहीं चलती है।

ध्वनि का संचरण ठोस, द्रव तथा गैस में से किसी माध्यम से हो सकता है। सामान्यतया वार्तालाप आदि में ध्वनि का संचरण वायु के माध्यम से होता है। आधुनिक विज्ञान ईथर (Ether) की सत्ता (Existence) को स्वीकार नहीं करता है। रेडियो स्टेशन आदि से प्रसारित होने वाली ध्वनि रेडियो-तरंगों (Radio waves) के द्वारा सर्वत्र

पहुँचती है। रेडियो-तरंगें विद्युत्-चुम्बकीय (Electromagnetic waves) हैं, अतः इनके संचरण के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती है।

४.६. ध्वनि की उत्पत्ति और श्रवण

भारतीय भाषा-शास्त्रियों का मत—ध्वनि-शिक्षा के प्रसंग में आचार्य पाणिनि ने ध्वनि की उत्पत्ति के विषय में अपना मत निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ ६॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥ ७॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पंचधा स्मृतः ॥ ८॥

(पाणिनीय शिक्षा, ६-९)

सर्वप्रथम आत्मा (चेतनतत्त्व) का बुद्धि (ज्ञानतत्त्व) के साथ सम्पर्क होता है और वह अपने अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने की इच्छा से मन को प्रेरित करता है, मन शारीरिक शक्ति को प्रेरित करता है, जिससे वायु में प्रेरणा उत्पन्न होती है, यह प्रेरित वायु उरःस्थल अर्थात् फेफड़ों में गतिशील होकर मन्द्र (सामान्य) ध्वनि को उत्पन्न करता है, वह वायु ऊपर उठकर मूर्धा (मुख के ऊपरी भाग) में अवरुद्ध होकर मुख में पहुँचती है और पाँच प्रकार से विभक्त होकर ध्वनियों को उत्पन्न करती है। भर्तृहरि ने ध्वनि-उत्पत्ति के इस भाव को प्रकारान्तर से रखा है—

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः ।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ॥ ११२॥
स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः ।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते ॥ ११३॥
विभजन् स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुतिरूपैः पृथग्विधैः ।
प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते ॥ ११५॥

(वाक्यपदीय ब्रह्मकांड ११२-११५)

अर्थात् जीवात्मा सूक्ष्म वाक् रूप में विद्यमान है और वही अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए शब्द रूप में परिवर्तित होता है। वह विचार रूप में परिवर्तित होता है और शारीरिक ऊष्मा से युक्त होकर प्राण वायु में प्रवेश करता है। तदनन्तर वह ऊपर उठता है। वह अपनी ग्रन्थियों को विभक्त करके पृथक्-पृथक् ध्वनियों के रूप में परिवर्तित होता है। इस प्रकार प्राण वर्णों को अभिव्यक्त करता है और उनमें लीन हो जाता है।

ऊपर की कारिकाओं में आचार्य पाणिनि ने स्पष्ट किया है कि मानसिक प्रत्यय (विचार) किस प्रकार ध्वनि के रूप में अभिव्यक्त होता है। यहाँ पर आत्मा के द्वारा चेतन-तत्त्व, बुद्धि के द्वारा ज्ञानतत्त्व, मन के द्वारा प्रेरणातत्त्व और वायु के संचार निर्गम और अवरोध के द्वारा शारीरिक पक्ष का निर्देश है। मानव में चेतना-तत्त्व ही है, जो भाषा को जन्म देता है। केवल चेतना बुद्धि के बिना काम नहीं कर सकती है। यही कारण है

कि बुद्धि या विवेक के अभाव के कारण पशु-पक्षियों में भाषा का अभाव है। मानव में चेतना और बुद्धि का समन्वय है। इसके द्वारा विचार अभिव्यक्ति के योग्य होते हैं। इनके लिए प्रेरणा-तत्त्व मन की आवश्यकता होती है। मन प्राण-वायु का सहयोग प्राप्त करके वाग्यन्त्र के नियमित संचालन के द्वारा ध्वनि को उत्पन्न करता है। इस प्रकार ध्वनि की उत्पत्ति के लिए चार तत्त्वों की आवश्यकता होती है—१. भाव या विचार, २. विवक्षा (विचार को प्रकट करने की इच्छा), ३. प्राण वायु का सहयोग, ४. वाग्यन्त्र का नियमित संचालन। मानव में ये चारों बातें प्राप्त होती हैं। चेतन-तत्त्व के द्वारा प्राप्त भावों को मन के द्वारा गति मिलती है, वायु के द्वारा निर्गमन होता है और वाग्यन्त्र के द्वारा उसको ठीक ध्वन्यात्मक रूप मिलता है।

विचारों का आदान-प्रदान—प्रो० लुई ग्रे ने अपनी पुस्तक 'फाउण्डेशन्स ऑव् लेंग्वेज' (Louis H. Gray : *Foundations of Language*) में यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार एक व्यक्ति के विचार दूसरे व्यक्ति तक पहुँचते हैं। उन्होंने प्रकट किया है कि वक्ता और श्रोता दोनों में प्रत्यय (कन्सेप्ट, विचार) विद्यमान रहते हैं। वक्ता के मन में प्रत्यय पहले प्रकट होता है, वह प्रत्यय शब्दबिम्ब अर्थात् संकेत का रूप लेता है, वह शब्द बिम्ब ध्वनि के रूप में परिवर्तित होता है। वह उच्चरित ध्वनि वायु के माध्यम से श्रोता के श्रवण तक पहुँचती है। श्रवण के द्वारा वह संकेतात्मक ध्वनि ध्वानिक बिम्ब का रूप लेकर श्रोता के मन में प्रत्यय ज्ञान उत्पन्न करता है। इस प्रकार वक्ता और श्रोता दोनों की एकरूपता होती है। जो वक्ता कहता है, वही श्रोता समझता है। इसको संस्कृत के शब्दों में सामानाधिकरण्य अर्थात् समान-एक, अधिकरण-आधार पर होना। यही वक्ता और श्रोता की एकरूपता है। इसमें अनेक विज्ञानों का सम्बन्ध है। प्रत्यय और बिम्ब का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है और ध्वनि का सम्बन्ध भौतिक विज्ञान एवं शरीर-विज्ञान से है।

४.७. प्रायोगिक ध्वनिविज्ञान (Experimental Phonetics)

भाषा-विज्ञान के सामान्य अध्येता के लिए प्रायोगिक ध्वनि-विज्ञान का थोड़ा ज्ञान आवश्यक है। विज्ञान के इस युग में अनेक अनिर्वचनीय और असंभव समझे जाने वाले विषयों को निर्वचनीय और संभव बना दिया गया है। अतएव भाषा-विज्ञान के अध्येता को भौतिक-विज्ञान (Physics) की सहायता अपेक्षित होती है। भाषा-विज्ञान में ध्वनि, ध्वनियन्त्र, उच्चारण-स्थान, उच्चरित ध्वनि और उसका श्रोता द्वारा ग्रहण का वर्णन किया जाता है। भौतिकी के विभिन्न यन्त्र इस पूरी प्रक्रिया को स्पष्ट दिखा सकने में समर्थ हैं। वे विभिन्न उच्चारण-स्थानों का पूरा चित्र उपस्थित करते हैं। उच्चरित ध्वनि की आकृति भी प्रस्तुत करते हैं, जिसके द्वारा हम ह्रस्व-दीर्घ, स्वर-व्यंजन, उच्च-नीच, घोष-अघोष, अल्पप्राण-महाप्राण, मोटी-पतली, मीठी-कर्कश आदि का भेद आँखों से देख सकते हैं।

भौतिकी (Physics) में इसे Acoustic Phonetics या Acoustics (अकाउस्टिक फोनेटिक्स या अकाउस्टिक्स) कहा जाता है। इसके लिए हिन्दी में अनेक शब्द प्रचलित हैं—श्रौतिकी, श्रवणात्मक-ध्वनिविज्ञान, श्रुतिशास्त्र, तरंगीय ध्वनिविज्ञान,

सांवहनिक ध्वनि-विज्ञान, सांचारिकी, भौतिक ध्वनि-विज्ञान आदि। प्रत्येक ध्वनि किस रूप में उच्चरित होकर किस रूप में सुनी जाती है, यह इसका विषय है। भौतिकी के विभिन्न यन्त्रों के द्वारा श्रव्य विषय को दृश्य रूप में दिखाया जा सकता है। प्रत्येक स्वर या व्यंजन में अपनी कुछ विशेषता रहती है या अन्य ध्वनियों से कुछ अन्तर रहता है, इसी आधार पर वह ध्वनि पहचानी जाती है। श्रोता ध्वनियों के श्रौत गुण के कारण ही उन्हें पहचानता है और वक्ता की भाषा को समझता है।

वक्ता के द्वारा उच्चरित ध्वनियाँ तरंग-गति (Wave-motion) के द्वारा श्रोता के कान तक पहुँचती हैं और वह उन्हें पकड़कर उनका अर्थ समझता है, इस प्रसंग में ये ध्वनि-तरंगें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। विभिन्न यन्त्रों द्वारा इन ध्वनि-तरंगों का चित्र लिया जाता है। इनके विश्लेषण के द्वारा ध्वनि की आवृत्ति (Frequency, प्रति सेकण्ड कम्पनों की संख्या), तरङ्ग-दैर्ध्य (Wave-length, दो क्रमागत शृङ्गों या गर्तों के बीच की दूरी), आयाम (Amplitude, कण की स्थिर दशा से अत्यधिक विस्थापित दशा तक की दूरी), एवं तीव्रता (Intensity) का पता लगाया जाता है। यहाँ यह जान लेना भी उपयुक्त है कि किसी ध्वनि का एक विशेष प्रकार का होना कई बातों पर निर्भर होता है। उनमें प्रमुख हैं—उसका तारत्व (Pitch), आयतन (Volume), अनुनाद या गूँज, अन्दर से आनेवाली वायु की शक्ति, उच्चारण-अवयवों की रचना तथा उनके द्वारा विशेष शक्ति से ध्वनन आदि।

१. पैलेटोग्राफ (Palatograph)

नवीन यन्त्रों की तुलना में यह बहुत पुराना साधन माना जाता है। इसमें कृत्रिम तालु (Artificial Palate) का प्रयोग किया जाता है। यह जितना पतला एवं जितना हल्का होता है, उतना अच्छा रहता है। इसको मुँह में दाँतों के पीछे तालु के नीचे लगाया जाता है। लगाने से पहले कृत्रिम तालु में चाक या रंग लगा देते हैं। जिस ध्वनि की परीक्षा करनी होती है, उसका उच्चारण करते हैं। उच्चारण के समय जीभ कृत्रिम तालु का स्पर्श करती है और उस स्थान का रंग या चाक जीभ पर लग जाने से कृत्रिम तालु पर निशान बन जाता है। सावधानी से बाहर निकालकर उसका चित्र ले लिया जाता है। इस प्रकार उस ध्वनि का उच्चारण-स्थान निश्चित किया जाता है। यह पद्धति उच्चारण-स्थान के निर्णय के लिए विशेष उपयोगी है।

अब इस पद्धति को उत्तम बनाने के लिए **पैलेटोग्राम प्रोजेक्टर** (Palatogram Projector) नामक मशीन काम में लायी जाती है। इसके द्वारा मशीन से ही उसका चित्र ले लिया जाता है। यह चित्र अधिक सरलता और शीघ्रता से लिया जाता है तथा अधिक विश्वसनीय होता है। पैलेटोग्राफ से लिये गये चित्रों को **पैलेटोग्राम** (Palatogram) कहते हैं।

२. काइमोग्राफ (Kymograph)

यह एक चौकोर बॉक्स की तरह मशीन होती है। इसके ऊपर गोल हलका ढोल लगा रहता है। उस पर चारों ओर धुएँ से काला किया हुआ चिकना कागज लपेटा जाता

है। पास में एक छोटी मशीन रहती है। इसमें एक झण्डे में रबड़ की नली लगी होती है। उसमें एक पतली सुई लगी रहती है। जब वक्ता कुछ बोलता है, तो उस समय सुई में कम्पन होता है। बिजली की सहायता से ढोल घूमने लगता है। उस पर सुई से टेढ़ी-सीधी लकीरें बनती हैं। अनुनासिकता के लिए एक और नली नाक में लगाई जाती है।

यह यन्त्र घोष-अघोष ध्वनियों में होने वाले कम्पन-गत भेद को स्पष्ट रूप से दिखाता है। अघोष ध्वनियों के उच्चारण में सीधी लकीर बनती है। तरंगें नहीं होती हैं। घोष ध्वनियों के उच्चारण में लकीरें लहरदार होती हैं। इनके उच्चारण में सुई काँपती है, अतः लकीरें ऊँची-नीची होती हैं। काइमोग्राफ में अल्पप्राण और महाप्राण ध्वनियों की रेखाओं में स्पष्ट अन्तर होता है। एक की रेखाएँ अधिक सीधी होती हैं और दूसरे की कम सीधी। अनुनासिक में लहरदार लकीर बनती है और अननुनासिक में साधारण। इसमें तीसरी सुई समय बताती है। यह १ सेकण्ड में १०० निशान बनाती है। इसके द्वारा ह्रस्व और दीर्घ के उच्चारण में लगे समय का अन्तर ज्ञात हो जाता है। प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण में लगने वाले समय का ज्ञान इससे हो जाता है।

काइमोग्राफ के कुछ परिष्कृत रूप उपलब्ध हैं—

(क) इंक-राइटर (Ink-writer)—यह काइमोग्राफ का परिष्कृत रूप है। इसमें अन्तर यह है कि ढोल पर काला धुएँ वाला कागज न लगाकर सफेद कागज लपेटा जाता है। सुई में स्याही रहती है और वह बालपेन की तरह सफेद कागज पर रंगीन लकीरें खींचती है। इसकी लकीरें अधिक स्पष्ट और सही होती हैं। यह अपेक्षाकृत सस्ता पड़ता है।

(ख) एलेक्ट्रो-काइमोग्राफ (Electro-Kymograph)—इसकी विशेषता यह है कि इसमें माइक भी लगा रहता है। इसमें स्वाभाविकता कुछ अधिक रहती है, परन्तु उपयोगिता की दृष्टि से यह घटिया है। इसमें पुराने काइमोग्राफ के तुल्य सभी भेद स्पष्ट नहीं होते।

(ग) मिंगोग्राफ (Mingograph)—स्वीडेन के एक भाषाशास्त्री ने इसे बनाया है। यह छोटा-सा यन्त्र है। इसमें भी माइक पर बोला जाता है। इसमें घोष-अघोष एवं सुर को सरलता से नापा जा सकता है। यह ध्वनियों को प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करता है।

(घ) क्रोमोग्राफ (Chromograph)—स्पेन के लेएर्डा (Laierda) नामक भाषाशास्त्री ने १६३२ के लगभग इस यंत्र का आविष्कार किया था। यह काइमोग्राफ की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसका प्रचार कम है।

यूरोप में इस प्रकार के अन्य कई यंत्र बने हैं। ये यंत्र अमेरिकी यन्त्रों की तुलना में बहुत घटिया सिद्ध होते हैं।

३. एक्स-रे (X-ray)

कतिपय भाषाशास्त्रियों ने विभिन्न ध्वनियों के उच्चारण-स्थान के निर्णय के लिए एक्स-रे का भी प्रयोग किया है। विभिन्न ध्वनियों के उच्चारण में जीभ और जबड़े की स्थिति की ठीक जानकारी के लिए एक्स-रे चित्र लिये गये हैं। मूल-स्वरों के एक्स-रे

चित्र विभिन्न ध्वनि-विज्ञान के ग्रन्थों में प्राप्य हैं।

४. ऑसिलोग्राफ (Oscillograph)

ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन के लिए ऑसिलोग्राफ बहुत महत्त्वपूर्ण यन्त्र है। इसमें बोलने पर ध्वनि-तरंगें बनती हैं। ये बीच में लगे शीशे (स्क्रीन) पर दिखाई पड़ती हैं। इसके द्वारा ध्वनियों के कम्पन के चित्र लिये जा सकते हैं। इस यंत्र के कई लाभ हैं—(क) ध्वनियों के उच्चारण में लगे समय का बहुत सूक्ष्मता से ज्ञान होता है। (ख) लहरों के स्वरूप के आधार पर घोष या अघोष का स्पष्ट निर्णय हो जाता है। (ग) दो ध्वनियों के बीच की सीमा को निर्धारित किया जा सकता है। (घ) सुर का अध्ययन भी इसके आधार पर करना संभव है। (ङ) इसके द्वारा ध्वनि की तीव्रता (Intensity) नापी जा सकती है। (च) इसके द्वारा ध्वनियों के तरंगीय स्वरूप का पता लगता है। स्वरों की लहरें नियमित होती हैं। स्पर्शों की लहरें सर्वथा अनियमित होती हैं। इनका स्वरूप भी जटिल होता है। अन्तःस्थों की स्थिति इन दोनों के मध्य में है। ऑसिलोग्राफ के अंकन को **ऑसिलोग्राम** कहते हैं।

५. स्पीच स्पेक्ट्रोग्राफ (Speech Spectrograph)[1]

यह भाषा की ध्वनियों के अध्ययन के लिए सर्वोत्कृष्ट यन्त्र माना जाता है। स्पेक्ट्रोग्राफ (दृश्यग्राह) शब्द Spectrum (स्पेक्ट्रम, Image-आकृति) लैटिन शब्द से बना है, इसका बहुवचन में Spectra (स्पेक्ट्रा) रूप होता है।[2] यह द्वितीय महायुद्ध के समय सामरिक उपयोग के लिए बनाया गया था, परन्तु इसका उपयोग आजकल अमेरिका के विश्वविद्यालयों में भाषा-विज्ञान में भी हो रहा है। इसके द्वारा ध्वनियों के प्रत्यक्ष रूप देखे जा सकते हैं। इसके द्वारा ध्वनियों का मूल स्वरूप, उनमें विभिन्न परिवर्तन, मूल स्वर और संयुक्त स्वरों का भेद स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। किसी प्रामाणिक भाषा और उसकी परवर्ती भाषाओं की ध्वनियों के भेदों की परीक्षा इसके द्वारा सरलता से होती है। इसके द्वारा मुख्य रूप से आवृत्ति (Frequency) और उच्चारण समय का ठीक पता चलता है। इसके द्वारा अभी तक स्वरों का ही विशेष अध्ययन हो सका है, व्यंजनों का नहीं। स्पेक्ट्रोग्राफ के अंकन को **स्पेक्ट्रोग्राम** कहते हैं।

यह मशीन कई रूपों में प्राप्य है—**सोनोग्राफ** (Sonograph), **कार्डि-अलाइज़र** (Cardialyzer), **वाइब्रलाइज़र** (Vibralyzer) आदि। सोनोग्राफ समय-

---

1. Martin Joos : Acoustic Phonetics, 1948; Potter, Kopp and Green : Visible Speech, New York, 1947; John B. Carrol : *The Study of Language*, Harvard, 1953.

२. भाषाविज्ञान की हिन्दी में लिखी अधिकांश पुस्तकों में इसका अशुद्ध नाम र-रहित स्पेक्टोग्राफ (Spectograph) दिया गया है। इसके अंकन को स्पेक्ट्रोग्राम कहते हैं, न कि स्पेक्टोग्राम (Spectogram)।

मापन के लिए सर्वोत्तम है। इस यंत्र से जो चित्र बनता है, वह ऊँचाई में आवृत्ति बताता है और लम्बाई में समय। इसमें माइक पर बोला जाता है और मशीन ध्वनिचित्र बनती है। इसके द्वारा ध्वनि के भौतिक रूप की सारी विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है।

६. टेप-रिकॉर्डर (Tape Recorder)

यह एक अति-प्रचलित मशीन है। इसका प्रयोग भारतवर्ष में भी पर्याप्त मात्रा में हो रहा है। यह अत्यन्त उपादेय मशीन सिद्ध हुई है। इसमें बोली हुई ध्वनि को उसी रूप में रिकॉर्ड कर लिया जाता है। बटन दबाने पर यह मशीन चालू हो जाती है। मशीन में एक कैसेट (Cassette, डिब्बा) लगाया जाता है, जिसमें पतला फीता लिपटा होता है। वक्ता की ध्वनि उस पर अंकित हो जाती है। उलट कर पुनः उसे चालू करने पर वह ध्वनि उसी रूप में स्पष्ट सुनाई देती है। इसमें वक्ता अपनी आवाज पुनः सुन सकता है। इसमें वक्ता की ध्वनि सुरक्षित रहती है। यह यन्त्र आजकल आकाशवाणी, भाषण-संग्रह, राजनीतिक कार्यों आदि में बहुत प्रयुक्त हो रहा है। भाषा-शास्त्री के लिए भी यह मशीन बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। बार-बार उस ध्वनि को सुनकर उसका वैज्ञानिक विश्लेषण सरलता से हो जाता है। अमेरिका आदि में इसका प्रचलन बहुत अधिक है।[1]

७. स्पीच-स्ट्रेचर (Speech-stretcher)

यह एक वाग्विस्तारक यंत्र है। इसकी विशेषता यह है कि जो ध्वनि टेप की गई है, उसे बहुत धीरे-धीरे भी सुना जा सकता है। भाषा-शास्त्री दूसरी भाषा की ध्वनि को भाषा-प्रयोक्ता (Informant) से सुनकर टेप कर लेते हैं। परीक्षण के लिए उसे धीमी गति से सुनना आवश्यक होता है, जिससे एक-एक वर्ण स्पष्ट हो। यह मशीन इस कार्य को पूरा करती है। इस मशीन से जितनी धीमी गति से सुनना चाहें, सुन सकते हैं। इसमें वक्ता की ध्वनि की स्वाभाविकता बनी रहती है। नयी भाषा सीखने के लिए भी यह बहुत उपयोगी है। स्वनिमों का पता लगाने में भी इसकी विशेष उपयोगिता है। इस यंत्र का एक रूप **सोना-स्ट्रेचर** (Sona-stretcher) भी प्राप्य है।

८. पैटर्न प्लेबैक (Pattern Playback)

इस यंत्र के आविष्कारक दो अमेरिकी विद्वान् डॉ० कूपर और बोस्ट हैं।[2] इस यंत्र की विशेषता यह है कि इसके द्वारा दृश्य ध्वनि-चित्रों को पुनः ध्वनिमय रूप दिया जाता है। स्पेक्ट्रोग्राफ के द्वारा ध्वनियों को दृश्य-चित्र के रूप में प्रस्तुत किया जाता है और इसके द्वारा उन दृश्य-चित्रों को ध्वनि-रूप में परिणत किया जाता है। स्पेक्ट्रोग्राफ के

---

1. Zellig S. Harris : *Methods in Structural Linguistics*, 1955.
2. Drs. Franklin S. Cooper and John M. Bost, Haskins Laboratory, New York.

ध्वनि-चित्रों को इस यंत्र के द्वारा बजाया और सुनाया जा सकता है। इसके द्वारा ध्वनियों की विभिन्न विशेषताओं का ठीक पता लगाया जा सकता है।

९. लैरिंगोस्कोप (Laryngoscope)

इसमें एक पतली छड़ी के एक सिरे पर १२०° के कोण पर एक छोटा गोल लेन्स (Lens, चश्मे के शीशे के तुल्य) लगा रहता है। इसको मुँह में कौवे के पास तक डाल कर स्वर-यन्त्र और उसका कार्य देखा जा सकता है। इस यन्त्र के प्रयोग में कठिनाई यह है कि मुँह में इसे डालने पर स्वाभाविक रूप से उच्चारण संभव नहीं होता, अत: इसका प्रयोग अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ।

१०. एंडोस्कोप (Endoscope)

यह लैरिंगोस्कोप का परिष्कृत रूप है। इसका श्रेय फ्लेटाउ महोदय को है। इसकी विशेषता यह है कि मुँह बन्द रहने पर भी स्वर यंत्र का अध्ययन हो सकता है। इसके द्वारा ध्वनियों के मूल स्थान के अध्ययन में विशेष सहायता मिल रही है।

११. ट्रान्स पिचमीटर (Trans Pitchmeter)

फ्रोकयेर येनसन महोदय ने यह यन्त्र प्रस्तुत किया है। इस यन्त्र के द्वारा सुर-मापन का कार्य विधिवत् होता है। इस सुर-मापन की क्रिया से भाषा-शिक्षण में भी सहायता ली जाती है।

१२. वीडियो पिच इंडिकेटर (Video Pitch-indicator)

इसका संक्षिप्त नाम VPI (वी.पी.आई.) है। इसका आविष्कार कालोराडो ध्वनि-प्रयोगशाला ने सन् १९७१ में किया। यह सुर-सूचक (पिच इंडिकेटर) यंत्र है। विदेशी भाषाओं के पढ़ाने में यह विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है। अमरीकी छात्रों को जर्मन अनुतान सिखाने में इसका उपयोग किया गया है। यह एक महत्त्वपूर्ण यन्त्र है। कालोराडो विश्वविद्यालय में ध्वनि-प्रयोगशाला के निदेशक प्रो० बैंगलर इस यन्त्र में और सुधार करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जिससे भाषा-शिक्षण-कार्य में यह और उपयोगी हो सके।

१३. कम्प्यूटर (Computer)

ध्वनि-प्रयोगशालाओं में कम्प्यूटर की भी उपयोगिता पर बल दिया जा रहा है। यह ध्वनि-विश्लेषण का कार्य उत्तमता से करता है। यह भाषा-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है, जैसे—अनुवाद, कोशविज्ञान, पाठविज्ञान, व्याकरण आदि। लन्दन, स्टॉकहाम, ऊमिया, बॉन आदि में कम्प्यूटर के अधिकाधिक उपयोग पर बल दिया जा रहा है। बड़े कम्प्यूटर बनाने की योजनाएँ चल रही हैं। यह कम्प्यूटर सभी प्रकार की गणना का काम पूरा करता है। इसके माध्यम से प्रयोगशालाएँ ध्वनि के अतिरिक्त अन्य कई बातों पर काम कर रही हैं। कम्प्यूटर का प्रयोग इतना बढ़ता जा रहा है कि इसके

आधार पर अब भाषा-विज्ञान की एक शाखा 'कम्प्यूटेशनल भाषा-विज्ञान' (Computational Linguistics) बन गई है।

१४. सोनोग्राफ (Sonograph)

ध्वनि-प्रयोगशाला के लिए यह एक अनिवार्य और अत्युपयोगी मशीन है। इसका आयात अमेरिका से होता है। जो भी शब्द माइक्रोफोन पर बोला जाता है, उस शब्द को यह मशीन पकड़ लेती है। जो शब्द कहा जाता है, मशीन द्वारा उसकी पुनरावृत्ति होती है। इससे वक्ता को विश्वास हो जाता है कि उसके द्वारा उच्चरित शब्द शुद्ध रूप में गृहीत हुआ है। इसकी भी कार्य-विधि टेप-रिकॉर्डर के तुल्य है।

१५. फॉर्मेंट ग्राफिक मशीन (Formant Graphic Machine)

यह यन्त्र निर्माणाधीन है। इसका मुख्य उद्देश्य है—ध्वनि-शिक्षा। इसकी विधि यह है कि विद्युत्-संचार-युक्त एक तख्ते में इष्ट भाषा की ध्वनियों का स्थान निश्चित कर दिया जायेगा। सीखनेवाले छात्र को उस तख्ते के सामने बैठकर उन ध्वनियों का उच्चारण करना होगा। मुँह से ध्वनि निकलते ही तख्ते पर चमकती हुई विद्युत्-रेखा दिखाई देगी। जब उच्चारण ठीक होगा, तभी उक्त रेखा निर्दिष्ट स्थान से मेल खायेगी। इसके प्रयोग से उच्चारण शुद्ध किया जा सकेगा।

१६. अन्य यन्त्र

इसके अतिरिक्त कुछ और यन्त्र हैं, पर वे महत्त्व ही दृष्टि से न्यून हैं। इनके नाम हैं—**(क) इन्टेन्सिटीमीटर** (Intensity-meter)—इसके द्वारा ध्वनि की तीव्रता नापी जाती है। **(ख) मुखमापक** (Mouth Measurer)—इसके द्वारा ध्वनि के उच्चारण के समय जीभ की ऊँचाई, निचाई, जीभ का आगे-पीछे हटना आदि को ठीक-ठीक नापा जाता है। **(ग) आटो फोनोस्कोप** (Auto Phonoscope)—इसके द्वारा स्वरयन्त्र का अध्ययन किया जाता है। **(घ) स्ट्रोबो-लैरिंगो-स्कोप** (Strobo Laryngoscope)—इसके द्वारा स्वरतंत्रियों की गतिविधि का अध्ययन किया जाता है। **(ङ) ब्रीदिंग फ्लास्क** (Breathing Flask)—इसके द्वारा श्वास-प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। **(च) ग्लॉटोग्राफ** (Glottograph)—इसके द्वारा ग्लॉटिस या श्वासद्वार का अध्ययन किया जाता है। **(छ) मैनोफोन** (Manophone)—यह ध्वनि-अवयवों में हवा का दबाव नापने के लिए बनाया गया है। **(ज) एयरोमीटर** (Aerometer)—यह बोलते समय वायु का प्रवाह नापने का यन्त्र है। **(झ) फ्रीक्वेन्सी फिल्टर** (Frequency Filter)—यह फ्रीक्वेन्सी (आवृत्ति) नापने के काम आता है। **(ञ) लाउडनेस एनालाइज़र** (Loudness Analyser)—यह ध्वनि की उच्चता (प्रबलता) को नापने का यन्त्र है।

इनके अतिरिक्त कुछ नये यन्त्र और बन रहे हैं।

४.८. ध्वनिविज्ञान की तीन शाखाएँ

यद्यपि भाषा की लघुतम इकाई वाक्य है, तथापि उसकी लघुतम कृत्रिम इकाई भाषा-ध्वनि या ध्वनि है। ध्वनियों के विषय में विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ से अन्त तक इनकी तीन स्थितियाँ हैं—१. उच्चारण या उत्पत्ति, २. संचरण या गमन, ३. श्रवण। इन तथ्यों का अलग-अलग विश्लेषण किया जाता है और इनको क्रमशः १. औच्चारिकी, २. सांचारिकी और ३. श्रौतिकी कहते हैं। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

१. औच्चारिकी या औच्चारणिक ध्वनि-विज्ञान
(Physiological Phonetics, Articulatory Phonetics)

औच्चारिकी को औच्चारणिक ध्वनिविज्ञान और शारीरिक ध्वनिविज्ञान भी कहते हैं। इसमें ध्वनियों के उच्चारण एवं ध्वनियों की उत्पत्ति का विवेचन किया जाता है। वक्ता अपने वाग्यन्त्र अर्थात् ओठ, जीभ आदि अवयवों की सहायता से ध्वनियों की उत्पत्ति करता है। इस विज्ञान में ध्वनियन्त्रों का विस्तार से अध्ययन किया जाता है। उच्चारण से सम्बद्ध होने के कारण इसको औच्चारिकी या औच्चारणिक ध्वनिविज्ञान कहा जाता है। इसमें यह भी अध्ययन किया जाता है कि कौन-सी ध्वनियाँ वाग्यंत्र के किन-किन अवयवों से निकलती हैं। इनके विश्लेषण के द्वारा ध्वनियों का वर्गीकरण किया जाता है।

२. सांचारिकी या सांचारिक ध्वनि-विज्ञान
(Acoustic Phonetics)

इसको तरंगीय ध्वनिविज्ञान या सांवहनिक ध्वनिविज्ञान भी कहते हैं। इसमें उच्चारण के फलस्वरूप होने वाली ध्वनि-तरंगों का अध्ययन किया जाता है। इसमें इस बात का अध्ययन किया जाता है कि किस प्रकार ध्वनि-तरंगें मुख और नासिका में उत्पन्न होकर वायु-तरंगों के माध्यम से श्रोता के कर्णपटह (टिम्पेनम, Tympanum) तक पहुँचती हैं। यह भौतिकी की एक प्रसिद्ध शाखा है और इसमें ध्वनि-तरंगों की गणना एवं उसके संचार का वर्णन होता है। ध्वनि-तरंगों की गणना एवं माप गणित-विज्ञान का विषय हो जाता है। यह सम्भव नहीं है कि प्रत्येक भाषाशास्त्री भौतिकी की पारिभाषिक शब्दावली से परिचित हो सके, अतः इसका संक्षिप्त रूप ही भाषा-विज्ञान में प्रस्तुत किया जाता है। 'हम कैसे सुनते हैं?' इस शीर्षक के अन्तर्गत इसका उपयोगी अंश वर्णित है।

३. श्रौतिकी या श्रौतिक ध्वनि-विज्ञान
(Auditory Phonetics)

इसको श्रावणिक ध्वनिविज्ञान भी कहते हैं। इसमें अध्ययन किया जाता है कि वायु-मण्डल में संचरण करने वाली ये ध्वनि-तरंगें किस प्रकार कर्णपटह को प्रभावित करती हैं। उसके बाद मध्यकर्ण और अन्तःकर्ण को प्रभावित करते हुए संवेदक तंत्रिकाओं के द्वारा किस प्रकार मस्तिष्क तक पहुँचती हैं। वहाँ वे अपने स्वरूप के अनुसार पहचानी

जाती हैं। यह शाखा भी जीवविज्ञान से सम्बद्ध है; अत: ध्वनिविज्ञान में इसका विस्तृत अध्ययन नहीं किया जाता। 'हम कैसे सुनते हैं?' इस शीर्षक के अन्तर्गत कान की रचना और सुनने की पूरी प्रक्रिया का संक्षिप्त वर्णन दिया गया है।

४.९. वाग्–यन्त्र (ध्वनि–यन्त्र)

(1. Vocal Organs; 2. Organs of Speech; 3. Mechanism of Speech)

वाक् और वाग्यन्त्र—ध्वनि-विज्ञान में ध्वनि का सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाता है। ध्वनि का एकमात्र साधन वाग्यन्त्र है। वाग्यन्त्र का सूक्ष्मता से ज्ञान ध्वनि-विज्ञान की शिक्षा के लिए अनिवार्य है। ध्वनि कैसे उत्पन्न होती है? किन स्थानों से होकर जाती है, कहाँ रुकती है, कहाँ संघर्ष करती है, कहाँ और कैसे घोष और अघोष का रूप धारण करती है, आदि के स्पष्ट ज्ञान के लिए वागिन्द्रिय या वाग्यन्त्र के प्रत्येक अवयव का ज्ञान अनिवार्य है। इसके आधार पर ही ध्वनिशिक्षा पूर्ण हो सकती है।

जिन अवयवों या अंगों की सहायता से भाषा-ध्वनियों का उच्चारण किया जाता है, उन्हें वाग्यन्त्र, ध्वनियन्त्र या उच्चारण-अवयव कहा जाता है।

मानवीय वाग्यन्त्र की तुलना वीणा या बाँसुरी आदि से की जा सकती है। वीणा आदि में एक ओर से वायु आती है, उसे कभी पूर्ण रूप से रोका जाता है, कभी अपूर्ण रूप से रोका जाता है और कभी पृथक्-पृथक् स्थानों से निर्गत करके स र ग म की विभिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न की जाती हैं। इसी प्रकार फेफड़ों से आने वाली नि:श्वास वायु को स्वरतन्त्रियों, कोमल तालु, कठोर तालु, दन्त, ओष्ठ आदि से नियन्त्रित करते हुए सभी प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न की जाती हैं। इन ध्वनियों के उत्पादन के लिए आवश्यक अंगों का संक्षिप्त वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

फेफड़े (Lungs)

ध्वनि के उत्पादन के लिए वायु की आवश्यकता होती है। यह वायु मनुष्य के फेफड़े प्रदान करते हैं। मानव में जीवित रहने के लिए दो प्रक्रियाएँ जीवनभर कार्य करती हैं—१. श्वास या प्रश्वास, अर्थात् प्राणवायु (ऑक्सीजन) को अन्दर लेना, २. नि:श्वास, अन्दर की दूषित वायु (कार्बन डाई-आक्साइड) को बाहर निकालना। थोड़ी देर भी प्राणवायु (ऑक्सीजन) न मिलने पर मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। जीवित रहने के लिए साँस लेने के साथ ही अन्दर की दूषित वायु को निकालना भी अनिवार्य है। यह प्रक्रिया दिन-रात चलती रहती है। सोते समय भी नासा-विवर से वायु अन्दर प्रविष्ट होती है और स्वरतन्त्रियों के मध्य से होते हुए फेफड़ों में पहुँचती है। इसी प्रकार यह बाहर आती है। श्वास-नि:श्वास क्रिया के लिए स्वरतन्त्रियों का मुख सदा खुला रहता है।

मनुष्य के वक्ष:स्थल के दोनों ओर फेफड़े धौंकनी का काम करते हैं। उच्चारण के लिए आवश्यक वायु इनसे ही प्राप्त होती है। अन्दर से आने वाली दूषित वायु ही ध्वनि या भाषा के लिए प्राण या जीवन है। श्वास-नली ही आगे चलकर दो भागों में विभक्त होकर दोनों फेफड़ों से संबद्ध है। इसके द्वारा ही श्वास और नि:श्वास की प्रक्रिया होती है।
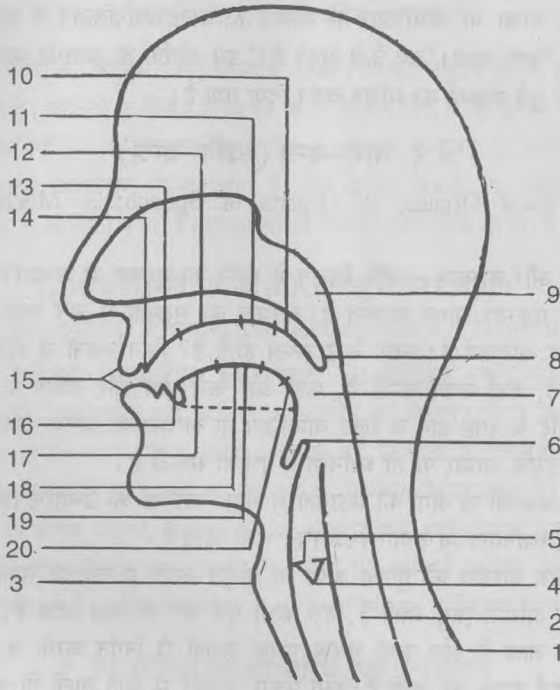
चित्र-संख्या—२. ध्वनियन्त्र का चित्र

चित्र परिचय :

१. श्वासनली (Wind-pipe)
२. ग्रसनी, भोजननली (Gullet, गलेट)
३. स्वरयन्त्र (Larynx, लेरिंक्स)
४. स्वरतन्त्री (Vocal Cords, वोकल कॉर्ड्स)
५. काकल (Glottis, ग्लॉटिस)
६. अभिकाकल (Epiglottis, एपिग्लॉटिस).
७. गलबिल, उपालिजिह्वा (Pharynx, फेरिंक्स)
८. अलिजिह्वा, कौवा (Uvula, यूव्युला)
९. नासाविवर (Nasal Cavity, नेज़ल केविटी)
१०. कोमल तालु (Soft Palate, सॉफ्ट पैलेट)
११. मूर्धा (Cerebrum, सेरिब्रम)
१२. कठोर तालु (Hard Palate, हार्ड पैलेट)
१३. वर्त्स, बर्त्स्व (Alveolus, आलवीअलस)
१४. दन्त (Teeth, टीथ)

१५. ओष्ठ (Lips, लिप्स)
१६. जिह्वाग्रि, जिह्वानोक (Tip of the Tongue, Apex, टिप ऑफ द टंग, अपेक्स)
१७. जिह्वाफलक (Blade of the Tongue, ब्लेड ऑफ द टंग)
१८. जिह्वाग्र (Front of the Tongue, फ्रंट ऑफ द टंग)
१९. जिह्वामध्य (Middle of the Tongue, मिडिल ऑफ द टंग)
२०. जिह्वापश्च (Back of the Tongue, Dorsum, बैक ऑफ द टंग, डोर्सम)

(१) **श्वासनली** (Wind-pipe)

श्वासनली को Wind-pipe (विंड पाइप) या Trachea (ट्रैकिया) कहते हैं। यह श्वासनली बाहर की वायु को फेफड़ों तक पहुँचाती है और अन्दर की दूषित वायु को बाहर लाने का काम करती है। इस बाहर आने वाली वायु से ही ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार श्वासनली का ध्वनि से साक्षात् सम्बन्ध है।

(२) **ग्रसनी, भोजननली** (Gullet, **गलेट**)

श्वासनली के समानान्तर दूसरी नली भोजन-नली या ग्रसनी है, जो भोजन को सीधे आमाशय तक पहुँचाती है। ये दोनों नलियाँ एक पतली दीवार के द्वारा पृथक् होती हैं। भोजन-क्रिया और श्वसन-क्रिया गलबिल तक एक ही मार्ग से होती है। गलबिल पर पहुँचते ही दोनों क्रियाएँ अलग-अलग दो नलियों के द्वारा संपन्न होती हैं। गलबिल के बाद भोजननली या ग्रसनी का श्वसन-क्रिया से सम्बन्ध नहीं है और श्वासनली का भोजन-क्रिया से सम्बन्ध नहीं है। अतएव भोजन का छोटा कण भी श्वास-नली में यदि पहुँचता है, तो हिचकी या खाँसी आ जाती है और अन्दर की वायु उस कण को मुँह या नाक के मार्ग से बाहर निकाल देती है। ग्रसनी को ग्रसनिका और भोजननली भी कहते हैं, इसका ध्वनि से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

(३) **स्वरयन्त्र** (Larynx, **लेरिंक्स**), (४) **स्वरतन्त्री** (Vocal Cords, **वोकल कॉर्ड्स**)

श्वासनली के ऊपरी भाग में अभिकाकल के कुछ नीचे स्वरयन्त्र स्थित है। यह ध्वनि-उत्पादन का प्रमुख अवयव है। ओस्कार रसेल (Oscar Russell) ने इसे 'मानवीय ध्वनि-प्रसारण केन्द्र' कहा है।[1] प्रो० नेगस (V.E. Negus) का कथन है कि यह यन्त्र ही है, जिसने मानव को भाषा देकर उसे मानव की श्रेणी में रखा है।[2] फेफड़ों में जाने वाली (श्वास) और फेफड़ों से बाहर आने वाली (निःश्वास) वायु

---

1. 'Human Broad-Casting Centre'; G. Oscar Russell : *Speech and Voice*, New York, 1931.
2. V.E. Negus : *The Mechanism of Larynx*, 1929.

स्वरयन्त्र के मध्य से ही आती-जाती है। यह श्वासनली या ट्रेकिया के ऊपरी भाग में कार्टिलेज (कोमल हड्डी), मांसपेशी और झिल्ली की बनी हुई मिश्रित रचना है। वयस्क, वृद्ध और दुर्बल पुरुषों के गले में बाहर उभरा हुआ जो अंश दिखाई देता है, उसे स्वरयन्त्र कहते हैं। इसे टेंटुआ या 'एडम्स एप्पिल' (Adam's Apple) भी कहते हैं। इसके ठीक पीछे श्वासनली होती है, जो लम्बाई में लगभग १५ सेमी० होती है। इसमें थोड़ी-थोड़ी दूर पर कार्टिलेज के C के आकार के छल्ले होते हैं, जो इसे खुला रखने में सहायता देते हैं। स्वरयन्त्र में ओंठों के आकार की समानान्तर पड़ी हुई दो मांसपेशियाँ होती हैं। ये श्वास-मार्ग के ऊपर पड़े हुए दो रबड़ के छल्ले, दो परदे या एक किवाड़ के दो पल्ले के तुल्य होते हैं। इनकी आकृति तार, तन्त्री या रस्सी के तुल्य नहीं होती है, अतः इन्हें वस्तुतः Vocal Cords या Vocal Chords स्वर-तंत्री या स्वर-रज्जु नाम न देकर Vocal Lips (स्वर-ओष्ठ) कहना अधिक उपयुक्त है। परन्तु प्रचलन के आधार पर इसे स्वर-तन्त्री ही कहा जाता है।[1]

ये दोनों स्वरतंत्रियाँ श्वास-नली के ऊपर दो परदों का नाम करती हैं। रंगमंच के बीच से खुलनेवाले दो परदों से इसकी समानता समझी जा सकती है। जिस प्रकार परदे बन्द होने पर रंगमंच का कोई दृश्य बाहर से नहीं दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार स्वरतन्त्रियों के पूर्ण रूप से बन्द होने पर कोई भी ध्वनि बाहर नहीं आ सकती है। जिस प्रकार रंगमंच के परदे खुलने पर अन्दर का दृश्य दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार स्वरतन्त्रियों के खुलने पर श्वास और ध्वनि बाहर आती है। जिस प्रकार रंगमंच के परदों को पूरा बन्द, थोड़ा खुला, आधा खुला, या पूरा खुला रख सकते हैं, उसी प्रकार स्वरतन्त्रियों को पूरा बन्द, थोड़ा खुला, आधा खुला, या पूरा खुला रख सकते हैं। इनसे विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। श्वास-नली की उपमा बाँसुरी से दी जा सकती है। यह छिद्रवाली होती है। इसी प्रकार श्वासनली में वायु के आने-जाने का मार्ग होता है। स्वरयंत्र की ओर से भोजन-नली की ओर फैली हुई दो ओष्ठों के आकार की इसकी रचना होती है। स्वरतन्त्री इतनी कोमल, लचीली और कम्पनशील होती है कि इसकी तुलना कोमल से कोमल और कम्पनशील किसी वस्तु से नहीं की जा सकती है। ये स्वरतंत्रियाँ विभिन्न अवस्थाओं में रह सकती हैं। कभी अगला भाग खुला रहता है, कभी मध्य का भाग और कभी अन्त का भाग। इसके अनुसार ही ध्वनियाँ भी अनेक रूप में हो जाती हैं। ढीली होने पर स्वरतन्त्रियाँ अधिक कम्पनशील होती हैं। इनके कड़ा होने पर कम्पन कम या पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है। पुरुषों में स्वरतंत्रियों के ढीले होने पर साधारणतया उनकी लम्बाई पौन इंच और स्त्रियों में आधी इंच होती है। ये जब तन कर खड़ी हो जाती हैं तो क्रमशः इनकी लम्बाई एक इंच और पौन इंच हो जाती है। स्वर-ओष्ठों या स्वरतंत्रियों के बीच में खुला भाग होता है, उसे स्वरयंत्र-मुख या काकल (Glottis, ग्लॉटिस) कहते हैं। इस स्थान से उच्चरित होनेवाली ध्वनियों को काकल्य (Glottal,

1. B. Bloch and G. Trager : *Outlines of Linguistic Analysis*, 1972, p. 16

ग्लॉटल) कहा जाता है। सामान्यतया श्वास लेने की क्रिया में ये स्वरतंत्रियाँ पूर्णरूप से खुली रहती हैं और वायु निर्बाध रूप से आती-जाती रहती है।
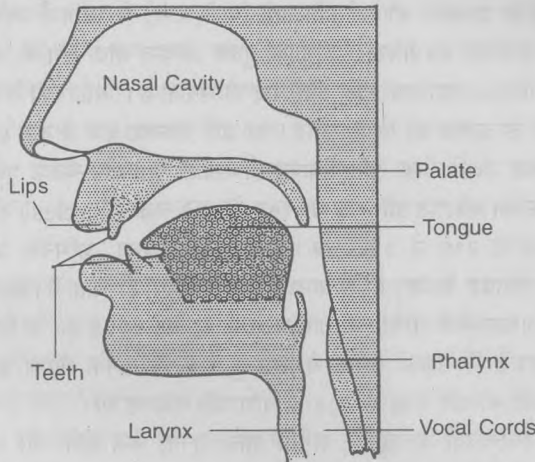
चित्र-संख्या—३. स्वरयंत्र

चित्र-परिचय :

Nasal Cavity	नासिका-विवर	Vocal Cords	स्वरतन्त्री
Lips	ओष्ठ	Pharynx	गलबिल
Teeth	दाँत	Tongue	जिह्वा
Larynx	स्वरयंत्र	Palate	मूर्धा

स्वरतन्त्रियों का प्राकृतिक कार्य है—किसी भार आदि को उठाते समय वायु के मार्ग को बन्द करके मानव की शक्ति को बढ़ाना। ध्वनि-उत्पादन स्वरतंत्रियों का एक प्रकार से कृत्रिम और गौण कार्य है। भाषा की उत्पत्ति के साथ स्वरतंत्रियों से यह काम भी लिया जाने लगा। जब स्वरतन्त्रियाँ कठोरता से बन्द होती हैं, तो उस समय कोई श्वास बाहर नहीं आ सकता है। यदि फेफड़े से आने वाली वायु नीचे से जोर मारती है तो घर्-घर् की ध्वनि उत्पन्न होती है। काकल से उत्पन्न ध्वनि को काकल्य स्पर्श (Glottal Stop) कहते हैं। ये ध्वनियाँ कुछ भाषाओं में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

स्वरतंत्रियों के दोनों ओष्ठ (Vocal Cords) अति कोमल और तीव्र गतिशील होते हैं। उच्चारण के समय ये दोनों बन्द और खुलते रहते हैं। इनकी स्वचालित (Automatic) बन्द होने वाले दरवाजे से उपमा दे सकते हैं। प्रत्येक ध्वनि के लिए यह द्वार खुलता और बन्द होता है। एक ध्वनि के उच्चारण के बाद यह द्वार स्वयं बन्द हो जाता है और अगली ध्वनि के लिए फिर तुरन्त खुलता है। ध्वनि के लिए यह एक प्रकार से गेट पास (Gate Pass) का काम करता है। बिना आन्तरिक स्वीकृति के एक भी ध्वनि स्वरतंत्री से बाहर नहीं आ सकती है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अनुभव होगा कि वह क्रोध आदि के आवेश में

कभी कुछ कहना चाहता है, परन्तु आन्तरिक स्वीकृति न मिलने के कारण वह अपने गुस्से को पी जाता है और एक भी अक्षर नहीं बोल पाता। इसका अभिप्राय यह है कि उन ध्वनियों के उच्चारण की स्वीकृति नहीं मिली, अत: वे ध्वनियाँ स्वर-तंत्री से बाहर नहीं आयीं। स्वरतंत्री स्वचालित मशीन के तुल्य अत्यन्त तीव्र गति से कार्य करती है। एक सेकण्ड में ८०० बार तक खुल और बन्द हो सकती है।[1] वैज्ञानिकों ने यन्त्रों की सहायता से स्वरतंत्री के कम्पन की गणना की है। यह प्रति सेकण्ड कम से कम ४२ चक्र और अधिक से अधिक २०४८ चक्र प्रति सेकण्ड हो सकती है। सामान्यतया पुरुषों में बोलचाल के समय कम्पन की गति प्रति सेकण्ड १०९ से १६३ चक्र (Circles) होती है और स्त्रियों में प्रति सेकण्ड २१८ से ३२६ चक्र। उच्चकोटि के वक्ता, अभिनेता और संगीतज्ञों में यह कम्पन भावावेश के अनुसार सामान्य से बहुत अधिक हो जाता है। प्रो० हेफ्नर ने ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान-मंत्री चर्चिल के वाशिंगटन में १९ मई १९५३ ई० के भाषण की चर्चा की है और कहा है कि इसकी परीक्षा से सिद्ध हुआ है कि उनके भाषण के अधिकांश अंशों में स्वरतंत्रियों की गति ११५ से २३० के बीच प्रति सेकण्ड थी।[2]

स्वरतंत्रियों के खुलने, समीप आने, तनने, बन्द होने और अधखुले रहने आदि अवस्थाओं के कारण उनकी लगभग एक दर्जन विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। इनमें कुछ प्रमुख स्थितियों का वर्णन किया जा रहा है—

(१) स्वरतंत्रियों की प्रथम अवस्था वह है, जिसमें स्वरतंत्रियाँ पूर्णरूप से खुली रहती हैं। यह श्वास लेने (Inhalation) की स्थिति है। इस अवस्था में स्वरतंत्रियाँ शिथिल, पृथक् और निष्पन्द रहती हैं।

(२) यह नि:श्वास (Exhalation) की स्थिति है। इसमें स्वरतंत्रियाँ श्वास लेते समय की तुलना में कुछ निकट होती हैं। स्वरतंत्रियों का मुख कुछ कम चौड़ा हो जाता है। ऐसी स्थिति में जो वायु बाहर निकलती है, वह स्वरतंत्रियों से घर्षण नहीं करती है। इस स्थिति में जो ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं, उनको अघोष (Voiceless) कहा जाता है। इससे ज्ञात होता है कि श्वास लेते समय की तुलना में श्वास छोड़ते समय स्वरतंत्रियों का मुख कुछ कम चौड़ा हो जाता है। संस्कृत में इसको विवार (खुली हुई) अवस्था कहा गया है।

(३) इस अवस्था में स्वरतंत्रियाँ एक दूसरे के बहुत समीप आ जाती हैं। वे इतने समीप रहती हैं कि बाहर जाने वाली वायु रगड़ खा कर ही बाहर निकल सकती है। वायु के इस रगड़ के कारण स्वरतंत्रियों में कम्पन होता है। चित्र संख्या-४ में यह स्पष्ट है कि स्वरतंत्री का मुख बन्द रहता है और उसके मध्यभाग में थोड़ा-सा छिद्र होता है, जिससे वायु रगड़ कर निकलती है। संस्कृत में इसको संवार (बन्द) अवस्था कहा जाता है। नाद या घोष ध्वनियाँ इस स्थिति में उच्चरित होती हैं। अंग्रेज़ी में इन ध्वनियों को Voiced कहते हैं।

श्वास और नाद या सघोष और अघोष का अन्तर दो प्रकार से ज्ञात किया जा

---

1. J.D. O'Connor : *Better English Pronunciation*, Cambridge University Press, 1975, p. 19.
2. Heffner : *General Phonetics*, 1950, p. 24.

सकता है—(क) स्वरयंत्र या टेंटुए पर उँगली रखकर। सघोष ध्वनि में स्वरयंत्र में कम्पन होगा और अघोष ध्वनि में कम्पन नहीं होगा। (ख) कानों पर दोनों हाथों को सटाकर रखने से। सघोष ध्वनि में कान में गूँज का अनुभव होगा, अघोष ध्वनि में नहीं। तृतीय अवस्था में स्वरतंत्रियों को कभी कम कड़ा रखा जाता है और कभी अधिक कड़ा। अतः कभी वायु कम तेज निकलती है, कभी अधिक। तनाव की स्थिति के अनुसार कभी कम्पन अधिक होता है, कभी कम। कम्पन के स्वरूप और तीव्रता के आधार पर ध्वनि के आयतन (Volume), तीव्रता (Intensity) और सुर (Pitch) आदि निर्भर होते हैं।

(४) स्वरतंत्रियों को अन्य दो प्रकार से रखने पर दो विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं—

(क) फुसफुसाहट (जपित, उपांशु, Whispered)—इसमें स्वरतंत्रियों का मुख खुला रहता है और पिछला भाग बन्द रहता है। इसमें स्वरतंत्रियों के किनारे पर इतना तनाव रखा जाता है, जिससे कम्पन उत्पन्न न हो सके। फुसफुसाहट की सभी ध्वनियाँ अघोष होती हैं। फुसफुसाहट में तीन कार्य होते हैं—(१) स्वरतंत्रियों में तनाव के कारण कम्पन का अभाव, (२) स्वरतंत्रियों का मुख खुला होना और पीछे के भाग का मिला होना, (३) स्वरतन्त्रियों के ऊपर समानान्तर दो कृत्रिम स्वरतन्त्रियों (False Vocal Cords) की सत्ता और उनके संकीर्ण होने के कारण वायु के मार्ग का अवरुद्ध होना। यदि मुख्य स्वरतंत्रियाँ खुली भी रहती हैं तो उनके ऊपर की कृत्रिम स्वरतंत्रियाँ वायु के मार्ग को खुला रखने या बन्द करने का कार्य करती हैं। वायु-मार्ग को संकीर्ण कर देने से फुसफुसाहट ध्वनि उत्पन्न होती है।

(ख) भनभनाहट या मर्मर (Murmur)—इसमें स्वरतंत्री का मुख घोष ध्वनि वाली स्थिति की अपेक्षा कुछ अधिक चौड़ा होता है और स्वरतंत्रियाँ धीरे-धीरे कम्पित होती हैं तथा अधिकांश वायु को बिना रगड़ के निकल जाने देती हैं। इस प्रकार अर्धनाद युक्त (Half-voice) ध्वनि को भनभनाहट कहते हैं। जब हम धीरे-धीरे बोलते हैं, तब भी सभी सघोष ध्वनियाँ भनभनाहट (Murmur) ध्वनि में परिवर्तित होती रहती हैं। अंग्रेज़ी के Perhaps, Behind आदि में h ध्वनि कभी-कभी अघोष ध्वनि के रूप में उच्चारण की जाती है।

स्वरतंत्रियों के खुला या बन्द रहने के आधार पर ही सघोष-अघोष या श्वासनाद का अन्तर किया जाता है। इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायेगा।

A स्वरतंत्रियाँ खुली

B स्वरतंत्रियाँ बन्द

चित्र-संख्या—४. स्वरयन्त्र की स्थिति
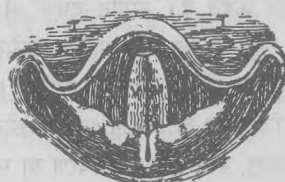
चित्र-परिचय :

A में ऊपरी भाग जीभ है। स्वरतंत्री जीभ की ओर बन्द रहती है अर्थात् टेंटुए की ओर इसका भाग बन्द रहता है। यह स्वरतंत्री का अग्रभाग कहा जाता है। गलनली की ओर यह स्वरतंत्री खुलती बन्द होती है। A में स्वरतंत्री खुली हुई है। यह श्वास लेने या छोड़ने की स्थिति है। इसमें दोनों ओर की स्वरतंत्रियाँ V (Vocal-Cords) द्वारा निर्दिष्ट हैं।

B में स्वरतंत्रियाँ (V) मिली हुई हैं। यह बन्द रहने की स्थिति है। नाद या घोष वर्णों के उच्चारण में इनमें थोड़ा-सा अवकाश (छिद्र स्थान) होता है, जिससे आन्तरिक वायु रगड़कर निकलती है, अतः घोष या नाद (Voiced) ध्वनि उत्पन्न होती है।

१. खुली हुई   २. बन्द   ३. कुछ खुली (नाद, घोष)   ४. फुसफुसाहट

चित्र-संख्या—५. स्वरतंत्रियों की चार स्थितियाँ

चित्र-परिचय :

१. स्वरतंत्रियाँ खुली हुई हैं। श्वास लेने और छोड़ने की स्थिति।

२. स्वरतंत्रियाँ बन्द हैं। आन्तरिक वायु पूर्णतया रुकी हुई है।

३. स्वरतंत्रियाँ टेंटुए की ओर थोड़ी-सी खुली हैं। इस अवकाश के होने से ही नाद या घोष (Voiced) ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।

४. फुसफुसाहट में स्वरतंत्रियों की स्थिति। इसमें गलनली की ओर थोड़ा अवकाश होता है। स्वरतंत्रियों में तनाव के कारण स्पष्ट ध्वनि नहीं निकलती है।

(५) काकल (Glottis), (६) अभिकाकल (Epiglottis)

स्वरतंत्रियों या स्वर-ओष्ठों के बीच में जो खुला अंश रहता है, उसको काकल (Glottis) कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने इसको 'कण्ठ' नाम दिया है। प्राचीन ग्रंथों में इसके नाम 'कंठबिल', 'कण्ठगह्वर' आदि दिये गये हैं। हिन्दी में इसको काकल या कण्ठबिल कहते हैं। 'संगीत-दर्पण' में इसको 'शरीर-वीणा' नाम दिया गया है। श्वास और निःश्वास के लिए यह मार्ग सामान्यतया पूरा खुला रहता है। भाषण के समय यह पूर्ण या अपूर्ण रूप में अवरुद्ध होता रहता है।

जिह्वामूल के निचले भाग में छोटी जीभ के आकार का एक मांसल भाग है। इसे अभिकाकल, स्वरयंत्रमुख-आवरण या स्वरयंत्रावरण कहा जाता है। भोजन या पानी आदि जब मुख से होते हुए भोजन-नलिका के मुख के पास पहुँचता है तो यह अभिकाकल नीचे की ओर झुक कर श्वासनलिका को बन्द कर देता है, जिसके कारण भोजन और पानी

श्वास-नली में न जाकर भोजन-नली में जाता है। यदि भूल से अन्न या पानी इस नली में चला जाय तो तुरन्त मृत्यु हो सकती है।

अत: प्राकृतिक नियम है कि फेफड़े से आने वाली हवा इसको पूरी शक्ति लगा कर बाहर फेंक देती है। यह यंत्र ध्वनि-उत्पादन में सामान्यतया प्रत्यक्ष रूप में सहायक नहीं है, तो भी ध्वनि-यंत्र की रक्षा के कारण अप्रत्यक्ष रूप से ध्वनि-उत्पादन-प्रक्रिया का सहायक है। कतिपय ध्वनि-शास्त्री गाना गाते समय कुछ ध्वनियों पर इसका प्रभाव मानते हैं। प्रो० हेफ्नर नें कुछ स्वरों के उच्चारण में इसका प्रभाव स्वीकार किया है।[1] यद्यपि यह गतिशील नहीं है, फिर भी जिह्वा के साथ स्वरों के उच्चारण में आगे या पीछे होता रहता है। आ के उच्चारण में यह जिह्वा के साथ पीछे हटता है और ई के उच्चारण में उतना ही आगे की ओर बढ़ता है।

(७) गलबिल (Pharynx, फेरिंक्स)

अभिकाकल के ऊपर और नासाविवर के नीचे तथा जिह्वामूल के पीछे की ओर जो खाली स्थान है, उसे कण्ठबिल, कण्ठ, कण्ठमार्ग या उपालि-जिह्वा कहते हैं। यह एक प्रकार से मुख-विवर में एक चौक या चौराहा (Crossing) है। यहाँ से चार मार्ग इधर-उधर जाते हैं—१. मुख-विवर की ओर, २. नासिका-विवर की ओर, ३. श्वासनली की ओर, ४. भोजननली की ओर। जिह्वा के पिछले भाग को ऊपर या नीचे करके विशेष प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं। गलबिल को संकीर्ण करके किसी भी उच्चरित ध्वनि पर प्रभाव डाला जा सकता है। इसी स्थान से होकर अन्दर से आनेवाली वायु मुख-मार्ग या नासिका-विवर से निकलती है।

(८) अलिजिह्वा या कौवा (Uvula, यूव्युला)

जहाँ से नासाविवर और मुख-विवर का रास्ता अलग होता है, उस स्थान पर छोटी जीभ की आकृति का एक गोल मांस-पिण्ड होता है। मुख खोलने पर यह जिह्वा-पश्च के समीप स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। इसको अलिजिह्वा या कौवा कहते हैं। यह कोमल तालु से मिला हुआ उसका अन्तिम भाग है। यह कोमल तालु के साथ ऊपर या नीचे होता रहता है। यह नासिका-मार्ग को उन्मुक्त या अवरुद्ध करने का कार्य करता है। कोमल तालु के साथ अलिजिह्वा या कौवा की तीन अवस्थाएँ हैं—

(१) साधारण अवस्था में यह कोमल तालु के साथ ढीला होकर नीचे लटका रहता है। सामान्य अवस्था में या सोते समय जब मुँह बन्द रहता है, श्वास और नि:श्वास बिना किसी अवरोध के बाहर-भीतर आता-जाता रहता है। कोमल तालु नीचे होने से फेफड़ों से बाहर आने वाली या अन्दर जाने वाली वायु सीधे नाक के मार्ग से बाहर आती-जाती है। सामान्य रूप से श्वास और नि:श्वास में यही स्थिति रहती है। इस अवस्था में 'हाँ', 'हीं', 'हूँ' जैसी ध्वनियाँ निकलती हैं।

---

1. R.M.S. Heffner : *General Phonetics*, p. 19.

(२) इस अवस्था में कौवा तन कर नासिका-मार्ग को रोक देता है और आने या जाने वाली वायु नासिका-मार्ग से न जाकर पूर्णतया मुखविवर से आती-जाती है। सामान्य-तया अनुनासिक ध्वनियों को छोड़कर शेष सभी स्वरों और व्यंजनों का उच्चारण इस दशा में होता है।

(३) इस दशा में कौवा मध्य में रहता है। यह तन कर न नासामार्ग को रोकता है और न ढीला होकर मुख-मार्ग को ही रोकता है, अत: श्वास नासिका और मुख दोनों से एकसाथ निकलता है। इस अवस्था में अनुनासिक स्वरों और नासिक्य व्यंजनों का उच्चारण होता है।

ध्वनि-विज्ञान में द्वितीय और तृतीय स्थितियाँ विशेष सहायक हैं। कुछ भाषाओं में अलिजिह्वीय ध्वनियाँ भी मिलती हैं। इनके उच्चारण में अलिजिह्वा प्रत्यक्ष रूप से सहायक होता है। इनके उच्चारण में कौवा जिह्वापश्च से संयुक्त होता है। यह निम्नलिखित ४ रूपों में सहायक होता है—

(क) कौवा जिह्वापश्च से मिलकर स्पर्श ध्वनि उत्पन्न करता है। जैसे---उर्दू या फारसी की क़ाफ क़ (Q) ध्वनि, क़त्ल आदि।

(ख) कौवा जिह्वापश्च के समीप होकर वायु-मार्ग को अत्यन्त संकीर्ण कर देता है। वायु रगड़ खाकर निकलती है। ऐसी ध्वनियाँ अरबी भाषा में मिलती हैं।

(ग) कौवा जिह्वापश्च के समीप होकर संघर्षी ध्वनि उत्पन्न करता है। जैसे—अरबी या फारसी की ख़ ग़ आदि ध्वनि।

(घ) कौवा जिह्वापश्च या जिह्वामूल से उत्क्षिप्त होकर विशेष ध्वनि उत्पन्न करता है। यह फ्रेंच भाषा की र् ध्वनि है (जो ग़ के तुल्य सुनाई पड़ती है)।

(९) नासाविवर (Nasal Cavity, नेज़ल केविटी)

यह गलबिल से प्रारम्भ होकर नासिका के अग्रभाग तक फैला हुआ है। इसके अन्दर एक विवर है। इस विवर से वायु के निर्गत होने पर अनुनासिक या नासिक्य ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।

(१०) कोमल तालु (Soft Palate, सॉफ्ट पैलेट)

मुखविवर के ऊपर के अंश को ५ भागों में बाँटा जाता है—१. दन्त, २. वर्त्स, ३. कठोर तालु, ४. मूर्धा, ५. कोमल तालु। गलबिल की ओर से आगे आने पर कोमल तालु मिलता है। यह कठोर तालु की समाप्ति से लेकर गलबिल तक फैला हुआ है। यह कोमल मांस-खण्ड के तुल्य है। यदि मुख के अन्दर अँगूठे से मुख के अन्तिम ऊपरी भाग को स्पर्श करें तो ज्ञात होगा कि लगभग ढाई इंच के बाद कठोर तालु समाप्त हो जाता है। वहाँ से कोमल तालु प्रारम्भ होता है। कोमल तालु एक ढक्कन के तुल्य ऊपर-नीचे हो सकता है। यह नीचे होने पर मुखमार्ग को बन्द कर देता है और तन कर ऊपर होने पर नासिका मार्ग को। ध्वनि-विज्ञान में यह एक महत्त्वपूर्ण अवयव है। यह मुख-विवर और नासिकाविवर के मध्य कपाट या ढक्कन के तुल्य कार्य करता है। स्वरों (अ, इ आदि)

और स्पर्श व्यंजनों (क, ख, ग आदि) के उच्चारण में कोमल तालु ऊपर उठ कर नासा-रन्ध्र को बन्द कर देता है, अतः पूरी वायु मुख-मार्ग से निकलती है। नासिक्य ध्वनियों के उच्चारण में कोमल तालु नीचे आ जाता है और मुख-द्वार को बन्द कर देता है, अतः पूरी वायु नासाविवर से ही निकलती है।
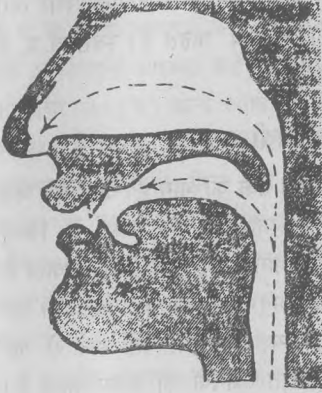
चित्र-संख्या—८. कोमल तालु नीचे झुका है
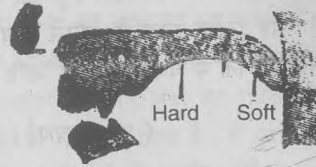
चित्र-संख्या—६. तालु के दो अंग
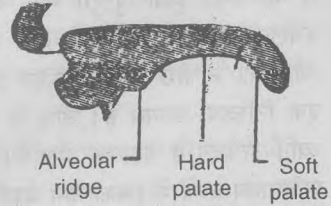
चित्र-संख्या—७. तालु के तीन अंग

चित्र-परिचय :

६. (१) Hard Palate कठोर तालु, (२) Soft Palate कोमल तालु।

७. (१) Alveolar Ridge वर्त्स, (२) Hard Palate कठोर तालु, (३) Soft Palate कोमल तालु।

८. कोमल तालु नीचे की ओर झुका है, इसलिए आन्तरिक वायु मुख-मार्ग और नासामार्ग दोनों ओर से जा रही है।

जागृत अवस्था में कोमल तालु पर नियंत्रण रहता है, परन्तु सुप्त अवस्था में नियंत्रण न रहने के कारण साँस लेते समय यह फड़कता है। इससे खुर्राटे की ध्वनि उत्पन्न होती है। कभी-कभी कौवे में कष्ट होने के कारण कोमल तालु पर नियंत्रण ठीक न होने से अधिकांश ध्वनियाँ अनुनासिक होकर निकलती हैं।

(११) मूर्धा (Cerebrum, सेरिब्रम)

यह कठोर तालु का पीछे की ओर का अन्तिम भाग है। पाश्चात्य भाषाशास्त्री इसको कठोर तालु का ही एक अंश मानते हैं और इसकी पृथक् सत्ता नहीं मानते हैं। टवर्गीय ध्वनियाँ इस स्थान से उच्चरित होती हैं। जीभ को उलट कर इस स्थान पर पहुँचाया जाता है। इससे उच्चरित ध्वनियों को 'मूर्धन्य' कहते हैं।

(१२) कठोर तालु (Hard Palate, हार्ड पैलेट)

कोमलतालु की ओर से आगे बढ़ने पर कठोर अस्थिवाला भाग मिलता है। इसको कठोर तालु कहते हैं। यह वर्त्स से लेकर कोमल तालु तक मुख-विवर के ऊपरी भाग में फैला हुआ है। इस स्थान पर हड्डी के ऊपर पतला मांस का आवरण है, अतः अँगूठे से स्पर्श करने पर यह कठोर हड्डी की तरह प्रतीत होता है। वाग्यन्त्र का यह एक स्थिर अंग है। यह निश्चेष्ट रहता है। इससे उच्चरित ध्वनियों को 'तालव्य' कहते हैं। स्वरों में इ, ई तथा व्यंजनों में चवर्गीय च, छ आदि ध्वनियाँ तालव्य हैं।

(१३) वर्त्स (Alveolus, आलवीअलस)

यह दाँतों के मूल से लेकर कठोर तालु के प्रारम्भ तक का भाग है। दाँतों की जड़ में यह उभरा हुआ खुरदुरा भाग 'वर्त्स' कहलाता है। यह शुद्ध शब्द बर्स्व है, किन्तु प्रचलन के आधार पर इसको वर्त्स कहा जाता है। यह भाग दर्पण में देखा जा सकता है और दाँतों के पीछे उँगली फेर कर इसकी विषमता का अनुभव किया जा सकता है। यह एक निष्क्रिय अवयव है। जीभ के विभिन्न भागों के स्पर्श या समीपवर्ती होने से यह ध्वनि-उत्पादन में सहायक होता है। इस स्थान से उच्चरित ध्वनियों को वर्त्स्य कहते हैं। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में इसका नाम बर्स्व है और इससे उच्चरित ध्वनियों को बर्स्व्य कहते हैं। वर्त्स और वर्त्स्य शब्द आजकल अधिक प्रचलित हैं।

(१४) दन्त (Teeth, टीथ)

दाँतों का ध्वनि-विज्ञान में विशेष महत्त्व है। यद्यपि पाचन-क्रिया के अंग के रूप में इनका अधिक उपयोग होता है, तथापि सामने के ऊपर के दो दाँत ध्वनि-उच्चारण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। नीचे के दाँतों का ध्वनिविज्ञान में बहुत कम उपयोग होता है। ऊपर के दाँत ओष्ठ से या जिह्वा की नोक से मिल कर विभिन्न ध्वनियों के उत्पादन में सहायक होते हैं। अंग्रेज़ी के thin (थिन) के थ् और this (दिस) तथा that (दैट) के द् के उच्चारण में इनका उपयोग स्पष्ट है। नीचे के दाँत S, Z ध्वनियों के उच्चारण में सहायक होते हैं।

दाँत के भी तीन भाग किये जा सकते हैं—अग्र, मध्य और मूल। दाँतों का बाहर निकला हुआ नोकीला भाग अग्र है। पीछे की ओर बीच का भाग मध्य है और पीछे की ओर मसूड़े से मिला हुआ भाग मूल है। इनको दन्ताग्र, दन्त-मध्य और दन्त-मूल कहेंगे। त, द और न के उच्चारण में क्रमशः ये भेद स्पष्ट होते हैं। सामान्यतया तीनों भेदों से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों को दन्त्य (Dental) कहते हैं।

(१५) ओष्ठ (Lips, लिप्स)

यह वाग्यन्त्र का सबसे बाहरी अवयव है। यह एक महत्त्वपूर्ण अंग है। वाग्यन्त्र के अन्य अवयव आच्छादित हैं और यह उनका आच्छादक है। ऊपर और नीचे के ओष्ठों में

से ऊपर के ओष्ठ की अपेक्षा नीचे का ओष्ठ अधिक क्रियाशील है। अतएव ध्वनि-विज्ञान में ओष्ठ शब्द का अभिप्राय नीचे का ओष्ठ ही लिया जाता है। ओष्ठों का निम्नलिखित रूपों में उपयोग किया जा सकता है—

(क) दोनों ओष्ठ पूर्णतया पृथक् और खुले रह सकते हैं। जैसे—संस्कृत या हिन्दी के आ के उच्चारण में। (ख) दोनों ओष्ठ पूर्णतया बन्द हो सकते हैं। जैसे—पद, बक, मग में प, ब, म के उच्चारण में। (ग) दोनों ओष्ठों के मध्य थोड़ा-सा अवकाश रख सकते हैं। इसे अर्धउन्मुक्त अवस्था कहेंगे। जैसे—दीपक बुझाते समय फू के उच्चारण में फ ध्वनि का उच्चारण। (घ) दोनों ओष्ठों को संकुचित करके बाहर की ओर बढ़ा कर गोलाकार अवस्था में रखना। इस अवस्था में कतिपय ध्वनियों का उच्चारण होता है। ये ध्वनियाँ अधिकांशतः अंग्रेज़ी, फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं में मिलती हैं। जैसे—अंग्रेज़ी के Well और Wheel के व् और ह्व् के उच्चारण में। फ्रेंच भाषा के Loup (लू, भेड़िया) और जर्मन के Gut (गुत, अच्छा) के उ के उच्चारण में यह स्थिति होती है। (ङ) नीचे का ओष्ठ ऊपर के दाँतों के पास जाकर छोटा-सा छेद बनाता है। इस अवस्था में फ़ और व ध्वनियाँ निकलती हैं।

ओष्ठ से उत्पन्न ध्वनियों को 'ओष्ठ्य' कहते हैं। ये दो प्रकार की हो सकती हैं—१. द्व्योष्ठ्य (Bilabial) दोनों ओष्ठों के मिलने से, २. दन्तोष्ठ्य (Labiodental) ऊपर के दाँत और नीचे के ओष्ठों के मिलने से।

ओष्ठों को आकार की दृष्टि से ३ भागों में बाँटा जा सकता है—**१. उदासीन स्थिति**—इसमें दोनों ओष्ठ अपनी स्वाभाविक अवस्था में रहते हैं। जैसे—उदासीन स्वर अ (ə) के उच्चारण में। **२. पूर्ण गोलाकार स्थिति**—इसमें दोनों ओष्ठ मिलकर कुछ बाहर की ओर निकले हुए होते हैं। दाँतों के बीच में एक छोटा छिद्र रह जाता है। जैसे—उ, ऊ के उच्चारण में। **३. पूर्ण विस्तृत स्थिति**—इसमें दोनों ओष्ठ तने रहते हैं और इनके दोनों कोण एक-दूसरे से पूर्ण दूरी पर रहते हैं। जैसे—दीर्घ ई के उच्चारण में।

(१६-२०) जीभ (Tongue, टंग)

ध्वनि-विज्ञान में जिह्वा का अत्यन्त महत्त्व है। जिह्वा ही वह साधन है, जिसके द्वारा विभिन्न ध्वनियों का उच्चारण हो पाता है। जिह्वा यद्यपि भोजन खाने में भी रसास्वाद आदि का कार्य करती है, तथापि भाषा उसके लिए अत्यन्त ऋणी है। भाषण-क्रिया में जिह्वा का जितने रूप में सहयोग है, उतने रूपों में अन्य किसी अवयव का नहीं। यही कारण है कि भाषा-सम्बन्धी अधिकांश नाम जिह्वा के आधार पर ही प्रायः रखे गये हैं। जीभ को फ्रेंच में Langue (लांग) और लैटिन में Lingua (लिंग्वा) कहते हैं। इन शब्दों के आधार पर ही Language (लेंग्वेज, भाषा) और Linguistics (लिंग्विस्टिक्स, भाषाविज्ञान) शब्द बने हैं। अरबी भाषा का जबान (भाषा) शब्द वाणी या जिह्वा के आधार पर ही बना है।

यह मुख के निचले भाग में पड़ी रहती है। साधारण अवस्था में यह नीचे ढीली पड़ी होती है। बोलने की अवस्था में यह विभिन्न स्थानों से सम्पर्क करती है और नाना प्रकार की

ध्वनियों का निर्माण करती है। यह दाँत के पास से लेकर गलबिल तक फैली हुई है। रचना के आधार पर इसे पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. जिह्वाणि (जिह्वा की नोक), २. जिह्वाग्र, ३. जिह्वा-मध्य, ४. जिह्वा-पश्च, ५. जिह्वा-मूल। पाश्चात्त्य भाषाशास्त्रियों ने इसके ४ भाग किये हैं—१. जिह्वाणि (Tip of tongue), २. जिह्वाफलक (Blade of tongue), ३. जिह्वाग्र (Front of tongue), ४. जिह्वापश्च (Back of tongue)। पाश्चात्त्य विद्वानों ने जिह्वाग्र के लिए जिह्वाफलक शब्द का प्रयोग किया है और जिह्वा-मध्य को जिह्वाग्र कहा है। उन्होंने जिह्वा-पश्च में ही जिह्वा-पश्च और जिह्वामूल दोनों का समावेश किया है। संस्कृत के भाषाशास्त्रियों ने जिह्वामूल को पृथक् माना है।

चित्र परिचय :

Tip-जिह्वानोक

Blade-जिह्वाफलक

Front-जिह्वाग्र

Back-जिह्वापश्च
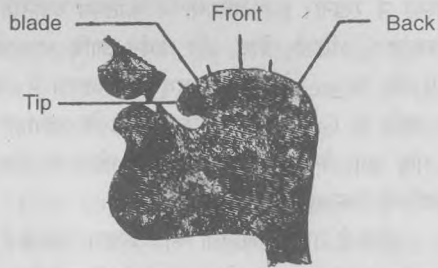
चित्र-संख्या—६. जिह्वा के अंग

(१६) जिह्वाणि, जिह्वानोक (Tip of the Tongue, Apex)—जिह्वा के सबसे आगे के नोकवाले अंश को जिह्वानोक या जिह्वाणि कहा जाता है। संस्कृत में अणि और अणी शब्द सुई आदि की नोक के लिए प्रयुक्त होता है। अतः जिह्वा-नोक के स्थान पर जिह्वाणि शब्द अधिक उपयुक्त है। यह जिह्वा का सबसे अधिक गतिशील अंश है। दाँत में दर्द आदि की स्थिति में यह अंश ही सबसे पहले उस स्थान पर बार-बार पहुँचता है। ध्वनि-उत्पादन में अनेक प्रकार से इसका उपयोग होता है—

१. यह कभी उदासीन रहती है अर्थात् नीचे के दाँतों की जड़ में चिपकी हुई-सी रहती है। जैसे—आ स्वर के उच्चारण में यह नीचे के दाँतों की जड़ में चिपकी रहती है।

२. ऊपर के दाँतों का स्पर्श करती है। इससे त्, थ्, द् आदि ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।

३. वर्त्स का स्पर्श करती है। इससे वर्त्स्य ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे—अंग्रेजी के Two, do में त, द का उच्चारण।

४. आगे के दाँत या वर्त्स के समीप होकर संघर्षी ध्वनियों के उच्चारण में सहायक होती है। जैसे—हिन्दी की स ध्वनि।

५. अन्दर से आने वाली वायु को आलोडित करके एक से अधिक बार हिल कर हिन्दी की र ध्वनि को उत्पन्न करती है।

६. दाँत या वर्त्स के मध्य भाग को स्पर्श करने पर यदि जिह्वा के एक या दोनों भाग उठे रहते हैं, तो पार्श्विक (Lateral) ध्वनि उत्पन्न होती है। जैसे—हिन्दी या अंग्रेजी की ल् ध्वनि।

७. यह ऊपर की ओर मुड़ कर मूर्धन्य ध्वनियों की सृष्टि करती है। जैसे—संस्कृत या हिन्दी की ट, ठ आदि ध्वनियाँ।

जिह्वाणि (Apex) से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों को जिह्वाणीय या जिह्वानोकीय (Apical) कहते हैं।

(१७) जिह्वाफलक (Blade of the Tongue)—जिह्वा क अग्र-बिन्दु से मिला हुआ जो भाग साधारणतया मुख से बाहर निकाला जाता है, उसे जिह्वाफलक कहते हैं। स्वाभाविक स्थिति में यह भाग वर्त्स के ठीक नीचे पड़ता है। यह जिह्वा का आगे की ओर से लगभग आधा इंच अंश है। पाश्चात्त्य-भाषाशास्त्रियों ने इसे जिह्वाफलक या ब्लेड (Blade) नाम दिया है। यह हिन्दी या अंग्रेजी के स (S) के उच्चारण में सहायक होता है।

(१८) जिह्वाग्र (Front of the Tongue)—यह अंश साधारण स्थिति में कठोर तालु के ठीक नीचे पड़ना है। इसको जिह्वाग्र कहा जाता है। यह जिह्वाफलक से लेकर लगभग डेढ़ इंच पीछे फैला होता है। यह भाग तालु में पहुँचकर वायु को पूर्णतया रोक लेता है। इसकी सहायता से उत्पन्न ध्वनियों को तालव्य कहा जाता है। यह विभिन्न रूपों में ध्वनि-उत्पादन में सहायक होता है—

(क) यह तालुप्रदेश में वायु को पूर्ण रूप से रोक कर ञ ध्वनि को उत्पन्न करता है। जैसे—फ्रेंच Agnuau (आञो, भेड़) या इटालियन—Ogni (ओञि, सब) या प्राकृत—राञो (राजा)।

(ख) जिह्वा का मध्य भाग नालिका के रूप में होता है और तालु के कठोर भाग के सामने संकुचित मार्ग बनाकर संघर्षी ध्वनि श और ज उत्पन्न करता है।

(ग) अन्दर से आने वाली वायु को मुखविवर में विभिन्न रूपों में प्रभावित करके इ, ए आदि स्वरों के उत्पादन में सहायक होता है। इन स्वरों के उच्चारण में यह भाग विभिन्न मात्रा में कठोर तालु की ओर अग्रसर होता है। इन स्वरों को अग्र-स्वर कहा जाता है।

(घ) यह अंश कठोर तालु से मिलकर वायु-मार्ग को पूर्णतया बन्द कर देता है। इससे च्, छ् आदि तालव्य ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। फ्रेंच भाषा में भी ऐसी ध्वनियाँ प्राप्य हैं।

(ङ) जब यह अंश कठोर तालु से मिला होता है और जिह्वा के एक या दोनों पार्श्व खुले रहते हैं तो इससे तालव्य पार्श्विक ध्वनि की उत्पत्ति होती है। जैसे—इटालियन भाषा में ग्ल् (gl) ध्वनि और स्पेनिश भाषा में ल्ल् (ll) ध्वनि। इटालियन Egli (एग्लि, वह) और Doglia (डोग्लिया, दुःख), स्पेनिश Llamar (ल्लमार, पुकारना)।

इस स्थान से उत्पन्न ध्वनियों को तालव्य (Palatal) या अग्र्य (Front) कहा जाता है। तालु के अग्र, मध्य और पश्च भाग से उच्चरित ध्वनियों को क्रमशः ताल्वग्रीय (Prepalatal), तालुमध्यीय (Medio-palatal) और तालुपश्चीय (Post-palatal) कहा जाता है।

पाश्चात्त्य विद्वानों ने इसका नाम जिह्वाग्र (Front of the Tongue) दिया है। अतएव इस स्थान से उच्चरित स्वरों को अग्र्य स्वर (Front Vowel) कहा जाता है।

(१९) जिह्वामध्य (Middle of the Tongue)—यह जिह्वाग्र और जिह्वापश्च

के मध्य का भाग है। यह कठोर तालु और कोमल तालु के संधिस्थल के नीचे का भाग है। इसके द्वारा मध्यस्वर या केन्द्रीय स्वरों (Central Vowels) का उच्चारण होता है। ऐसी ध्वनियाँ अंग्रेजी और जर्मन आदि में प्राप्य हैं। ə (उल्टा ई, श्वा, Schwa) का उच्चारण यहीं से होता है।

(२०) जिह्वापश्च, जिह्वामूल (Back of the Tongue, Dorsum, **डोर्सम**, Root of Tongue)—जिह्वामध्य के डेढ़ इंच के बाद जो भाग शेष रहता है उसको पाश्चात्त्य विद्वानों ने जिह्वा-पश्च नाम दिया है। उन्होंने जिह्वापश्च और जिह्वामूल दोनों को एक में ही संग्रह किया है। जिह्वा की साधारण स्थिति में यह अंश कोमल तालु के नीचे पड़ता है। कोमल तालु के विषय में बताया जा चुका है कि इसके साथ ही कौवा भी सम्बद्ध है। यह नासा-विवर के लिए ढक्कन का काम देता है। जिह्वा-पश्च का पिछला भाग कोमल तालु से मिलकर विभिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न करता है।

(क) यह अन्दर से आनेवाली वायु को विभिन्न रूपों में प्रभावित करके उ, ओ आदि स्वर ध्वनियों के उत्पादन में सहायक होता है। मानस्वर के सभी पश्चस्वर (Back Vowels) जिह्वापश्च के ऊपर या नीचे होने से होते हैं।

(ख) यह कोमल तालु के साथ मिलकर कण्ठ्य ध्वनियों क्, ख्, ग् आदि की सृष्टि करता है।

(ग) जिह्वापश्च का अन्तिम भाग अर्थात् जिह्वामूल कोमलतालु और कौवा से मिलकर जिह्वामूलीय, क़्, ख़् आदि ध्वनियों की सृष्टि करता है। उर्दू, फारसी और अरबी में ऐसी जिह्वामूलीय ध्वनियाँ अनेक हैं। ल्क, ल्ग आदि ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा-पश्च ल के उच्चारण करते समय पार्श्व से वायु को निकलने देता है। जैसे—मिल्क (Milk, दूध) या वल्गर (Vulgar, असभ्य) के उच्चारण में ल् ध्वनि का उच्चारण।

(घ) जिह्वापश्च के पार्श्व भाग उठे रहते हैं, नाली-सी बनाते हैं। कौवा उस नाली के सामने लटक कर एक संघर्षी ध्वनि उत्पन्न करता है। जैसे फ्रेंच भाषा का रूज़ (Rouge, लाली) शब्द; यह कुछ गूज-सा उच्चारित होता है।

(ङ) जिह्वापश्च कोमलतालु और कौवा के समीपवर्ती होकर वायु-मार्ग को संकीर्ण करता है। इससे संघर्षी ध्वनि उत्पन्न होती है। ये ध्वनियाँ उर्दू और अरबी के ख़, ग़ के उच्चारण में सुनाई पड़ती हैं।

(च) जिह्वापश्च पीछे की ओर हट कर गलबिल के मार्ग को संकीर्ण करके एक विशेष प्रकार की संघर्षी ध्वनि उत्पन्न करता है। ऐसी एक ध्वनि अरबी में सुनाई पड़ती है।

जिह्वापश्च से उच्चरित ध्वनियों को जिह्वापश्चीय कहा जाता है। इसका प्रचलित नाम कण्ठ्य है। कण्ठ्य के अग्र, मध्य और पश्च स्थानों के भेद से यहाँ से उत्पन्न ध्वनियों को क्रमशः कण्ठाग्रीय (Prevelar), कण्ठमध्यीय (Mediovelar), कण्ठ-पश्चीय (Post-velar) कहते हैं। कण्ठपश्चीय को अलिजिह्वीय (Uvular) भी कहते हैं। गलबिल में उत्पन्न ध्वनियों को जिह्वामूलीय, उपालिजिह्वीय या गलबिलीय (Pharyngal) कहते हैं। जिह्वापश्च से उच्चरित स्वर ध्वनियों को पश्च-स्वर कहा जाता

है। इसमें उ, ओ, आ ध्वनियाँ जिह्वा-पश्च को ऊँचा या नीचा करके उच्चरित होती हैं।

४.१०. वाग्यन्त्र का वर्गीकरण

दो भेद—वाग्यंत्र के समस्त अवयवों को कार्य और उपयोगिता की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जाता है : १. करण (Articulators), २. स्थान (Points of Articulation)।

१. करण (Articulators)—वाग्यन्त्र के उन अवयवों को कहते हैं जो सामान्यतया इधर-उधर गतिशील हो सकते हैं और इस आधार पर वे अपनी विभिन्न स्थितियाँ धारण कर सकते हैं। इस दृष्टि से ओष्ठ और जिह्वा आदि करण कहे जाते हैं। ये अवयव अपने स्थान से हिल सकते हैं। इसी आधार पर जिह्वा के अग्र, मध्य और पश्च भेद किये जाते हैं। इसको ऊँचाई और निचाई के आधार पर संवृत, अर्ध-संवृत, अर्ध-विवृत और विवृत भेद किये जाते हैं। इसी प्रकार ओष्ठ के वृत्ताकार, अवृत्ताकार भेद किये जाते हैं।

२. स्थान या उच्चारण-स्थान (Points of articulation)—वाग्यंत्र के उन अवयवों को कहते हैं, जो अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं और जिह्वा आदि जिन स्थानों के पास जाती है या उनका स्पर्श करती है। दन्त, तालु, मूर्धा आदि इस प्रकार के अवयव हैं। जिह्वा दाँत, तालु, मूर्धा आदि के समीप जाती है या उनका स्पर्श करती है। जिह्वा की यह गतिशीलता न होती तो अनेक ध्वनियों का उच्चारण सम्भव ही न होता। ऊपर के दाँतों को स्थान में लिया जाता है, क्योंकि वे अपने स्थान पर स्थित हैं, उनमें गति नहीं है और जिह्वा करण के रूप में उसका स्पर्श करती है। इन अवयवों का विस्तृत वर्णन यथा-स्थान किया गया है।

४.११. स्वर और व्यंजन (Vowels and Consonants)

नामकरण एवं महत्त्व—ध्वनियों का सबसे प्राचीन और अभी तक प्रचलित वर्गीकरण स्वर और व्यंजन के नाम से मिलता है। आचार्य पतंजलि ने महाभाष्य में स्वर और व्यंजनों के विभाजनों का उल्लेख किया है। स्वरों के विषय में उनका कथन है कि स्वर वे ध्वनियाँ हैं जो स्वयं उच्चरित हो सकती हैं। व्यंजन उन ध्वनियों को कहते हैं जिनका उच्चारण स्वरों की सहायता के बिना नहीं हो सकता है। 'स्वयं राजन्ते इति स्वराः। अन्वग् भवति व्यंजनम् इति' (महाभाष्य १।२।२९-३०)। पतंजलि ने स्वरों की स्वतन्त्र सत्ता मानी है और व्यंजनों को उनके अधीनस्थ कार्यकर्ता माना है। उनका कथन है कि—व्यंजनों की वही स्थिति है जो नटों की स्त्रियों की होती है। नटों की स्त्रियाँ रंगस्थल में यह पूछे जाने पर कि तुम किसकी स्त्री हो? वे प्रत्येक को यह उत्तर देती हैं कि हम तुम्हारी हैं। इसी प्रकार व्यंजन भी जिस स्वर से सम्बद्ध होते हैं, उसी के अनुकूल कार्य करते हैं।

व्यंजनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद् यथा नटानां स्त्रियो रंगगता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तं तवेत्याहुः। एवं व्यंजनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते। (महाभाष्य ६।१।२)

स्वर और व्यंजनों की इस उच्चता और नीचता का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है।[1] याज्ञवल्क्य-शिक्षा[2] और वृत्तित्रयवार्तिक आदि ग्रन्थों में यही भाव व्यक्त किया गया है।

पतंजलि ने स्वरों की प्रधानता और व्यंजनों की अप्रधानता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। उनका कथन है कि स्वर के बिना व्यंजन का उच्चारण नहीं हो सकता है।

न पुनरन्तरेणाचं व्यंजनस्योच्चारणमपि भवति।

आचार्य पतंजलि के इस कथन से वर्तमान भाषाशास्त्री अधिकांशतः सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि कुछ भाषाओं में ऐसी ध्वनियाँ हैं, जो स्वर-रहित हैं और बोली जाती हैं। जैसे—अंग्रेजी में शोर करते हुए बालकों को रोकने के लिए श् कहा जाता है। इसी प्रकार चेक भाषा का एक पूरा वाक्य उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें एक भी स्वर नहीं है। Strc prst Skrz Krk (अपने गले में उँगली दबाओ)। अफ्रीका की इबो भाषा में भी इसी प्रकार का ५ व्यंजनों वाला एक शब्द मिलता है, जिसमें कोई स्वर नहीं है—ng ng n (पार्सल)।

जिन भाषाशास्त्रियों ने इस पर आक्षेप किया है, उनका विचार पूर्णतया उचित नहीं है। पतंजलि ने संस्कृत-भाषा के परिप्रेक्ष्य में ये बातें कही हैं। केवल व्यंजन वाले शब्द संस्कृत में नहीं हैं। भट्टोजि दीक्षित ने मनोरमा में यह संकेत किया है कि व्यंजन-ध्वनियों का स्वतंत्र रूप से उच्चारण किया जा सकता है, परन्तु ऐसा उच्चारण सरल नहीं है।

स्वर और व्यंजन के विभाजन के विषय में यह तथ्य विशेष रोचक है कि पतंजलि के समकाल में हुए यूनानी वैयाकरण डियोनिसियस थ्राक्स ने भी स्वर और व्यंजन के रूप में ध्वनियों का विभाजन किया है। उनका कथन है कि—स्वर वे ध्वनियाँ हैं, जिनका उच्चारण बिना अन्य किसी ध्वनि की सहायता के किया जा सकता है। व्यंजन उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनका उच्चारण स्वरों की सहायता के बिना नहीं किया जा सकता है। पतंजलि और थ्रेक्स ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में हुए थे।

स्वर और व्यंजन शब्द—स्वर शब्द स्वृ धातु से बना है। (स्वृ शब्दोपतापयोः, अर्थात् शब्द करना)। ऋग्वेद में यह शब्द ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बाद में स्वर शब्द का प्रयोग उदात्त आदि स्वरों के लिए हुआ है और फिर यह स्वर और व्यंजन भेद में से स्वरों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार व्यंजन शब्द वि + अञ्ज् + ल्युट् (अन) अर्थात् वि उपसर्गपूर्वक अञ्ज् धातु से बना है। (अञ्ज् व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति-गतिषु) अञ्ज् धातु का अर्थ है—व्यक्त होना या प्रकट होना। ऐतरेय आरण्यक में सम्भवतः सर्वप्रथम स्वर-व्यंजन के भेद का स्पष्ट उल्लेख है।

---

१. यः स्वयं राजते तं तु स्वरमाह पतंजलिः।
उपरिस्थायिना तेन व्यंग्यं व्यंजनमुच्यते॥

२. दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान् नृपः।
दुर्बलं व्यंजनं तद्वद् हरते बलवान् स्वरः॥ (याज्ञवल्क्य शिक्षा)

स्वर और व्यंजन की परिभाषा

दोनों की संक्षिप्त परिभाषा निम्नलिखित है—

'स्वर वह ध्वनि है, जिसके उच्चारण में वायु अबाध गति से मुख-विवर से बाहर निकलती है।'

'व्यंजन वह ध्वनि है, जिसके उच्चारण में वायु अबाध गति से बाहर नहीं निकल पाती।'

स्वर और व्यंजन की विस्तृत परिभाषा ब्लाख और ट्रेगर ने इस प्रकार दी है—

1. 'A VOWEL is a sound for whose production the oral passage is unobstructed, so that the air current can flow from the lungs to the lips and beyond without being stopped, without having to squeeze through a narrow constriction, without being deflected from the median line of its channel, and without causing any of the supraglottal organs to vibrate; it is typically but not necessarily voiced'.

2. 'A CONSONANT, conversely, is a sound for whose production the air current is completely stopped by an occlusion of the larynx or the oral passage, or is forced to squeeze through a narrow constriction, or is deflected from the median line of its channel through a lateral opening, or causes one of the supraglottal organs to vibrate.' (*Outlines of Linguistic Analysis*, p.18)

"**स्वर,** उन ध्वनियों को कहते हैं, जो मुख में किसी प्रकार अवरुद्ध हुए बिना उच्चरित होते हैं। फेफड़ों से आनेवाली वायु ओष्ठ और उससे आगे तक कहीं अवरुद्ध नहीं होती। इसको कहीं बहुत संकीर्ण मार्ग से नहीं निकलना पड़ता है। यह मुख-विवर की स्वर-सीमा से ऊपर नहीं जाती है और इसमें स्वरतंत्री से ऊपर वाले किसी वाग्-अवयव में कम्पन नहीं होता है। यह साधारणतया घोष ध्वनि होती है। परन्तु ऐसा अनिवार्य नहीं है।"

"**व्यंजन,** वह ध्वनि है, जिसके उच्चारण में फेफड़ों से आनेवाली वायु स्वरतंत्री या मुखमार्ग में कहीं पूर्णतया रोकी जाती है, या अत्यन्त संकुचित मार्ग से निकलती है, या मुख-विवर की स्वर-सीमा से हटते हुए जिह्वा के एक या दोनों ओर से निकलती है या स्वरतंत्री से ऊपर वाले किसी वाग्-अवयव में कम्पन पैदा करती है।"

अधिकांश भाषा-शास्त्रियों स्वीट, पाल, डेनियल जोन्स आदि ने यह परिभाषा स्वीकार की है। इन्होंने स्पष्ट किया है कि स्वर और व्यंजन की यह परिभाषा तथा विभाजन-रेखा पूर्णतया संतोषजनक नहीं है। क्योंकि, कुछ ध्वनियाँ ऐसी हैं, जिनमें यह लक्षण पूरा नहीं घटता है। ईश और ऊसर आदि में ई और ऊ ध्वनियाँ जिह्वा के अग्र और पश्च भाग को काफी ऊँचा उठाने पर बोली जाती हैं। इनको थोड़ा-सा और ऊपर उठा दें तो ऊपरी भाग के समीप पहुँच कर रुकावट पैदा करते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि

ई और ऊ की तुलना में व्यंजन ह के उच्चारण में अवरोध कम है। केनियन का कहना है कि ल की अपेक्षा ई में अवरोध अधिक है। यहाँ अवरोध से अभिप्राय मुख-विवर में होनेवाले अवरोध से है, स्वरतंत्री में होने वाले अवरोध से नहीं।

स्वर-सीमा—मुख-विवर में यह एक काल्पनिक सीमा मानी जाती है। यह मुख-विवर के ऊपरी भाग के नीचे लगभग २ मिलीमीटर से गुजरती है। यदि जिह्वा को थोड़ा और ऊपर उठायेंगे तो अन्तस्थ की सीमा होगी और जीभ को ऊपर स्पर्श करने पर स्पर्श की सीमा होती है। इस स्वर सीमा से ऊपर यदि जीभ चली जायेगी तो वह ध्वनि स्वर न होकर व्यंजन हो जायेगी। काल्पनिक होने पर भी उपयोगिता और समझाने की दृष्टि से यह रेखा स्वीकार की जाती है।

स्वर और व्यंजन में अन्तर—स्वर और व्यंजन की परिभाषा में विशेष अन्तर यह बताया गया है कि मुख-विवर में वायु स्वर में अबाध रहती है और व्यंजन ध्वनि में सबाध रहती है। स्वर और व्यंजन में दूसरा भेद यह है कि दोनों की मुखरता (Sonority) में अन्तर होता है। जो ध्वनि अधिक दूर तक सुनायी देती है वह उतनी अधिक मुखर मानी जाती है। सामान्य एवं वैज्ञानिक परीक्षणों से यह सिद्ध हो चुका है कि व्यंजनों की अपेक्षा स्वर अधिक मुखर होते हैं। अतएव संगीतज्ञ साधना के समय अलाप में क······क······क······का अलाप न करके आ······आ······ का अलाप करते हैं।

मुखरता की दृष्टि से स्वरों और व्यंजनों का निम्नलिखित क्रम माना जाता है। इसमें उत्तरोत्तर अधिक मुखर ध्वनियों का उल्लेख है।

१. अत्यल्प मुखर अघोष ध्वनियाँ—क, त, प।

२. इससे अधिक मुखर सघोष ध्वनियाँ—ग, द, ब।

३. इससे अधिक मुखर नासिक्य एवं पार्श्विक ध्वनियाँ—ङ, ञ, म, न, ल्।

४. इससे अधिक मुखर लुंठित ध्वनि—र।

५. इससे अधिक मुखर संवृत स्वर ध्वनियाँ—ई, ऊ।

६. इससे अधिक मुखर विवृत स्वर ध्वनि—आ।

आक्षरिक ध्वनियाँ—प्रो० हेफ्नर (Prof. Heffner, R.M.S.) ने मुखरता को आधार मानकर ध्वनियों को आक्षरिक (Syllabic) और अनाक्षरिक (Non-syllabic) दो भागों में विभक्त किया है। उन्होंने स्वर और व्यंजन के स्थान पर आक्षरिक और अनाक्षरिक नाम से इनका वर्गीकरण किया है। आक्षरिक वे ध्वनियाँ हैं जो बलाघात (Stress) को वहन कर सकती हैं। इस प्रकार बलाघात को वहन करने के कारण स्वर ध्वनियाँ आक्षरिक हैं तथा व्यंजन ध्वनियाँ अनाक्षरिक में आती हैं। सामान्यतया ध्वनि के उच्चारण में स्वरों पर ही बलाघात किया जाता है। कुछ भाषाओं में व्यंजन ध्वनियाँ भी आक्षरिक हैं। जैसे संस्कृत में र और ल ध्वनि। L, M, N अंग्रेजी में भी कुछ शब्दों में आक्षरिक हैं। इसी प्रकार चेक और पुरानी सूडानी भाषाओं में R आक्षरिक है। ब्लाख और ट्रेगर का कथन है कि उच्च स्वरों की अपेक्षा निम्न स्वर अधिक स्पष्टतया श्रव्य होते हैं। इसी प्रकार व्यंजनों की अपेक्षा स्वर की श्रव्यता अधिक

है। इसी मुखरता के आधार पर आक्षरिक-ध्वनियों की गणना एवं उनका वर्णन किया जाता है।[1]

अर्धस्वर या अन्तस्थ (Semivowels)

स्वर और व्यंजन के बीच में कुछ और ध्वनियाँ हैं, जिनको हम अर्ध-स्वर कहते हैं। संस्कृत में इनको अन्तस्थ कहा जाता है। अन्तस्थ का अभिप्राय यह है कि ये ध्वनियाँ न तो स्वर की तरह पूर्णतया अवरोध-रहित हैं और न व्यंजन की तरह पूर्णतया अवरुद्ध। ये ध्वनियाँ य, व हैं, (यरलवा अन्तस्थाः)। र और ल अत्यन्त मुखर होने के कारण आक्षरिक माने जाते हैं और ये स्वरों के अत्यन्त समीप हैं। संस्कृत के य और व तथा अंग्रेजी के Y, W अर्धस्वर हैं। ब्लाख और ट्रेगर ने अर्ध-स्वर के चार भेद दिये हैं तथा इनके उपभेदों का भी विस्तार से वर्णन किया है।[2] अर्ध-स्वरों की दो विशेषताएँ हैं—१. ये स्वरों के तुल्य मुखर नहीं होते, अपितु व्यंजनों के तुल्य अत्यल्प मुखर हैं। २. ये स्वरों के तुल्य बलाघात को वहन नहीं कर सकते हैं, अपितु व्यंजनों के तुल्य बलाघात-रहित रहते हैं।

ब्लाख और ट्रेगर ने अर्धस्वर य् और व् के सघोष और अघोष दो भेद और माने हैं।[3]

४.१२. वैदिक-ध्वनियाँ

वैदिक संस्कृत में निम्नलिखित ५२ ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं—

स्वर

मूलस्वर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ओ = ११

संयुक्त स्वर—ऐ (अइ), औ (अउ) = २

व्यंजन

स्पर्श—	क्	ख्	ग्	घ्	ङ्	(कण्ठ्य)	
	च्	छ्	ज्	झ्	ञ्	(तालव्य)	
	ट्	ठ्	ड् (ळ)	ढ् (ळ्ह)	ण्	(मूर्धन्य)	
	त्	थ्	द्	ध्	न्	(दन्त्य)	
	प्	फ्	ब्	भ्	म्	(ओष्ठ्य)	= २७

अन्तस्थ— य् र् ल् व् = ४

अघोष संघर्षी—श् ष् स् = ३

घोष ऊष्म—ह = १

अघोष ऊष्म— : (विसर्ग), ᳵक् (जिह्वामूलीय), ᳶप् (उपध्मानीय) = ३

शुद्ध अनुनासिक— (अनुस्वार) = १

= ५२

1. B. Bloch and G. Trager : *An Outline of Linguistic Analysis*, p. 22.
२. वही, पृष्ठ २३।
३. वही, पृष्ठ २४।

४.१३. संस्कृत-ध्वनियाँ

संस्कृत में ४८ ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं, वे ये हैं—

स्वर

मूलस्वर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ओ	=	११
संयुक्त स्वर—ऐ (अइ), औ (अउ)	=	२

व्यंजन

स्पर्श—क्	ख्	ग्	घ्	ङ्	(कण्ठ्य)		
च्	छ्	ज्	झ्	ञ्	(तालव्य)		
ट्	ठ्	ड्	ढ्	ण्	(मूर्धन्य)		
त्	थ्	द्	ध्	न्	(दन्त्य)		
प्	फ्	ब्	भ्	म्	(ओष्ठ्य)	=	२५
अन्तस्थ—य् र् ल् व्						=	४
अघोष संघर्षी—श् ष् स्						=	३
घोष ऊष्म—ह						=	१
अघोष ऊष्म— : (विसर्ग)						=	१
शुद्ध अनुनासिक— ं (अनुस्वार)						=	१
							४८

४.१४. हिन्दी-ध्वनियाँ

हिन्दी में निम्नलिखित ५४ ध्वनियाँ प्रचलित हैं—

स्वर

मूलस्वर—अ आ इ ई उ ऊ ए ओ	=	८
ऐ (अइ), औ (अउ)	=	२

व्यंजन

स्पर्श— क् (क़्)	ख्	ग्	घ्		
ट्	ठ्	ड्	ढ्		
त्	थ्	द्	ध्		
प्	फ्	ब्	भ्	=	१७
संघर्षी—ह, ख़्, ग़्, स्, श्, ज़्, फ़्, व़्				=	८
स्पर्श-संघर्षी—च्, छ्, ज्, झ्				=	४
अनुनासिक—ङ्, (ञ्), ण्, न्, न्ह, म्, म्ह				=	७
पार्श्विक—ल्, (ल्ह)				=	२
लुंठित—र् (र्ह)				=	२
उत्क्षिप्त—ड़, ढ़				=	२
अन्तस्थ—य्, व्				=	२
					५४

हिन्दी-ध्वनियाँ

हिन्दी-ध्वनियों का वर्गीकरण

(अ०=अल्पप्राण, म०=महाप्राण)

		स्थान								
प्रयत्न		द्व्योष्ठ्य	दन्त्योष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	तालव्य	मूर्धन्य	कण्ठ्य	जिह्वामूलीय	स्वरयंत्रमुखी
(व्यंजन)										
स्पर्श	अ०	प् ब्		त् द्			ट् ड्	क् ग्	क़्	
,,	म०	फ् भ्		थ् ध्			ठ् ढ्	ख् घ्		
स्पर्श संघर्षी	अ०					च् ज्				
,,	म०					छ् झ्				
अनुनासिक	अ०	म्			न्	ञ्	ण्	ङ्		
,,	म०	म्ह्			न्ह्					
पार्श्विक	अ०				ल्					
,,	म०				(ल्ह)					
लुंठित	अ०				र्					
,,	म०				(र्ह)					
उत्क्षिप्त	अ०						ड़्			
,,	म०						ढ़्			
संघर्षी			फ़् व़्		स् ज़्	श्			ख़् ग़्	ह ह् (:)
अर्धस्वर			व्			य्				
(स्वर)										
संवृत						ई		ऊ		
						इ		उ		
अर्धसंवृत						ए		ओ		
						(ऍ)	(अॅ)	(ऑ)		
अर्धविवृत							अ			
विवृत								ऑ		
								आ		

४.१५. स्वरों का वर्गीकरण

स्वरों का वर्गीकरण निम्नलिखित आधारों पर किया जाता है। इनमें से प्रथम तीन आधार मुख्य हैं, शेष गौण हैं।

१. जिह्वा का कौन-सा भाग करण (Articulator) **के रूप में प्रयुक्त होता है?**—स्वर के लक्षण में बताया गया है कि अन्दर से आनेवाली वायु मार्ग में कहीं अवरुद्ध नहीं होती है। मुख में हवा के गूँजने पर उनका स्वरूप निर्भर होता है। इस गूँजने के लिए मुख-विवर अनेक रूप धारण करता है। जिह्वा इस कार्य में सहायक होती है। जिह्वा का अग्र, मध्य या पश्च भाग विभिन्न स्थितियों में उठकर इसमें सहायक होता है। इसके आधार पर ही स्वरों को अग्र, मध्य या पश्च कहा जाता है, जैसे—हिन्दी में इ, ई, ए अग्र स्वर हैं, उ, ऊ आ पश्च स्वर हैं और अ मध्य स्वर है।

२. जिह्वा के व्यवहृत भाग की ऊँचाई—मुख-विवर के नीचे से ऊपर तक के अंश को समानान्तर तीन भागों में बाँटा गया है। इस प्रकार जिह्वा के ऊपर जाने और आने की दृष्टि से चार भाग होते हैं। जिह्वा जब बहुत ऊपर उठी होती है तो मुख-विवर का मार्ग सँकरा हो जाता है। इस स्थिति को संवृत कहते हैं। यदि जीभ अपने स्थान पर निश्चेष्ट पड़ी हो तो मुख-विवर पूरा खुला हुआ होगा। इस अवस्था को विवृत (खुला हुआ) कहेंगे। नीचे से ऊपर की ओर एक तिहाई भाग ऊपर उठने पर मुख-विवर कुछ कम खुला हुआ होगा, इस स्थिति को अर्ध-विवृत (अध-खुला) कहते हैं। इसी प्रकार ऊपर की ओर से एक तिहाई अंश नीचे होने पर मुख-विवर कुछ कम सँकरा होगा। इस स्थिति को अर्ध-संवृत (आधा बन्द) कहते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी में आ विवृत स्वर है। अ अर्धविवृत स्वर है। ए और ओ अर्धसंवृत स्वर हैं। ई, ऊ संवृत स्वर हैं।

३. ओष्ठों की स्थिति—ओष्ठों की स्थिति के आधार पर स्वरों का स्वरूप निर्धारित होता है। ओष्ठों के स्वरूप के दो मुख्य भेद हैं—१. वृत्ताकार या गोलित (Rounded)। इसको वृत्तमुखी भी कहते हैं। २. अवृत्ताकार या अगोलित (Unrounded)। इसको अवृत्तमुखी भी कहते हैं। आकृति के आधार पर ओष्ठ के अन्य भेद भी किये गये हैं। जैसे—विस्तृत (ई), पूर्ण विस्तृत (ए), स्वल्पवृत्ताकार (ऑ), पूर्णवृत्ताकार (ऊ), उदासीन (अ) आदि।

४. अनुनासिकता या कोमल तालु की स्थिति (Nasalization)—कोमल-तालु और कौवा के विषय में उल्लेख किया गया है कि ये दोनों नासिका-विवर को कभी पूर्णतया बन्द कर देते हैं और कभी मध्य में रहते हैं, जिससे वायु मुख और नासिका दोनों मार्गों से निकलती है। इसके आधार पर सभी स्वरों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—**१. अननुनासिक या निरनुनासिक**—जिनमें नासारंध्र की सहायता नहीं है। जैसे—मौलिक स्वर अ, आ, इ, ई आदि। **२. अनुनासिक**—जब वायु मुख और नासा दोनों मार्ग से निकलेगी तो वे ध्वनियाँ अनुनासिक हो जायेंगी। जैसे—अँ, आँ, इँ, ईं, आदि। इस प्रकार प्रत्येक स्वर के दो रूप हैं—अनुनासिक और अननुनासिक।

अनुनासिकता भी दो रूपों में प्राप्त होती है—१. पूर्ण अनुनासिक—जैसे हँसी में ह में अँ। २. अपूर्ण अनुनासिक—जैसे नाम् में अर्ध म् के कारण पूर्ववर्ती आ की मात्रा।

५. मूर्धन्यता (Retroflection)—अग्र स्वर, मध्य-स्वर और पश्च-स्वरों के उच्चारण में जिह्वा के अग्र, मध्य और पश्च भाग कार्य करते हैं। इस स्थिति में सामान्यतया जिह्वाणि या जिह्वानोक (Apex) निश्चेष्ट रहता है और वह नीचे दाँतों के पीछे पड़ा रहता है। जिह्वाणि की विशेषता है कि वह किसी भी स्थिति में तालु या मूर्धा की ओर मुड़ सकता है। ऐसी स्थिति में जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें मूर्धन्य कहते हैं। इसके लिए स्वर के नीचे एक बिन्दु लगा दिया जाता है। इस प्रकार सभी स्वर-ध्वनियाँ मूर्धन्यीकृत या अमूर्धन्यीकृत इन दो भागों में विभक्त हो सकती हैं।

मूर्धन्यीकृत ध्वनियाँ अमेरिकी अंग्रेजी में प्राप्त होती हैं।

६. तनाव या दृढ़ता की स्थिति (Tension)—मुख की मांसपेशियों तथा अन्य अवयवों में कभी तनाव की स्थिति होती है, कभी शिथिलता की। तनाव या दृढ़ता की स्थिति को दृढ़ (Tense) और तनावहीनता को शिथिल (Lax) कहते हैं। इस दृष्टि से भी स्वरों के दो भेद किये जा सकते हैं। अ, इ, उ आदि शिथिल स्वर हैं। आ, ई, ऊ आदि दृढ़ स्वर हैं। भाषावैज्ञानिकों ने अन्वेषण के बाद यह सिद्ध किया है कि अंग्रेजी की स्वर ध्वनियों की अपेक्षा फ्रेंच स्वरों के उच्चारण में मांस-पेशियों में कठोरता रहती है। वह दृढ़ता समकक्ष अंग्रेजी ध्वनियों में नहीं पायी जाती है। अंग्रेजी के इ और ई की अपेक्षा फ्रेंच भाषा के इ और ई अधिक तनाव के साथ बोले जाते हैं।

७. घोष और अघोष (Voiced, Voiceless) **या स्वरतंत्रियों की स्थिति**—स्वरतंत्रियों के वर्णन में उल्लेख किया गया है कि स्वरतंत्रियाँ एक रूप में नहीं रहती हैं। वे कभी खुली रहती हैं। उस अवस्था में अन्दर से आनेवाली वायु बिना किसी रगड़ या घर्षण के बाहर निकलती है। ऐसी ध्वनियों को अघोष या श्वास (Voiceless) ध्वनियाँ कहते हैं। कभी स्वरतंत्रियों का मुख बन्द रहता है, अन्दर से आनेवाली वायु घर्षण के साथ छोटा छिद्र बनाकर निकलती है, इन ध्वनि को घोष या नाद ध्वनि (Voiced) कहा जाता है। इस प्रकार सभी स्वर घोष या अघोष दो भागों में विभक्त हो सकते हैं। स्वरतंत्रियों की स्थिति के आधार पर जपित और मर्मर ध्वनियाँ भी उत्पन्न होती हैं।

८. मात्रा—मात्रा के आधार पर स्वरों का स्वरूप निश्चित किया जाता है। संस्कृत के स्वरों के ह्रस्व (अ), दीर्घ (आ), प्लुत (आ०३, ओ३म्) ये तीन भेद किये गये हैं। अंग्रेजी, हिन्दी आदि में मात्रा के आधार पर अन्य भेद भी किए गये हैं। जैसे—अर्ध ह्रस्व (उदासीन स्वर अॅ), ह्रस्व ए, ह्रस्व ओ आदि।

९. मूलस्वर एवं संयुक्त स्वर—एक स्थान या अनेक स्थान से उच्चारण की दृष्टि से स्वरों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। १. मूलस्वर (Pure Vowel, Monophthong), इनके उच्चारण में जीभ किसी एक स्थान पर रहती है। जैसे अ, आ, इ, ई आदि। २. कुछ ध्वनियाँ संयुक्त स्वर (Diphthong) हैं, इनके उच्चारण में जीभ एक स्वर के उच्चारण स्थान से दूसरे उच्चारण स्थान की ओर जाती है। जैसे—ऐ

और औ का अइ और अउ के रूप में उच्चारण होता है, अतः इन्हें संयुक्त स्वर या मिश्र स्वर कहा जाता है।

मानस्वर (Cardinal Vowels)

मानस्वरों को अंग्रेजी में Cardinal Vowels (कार्डिनल वावेल्स) कहा जाता है। इनको हिन्दी में आधार स्वर, आदर्श स्वर, प्रधान स्वर, मूल स्वर, मानक स्वर आदि कहा जाता है।

मानस्वरों का संक्षिप्त इतिहास—वर्तमान समय में मानस्वरों के अध्ययन का कार्य सर्वप्रथम १६५३ के लगभग ज़ान वलिस ने किया था। एक स्वाबियन विद्वान् हेलबैग ने १७८० ई० के लगभग उच्चारण स्थानों के आधार पर एक स्वर-त्रिभुज बनाया था। इसी स्वर त्रिभुज को बाद में डेनियल जोन्स (Daniel Jones) ने स्वर-चतुर्भुज के रूप में प्रस्तुत किया। डेनियल जोन्स द्वारा प्रस्तुत किया हुआ स्वर-चतुर्भुज वर्तमान समय में सबसे अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय हुआ। यद्यपि यह चतुर्भुज है, फिर भी प्राचीन स्वर-त्रिभुज नाम के आधार पर आज भी स्वर-त्रिभुज कहा जाता है।
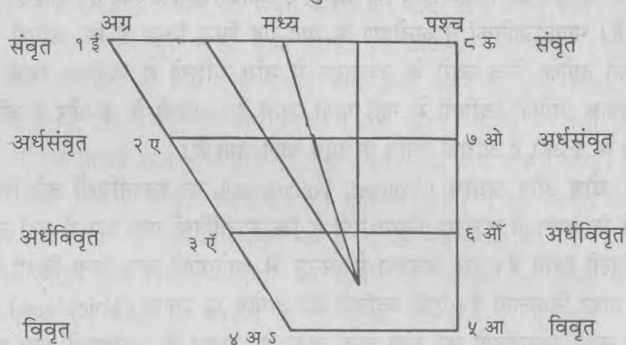
चित्र-संख्या—१०. मानस्वरों की स्थिति

मानस्वरों का स्वरूप—मानस्वरों के विषय में स्मरण रखना चाहिए कि इनका सम्बन्ध विश्व की किसी विशेष भाषा से नहीं है। ये स्वरों के स्थान के निर्णय के लिए निश्चित मानदण्ड या मापक हैं। इसमें जिह्वा के अग्र, मध्य और पश्च भाग को ध्यान में रखा गया है और जिह्वा की ऊँचाई-निचाई के आधार पर संवार विवार आदि भेद किये गये हैं। इस प्रकार के विभाजन से आठ मूल स्वर माने जाते हैं। इनके उदाहरण आगे दिये गये हैं, वे विषय को स्पष्ट करने के लिए दिये गये हैं। इनको पूर्णतया शुद्ध नहीं माना जा सकता है। चित्र-संख्या-१० में अग्र से अभिप्राय है—जिह्वा का अग्रभाग। पाश्चात्त्य विद्वानों ने जिह्वा-मध्य को जिह्वाग्र कहा है। इससे उत्पन्न होनेवाली ध्वनियों को अग्र-स्वर (Front-Vowels) कहा जाता है। इनके उच्चारण में जिह्वा का मध्यभाग ऊपर या नीचे होता है। इसके विपरीत पश्च-स्वरों के उच्चारण में जिह्वा का पिछला या जिह्वापश्च भाग ऊपर या नीचे होता है। इससे उत्पन्न स्वरों को पश्च-स्वर कहा जाता है। जिह्वा के अग्र और पश्च भागों के बीच

में जो भाग है, उसे मध्य कहा जाता है। कुछ भाषाओं में इस स्थान से भी ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं। इनको मध्य-स्वर (Central Vowel) कहा जाता है।

यहाँ यह स्मरण रखना उचित है कि स्वरों के उच्चारण में जिह्वा एक निश्चित स्थान तक ही ऊपर जा सकती है। इस निश्चित स्थान को हम स्वर-सीमा नाम से सम्बोधित करते हैं। यद्यपि यह सीमा काल्पनिक है, परन्तु तथ्यों के अनुसार वास्तविक है। जिह्वा का अग्र, मध्य या पश्च कोई भी भाग इससे थोड़ा भी ऊपर जाएगा तो वह स्वर नहीं रह जायेगा। वह अर्ध-स्वर या स्पर्श-व्यंजन हो जायेगा। जिस प्रकार उपयोगिता की दृष्टि से स्वर-सीमा की कल्पना की गयी है, इसी प्रकार जिह्वा के निम्न-स्तर स्वर-सीमा तक को बराबर के तीनों भागों में बाँटा गया है। इनकी दूरी बराबर मानी गयी है। इस आधार पर अग्र और पश्च स्वरों के चार-चार भेद होते हैं, जो आगे चित्र संख्या ११ में स्पष्ट किये गये हैं। यह विभाजन भी यद्यपि काल्पनिक है, परन्तु जिह्वा की ऊँचाई और निचाई के लिए मानदण्ड हैं। शिक्षण और प्रयत्न के द्वारा इन विभिन्न ऊँचाइयों का ज्ञान होता है। ब्लाख और ट्रेगर ने अमेरिकी ध्वनि-शिक्षा के अनुसार इस चार के मध्य में और तीन अवान्तर भेद किये हैं। इस प्रकार उन्होंने जिह्वा के निम्न स्तर से स्वर-सीमा तक के सात भाग किये हैं। परन्तु ये ७ विभाग सामान्यतया अधिक उपयोग में नहीं आते हैं, केवल शिक्षण और ज्ञान के लिए इनकी उपयोगिता है। पूर्वोक्त ४ विभाग अधिकांश भाषाओं में पाये जाते हैं, अतः उन्हें अपनाया जाता है।

उपर्युक्त चार भाग संवृत, अर्धसंवृत, अर्धविवृत और विवृत तथा अग्र, मध्य और पश्च विभाजन के द्वारा यह लाभ होता है कि किसी भी भाषा की कोई ध्वनि मानस्वरों के निर्धारित स्थान से कितना नीचे या ऊँचे है। उतना नीचे या ऊँचे जीभ को रखकर हम उच्चारण करेंगे तो वही ध्वनि निकलेगी। आगे दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट होगा कि संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, जर्मन और फ्रेंच की ई और ऊ ध्वनियाँ बराबर नहीं हैं और समान ऊँचाई से नहीं बोली जाती हैं। हिन्दी और अंग्रेजी की ई और ऊ ध्वनियाँ जर्मन और फ्रेंच की ई और ऊ ध्वनि से कुछ शिथिल एवं कुछ नीचे स्थान से बोली जाती हैं। यदि हिन्दी की ई, ऊ ध्वनि को प्लुत ई ऊ के रूप में उच्चारण करें तो प्रायः उस ऊँचाई तक पहुँचते हैं।

मानस्वरों की स्थिति—मानस्वरों के स्पष्ट अध्ययन के लिए तीन बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है—

१. जिह्वा का प्रयुक्त भाग (Part of the tongue used)

२. जिह्वा के प्रयुक्त भाग की ऊँचाई (Height of the tongue)

३. ओष्ठों की स्थिति (Position of the lips)

१. जिह्वा का प्रयुक्त भाग—जिह्वा के तीन भाग किये गये हैं—अग्र, मध्य और पश्च। इनके आधार पर अग्रस्वर, मध्यस्वर और पश्चस्वर नाम दिया जाता है। जैसे—ई अग्र-स्वर है और ऊ पश्चस्वर है।

२. जिह्वा के प्रयुक्त भाग की ऊँचाई—जिह्वा की उच्चतम स्थिति अर्थात् जब

यह स्वर-सीमा को छूने लगती है, उसे संवृत (बन्द या सँकरा, close) कहते हैं। जब जीभ अपनी साधारण स्थिति में होती है और मुखद्वार पूरा खुला रहता है तो विवृत (खुला हुआ, open) कहते हैं। ऊपर की ओर से एक बिन्दु नीचे आने पर मुख-विवर आधा बन्द रहता है, इसे अर्धसंवृत (Half-close) कहते हैं। इसी प्रकार नीचे की ओर से एक बिन्दु जीभ ऊपर करने पर मुख-विवर अध-खुला रहता है। इसे अर्ध-विवृत कहते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी के ई और ऊ संवृत हैं, ए और ओ अर्ध-संवृत हैं, ह्रस्व ऍ और ऑ अर्ध-विवृत हैं और आ विवृत है। हिन्दी के ह्रस्व अ की स्थिति मध्य-स्वर में मानी जाती है।

३. ओष्ठों की स्थिति—प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण में ओष्ठ एक से नहीं रहते हैं। कभी ये दोनों ओष्ठ वृत्ताकार होते हैं और कभी अवृत्ताकार या अगोलाकार रहते हैं। सामान्यतया ओष्ठों की स्थिति का स्वरूप इस प्रकार रहता है—अग्रस्वरों के उच्चारण में दोनों ओष्ठ कम या अधिक मात्रा में गोलाकार रहते हैं। जब पश्च-संवृत मानस्वर ऊ का उच्चारण किया जाता है तो ओष्ठ सर्वाधिक गोलाकार रूप में रहते हैं। पश्च-स्वरों के विषय में स्मरणीय है कि जिह्वा जब विवृत से संवृत की ओर जाती है तो ओष्ठों की गोलाकृति बढ़ती जाती है और जब संवृत से विवृत की ओर आती है अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर आते समय गोलाकृति क्रमशः कम होती चली जाती है। अग्र-स्वरों के उच्चारण में इसके विपरीत जिह्वा जब विवृत से संवृत की ओर जाती है तो ओष्ठ अधिक प्रसृत या फैले हुए होते हैं और जब संवृत से विवृत अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर जिह्वा जाने लगती है, तो ओष्ठ क्रमशः कुछ अधिक उदासीन होते जाते हैं।

मानस्वरों की दृष्टि से हिन्दी स्वरों को मानस्वर त्रिकोण में पूर्वोक्त रूप में रखा जाता है। स्वर-त्रिकोण में ऐ और औ को स्थान नहीं दिया गया है, क्योंकि यह मूल स्वर न होकर संयुक्त-स्वर हैं। संयुक्त-स्वरों के विवेचन में इनका उल्लेख किया जायेगा।

इन मानस्वरों को निम्नलिखित चित्र के द्वारा स्थान, ओष्ठ, मुख-विवर, दृढ़ता आदि की स्थिति ठीक ढंग से समझी जा सकती है।

चित्र-परिचय :

a : आ—जिह्वा बिलकुल नीचे है।
ae : ऍ—जिह्वा कुछ ऊपर है।
e : ए—जिह्वा थोड़ा और ऊपर है।
i : ई—जिह्वा स्वर-सीमा-रेखा तक पहुँची हुई है।
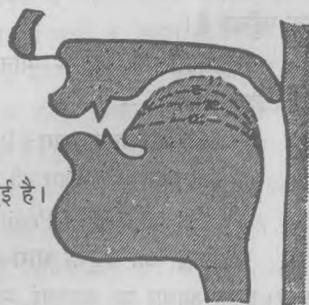
चित्र-संख्या—११.
अग्र मानस्वरों के उच्चारण में जिह्वा की स्थिति
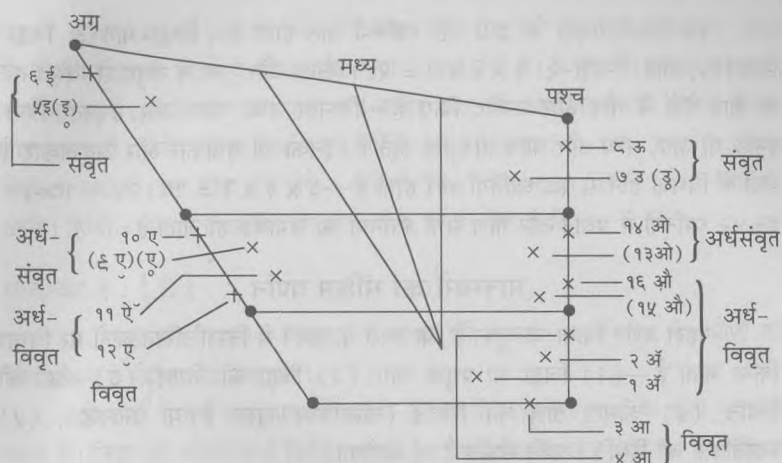
चित्र-संख्या—१२. हिन्दी के मानस्वरों का स्थान

गौण या अप्रधान मानस्वर (Secondary Cardinal Vowels)

आठ प्रधान मानस्वरों का वर्णन पहले किया जा चुका है। इन मानस्वरों के बराबर या मिलते-जुलते ७ अन्य गौण स्वरों का वर्णन प्राप्त होता है। इनको गौण या अप्रधान मानस्वर कहा जाता है। इन ७ गौण ध्वनियों का प्रयोग विश्व की विभिन्न भाषाओं में प्राप्त होता है। मानस्वरों में अग्र मानस्वर (Front Cardinal Vowels) अवृत्ताकार हैं। इनमें ओष्ठ गोलाकार नहीं होता है। यदि ओष्ठ को गोलाकार करके इन तीन ध्वनियों का उच्चारण करेंगे तो तीन और गौण मानस्वर प्राप्त होंगे।

इसी प्रकार चार पश्च मानस्वर (Back Cardinal Vowels) वृत्ताकार मानस्वर हैं। इनके उच्चारण में ओष्ठ गोल रखा जाता है। परन्तु इनको यदि ओष्ठों को गोलाकार न रखते हुए बोला जायेगा तो अवृत्ताकार चार गौण मानस्वर और प्राप्त होंगे।

स्वर-विभाजन

जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है कि स्वरों के उच्चारण में जिह्वा का प्रयुक्त भाग, प्रयुक्त भाग की ऊँचाई और ओष्ठों की स्थिति पर विचार किया जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर स्वरों के २४ भेद होते हैं। इनके भी कुछ उपभेद होने के कारण १८ अन्य गौण स्वर माने जाते हैं। इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. जिह्वा के भागों की दृष्टि से तीन प्रकार के स्वर हो सकते हैं—अग्र, मध्य और पश्च।

२. जिह्वा की ऊँचाई की दृष्टि से स्वर चार प्रकार के हो सकते हैं—संवृत, अर्ध-संवृत, विवृत, अर्धविवृत।

३. ओष्ठों की आकृति की दृष्टि से स्वर दो प्रकार के हो सकते हैं—वृत्ताकार या गोलित, अवृत्ताकार या अगोलित।

इस प्रकार गणना के द्वारा २४ ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं—जिह्वा-भाग-३, जिह्वा-ऊँचाई-४, ओष्ठ-स्थिति-२। ३ x ४ x २ = २४। ब्लाख और ट्रेगर ने संवृत से विवृत तक के चार भेदों में तीन और उपभेद किये हैं—निम्नतर उच्च, मध्य और उच्चतर निम्न। इनके भी अग्र, मध्य और पश्च तीन भेद होते हैं। इनको भी वृत्ताकार और अवृत्ताकार दो भेदों में विभक्त होने से १८ ध्वनियाँ और होती हैं—३ x ३ x २ = १८। २४ + १८=४२। इन ४२ ध्वनियों में प्रधान और गौण सभी ध्वनियों का समावेश हो जाता है।

मानस्वरों का संक्षिप्त वर्णन

पहले वर्णन किया जा चुका है कि स्वरों के वर्णन में निम्नलिखित बातों पर विचार किया जाता है—(१) जिह्वा का प्रयुक्त भाग, (२) जिह्वा की ऊँचाई, (३) ओष्ठों की स्थिति, (४) कोमल तालु की स्थिति (नासाविवर खुला है या अवरुद्ध), (५) स्वरतंत्रियों की स्थिति (ध्वनि सघोष है या अघोष)।

उपर्युक्त पाँच बातों में से प्रथम तीन बातों का उल्लेख मानस्वरों के वर्णन में किया जाता है। कोमल तालु सामान्यतया नासाविवर को अवरुद्ध रखता है। अनुनासिक स्वरों के उच्चारण में ही कोमल तालु मध्य में रहता है और मुख एवं नासा मार्ग दोनों को खुला रखता है, अतः अनुनासिक स्वर उत्पन्न होते हैं। साधारणतया सामान्य स्वरों का ही विचार किया जाता है, अतः प्रत्येक स्थल पर कोमल तालु की स्थिति का उल्लेख नहीं किया जाता है। इसी प्रकार स्वरतंत्रियों की स्थिति का भी उल्लेख नहीं किया जाता है, क्योंकि सामान्यतया सभी मानस्वर सघोष हैं। अघोष मानस्वर के लिए पृथक् उल्लेख कर दिया जाता है।

मानस्वर १ : [I]

१. जिह्वा का विभाग—जिह्वाग्र का अग्र भाग। २. जिह्वा की ऊँचाई—संवृत। ३. ओष्ठों की स्थिति—पूर्ण विस्तृत।

यह ध्वनि संस्कृत या हिन्दी की ई ध्वनि से कुछ अधिक उच्च है। प्लुत इ (इ ३) के समकक्ष इसको समझना चाहिए। इसके उच्चारण में जिह्वा की मांसपेशियाँ तनी होती हैं। जिह्वाणि या जिह्वानोक नीचे के दाँतों के पीछे रहती है। सामान्य स्थिति से थोड़ा आगे बढ़ती है। इसको संवृत अग्र मानस्वर कहते हैं। यह ध्वनि फ्रेंच और जर्मन भाषाओं में प्राप्य है। जैसे—फ्रेंच में Si (सी, यदि), Vivre (वीव्र, जीवित रहना)। जर्मन में Biene (बीने, मधुमक्खी)। अंग्रेजी और हिन्दी की ई ध्वनि मानस्वर से कुछ निम्न हैं। जैसे, अंग्रेजी—Meet (मीट, मिलना), Chief (चीफ, मुख्य)। संस्कृत—क्षीर (दूध), हिन्दी—खीर।

ह्रस्व इ को अग्र संवृत शिथिल ध्वनि कहेंगे। इसके उच्चारण में जीभ ई के तुल्य न ऊपर उठेगी और न मांसपेशियों में दृढ़ता होगी। जैसे—हित, विजय, विजित आदि।

मानस्वर २ : [e]

१. जिह्वा का विभाग—जिह्वाग्र, २. जिह्वा की ऊँचाई—अर्धसंवृत, ३. ओष्ठों की स्थिति—विस्तृत, कुछ उन्मुक्त।

इसको अर्ध-संवृत-अग्र-मानस्वर कहा जाता है। यह दृढ़ एवं अवृत्ताकार होता है। इसके उदाहरण जो फ्रेंच और जर्मन भाषा में प्राप्त होते हैं, वे दृढ़ हैं। इसका उच्चारण दीर्घीकृत ए है। इसमें जीभ का अग्र भाग कठोर तालु की ओर लगभग दो तिहाई ऊँचाई तक उठता है। जैसे—फ्रेंच Ete (एते, ग्रीष्म-ऋतु), जर्मन See (जे, समुद्र)। इसका शिथिल रूप भी प्राप्त होता है। जैसे—अंग्रेजी Ten (टेन, दस), Bed (बेड, बिस्तर) आदि। हिन्दी—खेत, रेत आदि। संस्कृत—भेद, लेख, मेल आदि।

मानस्वर ३ : [E]

१. जिह्वा का विभाग—जिह्वाग्र, २. जिह्वा की ऊँचाई—अर्धविवृत, ३. ओष्ठों की स्थिति—कुछ विस्तृत या उदासीन।

इसे अर्ध-विवृत अग्र मानस्वर कहते हैं। इसमें जिह्वानोक नीचे के दाँतों के पीछे रहती है। जिह्वा की मांसपेशियाँ शिथिल रहती हैं। इसमें जिह्वाग्र तालु की ओर एक तिहाई उठता है। जैसे—फ्रेंच Bete (बैत, पशु), Faire (फैर, करना)। संस्कृत—वैर। हिन्दी—चैत, कैद, कैदी, मैल, बैल आदि। यदि इसके उच्चारण में अइ बोला जायेगा तो यह मानस्वर ३ न रह कर संयुक्त-स्वर हो जायेगा।

मानस्वर ४ : [a]

१. जिह्वा का विभाग—जिह्वाग्र, २. जिह्वा की ऊँचाई—विवृत, ३. ओष्ठों की स्थिति—उदासीन एवं कुछ विस्तृत।

इसे विवृत-अग्र-मानस्वर कहते हैं। इसके उच्चारण में मांसपेशियाँ कुछ ढीली रहती हैं। यह शिथिल अवृत्ताकार मानस्वर है। इसके उच्चारण में जीभ का पूरा भाग दाँतों के पीछे शिथिल पड़ा रहता है। केवल अग्र भाग थोड़ा-सा आगे सरकता है। यह ध्वनि संस्कृत या हिन्दी में नहीं है। फ्रेंच और अमेरिकन अंग्रेजी में इसके उदाहरण प्राप्त होते हैं। जैसे—Patte (पात्, पंजा), Par (पार, द्वारा या से)। बोस्टन में बोली जाने वाली अमेरिकन अंग्रेजी Calm (काम, शान्त), Car (कार, कार)।

मानस्वर ५ : [ɒ]

१. जिह्वा का विभाग—जिह्वा का पश्च। २. जिह्वा की ऊँचाई—विवृत। ३. ओष्ठों की स्थिति—पूर्ण उन्मुक्त एवं थोड़ा वृत्ताकार।

इसे विवृत-पश्च-मानस्वर कहते हैं। इसके उच्चारण में जीभ का पिछला भाग बिलकुल नीचे रहता है। वह थोड़ा पीछे की ओर हटता है, इसलिए जिह्वा-नोक भी नीचे के दाँतों के पीछे से कुछ अन्दर की ओर हट जाती है। इस ध्वनि के उच्चारण में कोमल तालु पूरी दृढ़ता के साथ नासा मार्ग को बन्द नहीं करता है, अतः इस ध्वनि के उच्चारण में अनुनासिकता की सम्भावना बनी रहती है। इसके उच्चारण में मांस-पेशियाँ शिथिल रहती हैं। हिन्दी और संस्कृत की आ ध्वनि इस वर्ग में आती है। इसका उच्चारण आ जैसा होता

है। जैसे—फ्रेंच—Pas (पा, नहीं), लन्दन में बोली जाने वाली अंग्रेजी के शब्द Tom (टाम, कोई नर जीव, जन्तु), Not (नाट, नहीं), Hot (हॉट, गर्म)। संस्कृत और हिन्दी के काम, राम, नाम, धाम, पाठ आदि।

मानस्वर ६ : [ɔ]

१. जिह्वा का विभाग—जिह्वापश्च। २. जिह्वा की ऊँचाई—अर्ध-विवृत, ३. ओष्ठों की स्थिति—थोड़ा वृत्ताकार।

इसके उच्चारण में जिह्वा-नोक नीचे के दाँतों से कुछ पीछे की ओर हटकर रहती है। जिह्वा की मांसपेशियाँ शिथिल रहती हैं। इसे अर्ध-विवृत-पश्च-मानस्वर कहते हैं। इसका उच्चारण ऑ जैसा होता है। जैसे—लन्दन की अंग्रेजी में Bought (बॉट, खरीदा), Law (लॉ, विधि)। यह ध्वनि संस्कृत और हिन्दी में नहीं है। जर्मन Sonne (ज़ॉने, सूर्य) में ओ का उच्चारण इसी प्रकार का है।

मानस्वर ७ : [o]

१. जिह्वा का विभाग—जिह्वापश्च। २. जिह्वा की ऊँचाई—अर्ध-संवृत। ३. ओष्ठों की स्थिति—मानस्वर ६ की अपेक्षा अधिक वृत्ताकार और मानस्वर ८ से कुछ कम वृत्ताकार।

इसके उच्चारण में दोनों ओठ पूर्ण वृत्ताकार नहीं होते हैं। वृत्ताकार होकर ये कभी बाहर की ओर निकलते हैं, कभी नहीं। इसके उच्चारण में जिह्वापश्च पीछे हटता है, अतः जिह्वा-नोक भी नीचे के दाँतों से पीछे की ओर हटती है। इसके उच्चारण में मांसपेशियाँ कुछ दृढ़ हो जाती हैं। इसको अर्धसंवृत-पश्च-मानस्वर कहते हैं। यह ध्वनि सभी भाषाओं में मिलती है। जैसे—फ्रेंच—Beau (बो, सुन्दर), जर्मन—Rot (रोट्, लाल), अंग्रेजी—Rose (रोज़, गुलाब), संस्कृत और हिन्दी—भोग, रोग, योग आदि।

मानस्वर ८ : [u]

१. जिह्वा का विभाग—जिह्वापश्च। २. जिह्वा की ऊँचाई—संवृत। ३. ओष्ठों की स्थिति—पूर्णवृत्ताकार।

इसको संवृत-पश्च-मानस्वर कहते हैं। इसके उच्चारण में भी जिह्वानोक पीछे की ओर हटती है तथा जिह्वा की मांसपेशियाँ तनी रहती हैं। यह दृढ़ स्वर है। संवृत पश्च स्वर की पूर्ण उच्च अवस्था प्लुत ऊ में देखी जा सकती है। यदि 'ऊन' के ऊ को प्लुत की तरह खींचकर उच्चारण करें तो इसकी पूर्णावस्था प्राप्त होगी। यह ध्वनि सभी भाषाओं में पायी जाती है, जैसे—फ्रेंच—Tout (तू, सब), Bout (बू, अन्त या छोर); अंग्रेजी—Fool (फूल, मूर्ख); संस्कृत और हिन्दी—कूल, धूल, फूल, भूल आदि।

इसका शिथिल रूप ह्रस्व उ प्राप्त होता है। इसके उच्चारण में मांसपेशियों में न दृढ़ता होती है और न जिह्वा उतनी ऊँचाई तक उठती है। ओष्ठ भी पूर्ण वृत्ताकार नहीं होते। कुछ कम गोलाकार रहते हैं, जैसे—कुल, पुल, घुल आदि।

केन्द्रीय या मध्यस्वर (Central Vowels)

इससे पूर्व अग्र-स्वरों और मध्यस्वरों का उल्लेख किया गया है। स्वर त्रिभुज या चतुर्भुज की चर्चा में मध्यस्वरों का भी उल्लेख किया गया है। इसके विषय में ब्लाख और ट्रेगर का कथन है कि—सभी स्वर जिह्वाग्र के कठोर तालु की ओर अग्रसर होने से या जिह्वा पश्च के कोमल तालु की ओर अग्रसर होने से ही उच्चरित नहीं होते हैं, अपितु स्वरों का एक वर्ग है जो कि इनके मध्य से उच्चरित होता है। इसमें जिह्वा के अग्र और पश्च भाग के मध्य का अंश (अग्र और पश्च के बीच का मिश्रित अंश) कठोर और कोमल तालु के मध्य अंश की ओर अग्रसर होता है। इन स्वरों को केन्द्रीय स्वर या मध्य स्वर कहा जाता है।[1] ब्लाख और ट्रेगर ने यद्यपि केन्द्र-स्वरों की संख्या १४ दी है, तथापि इनमें से सबके उदाहरण मिलने कठिन हैं। रूसी भाषा में इ और ई के बीच की एक ध्वनि है। यह मध्य स्वर में आती है। जैसे—Byl (बिल, वह था)। इसी प्रकार उ और ऊ के बीच की एक केन्द्रीय स्वर-ध्वनि स्वीडिश भाषा में मिलती है। जैसे—Hus (हुस, घर)। दक्षिणी अमेरिका में Moon (मून, चन्द्रमा) और Shoes (शूज़, जूते) में इसी प्रकार का केन्द्रीय ऊ स्वर बोला जाता है। लन्दन और बोस्टन की अंग्रेजी में ए और अ के बीच की केन्द्रीय स्वरध्वनि बोली जाती है। जैसे—Bird (बर्ड, चिड़िया), Worm (वर्म, कीड़ा) के उच्चारण में। विवृत अ और आ के बीच की केन्द्रीय स्वर-ध्वनि अमेरिकी उच्चारणों में प्रायः सुनी जाती है। जैसे—Calm (काम, शान्त) और Father (फादर, पिता) के उच्चारण में।

केन्द्रीय स्वरों में एक बहुत हल्की अॅ ध्वनि है। यह ध्वनि वार्तालाप के समय बीच में रुक जाने से उत्पन्न होती है। इसका व्यवहार अंग्रेजी में बहुत अधिक पाया जाता है। यह ध्वनि बलाघात को वहन नहीं कर सकती है। इसको केन्द्रीय या उदासीन स्वर कहते हैं। इसके लिए अंग्रेजी का e वर्ण उल्टा (ə) करके लिखा जाता है। इसका प्रचलित नाम श्वा (Schwa) है। हिन्दी में भी अल्प उच्चारित या अनुच्चारित अ ध्वनि इसी श्रेणी में आती है। जैसे—राम लिखा जाता है, परन्तु उच्चारण में राम् कहा जाता है। इसी प्रकार देव, लाल, घर, नर आदि के लिखित रूप में अन्त में अ है। परन्तु उच्चारण में इनके अन्तिम अ का उच्चारण नहीं के बराबर होता है। इस नहीं के बराबर उच्चरित अ ध्वनि को श्वा कहते हैं। इसी प्रकार मध्यगत अ का भी अनेक स्थानों पर नहीं के बराबर उच्चारण होता है। जैसे—जब, तब, कब आदि में प्रथम अ ध्वनि। फ्रेंच और अंग्रेजी आदि में बलाघात-रहित स्थानों पर यह ध्वनि मिलती है। जैसे—फ्रेंच Debout (दबू, खड़ा)। अंग्रेजी About (अबाउट, बारे में)।

यह श्वा (Schwa) या उदासीन अॅ स्वर अंग्रेजी और जर्मन में तीन रूपों में प्राप्त होता है। १. जर्मन ə, २. अंग्रेजी ə, ३. अंग्रेजी ə :। जर्मन में प्राप्त श्वा का उच्चारण अर्ध-संवृत से कुछ उच्च होता है। अंग्रेजी में Earth (अऽर्थ, भूमि) के उच्चारण में दीर्घ श्वा

1. Bloch and Trager : *Outlines of Linguistic Analysis*, p. 20.

की ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह ध्वनि अर्धविवृत और अर्धसंवृत के मध्य तक या कुछ ऊपर तक जाती है। जिह्वा-मध्य उस स्थान तक उठता है। इसके उच्चारण में ओष्ठ विस्तृत रहते हैं। यह ह्रस्व श्वा की अपेक्षा दीर्घ है और स्वराघात को वहन कर सकती है। यह ध्वनि संस्कृत, हिन्दी, जर्मन, फ्रेंच आदि में नहीं है। इसको अवृत्ताकार केन्द्रीय स्वराघातक्षम स्वर कहा जाता है। ह्रस्व श्वा के अंग्रेजी का उदाहरण—About (अबाउट, बारे में) है।

केन्द्रीकरण प्रक्रिया—जो ध्वनियाँ केन्द्र में उच्चरित नहीं होती हैं, उन्हें भी केन्द्रीकृत कर सकते हैं। जैसे—हिन्दी के इ और उ को केन्द्रीकृत करना होगा तो इ के सम्बद्ध जिह्वा-भाग को कुछ पीछे करेंगे। इसी प्रकार उ को केन्द्रीकृत करना होगा तो जिह्वा के सम्बद्ध भाग को कुछ आगे करेंगे, जिससे इन दोनों के उच्चारण में जिह्वा का संबद्ध भाग मध्य तालु के नीचे आ जाये। ऐसी ध्वनियाँ रूसी और नार्वेजियन भाषा में मिलती हैं।

मूलस्वर (Pure Vowel)

मानस्वर के रूप में वर्णित अग्र, मध्य और पश्च सभी स्वर मूलस्वर कहे जाते हैं। मूलस्वर उन स्वरों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में भाषणावयव प्रारम्भ से अन्त तक एक निश्चित स्वरूप में रहते हैं। जैसे—अ, इ, उ आदि प्रत्येक स्वर को मूलस्वर कहते हैं।

संयुक्त स्वर (Diphthong)

संयुक्त स्वर दो स्वरों का ऐसा मिश्रित रूप है, जिसमें दोनों स्वर अपनी स्वतंत्र सत्ता को समाप्त कर एकरूप हो जाते हैं और श्वास के एक ही वेग में उच्चरित होते हैं। इसमें दोनों स्वर मिलकर एक स्वर के रूप में हो जाते हैं। दो स्वरों के योग से यह संयुक्त स्वर या मिश्र स्वर बनता है। अंग्रेजी में इसको Diphthong (डिफ्थांग) अर्थात् द्विस्वर-योग कहते हैं।

संयुक्त स्वर को दो विभिन्न स्थानों से उच्चरित होनेवाली ध्वनियों का समन्वय समझना चाहिए। यह नरसिंहावतार के तुल्य है। न पूर्ण नर और न पूर्ण सिंह; दोनों का समन्वय है। इसी प्रकार ए, ऐ, ओ, औ ये ध्वनियाँ मिश्र स्वर या संयुक्त स्वर कही जाती हैं।

एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्॥ (सिद्धान्तकौमुदी, संज्ञा-प्रकरण)

अर्थात् ए और ऐ के उच्चारण में कण्ठ और तालु का समन्वय होता है तथा ओ और औ के उच्चारण में कण्ठ और ओष्ठ का समन्वय होता है। इन स्वरों के उच्चारण में एक ही साँस में जिह्वा शीघ्रतापूर्वक दो स्थानों का सम्पर्क करती है। जैसे—ए और ऐ के उच्चारण में पहले जिह्वा कण्ठ स्थान से संपर्क करते हुए अ ध्वनि के स्थान पर रहती है और तुरन्त इ ध्वनि की ओर दौड़ती है। इसी प्रकार ओ और औ में अ + उ का समन्वय मान कर पहले जिह्वा कण्ठ के पास पहुँचती है और उसके बाद ओष्ठ उ का स्वरूप धारण करती है। जिह्वा के एक स्थान से दूसरे स्थान पर एक साँस में पहुँचने के कारण इन्हें चलध्वनि या श्रुति कहा जाता है। संयुक्त स्वरों को मिश्र स्वर और संध्यक्षर भी कहा जाता है। संयुक्तस्वर का उच्चारण एक स्वर से दूसरे स्वर की ओर जाने की स्थिति में रहता है।

इसलिए इसको चलध्वनि या श्रुति नाम दिया गया है। पहले वर्णित मूलस्वर अचल स्वर हैं। उनके उच्चारण में जिह्वा में अस्थिरता या चंचलता नहीं रहती है।

संयुक्त स्वरों में प्राप्त दोनों स्वर एक ही स्थान से उच्चरित नहीं होने चाहिएं। ये विभिन्न स्थानों से उच्चरित होने चाहिएं, अर्थात् इनमें स्थान की दृष्टि से दोनों सवर्ण ध्वनियाँ होनी चाहिएं।

संयुक्त स्वरों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. आरोही, २. अवरोही।

१. आरोही—उस संयुक्त स्वर को कहा जाता है, जिसमें प्रथम स्वर गौण रहता है और दूसरा मुख्य। इसको अंग्रेजी में Rising कहते हैं। आरोही की पहचान यह है कि यह संवृत की ओर से विवृत की ओर आती है। अर्थात् इसमें जिह्वा ऊपर से नीचे की ओर आती है। मुख में विवर (खुला स्थान) अधिक होने के कारण बाद वाली ध्वनि अधिक मुखरित हो जाती है। जैसे—फ्रेंच भाषा में Trois (त्रवा, तीन) शब्द में oi में से बाद वाली ध्वनि अधिक मुखरित है।

२. अवरोही—वह ध्वनि है, जिसमें प्रथम ध्वनि अधिक मुखरित हो और बाद वाली ध्वनि ह्रासोन्मुख हो। अंग्रेजी में इसको Falling (क्षयमाण) कहते हैं। इसमें प्रथम स्वर बलाघात-युक्त होता है और द्वितीय बलाघात-रहित। अवरोही की पहचान यह है कि यह विवृत से संवृत की ओर जाती है। संवृत में मुख-द्वार सँकरा हो जाता है, इसलिए बाद वाली ध्वनि प्रथम की अपेक्षा कम मुखरित होती है।

ब्लाख और ट्रेगर का कथन है कि आक्षरिक और अनाक्षरिक दो स्वरों के संयोग को संयुक्त स्वर कहते हैं।[1] संयुक्त स्वर में प्रथम या द्वितीय स्वर पर बलाघात होता है। प्रथम पर बलाघात होगा तो उसे अवरोही (Falling) संयुक्त स्वर कहेंगे। यदि द्वितीय स्वर पर बलाघात हो तो उसे आरोही (Rising) संयुक्त स्वर कहेंगे। अंग्रेजी में नौ संयुक्त स्वर हैं। संस्कृत में चार—ए, ऐ, ओ, औ संयुक्त स्वर हैं। संयुक्त स्वरों में गौण स्वर को व्यंजनात्मक स्वर कहते हैं। जिह्वा की गति की दूरी के अनुसार संयुक्त स्वरों को दो भागों में विभक्त किया जाता है। यदि जिह्वा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में दूरी अधिक हुई तो उसे प्रशस्त (Wide) संयुक्त स्वर कहा जाता है। यदि दूरी कम होगी तो उसे संकीर्ण (Narrow) कहा जाएगा। जैसे—अंग्रेजी में au प्रशस्त है तथा ei, ou संकीर्ण हैं।

केन्द्राभिमुखी संयुक्त स्वर (Diphthong Centring)—यदि संयुक्त स्वर में दूसरा स्वर केन्द्र या मध्य की ओर आता हुआ होगा तो उसे केन्द्राभिमुखी-स्वर कहते हैं। जैसे—अंग्रेजी के ie, ue, ou केन्द्राभिमुखी संयुक्त स्वर हैं। यदि इसके विपरीत स्थिति होगी तो उनको केन्द्रापगामी-संयुक्त-स्वर कहेंगे।

संयुक्त स्वर के दो भेद और किये जाते हैं—पूर्ण और अपूर्ण। यदि आरोही और अवरोही दोनों ध्वनियाँ सम रूप में रहती हैं तो उसे पूर्ण संयुक्त-स्वर कहते हैं। यदि दोनों

---

1. A Combination of a syllabic and a non-syllabic vowel is a DIPHTHONG. Bloch & Trager : *Outlines of Linguistic Analysis*, p. 23.

में से कोई स्वर अधिक लम्बा हो जाता है तो उसे अपूर्ण संयुक्त स्वर कहते हैं।

कुछ भाषाशास्त्रियों ने त्रिसंयुक्त-स्वर (Triphthong) की चर्चा की है। डॉ० डेनियल जोन्स अंग्रेजी में त्रि-संयुक्त-स्वर की सत्ता नहीं मानते। हिन्दी और संस्कृत में त्रिसंयुक्त-स्वर नहीं हैं। आइए, जाइए आदि में दो या अधिक स्थानों पर बलाघात है। अतः ये मिश्र स्वर न होकर स्वतंत्र स्वर के रूप में उच्चरित होते हैं।

४.१६. व्यंजन (Consonants)

व्यंजन की परिभाषा पहले दी गयी है कि—"व्यंजन वह ध्वनि है, जिसके उच्चारण में फेफड़ों से आनेवाली वायु स्वरतंत्री या मुख-मार्ग में कहीं पूर्णतया रोकी जाती है या अत्यन्त संकुचित मार्ग से निकलती है या मुख-विवर की स्वर-सीमा से हटते हुए जिह्वा के एक या दोनों ओर से निकलती है या स्वरतंत्री से ऊपर वाले किसी वाग्-अवयव में कम्पन पैदा करती है।"

स्वरों और व्यंजनों का दो प्रकार से विभाजन किया जाता है—१. श्रवणीयता के आधार पर, २. प्रयत्न के आधार पर। श्रवणीयता का अभिप्राय है—ध्वनियों के सुने जाने की सामर्थ्य। जो ध्वनियाँ अधिक स्पष्ट ढंग से सुनी जाती हैं और जिनमें बलाघात वहन करने की क्षमता है, वे ध्वनियाँ स्वर कही जाती हैं। इसके विपरीत जो ध्वनियाँ अधिक दूर से स्पष्ट नहीं सुनी जाती हैं या जो बलाघात को वहन करने में समर्थ नहीं हैं, वे ध्वनियाँ व्यंजन कही जाती हैं। इस दृष्टि से ध्वनियों को तीन भागों में बाँटा जाता है—१. स्वर, २. व्यंजन, ३. अन्तस्थ। अन्तस्थ की स्थिति स्वर और व्यंजन के बीच की है। ये श्रवणीयता और बलाघात-वहन की दृष्टि से सामान्य व्यंजनों की अपेक्षा अधिक उच्च हैं। ये कुछ अंश तक बलाघात को वहन कर सकते हैं और इनकी श्रवणीयता भी सामान्य व्यंजनों से अधिक है।

प्रयत्न के आधार पर होनेवाले विभाजन का दो प्रकार से वर्णन किया जाता है—१. प्रयत्न का स्थान, २. प्रयत्न का प्रकार या प्रयत्न की विधि। भारतीय विद्वानों ने प्रयत्न की विधि को भी दो भागों में बाँटा है—आभ्यन्तर और बाह्य। उन्होंने आभ्यन्तर के पाँच भेद माने हैं और बाह्य-प्रयत्न ११ प्रकार का माना है।

यत्नो द्विधा। आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा-स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृत-विवृत-संवृत-भेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। ईषद्विवृतम् ऊष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्, प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव।

बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा—विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। (लघुसिद्धान्तकौमुदी, संज्ञा-प्रकरण)

४.१६. (क) स्थान

(Points of Articulation, or Place of Articulation)

जहाँ अन्दर से आनेवाली वायु को रोककर या किसी अन्य प्रकार से उसमें कोई

विकार लाकर ध्वनि उत्पन्न की जाती है, उस स्थान-विशेष को 'स्थान' कहा जाता है। अंग्रेजी में इसको Points or Articulation कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जिह्वा या कोई वाग्-अवयव गतिशील होकर उस स्थान-विशेष पर पहुँचता है और उसकी इस गतिविधि से श्वास पूर्णरूप से या अपूर्ण रूप से अवरुद्ध होता है, जिसके कारण विभिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। जहाँ पर अवरोध उत्पन्न होता है, उस स्थान-विशेष के नाम से ध्वनियों के नाम रखे जाते हैं। जैसे—जिस ध्वनि के उच्चारण में श्वास कण्ठ-स्थान पर अवरुद्ध होगा, उसे कंठ्य ध्वनि कहेंगे। इसी प्रकार दाँत के किसी स्थान-विशेष पर अवरुद्ध होने वाली ध्वनि को दंत्य कहेंगे। सभी ध्वनियों के इसी प्रकार नाम रखे गये हैं। स्थान के आधार पर ध्वनियों के निम्नलिखित भेद किये गये हैं—

१. स्वरयंत्रमुखी (Glottal, या Laryngal)

स्वरयंत्रमुखी उन ध्वनियों को कहते हैं, जो स्वरतंत्री के मुख (ग्लाटिस) से उच्चरित होती हैं। इनको काकल्य और उरस्य भी कहते हैं। स्वरयंत्र-मुख को काकल और उरस् नाम भी दिया गया है, अत: इन्हें काकल्य और उरस्य भी कहा जाता है। ह् और विसर्ग (:) काकल ध्वनि हैं। काकल से उत्पन्न ध्वनियों को काकल्य स्पर्श (Glottal Stops) कहते हैं।

२. उपालिजिह्वीय (Pharyngal)

उपालिजिह्वीय उन ध्वनियों को कहते हैं, जो स्वरयंत्र और अलिजिह्वा या कौवा के बीच में स्थित गलबिल या उपालिजिह्वा स्थान से उत्पन्न होती हैं। इसके लिए जिह्वामूल को पीछे की ओर हटाना होता है और गलबिल को संकीर्ण किया जाता है। ऐसी ध्वनियाँ अरबी में मिलती हैं। जैसे—'बड़ी हे' और 'ऐन'। ऐसी ध्वनियाँ अफ्रीका की भाषाओं में मिलती हैं।

३. जिह्वामूलीय या अलिजिह्वीय (Uvular)

इसको जिह्वापश्चीय भी कहते हैं। ये ध्वनियाँ जिह्वामूल या जिह्वा-पश्च भाग से उत्पन्न होती हैं। इसमें जिह्वामूल को उठाकर कौवा के पास ले जाते हैं। इससे वायु-मार्ग सँकरा हो जाता है और संघर्षी ध्वनि उत्पन्न होती है। यह ध्वनि अरबी और एस्किमो आदि भाषाओं में मिलती है। जैसे—क़ ख़ ग़ आदि ध्वनियाँ उर्दू के प्रभाव के कारण हिन्दी में भी आ गयी हैं। संस्कृत में यह ध्वनि विसर्ग के स्थान पर क और ख से पहले प्राप्त होती है। जैसे—क≍करोति। संस्कृत में इसको विसर्ग के स्थान पर आधे विसर्ग के तुल्य चिह्न से दिखाया जाता है।

≍ क ≍ ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः।

(लघुसिद्धान्तकौमुदी, संज्ञा प्रकरण)

४. कण्ठ्य या कोमल तालव्य (Guttural, या Softpalatal)

ये ध्वनियाँ जीभ के पिछले भाग के द्वारा कोमल-तालु को छूने पर उत्पन्न होती हैं।

भारतीय विद्वानों ने कोमल-तालु को कण्ठ नाम दिया है। अतः उस स्थान से उच्चरित ध्वनियों को कंठ्य कहा जाता है। पाश्चात्त्य विद्वान् इसको कंठ्य (Guttural) कहने पर आपत्ति करते हैं। उनके कथनानुसार कंठ कोई स्थान-विशेष नहीं है। यह स्थान कोमल-तालु है। अतः इसको कोमल-तालव्य (Softpalatal) कहना चाहिए। कोमल तालु को ही Velum (वेलम) कहते हैं और यहाँ से उच्चरित ध्वनि को Velar (वेलर) कहते हैं। भारतीय और पाश्चात्त्य ध्वनि-वर्गीकरण में नाम-निर्देश में यह उल्लेखनीय अन्तर है। क ख ग घ ङ यहीं से उच्चरित होते हैं। कुछ विशेष प्रकार की संघर्षी ध्वनियाँ (ख़ ग़ आदि) यहीं से उच्चरित होती हैं। अंग्रेजी में इसको Dorsum (डोर्सम, जिह्वा-पश्च) के आधार पर Dorsal (डोर्सल, जिह्वा-पश्चीय) भी कहते हैं। ब्लाख और ट्रेगर ने इस कोमल-तालव्य के भी अग्र, मध्य और पश्च भाग के आधार पर तीन भेद किये हैं। कण्ठाग्रीय (Prevelar), कण्ठमध्यीय (Mediovelar), कण्ठपश्चीय (Postvelar)। **अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। (लघु०)**

कोमल तालु या कण्ठ ध्वनि से सम्बद्ध दो स्थान-विशेष और हैं, जिनसे संयुक्त स्वरों का उच्चारण होता है। ये हैं—

१. **कण्ठ-तालव्य**—इसमें कोमल-तालु और कठोर-तालु दोनों का समन्वय होता है। इससे उच्चरित ध्वनि ए, ऐ हैं। **(एदैतोः कण्ठतालु, लघु०)**

२. **कण्ठोष्ठ्य**—इसके उच्चारण में कोमल-तालु और ओष्ठ का समन्वय होता है। ऐसी ध्वनियाँ ओ औ संयुक्त-स्वर हैं। इनके उच्चारण में जिह्वा कोमल तालु के स्पर्श से अ ध्वनि उत्पन्न करती है और तुरन्त उ के उच्चारण के लिए ओष्ठ की ओर दौड़ती है। **(ओदौतोः कण्ठोष्ठम्, सि० कौ०)**

५. मूर्धन्य (Cerebral)

पाश्चात्त्य विद्वान् मूर्धा को स्वतंत्र स्थान नहीं मानते हैं। वे इसे कोमल और कठोर तालु का संधि-स्थल कहते हैं। इसे कोई अलग स्वतंत्र नाम नहीं दिया गया है। इसको Cerebrum (सेरिब्रम, मूर्धा) के आधार पर Cerebral (सेरिब्रल, मूर्धन्य) कहा जाता है। इसको Retroflex भी कहते हैं। इसके उच्चारण में जिह्वा मुड़कर ऊपर की ओर मूर्धा स्थान को छूती है। इस क्रिया को प्रतिवेष्टन (Retroflection) कहते हैं। इसके आधार पर इसको प्रतिवेष्टित (Retroflex, रिट्रोफ्लेक्स) नाम दिया गया है। पाश्चात्त्य विद्वानों को यह नाम अधिक रुचिकर है। इसमें आपत्ति यही है कि यह नाम क्रिया या प्रयत्न पर निर्भर है, न कि स्थान पर। जिह्वा के इस प्रतिवेष्टितत्व का उल्लेख प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में मिलता है। इस स्थान से उच्चरित ध्वनियाँ ट ठ ड ढ ण ऋ और ष आदि हैं। **(ऋटुरषाणां मूर्धा, सि० कौ०)** ळ, ळ्ह ध्वनियाँ उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित (Flapped retroflex) हैं। इनके उच्चारण में जिह्वा का अग्र भाग उलट कर मूर्धा-स्थान को झटके से छूता है और लौट आता है। ये दोनों ध्वनियाँ वैदिक संस्कृत में ही मिलती हैं। हिन्दी की ड़ ध्वनि उत्क्षिप्त है। इसी का सानुनासिक उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित रूप हिन्दी की ण ध्वनि

है। यद्यपि टवर्ग मूर्धन्य माना जाता है, परन्तु आजकल हिन्दी में टवर्ग का अधिकांश उच्चारण कठोर-तालु से होता है। अत: कुछ अंश में यह अब तालव्य ध्वनि हो गयी है।

६. तालव्य (Palatal)

इसका उच्चारण कठोर-तालु से होता है। जिह्वा की नोक या जिह्वाग्र भाग से इन ध्वनियों के उच्चारण में सहायता ली जाती है। कठोर-तालु से उत्पन्न होने के कारण इनको कठोर तालव्य भी कहते हैं। संस्कृत में ये ध्वनियाँ हैं—च छ ज झ ञ, इ य श। **(इचुयशानां तालु, सि० कौ०)** वर्तमान हिन्दी आदि भाषाओं में ये ध्वनियाँ तालव्य न रहकर सोष्म स्पर्श या स्पर्श-घर्ष (Affricates) हो गई हैं। ये अब वर्त्स के समीप आ गई हैं।

७. वर्त्स्य या बर्स्व्य (Alveolar)

दाँतों की जड़ में मसूड़े के पास जो उभरा खुरदरा अंश है, उसको वर्त्स या बर्स्व (Alveolus, अलवीअलस) कहते हैं। जिह्वा की नोक या जिह्वा के अग्र भाग के द्वारा इस स्थान के सम्पर्क से जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें वर्त्स्य कहते हैं। यहाँ से उच्चरित ध्वनियाँ स ज र ल न हैं। अंग्रेजी के T, D (टी, डी) वर्त्स्य ध्वनियाँ हैं। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि अंग्रेजी, जर्मन आदि में टवर्गीय ध्वनियों का अत्यन्त अभाव है। वे ट ड आदि का मूर्धन्य उच्चारण न करके वर्त्स्य उच्चारण ही करते हैं। वर्त्स से उच्चरित ध्वनियों को वर्त्स्य कहा जाता है। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में बर्त्स्य और वर्त्स दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है। (रेफं वर्त्स्यमेके, ऋ० प्रा० १-२०) शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य में वर्त्स के लिए दन्तमूल शब्द का प्रयोग करते हुए र को दन्तमूलीय कहा है। **(रो दन्तमूले, शुक्ल यजु० प्रा० १-५८)**

८. दन्त्य (Dental)

इनके उच्चारण में जिह्वा की नोक या जिह्वा का अग्रभाग दाँतों का स्पर्श करता है। संस्कृत में त थ द ध न ल स और लृ दन्त्य कहे जाते हैं। इनका उच्चारण दाँत की सहायता से होता है। **(लृतुलसानां दन्ता:, सि० कौ०)** हिन्दी के त थ द ध दन्त्य हैं। न की गणना वर्त्स्य में है। यदि सूक्ष्मता से ध्यान दिया जाय तो दाँत के भी अग्र, मध्य और मूल—ये तीन भेद किये जा सकते हैं। त दन्त के अग्रभाग से उच्चरित होता है, द दन्त के मध्य भाग से और न दन्तमूल से।

९. दन्तोष्ठ्य (Labiodental)

कुछ ध्वनियाँ ऐसी हैं जिनके उच्चारण में ऊपर के दाँत और नीचे के ओष्ठों की सहायता ली जाती है। ऐसी ध्वनियों को दन्तोष्ठ्य कहते हैं। संस्कृत में ऐसी ध्वनि व है। **(वकारस्य दन्तोष्ठम्, सि० कौ०)** हिन्दी और अंग्रेजी आदि की व और फ़ ध्वनियाँ दन्तोष्ठ्य हैं।

१०. ओष्ठ्य या द्वयोष्ठ्य (Bilabial)

इनके उच्चारण में दोनों ओष्ठों की सहायता ली जाती है। संस्कृत और हिन्दी की प फ ब भ म ध्वनियाँ द्वयोष्ठ्य हैं। उ ऊ स्वर भी ओष्ठ्य हैं। (**उपूपध्मानीयानामोष्ठौ, सि० कौ०**) ब्लाख और ट्रेगर का कथन है कि ओष्ठ्य ध्वनियों को भी पार्श्विक (Labial Lateral) और कम्पित (Labial Trill) के रूप में उच्चरित किया जा सकता है।[1] ये ध्वनियाँ संस्कृत और हिन्दी में प्राप्त नहीं होती हैं।

४.१६. (ख) प्रयत्न

ध्वनियों के उच्चारण के लिए अन्दर से आनेवाली वायु को जो विभिन्न प्रकार के प्रयत्नों से विकृत या परिवर्तित रूप में बाहर आने दिया जाता है, उसे 'प्रयत्न' कहते हैं। (**अथ कः प्रयत्नः? प्रयतनं प्रयत्नः, महाभाष्य १।१।६**) स्वर-तन्त्रियों से लेकर ओष्ठ तक होनेवाले सभी प्रकार के व्यापार या कार्यकलाप प्रयत्न के अन्दर आते हैं। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार यत्न दो प्रकार का माना गया है—१. आभ्यन्तर, २. बाह्य। आभ्यन्तर प्रयत्न वे हैं, जो मुख-विवर के अन्दर होते हैं। यहाँ पर आभ्यन्तर प्रयत्न का क्षेत्र ओष्ठ से लेकर कोमल-तालु या कण्ठ की समाप्ति तक समझना चाहिए। कोमल-तालु के बाद वाले स्थान को मुख या आस्य से बाहर माना गया है। बाह्य प्रयत्नों में विशेष रूप से स्वरतंत्री और अलिजिह्वा के व्यापार ग्रहण किये जाते हैं। नासा-द्वार और नासिका-विवर को आस्य या मुख से बाहर माना गया है। अतएव **मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः (अष्टा० १।१।८)** में मुख और नासिका को अलग लिया गया है। अनुनासिक के लिए केवल मुख या आस्य पर्याप्त नहीं है। अपितु नासिका का सहयोग भी अपेक्षित है। इससे ज्ञात होता है कि नासिका को मुख से बाहर स्थान दिया गया है। यही भाव नागेश ने **तुल्यास्य० (१।१।६)** सूत्र की उद्योत व्याख्या में महाभाष्य में दिया है। पतंजलि ने **किं पुनरास्यम्? लौकिक-मास्यम्। ओष्ठात्प्रभृति प्राक् काकलकात्॥ (महाभाष्य १।१।६)** आस्य या मुख की व्याख्या करते हुए ओष्ठ से लेकर काकल या टेंटुआ तक के स्थान तक को मुख कहा है। इसमें आभ्यन्तर और बाह्य, दोनों प्रयत्न मुख के अन्दर आ जाते हैं। आभ्यन्तर और बाह्य भेद में नासाद्वार से ओष्ठ तक के क्षेत्र को 'आभ्यन्तर' कहेंगे और नासा- द्वार से स्वरतंत्री तक के क्षेत्र को 'बाह्य' कहेंगे। आभ्यन्तर प्रयत्न के ५ भेद किये गये हैं—१. स्पृष्ट (क से म तक वर्ण), २. ईषत्स्पृष्ट (अन्तस्थ, य र ल व), ३. ईषद् विवृत (ऊष्म, श स ष ह), ४. विवृत (सभी स्वर), ५. संवृत (ह्रस्व अ)।

बाह्य प्रयत्न का सम्बन्ध मुख्यतया स्वरतंत्रियों से है। इसके ११ भेद बताये गये हैं—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।

बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा। विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। (सि० कौ० संज्ञाप्रकरण)

---

1. Bloch & Trager : *Outlines of Linguistic Analysis*, p. 14.

पतंजलि का कथन है कि बाह्य प्रयत्न से अभिप्राय है—मुख से बाहर अर्थात् ओष्ठ से नासिका-विवर के बाहर हुए प्रयत्न। इन प्रयत्नों में उन्होंने आठ भेदों की गणना की है—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण।

उपर्युक्त बाह्य प्रयत्न के भेदों को देखने से ज्ञात होता है कि ये भेद स्वरतंत्री से साक्षात् सम्बन्ध रखते हैं। इनमें अल्पप्राण और महाप्राण का सम्बन्ध अन्दर से आनेवाली वायु की कमी या अधिकता से है। उदात्त आदि तीन भेदों का सम्बन्ध सुर से है। विवार आदि छः भेद स्वरतंत्री की स्थिति और उसके मध्य से निकलनेवाली वायु के स्वरूप तथा उच्चारित ध्वनि के स्वरूप से सम्बद्ध हैं। विवार और संवार स्वरतंत्री की स्थिति बताते हैं। 'विवार' का अर्थ है—खुला हुआ। इसका अभिप्राय यह है कि स्वरतंत्री के दोनों ओष्ठ एक दूसरे से पृथक और दूर रहते हैं। 'संवार' का अर्थ है बन्द, अर्थात् स्वरतंत्री के दोनों ओष्ठ एक दूसरे से मिले हुए होते हैं। श्वास और नाद स्वरतंत्री से निकलनेवाले वायु का स्वरूप बताते हैं। विवार की स्थिति में स्वरतंत्री का मुख खुला रहता है, अतः अन्दर से आने वाली वायु बिना किसी अवरोध के बाहर आती है। इसे 'श्वास' कहते हैं। इसके विपरीत नाद प्रयत्न है। इसमें स्वरतंत्री के ओष्ठ संवार अर्थात् मिले हुए होते हैं। अतः अन्दर से आनेवाली वायु को रगड़ कर बाहर आना होता है, जिसके कारण उसमें नाद या गूँज रहती है। घोष और अघोष ध्वनि के स्वरूप को बताते हैं। विवार की स्थिति में स्वरतंत्री का मुख खुला होने के कारण श्वास बिना किसी अवरोध के बाहर जाता है, अतः ध्वनि का स्वरूप घोष-रहित (Voiceless) होता है। इसलिए इसको अघोष कहते हैं। इसके विपरीत संवार की स्थिति में स्वरतंत्री के ओष्ठ बन्द होने के कारण अन्दर से आने-वाली वायु नाद या गूँज के साथ निकलती है; अतः उच्चरित ध्वनि घोष या ध्वनि-युक्त (Voiced) होती है। विवार, श्वास और अघोष आदि छः भेद विभिन्न तथ्यों के आधार पर किये गये हैं। अतः कुछ विद्वानों का यह कथन सर्वथा असंगत है कि श्वास और अघोष एक ही हैं। नौ भेदों को ११ भेद कहना व्यर्थ है। यदि ११ में से घोष और अघोष या श्वास और नाद किसी भी दो शब्दों को हटा देंगे, तो अर्थ अस्पष्ट हो जायेगा। घोष और अघोष को सर्वथा ग्रहण किया जाता है। श्वास और नाद ध्वनि-विज्ञान की शारीरिक प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए अनिवार्य हैं। ये विवार, श्वास और अघोष तीन भेद प्राचीन भाषा-शास्त्रियों के सूक्ष्म-तत्त्व-चिन्तन के परिचायक हैं।

४.१७. व्यंजनों का वर्गीकरण (आधुनिक भाषाशास्त्र के अनुसार)

स्थान और प्रयत्न इन दो आधारों पर समस्त व्यंजनों का वर्गीकरण स्पष्ट और सरलता से किया जा सकता है। स्थान के आधार पर व्यंजनों को पाँच भागों में बाँटा जाता है—१. ओष्ठ्य (Labial), २. जिह्वाणीय या जिह्वानोकीय (Apical), ३. जिह्वाग्रीय (Fronal), ४. जिह्वापश्चीय (Dorsal), ५. स्वरतंत्रीय या कण्ठदेशीय (Glottal, Faucal)। इनमें से प्रत्येक के तीन भाग किये जाते हैं—

१. ओष्ठ्य—इसके तीन भेद हैं—१. बहिर्मुखी ओष्ठ्य (Protruded), २. द्वयोष्ठ्य (Bilabial), ३. दन्तोष्ठ्य (Labiodental)।

२. जिह्वाणीय या जिह्वानोकीय—इसके तीन भेद हैं—१. दन्त्य (Dental), २. वर्त्स्य (Alveolar), ३. मूर्धन्य (Cacuminal)।

३. जिह्वाग्रीय—इसके तीन भेद हैं—१. ताल्वग्रीय (Prepalatal), २. तालुमध्यीय (Mediopalatal), ३. तालु-पश्चीय (Postpalatal)।

४. जिह्वापश्चीय—इसके तीन भेद हैं—१. कोमल ताल्वग्रीय (Prevelar), २. कोमलतालुमध्यीय (Mediovelar), ३. कोमलतालुपश्चीय (Postvelar)।

५. गलबिल-देशीय या कण्ठदेशीय (Faucal)—इसके तीन भेद हैं—१. गलबिलीय या उपालिजिह्वीय (Pharyngal), २. काकल्य (Glottal), ३. स्वरयंत्रीय (Laryngal)।

प्रयत्न के आधार पर व्यंजनों को मुख्यतया पाँच भागों में बाँटा जाता है—१. स्पर्श (Stops), २. संघर्षी या ऊष्म (Spirants), ३. नासिक्य (Nasals), ४. पार्श्विक (laterals), ५. लुंठित या कम्पित (Trills)।

प्रयत्न के आधार पर किये जानेवाले भेदों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. स्पर्श (Stops, Plosive)—स्पर्श उन ध्वनियों को कहते हैं, जिन ध्वनियों के उच्चारण में अन्दर से आनेवाली वायु मुख-विवर में किसी स्थान-विशेष पर पूर्णतया अवरुद्ध होकर बाहर निकलती है। जैसे—क च ट त प।

२. संघर्षी या ऊष्म व्यंजन (Spirants)—संघर्षी उन व्यंजनों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में मुख-विवर का कोई स्थान-विशेष इस प्रकार संकुचित हो जाता है कि उसमें एक पतली झरी या छेद (Narrow aperture) दरार (Slit) या नाली (Groove) के आकार की शेष रहती है। जिससे अन्दर से आने वाली वायु रगड़ कर निकलती है। जैसे—स श ज़ आदि।

३. पार्श्विक (Laterals)—उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में अन्दर से आने वाली वायु किसी स्थान विशेष पर रोक दी जाती है और वह जिह्वा के एक या दोनों ओर से बाहर आती है। जैसे—ल।

४. लुंठित (Trills)—उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में अन्दर से आने वाली वायु जिह्वा में शीघ्रता से होनेवाला कम्पन उत्पन्न करे। जैसे—र।

५. नासिक्य (Nasals)—नासिक्य उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में नासिका-विवर की सहायता ली जाती है। ये दो प्रकार के हैं—**१. पूर्ण नासिक्य**—जिनका उच्चारण केवल नासिका-विवर के द्वारा ही किया जाता है। जैसे—अनुनासिक। इसके उच्चारण में कोमल तालु नीचे की ओर झुककर मुखद्वार को बन्द कर लेता है। अतः पूरी वायु नासिका-विवर से ही निर्गत होती है। **२. अपूर्ण नासिक्य**—इनके उच्चारण में अन्दर से आने वाली वायु कोमल तालु के मध्यगत रहने से मुख और नासिका दोनों विवरों से निर्गत होती है। जैसे—ङ ञ ण न म।

उपर्युक्त वर्गीकरण में काकल्य स्पर्शों को छोड़कर सभी व्यंजन घोष या अघोष हैं। सभी घोष या अघोष व्यंजन सामान्य (निरनुनासिक) या सानुनासिक (नाक की सहायता से उच्चरित) हो सकते हैं। सानुनासिक या नासिक्य व्यंजनों में नासिक्य स्पर्शों का स्थान विशेष महत्त्व का है, क्योंकि इनका भाषा में बहुत अधिक प्रचलन है और साथ ही सामान्य स्पर्शों की अपेक्षा नासिक्य स्पर्शों का श्रवणेन्द्रिय की दृष्टि से बहुत अधिक अन्तर ज्ञात होता है।

स्थान की दृष्टि से पाँच मुख्य भेदों को लेने पर तथा प्रयत्न की दृष्टि से पाँच भेदों को लेने पर व्यंजनों का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में होगा।

	ओष्ठ्य	जिह्वानोकीय	जिह्वाग्रीय	जिह्वापश्चीय	काकल्य
स्पर्श	प ब	त द	च ज	क ग	
संघर्षी	फ व	थ, स, ज़	श झ	ख	ह :
नासिक्य	म	न	ञ	ङ	
पार्श्विक		ल			
लुंठित		र			

४.१८. प्रयत्न के आधार पर वर्गीकरण

प्रयत्न के आधार पर सभी व्यंजन ध्वनियों का वर्गीकरण किया जाता है। प्रयत्न का अभिप्राय है कि वाग्यन्त्र के अवयवों को उस ध्वनि के उच्चारण में क्या प्रयत्न करना पड़ता है। स्थान में वर्णन किया गया है कि किस स्थान से ध्वनि उच्चरित होती है। इस प्रकार प्रत्येक ध्वनि के लिए स्थान और प्रयत्न का वर्णन किया जाता है। समझाने के लिए निम्नलिखित प्रकार अपनाया जाता है। उदाहरण के लिए क ध्वनि।

	स्थान ↓ कण्ठ या कोमल-तालु	
प्रयत्न → स्पर्श	क्	

	स्थान ↓ कठोर-तालु	
प्रयत्न → स्पर्श संघर्षी	च्	

प्रयत्न के आधार पर व्यंजनों का निम्नलिखित रूप से वर्गीकरण किया जाता है—

१. स्पर्श, २. स्पर्श-संघर्षी, ३. संघर्षी, ४. अर्धस्वर, ५. नासिक्य, ६. पार्श्विक, ७. लुण्ठित या प्रकम्पित, ८. उत्क्षिप्त, ९. अन्तःस्फोट या अन्तर्मुख व्यंजन।

१. स्पर्श (Stop)

'स्पर्श' उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में वाग्यन्त्र के दो अवयवों का परस्पर स्पर्श होता है। स्पर्श (छूना) के आधार पर ही इन्हें स्पर्श कहते हैं। स्पर्श में वाग्यन्त्र के दोनों अवयव परस्पर स्पर्श के द्वारा अन्दर से आने वाली वायु को रोक देते हैं और फिर उस वायु को बाहर जाने देते हैं। जब दोनों अवयव अलग होते हैं, उस समय स्फोट या उन्मोचन (Explosion) होता है, अतः स्पर्श ध्वनियों को स्फोट या स्फोटक (Explosive या Plosive) कहते हैं। अंग्रेजी में इन ध्वनियों के स्वरूप के आधार पर अनेक नाम पड़े हैं। जैसे—अन्दर से आनेवाली वायु के रुकने के कारण Stop (स्टॉप, रुकनेवाला), Occlusive (ओक्ल्यूसिव, अवरोधमुक्त), वायु के रुककर विस्फोटित होने के कारण Explosive (एक्सप्लोसिव, स्फोटयुक्त), Plosive (प्लोसिव, विस्फ़ोटात्मक), अल्प ध्वनि के कारण Mute (म्यूट, मौन ध्वनि) आदि नाम पड़े हैं।

वायु का निर्गमन, अवरोध और स्फोट—स्पर्श ध्वनियों के उच्चारण में तीन क्रियाएँ होती हैं—१. अन्दर से आनेवाली वायु का बाहर की ओर जाना, २. किसी स्थान विशेष पर रुकना, ३. अवरोध की समाप्ति पर विस्फोटात्मक ध्वनि के रूप में बाहर जाना। स्पर्शों के उच्चारण के दो रूप हो सकते हैं—पूर्ण या अपूर्ण। पूर्ण उच्चारण उसे कहेंगे, जहाँ पर उच्चारण की तीनों प्रक्रियाएँ पूरी होती हैं। ऐसी स्थिति तब होती है, जब स्पर्श अकेला हो (क्, च्, त् आदि) या उसके बाद उसी स्थान का कोई स्वर हो। जैसे—कल, काल, गाल आदि। इनमें क् या ग् के बाद कण्ठ्य स्वर अ या आ है। संयुक्त व्यंजनों में जहाँ बाद वाला व्यंजन उसी स्थान का नहीं होगा, वहाँ अपूर्ण स्पर्श उच्चारण माना जाएगा। वहाँ प्रथम दो प्रक्रियाएँ पूरी होंगी, तीसरी नहीं। जैसे—संयुक्त में क् + त और उत्कट में त् + क। संयुक्त में क् ध्वनि का उच्चारण नहीं होने पाता है। जिह्वा को त के उच्चारण के लिए भागना पड़ता है। अतः त का उच्चारण पूरा होता है और क् का अपूर्ण। इसके विपरीत उत्कट में त् का अपूर्ण उच्चारण होग और क का पूर्ण। संयुक्त व्यंजनों में बाद वाले व्यंजन का स्थान प्रमुख रहता है, अतः उस पर बल रहता है और उसका तीनों क्रियाओं से युक्त स्पष्ट एवं पूर्ण उच्चारण होता है। शब्द के अन्त में आनेवाले अल्पप्राण स्पर्श अपूर्ण होते हैं। जैसे—वाक्, क्षुत्, भूभृत्, खट् आदि। इस आधार पर स्पर्श के दो भेद किये गये हैं—१. पूर्ण या स्फोटित (Complete या Exploded), २. अपूर्ण या अस्फोटित (Incomplete या Unexploded)। संस्कृत में अपूर्ण उच्चारण को 'अभिनिधान' कहते हैं।[1] अतएव अपूर्ण उच्चरित ध्वनि को 'अभिनिहित' कहा जाता है। स्वर भी 'अभिनिहित' होते हैं।

अल्पप्राण (unaspirated) **और महाप्राण** (Aspirated)—स्पर्श व्यंजनों

---

१. डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा : *Critical Studies in the Phonetic Observation of Indian Grammarians*, London, 1929, p. 137.

के उच्चारण में वायु-प्रवाह कम या अधिक हो सकता है। जब वायु-प्रवाह कम या अल्प होता है, उसे **अल्पप्राण** कहते हैं और जब वायु-प्रवाह अधिक होता है, उसे **महाप्राण** कहते हैं। अल्पप्राण को अशक्त (Lenis, लेनिस) और महाप्राण को सशक्त (Fortis, फोर्टिस) नाम दिया गया है।[1] अल्पप्राण के उच्चारण में मांसपेशियाँ शिथिल रहती हैं और महाप्राण के उच्चारण में दृढ़। महाप्राण के उच्चारण में वायु-प्रवाह अधिक बल से आता है, अतः उसमें दृढ़ता अधिक रहती है। महाप्राण ध्वनि में वायु के प्रवाह की अधिकता के कारण स्फोट अधिक स्पष्ट सुनाई देता है, अल्पप्राण में कम स्पष्ट।

अघोष (Voice-less) **और घोष या सघोष** (Voiced)—**१. अघोष**—वे ध्वनियाँ हैं, जिनके उच्चारण में स्वरतन्त्रियाँ खुली (विवृत) रहती हैं और वायु बिना अवरोध के बाहर आती है। स्वरतन्त्रियों का मुख विवृत (खुला) होने के कारण इन्हें 'विवार', श्वास अनवरुद्ध बाहर आने के कारण 'श्वास' और स्वरतंत्रियों में कम्पन न होने के कारण 'अघोष' कहते हैं। वर्गों के प्रथम और द्वितीय वर्ण क-ख, च-छ, ट-ठ, त-थ, प-फ अघोष व्यंजन हैं। **२. घोष या सघोष**—उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में स्वरतन्त्रियों के दोनों ओष्ठ अत्यन्त समीप आ जाते हैं, अतः अन्दर से आनेवाली वायु अवरुद्ध हो जाती है। अवरुद्ध वायु के वेग के कारण स्वरतन्त्रियों के मध्य में सँकरा मार्ग होता है, जिसके कारण स्वरतन्त्रियों में कम्पन होता है। इस कम्पन के कारण ऐसी ध्वनियों को 'घोष' और 'नाद' कहा जाता है। स्वर-तन्त्रियों का मुख संवृत (बन्द) होने के कारण इन्हें 'संवार' कहा जाता है।

स्पर्श व्यंजन (Stops)

स्पर्श व्यंजन निम्नलिखित हैं—

१. कवर्ग—क् (क़्), ख्, ग्, घ्।

२. टवर्ग—ट्, ठ्, ड्, ढ्।

३. तवर्ग—त्, थ्, द्, ध्।

४. पवर्ग—प्, फ्, ब्, भ्।

१. क् (K)—क् का उच्चारण जिह्वा-पश्च को कोमल तालु से मिला कर किया जाता है। अन्दर से आनेवाली वायु को स्पर्श के द्वारा अवरुद्ध किया जाता है और फिर वायु-वेग के कारण स्फोट होता है। इसको अघोष अल्पप्राण कण्ठ्य स्पर्श कहा जाता है। जैसे—कल, काल, कुल आदि। यह ध्वनि हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी आदि में प्राप्त होती है।

संस्कृत-व्याकरण में क् ख् आदि को कण्ठ्य-ध्वनि (Velar) कहा जाता है। परन्तु वर्तमान भाषाशास्त्र में कोमल-तालु (Soft Palate, Velum) से उच्चरित होने के कारण इसे कोमल-तालव्य (Velar) कहा जाता है।

---

1. K.L. Pike : *Phonetics*, p. 128.

चित्र-परिचय :

कोमल-तालु ऊपर उठा है।
जिह्वापश्च उठकर कोमल-तालु
से मिला हुआ है।
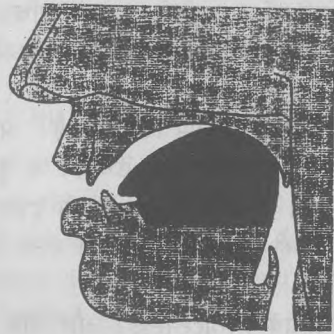
चित्र-संख्या—१३. क्, ख्, ग्, घ्

२. क़् (q)—यह ध्वनि अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों में मिलती है। इसका उच्चारण जिह्वामूल को कौवा से मिला कर किया जाता है। इसको अघोष अल्पप्राण अलिजिह्वीय या जिह्वामूलीय स्पर्श कहा जाता है। इसका स्थान जिह्वा और कोमल-तालु की दृष्टि से सबसे पीछे है। जैसे—क़त्ल, क़ातिल (मारने वाला), मुक़ाम, क़ौम आदि।

३. ख् (kh)—इसकी उच्चारण विधि क् के तुल्य है। इसमें अन्तर यह है कि यह महाप्राण ध्वनि है, अतः इसमें आन्तरिक वायु-प्रवाह अधिक होता है। इसको अघोष महाप्राण स्पर्श कहते हैं। जैसे—खल, मुख, खग, खाट आदि। संस्कृत और हिन्दी में ख् ध्वनि स्वतंत्र स्वनिम है। अंग्रेजी आदि में यह स्वतंत्र स्वनिम नहीं है, अपितु क् का ही स्वनांग (Allophone) है।

४. ग् (g)—इसकी उच्चारण विधि क् के तुल्य है। इसमें अन्तर यह है कि इसके उच्चारण में स्वरतंत्रियाँ बन्द रहती हैं, अतः ध्वनि कम्पन के साथ निकलती है। अतएव इसको घोष या नाद वर्ण कहा जाता है। यह सघोष-अल्पप्राण-कण्ठ-स्पर्श है। जैसे—गमन, ग्राम, गाय आदि। यह ध्वनि प्रायः सभी भाषाओं में पायी जाती है।

५. घ् (gh)—इसके उच्चारण में भी जिह्वापश्च कोमल-तालु को स्पर्श करता है। इसमें क् से अन्तर यह है कि इसके उच्चारण में ग् के तुल्य स्वरतंत्रियों में कम्पन होता है और महाप्राण ध्वनि होने के कारण वायु-प्रवाह अधिक बल से निकलता है। इसको घोष महाप्राण कण्ठ्य-स्पर्श कहते हैं। जैसे—घर, घोष, घृत, घी आदि। संस्कृत और हिन्दी में यह स्वतंत्र स्वनिम है। अंग्रेजी में यह ध्वनि नहीं है।

६. ट् (t)—इसका उच्चारण जीभ की नोक को पीछे की ओर मोड़कर उसके नीचे के भाग से कठोर तालु के मध्यभाग के स्पर्श से किया जाता है। यह अघोष और अल्पप्राण ध्वनि है। इसको अघोष-अल्पप्राण-मूर्धन्य-स्पर्श कहा जाता है। जैसे—कटु, काटना, संकट, विकट आदि।

टवर्गीय ध्वनियों के विषय में पश्चात्त्य भाषाशास्त्रियों का विचार है कि भारोपीय काल में मूर्धन्य ध्वनियाँ नहीं थीं। ये ध्वनियाँ द्रविड़ परिवार की भाषाओं के संपर्क से संस्कृत और हिन्दी में आयी हैं। वैदिक साहित्य में टवर्गीय ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं, अतः

इन्हें अनार्य सम्पर्क-जन्य कहना उचित प्रतीत नहीं होता है। असंदिग्ध रूप में इस विषय पर कुछ कहना संभव नहीं है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में जिह्वा के अग्र-भाग को मोड़कर कठोर तालु की ओर ले जाने को प्रतिवेष्टन कहते थे। अतः मूर्धन्य ध्वनियों को प्रतिवेष्टित (Retroflex) कहा जाता है।

७. ठ् (ṭh)—इसकी उच्चारण विधि ट् के तुल्य है। इसमें अन्तर केवल इतना है कि ट् अल्पप्राण है और यह महाप्राण है। इसके उच्चारण में आन्तरिक वायु-प्रवाह अधिक होता है। इसको अघोष-महाप्राण-मूर्धन्य-स्पर्श कहते हैं। जैसे—कठिन, कठोर, कुठार, ठठेरा आदि।

८. ड् (ḍ)—इसका उच्चारण जिह्वा की नोक को उलट कर कठोर-तालु के मध्यभाग को स्पर्श करके होता है। इसका ट् से अन्तर यह है कि ट् अघोष ध्वनि है और यह सघोष है। इसके उच्चारण में स्वरतंत्रियों में कम्पन होता है। इसको घोष-अल्पप्राण-मूर्धन्य-स्पर्श कहते हैं। जैसे—डमरू, खड्ग, डाकू, डाकिया आदि।

९. ढ् (ḍh)—इसकी उच्चारण विधि ड् के तुल्य है। अन्तर यह है कि यह अल्पप्राण न होकर महाप्राण है। इसको घोष-महाप्राण-मूर्धन्य-स्पर्श कहते हैं। जैसे—ढोल, ढाल, ढक्कन, ढंग आदि।

१०. त् (t)—इसके उच्चारण में जिह्वा-नोक ऊपर के दाँतों के अग्रभाग को स्पर्श करता है। कोमल-तालु ऊपर उठा रहता है, अतः आन्तरिक वायु नासाविवर की ओर से नहीं जाने पाती। स्वरतंत्रियों का मुख खुला रहता है, अतः आन्तरिक वायु अबाध रूप से दाँतों तक बाहर आती है। जिह्वानोक के हटते ही स्फोट के साथ त् ध्वनि का उच्चारण होता है। इसको अघोष-अल्पप्राण-दन्त्य स्पर्श कहते हैं। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि ये दन्त्य ध्वनियाँ अंग्रेजी भाषा में नहीं मिलती हैं। वहाँ त् द् आदि का वर्त्स से उच्चारण होने के कारण इनको वर्त्स्य (Alveolar) ध्वनि कहा जाता है। फ्रेंच में तवर्गीय ध्वनियाँ हैं और इनका दन्त्य उच्चारण होता है। संस्कृत और हिन्दी में ये तवर्गीय ध्वनियाँ अत्यन्त प्रचलित हैं। जैसे—तथास्तु, तथा, तीन, तेरह, तीस आदि।

चित्र-परिचय :

कोमल-तालु ऊपर उठा है।
जीभ का अग्रभाग दाँत के मध्यभाग को छू रहा है। वायुमार्ग में अवरोध से घर्षण होता है।
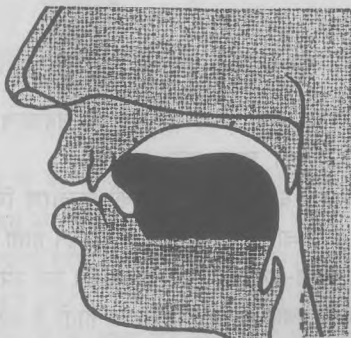
चित्र-संख्या—१४. त्, थ्, द्, ध्

११. थ् (th)—इसकी उच्चारण विधि त् के तुल्य है। अन्तर केवल यह है कि

यह महाप्राण ध्वनि है, अतः आन्तरिक वायु-वेग अधिक प्रबल रहता है। इसको अघोष-महाप्राण-दन्त्य-स्पर्श कहते हैं। जैसे— तथा, यथा, कथम्, थाल, थाली आदि।

१२. द् (d)—इसका उच्चारण जीभ की नोक से ऊपर के दाँतों के मध्यभाग को छू कर किया जाता है। त् से इसका अन्तर यह है कि यह अघोष न होकर घोष है। इसको घोष-अल्पप्राण-दन्त्य-स्पर्श कहते हैं। जैसे—दन्त, दश, दान, दक्षिणा आदि।

१३. ध् (dh)—इसका उच्चारण द् के तुल्य है। अन्तर केवल यह है कि अल्पप्राण न होकर महाप्राण ध्वनि है। इसको घोष-महाप्राण-दन्त्य-स्पर्श कहते हैं। जैसे—धन्य, धनी, धनवान्, धनुष आदि।

१४. प् (p)—इसका उच्चारण दोनों ओष्ठों के स्पर्श के द्वारा होता है। दोनों ओंठ मिलकर आन्तरिक वायु-प्रवाह को रोक देते हैं और स्फोट के साथ खुलते हैं। स्वरतंत्री का मुख खुला होने से घोष या कम्पन नहीं होता है। कोमल-तालु ऊपर उठा रहता है, अतः नासामार्ग पूर्णतया बन्द रहता है। दोनों ओष्ठों के स्पर्श से उच्चरित होने के कारण इसको द्वयोष्ठ्य (Bilabial) अघोष-अल्पप्राण-स्पर्श कहते हैं। यह ध्वनि प्रायः सभी भाषाओं में मिलती है। यह देखा गया है कि अंग्रेजी के प् के उच्चारण में दोनों ओष्ठों को जितना बलपूर्वक मिलाया जाता है, उतना संस्कृत और हिन्दी के प् के उच्चारण में नहीं। जैसे—पिता, पुनः, पान, पात्र, पुत्र आदि।

चित्र-परिचय :

कोमल-तालु ऊपर उठा है।
दोनों ओष्ठ मिले हैं।
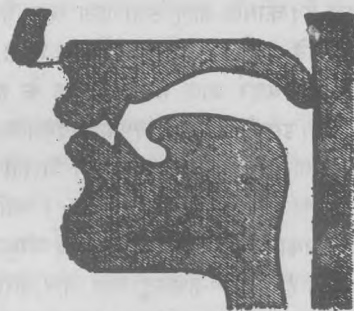
चित्र-संख्या—१५. प्, फ्, ब्, भ्

१५. फ् (ph)—इसकी उच्चारण विधि प् के तुल्य है। अन्तर यह है कि यह महाप्राण ध्वनि है। इसको अघोष-महाप्राण-ओष्ठ्य-स्पर्श कहते हैं। जैसे—फल, सफल, स्फोट, फूल, फण आदि।

१६. ब् (b)—इसकी उच्चारण विधि प् के तुल्य है। अन्तर केवल यह है कि इसके उच्चारण में स्वरतंत्री में कम्पन होता है, अतः यह सघोष ध्वनि है। इसको सघोष-अल्पप्राण-द्वयोष्ठ्य-स्पर्श कहते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि अघोष ध्वनियाँ वायु के अबाध प्रवाह के कारण सशक्त होती हैं और घोष ध्वनियाँ स्वरतंत्री में अवरोध के कारण अशक्त या निर्बल होती हैं। प् की अपेक्षा ब् निर्बल ध्वनि है। यह ध्वनि प्रायः सभी भाषाओं में पायी जाती है। जैसे—बहुधा, बालक, बालिका, बलवान्, बादल, बाहु आदि।

१७. भ् (bh)—इसकी उच्चारण विधि ब् के तुल्य है। अन्तर केवल यह है कि यह अल्पप्राण न होकर महाप्राण ध्वनि है। इसको सघोष-महाप्राण-ओष्ठ्य-स्पर्श कहते हैं। जैसे—भद्र, भाषा, भूति, सभा, विभव आदि।

२. स्पर्श-संघर्षी (Affricates)

स्पर्श-संघर्षी उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनका आरम्भ स्पर्श से होता है, परन्तु इनका स्फोट या उन्मोचन झटके से न होकर धीरे-धीरे होता है। इसका परिणाम यह होता है कि वायु धीरे-धीरे घर्षण के साथ निकलती है। ऐसी ध्वनियों के उच्चारण में स्पर्श और घर्षण दोनों होता है, अतः इन्हें स्पर्श-संघर्षी-ध्वनियाँ कहा जाता है। आधुनिक भाषाशास्त्र के अनुसार चवर्गीय ध्वनियों को स्पर्श में न रख कर स्पर्शसंघर्षी में रखा जाता है। ये ध्वनियाँ च् छ् ज् झ् हैं।

१. च् (ch)—इसके उच्चारण में जिह्वाग्र कठोर-तालु के अग्रभाग को स्पर्श करता है। जिह्वाग्र एक चपटा छिद्र बनाता है, जिसमें से वायु रगड़ खा कर बाहर निकलती है। जिह्वापश्च पूर्णतया विस्तृत रहता है। यह अघोष है, अतः स्वरतंत्री में कम्पन नहीं होता है। इसको अल्पप्राण-अघोष-स्पर्शसंघर्षी-ध्वनि कहते हैं। यह ध्वनि संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि में पायी जाती है। जैसे—चन्दन, चाटुकार, चार, चर्चा, चतुर आदि।

चित्र-परिचय :

कोमल-तालु ऊपर उठा है।
जिह्वानोक कठोर-तालु के अग्रभाग को छूती है।
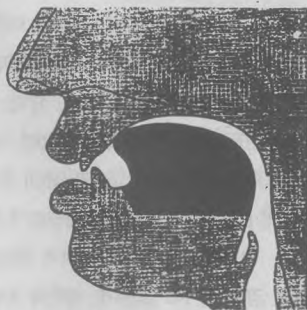
चित्र-संख्या—१६. च्, छ्, ज्, झ्

२. छ् (chh)—इसकी उच्चारण विधि च् के तुल्य है। अन्तर केवल इतना है कि यह महाप्राण ध्वनि है। इसको अघोष-महाप्राण-स्पर्श-संघर्षी व्यंजन कहते हैं। जैसे—छेद, छाया, छत्र, छिद्र आदि।

३. ज् (j)—इसकी उच्चारण विधि च् के तुल्य है। अन्तर यह है कि इसके उच्चारण में स्वरतंत्रियों में कम्पन होता है। वायु स्वरतंत्रियों में अवरुद्ध होकर बाहर आती है। अतः घोष होता है। इसको सघोष-अल्पप्राण-स्पर्श-संघर्षी-तालव्य-व्यंजन कहते हैं। जैसे—जीवन, जन्म, जाति, जननी, जय, विजय आदि।

४. झ् (jh)—इसकी उच्चारण विधि ज् के तुल्य है। अन्तर यह है कि यह अल्पप्राण न होकर महाप्राण ध्वनि है। इसको सघोष-महाप्राण-स्पर्श-संघर्षी-तालव्य-व्यंजन कहते हैं। जैसे—झटिति, झंझा, झुंड, झिल्ली, झष (मछली) आदि।

३. संघर्षी (Fricative, Spirant)

संघर्षी उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में आन्तरिक वायु का न तो स्पर्श ध्वनियों के तुल्य पूर्णतया अवरोध होता है और न स्वरों के तुल्य अबाध रूप से मुख से बाहर निकलती है। इसकी स्थिति स्पर्श व्यंजनों और स्वरों के बीच की है। इनके उच्चारण में भाषणावयव एक-दूसरे के समीप आ जाते हैं, जिससे आन्तरिक वायु दोनों के बीच से रगड़ खा कर निकलती है। इस घर्षण के कारण ही इन ध्वनियों को संघर्षी कहा जाता है। अंग्रेजी में इसे Fricative, Spirant, Durative, Continuant अर्थात् घर्ष, घर्षक, अनवरुद्ध, अव्याहत या सप्रवाह कहा गया है। संस्कृत में इनको ऊष्म ध्वनि कहा गया है। **(शषसहा ऊष्माणः, सि० कौ०)** ये ध्वनियाँ हैं— : (विसर्ग), ह्, ख़, ग़, श्, स्, ज़्, फ़्, व्, ष्।

१. ःह्, : (विसर्ग)—विसर्ग ह् का ही अघोष रूप है। इसका उच्चारण आन्तरिक वायु-प्रवाह के स्वरतंत्री के मुख (काकल) पर रगड़ के द्वारा होता है। इसके उच्चारण में जीभ और तालु आदि की सहायता नहीं ली जाती है। अन्दर से आने वाली वायु वेग से खुली हुई स्वरतंत्रियों के मुख से निकलती है। अ और विसर्ग के उच्चारण में अन्तर यह है कि अ के उच्चारण में वायु वेग से नहीं फेंकी जाती है और विसर्ग के उच्चारण में वायु वेग से फेंकी जाती है। अ घोष ध्वनि है और विसर्ग अघोष ध्वनि। इसको अघोष-काकल्य या स्वरयंत्रमुखी, संघर्षी ध्वनि कहते हैं। संस्कृत में इसका प्रचलन बहुत अधिक है। शब्द-रूपों, धातु-रूपों और अव्ययों आदि में इसका प्रयोग अधिक होता है। जैसे—रामः, बालकः, अपठः, पुनः, भूयः (फिर), स्वः (स्वर्ग) आदि। हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों में इसका प्रयोग पाया जाता है। जैसे—प्रायः, पुनः (फिर), दुःख। हिन्दी में दुःख आदि में विसर्ग लिखा जाता है, परन्तु इसका उच्चारण क् (दुक्ख) के तुल्य किया जाता है। विसर्ग का प्राचीन उच्चारण जिह्वामूलीय था।

२. ह्—इसका उच्चारण विसर्ग के तुल्य काकल्य या स्वरयंत्रमुखी है। दोनों में अन्तर यह है कि विसर्ग अघोष ध्वनि है और यह घोष ध्वनि है। शब्दों के अन्त में आनेवाला ह् घोष होता है। जैसे—इह (यहाँ), विवाह, उत्साह, यह, वह आदि। शब्द के प्रारम्भ में आने वाले ह् के विषय में मतभेद है। कुछ विद्वान् इसको अघोष मानते हैं, कुछ घोष। इसको घोष-काकल्य-संघर्षी कहते हैं। संस्कृत में इसको कण्ठ्य ध्वनि कहा गया है। **(अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः, सि० कौ०)** परन्तु आधुनिक भाषा-शास्त्री इसको काकल्य ध्वनि मानते हैं। जैसे—हस्त, हस्ती, हरित, हल, हास, परिहास, हाथी, कहना आदि।

३. ख़्—इसका उच्चारण जिह्वामूल को कौवा के समीप कोमल तालु से मिला कर किया जाता है। मुखद्वार पूर्णतया बन्द नहीं होता है। अतः आन्तरिक वायु रगड़ खा कर निकलती है। इसको अघोष-जिह्वामूलीय-संघर्षी-ध्वनि कहते हैं। यह ध्वनि संस्कृत में नहीं है। हिन्दी में भी अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों में मिलती है। जैसे—ख़ुदा, बुख़ार, ख़राब। हिन्दी की बोलियों में इसका उच्चारण प्रायः ख किया जाता है।

४. ग़्—इसका उच्चारण ख़् के तुल्य होता है। यह अघोष ध्वनि न होकर घोष ध्वनि है। इसको घोष-जिह्वामूलीय-संघर्षी-ध्वनि कहते हैं। यह ध्वनि भी संस्कृत में नहीं है। अरबी, फारसी के तत्सम हिन्दी शब्दों में पायी जाती है। हिन्दी में प्रायः इसका उच्चारण ग ही किया जाता है। जैसे—दाग़, ग़रीब आदि।

५. श्—इसके उच्चारण में जिह्वा-मध्य कठोर-तालु की ओर उठता है और जिह्वा-फलक वर्त्स के समीप रह कर चपटे छिद्र की सृष्टि करता है। चपटे छिद्र से वायु रगड़ खा कर बाहर निकलती है। दाँतों की दोनों पंक्तियाँ समीप आ जाती हैं और नीचे का ओष्ठ बाहर की ओर कुछ झुका रहता है। इसको अघोष-तालव्य-संघर्षी कहते हैं। यह ध्वनि अधिकांश भाषाओं में पायी जाती है। कुछ हिन्दी बोलियों में श् को स् बोलते हैं। जैसे—शब्द, शरीर, शिशु, शयन, शीतल आदि।

चित्र-परिचय :

कोमल-तालु उठा हुआ है। जीभ का अग्रभाग कठोर-तालु के अग्रभाग को छू रहा है। इसमें जिह्वाग्र स् की अपेक्षा कुछ ऊपर उठा है।
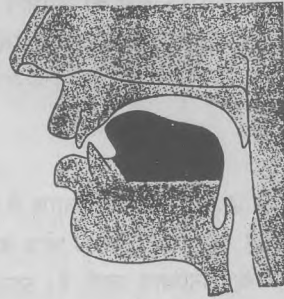
चित्र-संख्या—१७. श्

६. ष्—इसके उच्चारण में जिह्वानोक पीछे की ओर मुड़कर वर्त्स के कुछ पिछले भाग के समीप रह कर एक छिद्र बनाती है। जीभ के दोनों किनारे कठोर तालु को छूते हैं। इसको अघोष-मूर्धन्य-संघर्षी कहते हैं। इसका संघर्ष स् के तुल्य तीक्ष्ण नहीं होता है। स्वरयंत्र में कम्पन भी नहीं होता है। संस्कृत में इसका प्रयोग अधिक मात्रा में मिलता है। जैसे—षष्ठ, श्रेष्ठ, करिष्यति (करेगा), इष्ट आदि।

७. स्—इसके उच्चारण में जिह्वानोक ऊपर के दाँतों के पीछे रहकर एक प्रकार का छिद्र बनाती है। इस संकीर्ण छिद्र से वायु रगड़ कर निकलती है। जिह्वा के दोनों किनारे ऊपर उठकर एक नाली-सी बनाते हैं। इसको अघोष-दन्त्य-संघर्षी कहते हैं। अधिकांश संस्कृत और हिन्दी की स् ध्वनियाँ इस कोटि में आती हैं। जैसे—समीप, समय, सहायक आदि।

स् का अघोष वर्त्स्य संघर्षी रूप भी मिलता है। अधिकांश अंग्रेजी स् ध्वनि के उच्चारण में जिह्वानोक वर्त्स के समीप रह कर छिद्र बनाती है। ऐसे स् के उच्चारण में सीत्कार (Hissing) की ध्वनि सुनाई पड़ती है। जैसे—Sing (सिंग, गाना), Song (सौंग, गान), Mess (मैस, पाकशाला) आदि। हिन्दी की कुछ ध्वनियों में स् का उच्चारण वर्त्स्य है। जैसे—पास, सेना आदि।

८. ज़्—इसके उच्चारण में जिह्वानोक वर्त्स के समीप रहकर छिद्र बनाती है,

जिससे वायु रगड़ के साथ निकलती है। इसके उच्चारण में स्वरतंत्री में कम्पन होता है। इसको सघोष-वर्त्स्य-संघर्षी कहते हैं। यह ध्वनि संस्कृत में नहीं है। अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, उर्दू आदि में इसकी अधिकता है। उर्दू से आये हिन्दी शब्दों में यह पायी जाती है। जैसे—ज़ुल्म, ज़ालिम, ज़िन्दा, ज़रा आदि। अंग्रेजी—Boys (ब्वायज़, लड़के), Ladies (लेडीज़, स्त्रियाँ)। फ्रेंच—Dansun (दांज़, में)। जर्मन—Sind (ज़िन्ट, हैं)।

चित्र-परिचय :

स्, ज़् के उच्चारण में कोमल-तालु उठा है। जीभ का अग्रभाग और जिह्वा-फलक वर्त्स के अत्यंत समीप हैं। ऊपर और नीचे के दाँत भी परस्पर समीप हैं।
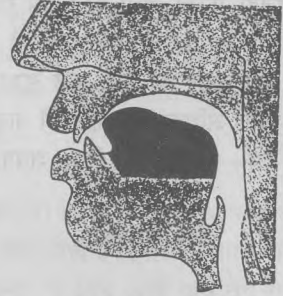
चित्र-संख्या—१८. स्, ज़्

९. फ़्—इसके उच्चारण में नीचे के ओष्ठ को ऊपर के दाँतों से धीरे से स्पर्श किया जाता है और वायु दाँतों के बीच के छिद्र से रगड़ खाती हुई निकलती है। ऊपर का ओष्ठ और जीभ निष्क्रिय रहती है। स्वरतंत्री में कंपन नहीं होता है। इसको अघोष-दंतोष्ठ्य-संघर्षी कहते हैं। यह ध्वनि संस्कृत और हिंदी में नहीं है। अरबी, फ़ारसी से लिये गये तत्सम शब्दों में इसका प्रयोग मिलता है। अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि में यही फ़् ध्वनि मिलती है। जैसे—साफ़, फ़ारसी आदि।

१०. व्—इसका उच्चारण फ़् के तुल्य ही नीचे के ओष्ठ को ऊपर के दाँतों से छुआ कर किया जाता है। ओष्ठ और दाँतों के बीच से वायु रगड़ खा कर निकलती रहती है। दोनों में अंतर यह है कि फ़् अघोष ध्वनि है और यह घोष ध्वनि। इसके उच्चारण में स्वरतंत्री में कम्पन होता है। इसको घोष दंतोष्ठ्य संघर्षी कहते हैं। यह ध्वनि संस्कृत, हिंदी आदि में नहीं है। अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि में इसका उच्चारण अधिक प्रचलित है। जैसे—अंग्रेजी Vast (वास्ट, चौड़ा), Very (वेरी, बहुत)। फ्रेंच—Vaste (वास्त, चौड़ा)। जर्मन—Was (वास, क्या)।

चित्र-परिचय :

फ़्, व् के उच्चारण में नीचे का ओष्ठ ऊपर उठकर दाँत के अग्रभाग को छूता है। कोमल-तालु उठा हुआ है।

चित्र-संख्या—१९. फ़्, व्

४. अर्धस्वर (Semivowel)

संस्कृत में अर्धस्वरों को अंतस्थ कहते हैं। (**यरलवा अन्तस्थाः, सि० कौ०**) य् और व् की स्थिति स्वर और व्यंजन के बीच की है। इनके उच्चारण में मुख-द्वार व्यंजनों के तुल्य न पूर्णतया बन्द होता है और न स्वरों के तुल्य पूरा खुला ही रहता है। इनका झुकाव व्यंजनों की ओर अधिक है, क्योंकि ये स्वरों की तुलना में कम मुखर हैं और बलाघात को वहन भी नहीं कर सकते। इनको अर्धस्वर (आधा स्वर) कहने का अभिप्राय यह है कि इनका प्रारंभ स्वर की स्थिति से होता है और समापन व्यंजन की स्थिति से। अतएव इन्हें स्वतंत्र-श्रुति (Independent glide) माना जाता है। इनके उच्चारण में वायु-प्रवाह बहुत शिथिल रहता है। अतः इनको संघर्षहीन सप्रवाह भी कहते हैं। ये ध्वनियाँ हैं—य्, व्।

१. य्—इसके उच्चारण में जिह्वाग्र कठोर-तालु की ओर उठता है और दोनों ओष्ठ फैले रहते हैं। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र कठोर तालु को चवर्गीय स्पर्शों के तुल्य न पूरा छूता है और न तालव्य स्वरों के तुल्य दूर ही रहता है। इसको घोष-तालव्य-अर्धस्वर कहते हैं। जैसे—यान, यंत्र, यातायात, यात्रा, युक्ति आदि।

२. व्—इसके उच्चारण में जिह्वा-पश्च उ के उच्चारण के तुल्य ऊपर उठता है और दोनों ओष्ठ गोलाकार होकर कुछ आगे की ओर निकलते हैं। नासाद्वार बंद रहता है। स्वरतंत्री में कंपन होता है। इसको घोष-कण्ठोष्ठ्य-अर्धस्वर कहते हैं। यह ध्वनि प्रायः सभी भाषाओं में मिलती है। संस्कृत और हिंदी में यह दन्त्योष्ठ्य है। जैसे—वेद, विद्या, विविध, विज्ञान, वादविवाद आदि।

५. नासिक्य (Nasals)

भारतीय वैयाकरणों ने नासिक्य को अनुनासिक कहा है। पाणिनि ने इसका लक्षण दिया है—'**मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः।**' (अष्टा० १-१-८) अर्थात् जो वर्ण मुख के साथ ही नासिका की सहायता से उच्चरित होते हैं, उन्हें अनुनासिक कहते हैं। नासिक्य की दृष्टि से व्यंजनों को दो भागों में विभक्त किया जाता है—**१. निरनुनासिक**—जिनके उच्चारण में नासिका या नासाविवर की सहायता नहीं ली जाती है। जैसे—क्, ख् आदि स्पर्श व्यंजन। **२. अनुनासिक**—जिनके उच्चारण में मुख के साथ ही नासिका या नासाविवर की सहायता ली जाती है। जैसे—वर्गों के पंचम वर्ण—ङ्, ञ्, ण्, न्, म्।

संस्कृत-व्याकरण के अनुसार नासिक्य व्यंजनों को भी स्पर्श में रखा जाता है। साथ ही निर्देश किया जाता है कि इनके उच्चारण में नासिका की सहायता ली जाती है और ये नासिक्य व्यंजन हैं। (**ञमङणनानां नासिका च, सि० कौ०**) निरनुनासिक-स्पर्श और नासिक्यस्पर्श में अन्तर यह है कि निरनुनासिक-स्पर्श के उच्चारण में नासारंध्र बन्द रहता है, अतः आंतरिक वायु-प्रवाह मुखमार्ग से ही निकलता है। नासिक्य स्पर्शों के उच्चारण में कोमल-तालु नीचे झुक जाता है। अतः नासाद्वार और मुखद्वार दोनों खुले रहते हैं। आन्तरिक वायु-प्रवाह मुख और नासिका-विवर दोनों ओर से निकलता है।

नासिक्य व्यंजनों के उच्चारण में नासिक्य ध्वनि के अनुसार मुख-मार्ग में कंठ, तालु आदि स्थानों पर अवरोध होता है, साथ ही वायु का कुछ अंश नासाविवर से निकलता है। इन वर्णों के उच्चारण में मुख और नासिका दोनों का सहयोग अपेक्षित है। प्रत्येक नासिक्य को स्ववर्गीय स्पर्श नासिक्य या अनुनासिक के रूप में समझा जा सकता है। नासिक्य व्यंजन घोष ध्वनि हैं, अतः ये कोमल-ध्वनि माने जाते हैं। कोमलता के कारण ये स्वरों से पर्याप्त समानता रखते हैं। नासिक्य ध्वनियों का महाप्राण रूप भी उच्चरित होता है। जैसे—न्ह्, म्ह् आदि।

नासिक्य ध्वनियाँ हैं—ङ्, ञ्, ण्, न्, म्।

१. ङ् (n)—इसके उच्चारण में जिह्वा-पश्च कोमल-तालु का स्पर्श करके वायु-प्रवाह को बंद करता है, साथ ही कोमल-तालु के नीचे झुकने से नासाद्वार खुला रहता है। वायु-प्रवाह के वेग के कारण स्फोट के साथ यह ध्वनि उत्पन्न होती है। नासाविवर के खुले रहने के कारण नासिक्य ध्वनियों में गूँज रहती है। इसको अल्पप्राण-सघोष-कण्ठ्य-नासिक्य कहते हैं। यह ध्वनि प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में और यूरोपीय भाषाओं में पाई जाती है। संस्कृत व्याकरण में और अफ्रीकी भाषाओं में यह शब्द के प्रारम्भ में भी पाई जाती है। जैसे—ङीप्, ङीष्, ङीन् आदि स्त्रीलिंग प्रत्यय। अफ्रीकी भाषा में ङाँ (स्त्री), ङे (तोड़ना)।

संस्कृत में ङ् सामान्यतया शब्दों के मध्य में कवर्ग से पहले पाया जाता है। शब्दों के अंत में हलंत के रूप में इसका प्रयोग मिलता है। हिंदी में इसको कहीं ङ् भी लिखते हैं, परंतु अधिकांशतः इसको शब्दों के मध्य में अनुस्वार के द्वारा ही सूचित करते हैं। जैसे—व्यङ्ग्य-व्यंग्य, अङ्क-अंक, बङ्ग-बंग, प्राङ्मुख, प्रत्यङ् (पीछे)।

चित्र-परिचय :

कोमल-तालु नीचे झुका है। जिह्वापश्च कोमल-तालु को छू रहा है। आन्तरिक वायु केवल नासामार्ग से निकल रही है।

चित्र-संख्या—२०. ङ्

२. ञ् (ñ)—इसका उच्चारण जिह्वाग्र को कठोर-तालु से मिलाकर किया जाता है। साथ ही नासाद्वार खुला रहने के कारण वायु-प्रवाह का कुछ अंश नाक से निकलता है। इसको घोष अल्पप्राण-तालव्य-नासिक्य कहते हैं। संस्कृत में यह ध्वनि साधारणतया शब्दों के मध्य में सुनाई पड़ती है। राजन् आदि शब्दों के रूपों में ज् + ञ् = ज्ञ् ध्वनि सुनाई पड़ती है। पाणिनि ने अनेक प्रत्ययों में ञ् ध्वनि लगायी है। जैसे—अञ्, ठञ्, खञ् आदि। पारिभाषिक शब्दावली में भी इसका प्रयोग प्रचलित है। अतएव ञीतः क्तः

(३-२-१८७), ञितश्च० (४-३-१५५) आदि सूत्रों में इसका प्रयोग हुआ है। अञ्जलि, कञ्ज आदि शब्दों में इसका प्रयोग होता है। हिन्दी में ञ् के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग अधिक प्रचलित है। फ्रेंच और इटालियन भाषाओं में यह ध्वनि पायी जाती है। जैसे—फ्रेंच Agneau (आञो, भेड़ा का बच्चा), इटालियन Ogni (ओञि, सब), ब्रज भाषा के ना (ञा, नहीं) आदि में यह ध्वनि सुनाई पड़ती है। द्रविड़ परिवार की मलयालम भाषा में यह ध्वनि शब्दों के प्रारंभ में भी पाई जाती है। जैसे—ञान् (मैं)।

३. ण् (ṇ)—इसका उच्चारण जिह्वानोक को पीछे मोड़कर कठोर-तालु के पिछले भाग से किया जाता है। नासाद्वार भी खुला रहता है। इसको घोष-अल्पप्राण-मूर्धन्य नासिक्य कहते हैं। यह ध्वनि संस्कृत और हिंदी में पायी जाती है। जैसे—पुण्य, पण्डित, पाणि (हाथ) आदि। हिंदी में ण् के स्थान पर बोलियों में न् का प्रचलन है। जैसे—गुण-गुन, गणेश-गनेश, बाण-बान आदि। अंग्रेजी, फ्रेंच आदि में यह ध्वनि नहीं है। मलयालम भाषा में ण् का प्रचलन बहुत है। जैसे—रण्डु (दो), कल्याणं (विवाह), क्षणं (निमंत्रण), एण्ण (तेल)।

४. न् (n)—इसका उच्चारण जिह्वानोक से वर्त्स (दंतमूल, मसूड़ा) को छूकर किया जाता है। नासाद्वार खुला रहेगा। इसका घोष-अल्पप्राण-वर्त्स्य-नासिक्य कहते हैं। यह ध्वनि प्रायः सभी भाषाओं में पायी जाती है। संस्कृत में दंतमूल को भी दंत मान कर इसे दंत्य कहा जाता है। जैसे—नाम, नर, नदी, नियम आदि।

न् का दंत-मध्य से भी उच्चारण होता है। वहाँ इसको दंत्य नासिक्य ही कहा जाएगा। जैसे—दीन, वदन, धन आदि। इनके उच्चारण में जिह्वानोक दंतमध्य का स्पर्श करती है।

चित्र-परिचय :

कोमल-तालु नीचे झुका हुआ है।
जिह्वानोक वर्त्स को छूती है।
आंतरिक वायु केवल नासामार्ग से
निकलती है।
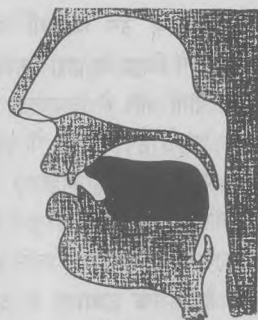
चित्र-संख्या—२१. न्

न्ह्—यह न् का महाप्राण रूप है। इसे घोष-महाप्राण-वर्त्स्य-नासिक्य कहते हैं। संस्कृत और हिंदी में इसको संयुक्त ध्वनि मानते हैं। आधुनिक विद्वान् इसको मूलध्वनि मानते हैं। इसको न् का महाप्राणीकृत रूप ही समझना चाहिए स्वतंत्र-मूल-ध्वनि नहीं। जैसे—इन्हें, उन्हें, उन्होंने, कन्हैया, किन्हीं, नन्हा आदि।

५. म् (m)—इसके उच्चारण में दोनों ओष्ठ मिलकर वायु-प्रवाह को बंद कर देते

हैं। नासा-द्वार खुला रहता है। जिह्वा उदासीन अवस्था में रहती है। स्वरतंत्री में कंपन होता है। इसे घोष-अल्पप्राण-द्वयोष्ठ्य नासिक्य कहते हैं। प्रायः सभी भाषाओं में यह ध्वनि पायी जाती है। जैसे—माता, मुख, मदन, मधुर आदि।

हिंदी में संयुक्त व्यंजनों वाले स्थलों पर म् को अनुस्वार के रूप में लिखने का अधिक प्रचलन है। जैसे—कम्पन-कंपन, पम्पा-पंपा, सम्पन्न-संपन्न, बिम्ब-बिंब, सम्बन्धी-संबन्धी आदि।

म्ह्—यह म् का महाप्राणरूप है। इसको घोष-महाप्राण-ओष्ठय-नासिक्य कहते हैं। इसको स्वतंत्र मूल-ध्वनि न मान कर म् का संयुक्त रूप ही समझना चाहिए। कुछ आधुनिक भाषाशास्त्री इसको मूल महाप्राण-ध्वनि मानते हैं। जैसे—कुम्हार, तुम्हारा, ब्राम्हण (ब्राह्मण), ब्रम्हा (ब्रह्मा)।

चित्र-परिचय :

कोमल-तालु झुका हुआ है।
दोनों ओष्ठ मिले हुए हैं।
आंतरिक वायु केवल नासामार्ग से
निकल रही है।
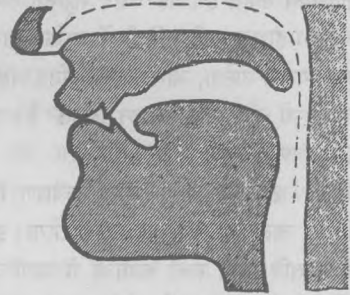
चित्र-संख्या—२२. म्

६. पार्श्विक (Laterals)

पार्श्विक उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में आंतरिक वायु-प्रवाह मुखविवर में जिह्वा के द्वारा किसी स्थान पर अवरुद्ध कर दिया जाता है और वायु जिह्वा के एक या दोनों ओर से निकलती है। पार्श्व (बगल) से निकलने के कारण ऐसी ध्वनि को पार्श्विक कहते हैं। अंग्रेजी में इसको Lateral (लेटरल) कहते हैं। इसका प्राचीन नाम अंग्रेजी में Liquid (लिक्विड) है। अधिक मुखरता के कारण इसको स्वरों के समकक्ष माना जाता है। अतएव संस्कृत में ल् का स्वरीकृत रूप लृ स्वर है। प्राचीन समय में लृ स्वर का प्रचलन था। यह ध्वनि (ल्) अघोष और सघोष तथा अल्पप्राण और महाप्राण हो सकती है। इसके उच्चारण में ओष्ठ उदासीन या विवृत रहते हैं। इसको अनुनासिक भी किया जा सकता है। यह ध्वनि नासिक्य या काकल्य आदि रूपों में भी प्राप्त होती है।

ल्—इसका उच्चारण जिह्वानोक के द्वारा मसूड़ों को छू कर किया जाता है। जिह्वानोक वर्त्स या मसूड़ों को छूती रहती है और आंतरिक वायु एक या दोनों पार्श्वों से निकलती रहती है। इसके उच्चारण में कोमल-तालु उठकर नासाद्वार को बंद कर देता है। इसको घोष-अल्पप्राण-वर्त्स्य-पार्श्विक ध्वनि कहा जाता है। यह ध्वनि प्रायः सभी भारतीय और यूरोपीय भाषाओं में मिलती है। ल् का उच्चारण र् के स्थान से ही किया जाता है। यह ध्वनि र् की अपेक्षा सरल है। अतः छोटे बच्चे र् के स्थान पर ल् का ही

उच्चारण करते हैं। जैसे—राम को लाम। ल का उच्चारण कुछ प्रयत्नसाध्य है। जैसे—लाल, लीला, लेखन, लिखना, बाल, खाल आदि।

ल् का मूर्धन्यीकृत उच्चारण भी होता है। इसको ळ् लिखा जाता है। इसके उच्चारण में जिह्वानोक मुड़कर कठोर तालु को छूती है। इसको घोष-अल्पप्राण-मूर्धन्य-पार्श्विक कहते हैं। यह ध्वनि हिंदी, अंग्रेजी, फ्रेंच आदि में नहीं है। वैदिक संस्कृत, मराठी और द्रविड़ भाषाओं में यह अधिकता से मिलती है। जैसे—वैदिक—ईळे (स्तुति करता हूँ)। मराठी—तिळक (तिलक), मलयालम्—मकळ (पुत्री), नीळं (लम्बाई) आदि।

चित्र-परिचय :

कोमल-तालु ऊपर उठा है।
जिह्वानोक वर्त्स से मिली है।
वायु दोनों बगल से निकल रही है।
पार्श्व (बगल) से वायु निकलने के कारण इसे पार्श्विक ध्वनि कहते हैं।
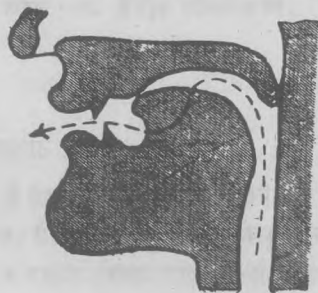
चित्र-संख्या—२३. ल्

ल्ह्—यह ल् का महाप्राण रूप है। इसको संयुक्त व्यंजन ही मानना उचित है। कुछ विद्वानों ने इसको न्ह्, म्ह् के तुल्य मूल-ध्वनि माना है। बोलचाल की भाषा में इसके कुछ प्रयोग मिलते हैं। जैसे—आल्हा, दूल्हा, दुल्हिन, काल्ह (कल)।

७. लुंठित या प्रकम्पित (Trills)

लुंठित उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में जिह्वानोक बेलन के तुल्य मुड़कर वर्त्स या मसूड़े को शीघ्रता से छूती है। जिह्वा के लुंठन अर्थात् तीव्रगतिशीलता या प्रकंपन के कारण इसको लुंठित कहा जाता है। अंग्रेजी में इसको Trill (ट्रिल) कहा जाता है। इसको कंपित या प्रकंपित भी कहते हैं। यह ध्वनि र् है। इसके उच्चारण में जिह्वानोक एक से पाँच बार तक हिलती है। संस्कृत या हिंदी के र् के उच्चारण में जिह्वा दो या तीन बार वर्त्स को छूती है। इसको घोष-अल्पप्राण-वर्त्स्य-लुंठित कहते हैं। इसके उच्चारण में नासाद्वार बन्द रहता है। स्वरतंत्री में कंपन होता है। यह ध्वनि प्रायः सभी भाषाओं में पायी जाती है।

र्—इसके उच्चारण में जिह्वानोक दो-तीन बार वर्त्स्य या मसूड़े को बहुत शीघ्रता से छूती है। इसके उच्चारण में छोटे बालकों को कठिनाई होती है। इसको घोष-अल्पप्राण-वर्त्स्य-लुंठित कहते हैं। जैसे—राम, राजा, राग, रति, रस आदि।

र्ह्—र्ह् र् का महाप्राण रूप है। संस्कृत और हिंदी में इसका प्रयोग मिलता है। कुछ विद्वानों ने इसको भी मूल ध्वनि माना है। वस्तुतः यह संयुक्त ध्वनि है और र् का महाप्राण रूप है। जैसे—अर्हति, अर्ह, गर्हा (निन्दा), तर्हि (तो), अर्हत् (पूज्य)।

चित्र-परिचय :

कोमल-तालु ऊपर उठा हुआ है।
जिह्वा कुछ वक्र (टेढ़ी) आकृति में है। वर्त्स के पिछले भाग के समीप होकर कंपित होती है। जिह्वाग्रभाग कुछ निम्न है और जिह्वापश्च कुछ उठा हुआ है। जिह्वानोक तालु के अत्यधिक समीप नहीं है, अतः घर्षण नहीं होता है।
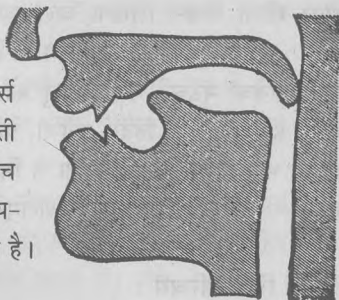
चित्र-संख्या—२४. र्

८. उत्क्षिप्त (Flapped)

उत्क्षिप्त उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में जिह्वानोक शीघ्रता से वर्त्स या कठोरतालु को केवल एक बार छूती है। यह कंठ से ऊपर के किसी भाग में कंपन पैदा करती है। फड़कने के कारण इसको उत्क्षिप्त कहते हैं। अंग्रेजी में इसको Flapped (फ्लेप्ड) कहते हैं। संस्कृत में यह ध्वनि नहीं है। हिन्दी में यह ध्वनि ड़ और ढ़ के रूप में मिलती है।

ड़—इसके उच्चारण में जिह्वानोक उलट कर नीचे के हिस्से से कठोर तालु को झटके से छूती है। इसको घोष-अल्पप्राण-मूर्धन्य-उत्क्षिप्त कहते हैं। यह प्रायः दो स्वरों के बीच में या शब्दों के मध्य में आता है। जैसे—बड़, बड़ा, घड़ा, कूड़ा आदि।

ढ़—इसका उच्चारण ड़ के तुल्य होता है। अन्तर यह है कि यह महाप्राण ध्वनि है। इसको घोष-महाप्राण-मूर्धन्य-उत्क्षिप्त कहते हैं। यह संस्कृत में नहीं है। यह हिंदी में नवीन ध्वनि है। दो स्वरों के मध्य में या शब्दों के मध्य में पायी जाती है। जैसे—चढ़ना, बढ़ना, बूढ़ा, बढ़िया आदि।

९. अन्तःस्फोट या अन्तर्मुख व्यंजन (Implosive Stops)

अन्तःस्फोट व्यंजन एक विशेष प्रकार के व्यंजन हैं। ये विश्व की बहुत कम भाषाओं में पाये जाते हैं। अब तक जिन व्यंजनों का वर्णन किया गया है, वे साधारण और प्रचलित व्यंजन हैं। ये व्यंजन बहिःस्फोटात्मक (Explosive) हैं अर्थात् इनके उच्चारण में अन्दर से आने वाली वायु बाहर की ओर जाती है। बाहर की ओर ध्वनि-स्फोट होने से इनको बहिःस्फोटात्मक कहते हैं। अन्तःस्फोट व्यंजन इनके सर्वथा विपरीत हैं। इनके उच्चारण में वायु बाहर से भीतर की ओर जाती है। इनको अंग्रेजी में Suction Stops कहते हैं, क्योंकि इनके उच्चारण में वायु भीतर की ओर खींची जाती है। मुखविवर और स्वरतंत्री में दो स्थानों पर अवरोध के कारण इनको Compound Stops कहते हैं। इनको द्विस्पर्श भी कहा जा सकता है।

१. अन्तःस्फोट या अन्तर्मुख स्पर्श (Implosive)—ये स्पर्श व्यंजन हैं। इनके

उच्चारण में मुख के किसी भाग में स्पर्श या अवरोध होता है और स्वरयंत्र को नीचे कर दिया जाता है। इसके फलस्वरूप स्पर्श के स्थान और स्वरयंत्र के बीच में स्थान कुछ विस्तृत हो जाता है। इससे हवा फैलकर हलकी हो जाती है। मुख-विवर में अवरोध के उन्मुक्त होते ही बाहर की वायु मुख में तीव्र गति से प्रवेश करती है। उससे इस ध्वनि की उत्पत्ति होती है। अवरोध के उन्मोचन के तुरंत बाद एक स्वर-ध्वनि सुनाई पड़ती है। ये ध्वनियाँ द्वयोष्ठ्य, दंत्य, तालव्य, और कोमल तालव्य होती हैं। इस प्रकार की ध्वनियाँ अफ्रीका की इबो, हौसा, जुलू आदि भाषाओं में तथा अमेरिकी इंडियन भाषाओं में मिलती हैं। इन ध्वनियों के संकेत के लिए व्यंजन से पहले ऊपर की ओर (') कॉमा लगा दिया जाता है। जैसे—अफ्रीकी हौसा भाषा में 'बौना (भैंसा),' डाकि (घर)।

२. अन्तःस्फोट या अन्तर्मुख द्विस्पर्श या क्लिक (Click)—ये ध्वनियाँ क्लिक नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी विशेषता है कि—१. इनके उच्चारण में मुखविवर में दो स्थानों पर अवरोध होता है। (क) कोमल तालव्य 'क' के स्थान पर जिह्वापश्च के द्वारा, (ख) इसके अतिरिक्त किसी स्थान पर ओष्ठ या जिह्वा के द्वारा। २. वायु बाहर से अंदर की ओर आती है। यह एक प्रकार का स्पर्श व्यंजन है। बाहर से अंदर जानेवाली वायु के द्वारा स्फोट ध्वनि सुनाई पड़ती है। क्लिक ध्वनि के ६ भेद किये गये हैं—द्वयोष्ठ्य, दंत्य, वर्त्स-तालव्य, वर्त्स्य, प्रतिवेष्टित कठोर तालव्य और वर्त्स्य-पार्श्विक। इन ध्वनियों में क् स्थानीय स्पर्श सदा एक जैसा होता है। यह अंतर केवल अन्य स्थानों पर हुए स्पर्श के कारण होता है। इनके अंतर के लिए विभिन्न संकेत अपनाये गये हैं, जैसे—एक विराम, दो विराम, विस्मयबोधक चिह्न आदि (।, ॥, !)। क्लिक भाषाओं का प्रयोग अफ्रीका की बांतू, जुलू, बुशमान आदि भाषाओं में तथा अमेरिकी इंडियन भाषाओं में अधिकता से पाया जाता है। इसका प्रयोग इस प्रकार समझा जा सकता है। जैसे—बालकों आदि के चुबन के समय ओष्ठ्य, दुःख-प्रकाशन में 'ही' या 'सी' के तुल्य ध्वनि में दन्त्य, फल चूसते समय की ध्वनि वर्त्स-तालव्य, बैल आदि पशुओं को हाँकते समय पार्श्विक या मूर्धन्य क्लिक का प्रयोग किया जाता है।

३. उद्गार व्यंजन (Ejective)—ये एक प्रकार के स्पर्श व्यंजन हैं। इनके उच्चारण में तालु आदि के अवरोध के साथ ही काकल या स्वरयंत्रमुख बंद हो जाता है। पहले मुँह में स्फोट होता है, फिर लगभग आधा सेकेंड बाद स्वर-यंत्र में। स्वर-यंत्र इस समय कुछ ऊपर की ओर उठ आता है। अतः वायु तीक्ष्ण ध्वनि के साथ उद्गीर्ण होती है (निकलती है), अतः इनको उद्गार व्यंजन कहते हैं। यह ध्वनि उच्चरित होते समय बोतल की कार्क खोलने के तुल्य सुनाई पड़ती है। इसके उच्चारण में मुख की मांसपेशियाँ संकुचित होती हैं, अतः वायु संकुचित होती है और उन्मोचन के समय तीव्र वेग से बाहर निकलती है। यह ध्वनि द्वयोष्ठ्य, दंत्य, तालव्य आदि कई प्रकार की हो सकती है। इसके संकेत के लिए व्यंजन के बाद ऊपर की ओर (') कॉमा लगाया जाता है। ये ध्वनियाँ अफ्रीकी भाषाओं में विशेष रूप से मिलती हैं। जैसे—अफ्रीका की हौसा भाषा में का' का' (दादा) और जुलू भाषा में न्ता' न्ता' (तैरना)। फ्रेंच भाषा में भी कुछ उच्चारणों में यह ध्वनि मिलती है।

४.१९. संयुक्त व्यंजन (Consonant Sequences)

दो या अधिक व्यंजनों के मिलने से संयुक्त व्यंजन बनता है। ये दो प्रकार के हो सकते हैं—१. समध्वनि, २. विषमध्वनि।

१. समध्वनि—जहाँ पर मिलने वाले दोनों व्यंजन एक ही होते हैं, उसे दीर्घ या द्वित्व व्यंजन (Long या Double Consonant) कहते हैं। जैसे—धिक्कार, उच्च, छिन्न, धम्म, बत्ती आदि। इनमें दो क्, दो च् आदि का संयोग है। ऐसे स्थानों पर जिह्वा या ओष्ठ आदि उसी स्थान पर कुछ क्षण रुक कर उसी अवस्था में दूसरी ध्वनि का उच्चारण करते हैं। फलस्वरूप क् आदि के उच्चारण में कुछ क्षणों का विलंब होता है। अतएव इसे भाषाशास्त्र की दृष्टि से दो क् आदि न कह कर इसे क् आदि का दीर्घ रूप या प्रलंबित क् कहा जाता है। दो क् आदि तब कहा जा सकता है, जब जिह्वा आदि दो बार स्पर्श करती हैं। इसमें जिह्वा एक ही स्थान पर रहती है, अतः क्क् आदि को दो क्-स्पर्श नहीं कहा जा सकता है। दो स्पर्शसंघर्षी आदि में भी यही स्थिति होती है। जैसे—सच्चा, कच्चा, बच्चा, उच्च आदि। जहाँ पर दो महाप्राण समध्वनियाँ संयुक्त होती हैं, वहाँ पर दोनों ध्वनियों को समान महाप्राण से उच्चारण नहीं किया जा सकता है। पहली महाप्राण ध्वनि पर स्फोट नहीं होता है, अतः पहली महाप्राण ध्वनि अल्पप्राण उच्चरित होती है और बाद वाली महाप्राण ध्वनि पर स्फोट होने के कारण वह महाप्राण के रूप में उच्चरित होती है। ख्ख, घ्घ, छ्छ, थ्थ आदि के उच्चारण में प्रथम ध्वनि अल्पप्राण बोली जाती है। जैसे—क्ख, ग्घ, च्छ, त्थ, आदि। युध् + ध = युद्ध, क्रुध् + ध = क्रुद्ध, उथ् + थान = उत्थान आदि।

२. विषम ध्वनि—जहाँ पर विभिन्न स्थानों से उच्चरित होने वाली ध्वनियाँ मिलती हैं, उन्हें संयुक्त व्यंजन (Compound Consonant) कहते हैं। जैसे—क्त, त्क, स्प, स्फ, प्त, र् + म आदि। ऐसे स्थानों पर जिह्वा आदि पहले वर्ण का उच्चारण पूरा होने से पहले दूसरे वर्ण के उच्चारण के लिए तैयार हो जाते हैं। जैसे—आप्त में प् के उच्चारण के लिए ओठ बन्द होते हैं। जब तक ओठ बन्द हैं, उससे पहले जीभ त के उच्चारण के लिए दाँत के पास पहुँच जाती है। ऐसे उच्चारणों में स्फोट बाद वाली ध्वनि पर होता है और पहली ध्वनि स्फोट के बिना उच्चरित होती है। अतः संयुक्त व्यंजनों में पहली ध्वनियाँ अस्फोटित रहती हैं। जैसे—रक्त, उत्कट, स्पष्ट, स्फोट, चर्म, गर्म आदि। संयुक्त व्यंजनों में एक साथ दो स्थानों पर स्पर्श एवं अवरोध होता है।

चित्र-परिचय :

कोमल-तालु ऊपर उठा हुआ है।
जिह्वापश्च क् के लिए कोमल-तालु
को छू रहा है और जिह्वा वर्त्स को छू रही है।
संस्कृत और हिन्दी के क्त् में जिह्वा त् के
लिए दाँत के अग्रभाग को छूती है।
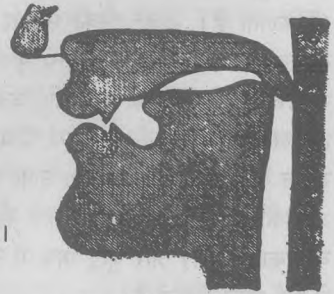
चित्र-संख्या—२५. क्त्

चित्र-परिचय :

कोमल-तालु उठा हुआ है।
संयुक्त व्यंजन होने के कारण दो स्थानों पर गति हो रही है। ओष्ठ प् के लिए मिले हुए हैं और जिह्वा त् के लिए वर्त्स को छू रही है। अंग्रेजी Kept आदि में यही स्थिति होती है। संस्कृत और हिंदी के स् में जिह्वा दंत के अग्रभाग को छूती है।

चित्र-संख्या—२६. प्त्

४.२०. समकालिक प्रयत्न-ध्वनियाँ (Coarticulation)

ब्लाख और ट्रेगर ने व्यंजन ध्वनियों के विवेचन में कुछ अन्य बातों का भी विवेचन प्रस्तुत किया है।[1] उनका कथन है कि व्यंजन ध्वनियों के वर्णन में प्रमुख भाषणावयव का उल्लेख कर दिया जाता है, परन्तु गौण अवयवों का वर्णन नहीं किया जाता है। यदि हम काम, क्रुध् और क्यू के क् पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि तीनों स्थानों पर क् का उच्चारण एक जैसा नहीं है। 'काम' के क् में ओष्ठ की स्थिति अवृत्ताकार है। 'क्रुध्' के क् में ओष्ठ कुछ वृत्ताकार है और 'क्यू' में ओष्ठ उससे अधिक वृत्ताकार है। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि क् का उच्चारण भी सर्वत्र एक जैसा नहीं होता है। इस प्रकार व्यंजन ध्वनियों के उच्चारण में एक मुख्य भाषणावयव का प्रयत्न है और दूसरा गौण प्रयत्न होता है। इसको गौण प्रयत्न, एककालिक प्रयत्न या समकालिक प्रयत्न (Co-articulation) कहते हैं। इस दृष्टि से होने वाले प्रयत्नों के आधार पर ६ प्रकार के एककालिक प्रयत्न होते हैं। इनके संकेत के लिए व्यंजन के बाद छोटे अक्षरों में कुछ संकेत दिए जाते हैं, जिससे गौण प्रयत्नों का बोध हो सके।

१. ओष्ठ्यीकरण (Labialization)—ओष्ठ्यीकरण का अभिप्राय यह है कि ओष्ठ्य ध्वनियों के अतिरिक्त किसी अन्य ध्वनि के उच्चारण में मुख्य प्रयत्न के साथ ही ओष्ठ भी गोलाकार हो जाएँ। इसके संकेत के लिए व्यंजन के बाद छोटा डब्ल्यू (w) का चिह्न लगा दिया जाता है। जैसे—[tw], [iw]।

२. मूर्धन्यीकरण (Retroflection)—मूर्धन्य ध्वनियों को छोड़कर अन्य ध्वनि के उच्चारण में जिह्वानोक पीछे की ओर मोड़कर मूर्धा या कठोर तालु के पश्च भाग की ओर ले जाने से मूर्धन्यीकरण होता है। इसके लिए व्यंजन के बाद छोटा आर् (r) का चिह्न लगाया जाता है। जैसे—[Kr]।

---

1. B. Bloch and G.L. Trager : *Outline of Linguistic Analysis*, pp. 29-30.

३. तालव्यीकरण (Palatalization)—तालव्य ध्वनियों को छोड़कर अन्य ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वाग्र को कठोर तालु की ओर उठाकर उसका तालव्यीकरण किया जा सकता है। इसमें जिह्वाग्र के क्रमिक उठने के आधार पर ध्वनियों में भेद किया जा सकता है। जैसे—सबल-तालव्यीकृत, निर्बल-तालव्यीकृत। तालव्यीकृत ध्वनियों में व्यंजन के बाद य्-श्रुति सुनाई पड़ती है। रूसी और कुछ अफ्रीकी भाषाओं में इस प्रकार तालव्यीकृत ध्वनियाँ अधिक मात्रा में पाई जाती हैं। रूसी भाषा में इस तालव्यीभाव को प्रकट करने के लिए पाँच विशेष अक्षरों का प्रयोग होता है। इसका संकेत छोटा आई (i) है। जैसे—[Pi]।

४. कंठ्यीकरण (Velarization)—कंठ्य ध्वनियों को छोड़कर अन्य ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा-पश्च को कोमल तालु की ओर उठाकर कंठ्यीकरण किया जा सकता है। क्रमिक उठाने के आधार पर इसके भी कई भेद किए जा सकते हैं। जैसे—सबल कंठ्यीकृत, निर्बल कंठ्यीकृत आदि। इसके संकेत के लिए व्यंजन के बाद छोटा यू (u) लिखा जाता है। जैसे—[bu], [lu]।

५. उपालिजिह्वीकरण (Pharyngalization)—उपालिजिह्वीय ध्वनियों को छोड़कर अन्य ध्वनियों के उच्चारण में उपालिजिह्वाप्रदेश में वायु को संकीर्ण कर देने से यह ध्वनि उत्पन्न की जा सकती है। इसके संकेत के लिए व्यंजन के बाद छोटा क्यू (q) बना दिया जाता है। जैसे—[mq]।

६. स्वरयंत्रीकरण (Laryngalization)—स्वरयंत्र की ध्वनियों को छोड़कर अन्य ध्वनियों के उच्चारण में स्वरयंत्र की मांसपेशियों में तनाव के द्वारा स्वरतंत्रियों को दृढ़ करके स्वरयंत्रीकरण किया जाता है। इसके लिए व्यंजन के बाद छोटा एच (h) बनाकर संकेत किया जाता है। जैसे—[th]। स्वरतंत्रीय या स्वरयंत्र-मुखी ध्वनियाँ स्वरयंत्रीकृत काकल्य ध्वनियों को ही कहते हैं।

४.२१. अक्षर (Syllable) और आक्षरिक (Syllabic)

भाषाशास्त्र में अक्षर और आक्षरिक शब्द पारिभाषिक अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। इनमें अक्षर के लिए अंग्रेजी में प्रचलित शब्द Syllable (सिलेबिल) और आक्षरिक के लिए Syllabic (सिलेबिक) शब्द हैं।

आक्षरिक ध्वनियाँ—आक्षरिक ध्वनियाँ उन ध्वनियों को कहते हैं, जो समीपवर्ती अन्य ध्वनियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ती हैं। बोलते समय, वार्तालाप के समय, गाने के समय तथा टेलीफोन आदि सुनते समय यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि कुछ ध्वनियाँ अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ती हैं। प्रयोग के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि आसपास की व्यंजन ध्वनियों की अपेक्षा स्वर ध्वनियाँ अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ती हैं। इनमें मुखरता (Sonority) अधिक होती है। मुखरता का निर्णय अंदर से आनेवाली वायु के मुखविवर में गूँज के आधार पर किया जाता है। व्यंजनों की अपेक्षा स्वर ध्वनियों में अधिक मुखरता के कारण स्वरों को आक्षरिक (Syllabic) कहा जाता है और व्यंजनों को अनाक्षरिक (Non-

Syllabic)। स्वर ह्रस्व हो या दीर्घ, वह ही शब्दों या वाक्यों में आक्षरिक रहता है। स्वर की सत्ता में व्यंजन को आक्षरिक नहीं माना जाता है। यदि कहीं पर स्वर का उच्चारण सर्वथा नहीं होता है तो उस अवस्था में कुछ विशेष व्यंजन हैं, जो आक्षरिक हो जाते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अक्षरों की आधारभूत ध्वनियाँ आक्षरिक हैं।

शृंग और गर्त (Peaks & Valleys)

प्रत्येक शब्द और वाक्य में मुखरता के आधार पर कुछ ध्वनियाँ शृंग या उच्च होती हैं और कुछ ध्वनियाँ गर्त या निम्न। शृंग के लिए शीर्ष, शिखर या चोटी शब्द का भी प्रयोग होता है और गर्त के लिए गह्वर या घाटी। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है कि सभी उच्चरित ध्वनियाँ समभूमि के तुल्य साधारण और एक जैसी नहीं होती हैं। ध्वनियों की स्थिति पहाड़ की चोटी और पहाड़ की घाटी के तुल्य होती हैं। कुछ ध्वनियाँ पहाड़ की चोटी के तुल्य मुखरता में बहुत ऊँची होती हैं, इन्हें हम शृंग, शीर्ष या शिखर ध्वनियाँ कहते हैं। कुछ ध्वनियाँ पहाड़ की घाटी के तुल्य बहुत नीचे पड़ी रहती हैं, इन्हें हम गर्त या गह्वर ध्वनियाँ कहते हैं। सामान्य विभाजन में स्वर ध्वनियाँ शृंग ध्वनियाँ हैं और व्यंजन ध्वनियाँ गर्त ध्वनियाँ हैं। भौतिक विज्ञान में शृंग को Crest (क्रेस्ट) और गर्त को Trough (ट्रफ) कहते हैं। जैसे—माता शब्द को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।
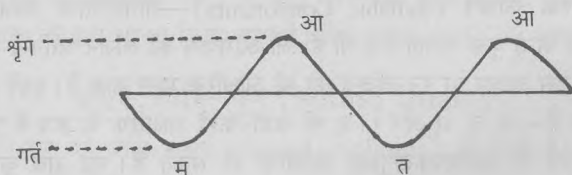
चित्र-संख्या—२७. शृंग और गर्त

> **चित्र-परिचय**—शृंग या शिखर वे ध्वनियाँ हैं, जिनके उच्चारण में मुखरता अधिक होती है। गर्त या गह्वर वे ध्वनियाँ हैं, जिनके उच्चारण में मुखरता बहुत कम होती है। ये ध्वनियाँ पहाड़ की चोटी के तुल्य ऊँची और घाटी के तुल्य नीची होती हैं।

किसी शब्द या वाक्य में जितने शृंग होते हैं, उतने ही अक्षर माने जाते हैं। स्वर ध्वनियाँ व्यंजनों की अपेक्षा अधिक मुखर होती हैं, अतः स्वरों को शृंगों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है और व्यंजनों को गर्तों के द्वारा। उपर्युक्त उदाहरणों के चित्र में स्वर शृंग पर दिखाये गये हैं और व्यंजन गर्त में। जहाँ पर व्यंजन और स्वर मिश्रित हैं, जैसे—माता में मा और ता उनमें यह बताना कठिन है कि मा के उच्चारण में कहाँ म् समाप्त होता है और कहाँ से आ का उच्चारण शुरू होता है। अक्षरों की गणना में व्यंजन भी समाहित होते हैं, अतः माता में दो आक्षरिक (Syllabic) ध्वनियाँ मानी जायेंगी।

यहाँ यह स्मरण रखना उचित है कि केवल स्वर नाम के आधार पर सभी स्वर आक्षरिक नहीं हैं। इसी प्रकार सभी व्यंजन भी अनाक्षरिक नहीं हैं। जिस प्रकार कुछ स्वर अनाक्षरिक हैं, उसी प्रकार कुछ व्यंजन भी आक्षरिक हैं।

अनाक्षरिक स्वर (Non-Syllabic Vowels)—आक्षरिक स्वर का निर्णय बलाघात (Stress) के आधार पर किया जाता है। यदि क्रमशः दो स्वर हैं, जैसे—आए, गए, और यदि दोनों स्वर मुखर हैं तो उन्हें दो स्वतंत्र आक्षरिक माना जायेगा। यदि दो इकट्ठे स्वरों में एक मुखर है और दूसरा नहीं, तो दोनों स्वरों को एक आक्षरिक माना जाएगा। जैसे—फ्रेंच में Pays (पेई, देश, मातृभूमि) में दो स्वर दो अक्षरों के शृंग हैं, अतः इसमें दो आक्षरिक माने जाते हैं। इसके विपरीत अंग्रेजी में Pay (पे, वेतन) में केवल एक ही आक्षरिक है। आएँगे, जाएँगे में तीन-तीन आक्षरिक माने जाएँगे। जैसे—फ्रेंच—Aerer (आएरे, हवा करना) में तीन आक्षरिक माने जाते हैं। संयुक्त स्वरों में दो-दो ध्वनियाँ होती हैं। जैसे—ऐ = अइ, औ = अउ, इनमें प्रथम ध्वनि आक्षरिक है और दूसरी ध्वनि अनाक्षरिक। अतः प्रथम ध्वनि मुखर होने के कारण स्वरों के तुल्य आक्षरिक रहती है और दूसरी ध्वनि (इ, उ) मुखर न होने के कारण व्यंजनों के तुल्य अनाक्षरिक होती है। इसका स्थान व्यंजन के समकक्ष है। अनाक्षरिक स्वर की सूचना के लिए संयुक्त स्वरों के इ और उ के नीचे लघु स्वर-बोधक (‿) चिह्न लगा दिया जाता है। जैसे—ei, au में इ और उ।

आक्षरिक व्यंजन (Syllabic Consonants)—साधारणतया व्यंजन अनाक्षरिक होते हैं। परन्तु कुछ व्यंजन ऐसे भी हैं, जो आसपास की व्यंजन ध्वनियों से अधिक मुखर होते हैं। इस आधार पर इन व्यंजनों को भी आक्षरिक माना जाता है। इनमें मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं—म्, न्, ल् और र्। स् भी कहीं-कहीं आक्षरिक के रूप में पाया जाता है। अन्य व्यंजन भी आवश्यकतानुसार आक्षरिक हो सकते हैं। यह सब कुछ उनकी मुखरता पर निर्भर है। जैसे—Apple (एप्ल्, सेव), Rhythm (रिद्म्, लय), Button (बट्न्, बटन)। इन तीनों में दूसरे अक्षर में कोई स्वर नहीं है, अंत में ल् म्, न् व्यंजन हैं। ये तीनों अधिक मुखरता के साथ बोले जाते हैं, अतः ये स्वर के बराबर माने जाते हैं और आक्षरिक हैं। प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने संभवतः इसीलिए बलाघात को वहन करने और मुखरता के कारण र् और ल् को आक्षरिक मानते हुए इन्हें ऋ और ऌ के रूप में स्वतंत्र स्वर माना है।

आन्तरिक मुखरता के आधार पर सभी ध्वनियों को आठ वर्ग में बाँटा गया है। इनमें क्रमशः बाद वाली ध्वनियाँ अधिक मुखर हैं—

१. सबसे कम मुखर ध्वनियाँ—अघोष स्पर्श, क् ख् च् छ् त् थ् आदि।

२. इससे अधिक मुखर सघोष ध्वनियाँ—ग् घ् द् ध् ब् भ् आदि।

३. इनसे अधिक मुखर नासिक्य और पार्श्विक ध्वनियाँ—ङ् ण् न् म् ल् आदि।

४. इनसे अधिक मुखर लुंठित ध्वनि—र्।

५. इससे अधिक मुखर संवृत स्वर—इ उ।

६. इससे अधिक मुखर अर्धसंवृत स्वर—ए ओ।

७. इससे अधिक मुखर अर्धविवृत स्वर—ऍं ऑं।

८. सबसे अधिक मुखर विवृत स्वर—आ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अघोष ध्वनियों की अपेक्षा घोष ध्वनियाँ अधिक मुखर हैं। उनसे भी अधिक नासिक्य ध्वनियाँ और उनसे अधिक मुखर लुंठित ध्वनि है। यह व्यंजन ध्वनियों की मुखरता का क्रम है। व्यंजनों से अधिक मुखर स्वर ध्वनियाँ हैं। उनका क्रम इस आधार पर है कि जो ध्वनि जितनी अधिक संवृत (बन्द) है, वह उतनी ही कम मुखर है। जो ध्वनि जितनी विवृत (मुख-द्वार खुला) होती जाएगी, वह उतनी ही मुखर हो जाएगी। इस प्रकार पूर्ण विवृत होने के कारण 'आ' ध्वनि सबसे अधिक मुखर है। इसी आधार पर गायक आ आ का आलाप करते हैं।

अक्षर के भेद

अक्षरों को दो भागों में बाँटा जाता है—मुक्त और बद्ध। **मुक्त अक्षर** (Open Syllable) उन्हें कहते हैं, जब अक्षर की अन्तिम ध्वनि स्वर होती है। जैसे—गमन, भोजन, मान, दान, लेना, देना आदि। **बद्ध अक्षर** (Closed Syllable) उन्हें कहते हैं, जिनके अन्त में व्यंजन होता है। जैसे—वाक्, भगवत्, विद्वान्, धनवान्, उठ्, घर् आदि। हिन्दी में उठ, घर आदि का उच्चारण हलन्त ही किया जाता है। अंग्रेजी की पुस्तकों में मुक्त अक्षर को V (Vowel, स्वर) के द्वारा और बद्ध अक्षर को C (Consonant, अर्थात् व्यंजन) के द्वारा सूचित किया जाता है। जैसे—पाठ—CVCV, वाक्—CVC।

४.२२. ध्वनि–गुण (Sound Quality)

ध्वनि-गुण को ध्वनि-लक्षण (Sound attributes) भी कहते हैं। इसको अन्य नाम भी दिए गए हैं, जैसे—छन्दःशास्त्रीय तत्त्व या रागीय तत्त्व (Prosodic feature), अखण्ड ध्वनियाँ (Supra-segmental Sounds), रागिम (Prosodeme)।

अब तक भाषा की आधारभूत स्वर और व्यंजन ध्वनियों का उल्लेख किया गया है। इन ध्वनियों का पृथक्-पृथक् या असंबद्ध रूप में वर्णन किया गया है। भाषा का सार्थक अवयव वाक्य है और वाक्य में स्वर या व्यंजन स्वतंत्र रूप में प्रयुक्त न होकर संबद्ध रूप में उच्चरित होते हैं। इस कारण विभिन्न ध्वनियों में मात्रा, स्वर (सुर), आघात और वृत्ति में अन्तर होता है। वाक्य के विवेचन में केवल स्वर और व्यंजनों का ज्ञान पर्याप्त नहीं है, अपितु प्रत्येक की मात्रा, सुर, बलाघात और वृत्ति का भी ज्ञान आवश्यक होता है। आघात (Accent) में ही सुर (Pitch Accent) और बलाघात (Stress Accent) दोनों का विवेचन किया जाता है। मुख्य रूप से मात्रा और आघात को ही पाश्चात्त्य विद्वानों ने ध्वनि-गुण में लिया है। भारतीय विद्वानों ने वृत्ति को भी ध्वनि-गुण माना है।

४.२२. (क) मात्रा (Quantity)

पाश्चात्त्य विद्वानों ने मात्रा के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। जैसे—

Quantity (मात्रा-परिमाण), Length (दीर्घता या लम्बाई), Duration (मात्रा-काल), Mora (मोरा, मात्राकाल), Chrono (क्रोनो, समय या मात्रा)। इसी आधार पर मात्रा की इकाई को मात्रिम (Chroneme) कहा जाता है।

किसी भी ध्वनि के उच्चारण में समय का जो अंश लगता है, उसे मात्रा कहते हैं। इस आधार पर भाषा में मात्राकाल का अध्ययन किया जाता है। देखने में आता है कि प्रत्येक ध्वनि में बराबर समय नहीं लगता है। किसी ध्वनि के उच्चारण में कम समय लगता है, किसी के उच्चारण में अधिक। इसके आधार पर संस्कृत में मात्रा के तीन भेद किये गये हैं—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। **(ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः, अष्टा० १-२-२७)** पाणिनि ने अर्ध-ह्रस्व का भी उल्लेख किया है। **(तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्, अष्टा० १-२-३२)** इसी प्रकार अर्ध-दीर्घ या दीर्घार्ध भी भेद हो सकता है। ब्लाख और ट्रेगर ने अंग्रेजी पद्धति से मात्राओं के ५ भेद दिए हैं—Overlong (प्लुत), Long (दीर्घ), Half-Long (दीर्घार्ध या ईषत्-दीर्घ), Short (ह्रस्व), Half-Short (ह्रस्वार्ध या अर्ध-ह्रस्व)। यद्यपि मात्राओं के और सूक्ष्म भेद किए जा सकते हैं, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से पाँच भेद ही पर्याप्त हैं।

सामान्यतया ह्रस्व की एक मात्रा, दीर्घ की दो मात्राएँ और प्लुत की तीन मात्रा मानी जाती हैं। माना जाता है कि ह्रस्व का दुगना समय दीर्घ में लगता है और प्लुत में ह्रस्व का तिगुना समय। इस समय-निर्धारण को पूर्णतया वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता है, फिर भी समझने के लिए यह उपयुक्त है। यंत्रों द्वारा यह ज्ञात किया गया है कि अंग्रेजी के ह्रस्व स्वर के उच्चारण में .२२८ सेकेंड और दीर्घ के उच्चारण में .३१८ सेकेंड समय लगता है। इस प्रकार दीर्घ के उच्चारण में ह्रस्व से दुगना समय कहना अवैज्ञानिक है। सामान्यतया ह्रस्व और दीर्घ दो मात्राओं का ही प्रयोग होता है। प्लुत का प्रयोग बहुत कम प्रचलित है। प्लुत के लिए स्वर के बाद ३ अंक लिखा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि उस स्वर को तिगुनी मात्रा में बोला जायगा, जैसे—ओ३म् में ओ को तिगुना खींचा जायगा। संस्कृत में दूर से बुलाना और अभिवादन आदि में प्लुत का प्रयोग मिलता है।

ह्रस्व—स्वरों में अ इ उ ऋ लृ को ह्रस्व स्वर कहा जाता है। छन्दःशास्त्र में ह्रस्व को लघु कहते हैं। इसकी एक मात्रा मानी जाती है। जैसे—'कमल' में तीन लघु वर्ण होने के कारण तीन मात्राएँ होंगी। शुक्ल यजुःप्रातिशाख्य और अथर्ववेदप्रातिशाख्य में मात्रा शब्द का उल्लेख है और व्यंजन की आधी मात्रा मानी गई है। व्यंजनों में भी आपेक्षिक अंतर है। स्पर्श ध्वनियों के उच्चारण में सबसे कम समय लगता है। उससे अधिक संघर्षी ध्वनियों में, उससे अधिक ऊष्म वर्णों के उच्चारण में, उससे अधिक पार्श्विक और लुंठित के उच्चारण में, उससे अधिक नासिक्य व्यंजनों के उच्चारण में। वैज्ञानिक यन्त्रों से इनका समय भी नापा गया है। अंग्रेजी के घोष स्पर्श में .०८८ सेकेंड, अघोष स्पर्श में .१२ सेकेंड, संघर्षी में .११२ सेकेंड, पार्श्विक और नासिक्य में .१४६ सेकेंड समय लगता है। इससे ज्ञात होता है कि सबसे अधिक समय दीर्घ स्वरों में लगता है, उससे कम ह्रस्व स्वरों में और उसके बाद नासिक्य आदि क्रम से व्यंजनों में समय लगता है। व्यंजनों में घोष ध्वनियों की अपेक्षा अघोष ध्वनियों में अधिक समय लगता है। स्पर्श ध्वनियों में भी समय

में अन्तर है। तवर्ग में सबसे कम, चवर्ग में उससे अधिक और ओष्ठ्य में सबसे अधिक। सामान्य रूप से सभी व्यंजनों की आधी मात्रा मानी जाती है। इसे ह्रस्वार्ध कह सकते हैं।

दीर्घ—दीर्घ स्वरों के उच्चारण में दो मात्रा मानी जाती है। दीर्घ स्वर हैं—आ ई ऊ ॠ ए ऐ ओ औ। दीर्घ स्वरों में भी संयुक्त स्वर ऐ औ के उच्चारण में दीर्घ से भी अधिक समय लगता है। इनको अतिदीर्घ या प्लुत की कोटि में समझना चाहिए। छन्दःशास्त्र के नियमानुसार कुछ विशेष अवस्थाओं में ह्रस्व स्वर के बाद अनुस्वार, विसर्ग या कोई संयुक्त व्यंजन होगा तो लघु स्वर गुरु माना जाता है। पद के अन्तिम लघु स्वर को भी आवश्यकतानुसार दीर्घ माना जाता है।[1] जैसे—पंक में प का अ, नष्ट में न का अ, दुःख में दु का उ पूर्वोक्त कारणों से दीर्घ माना जाता है।

मात्रा के विषय में सभी नियमों का उल्लेख संभव नहीं है। आदमी कभी धीरे बोलता है, कभी जोर से; कभी ऊँचा, कभी नीचा; कभी लगातार, कभी रुक-रुक कर। अतः मात्रा के विषय में कुछ सामान्य नियम दिये जा सकते हैं। (१) बलाघातयुक्त स्वर, चाहे दीर्घ हो या ह्रस्व, बलाघात-हीन से दीर्घ या अधिक मात्रा वाले होते हैं। जैसे—काल, काला, धारा, नीला आदि में प्रथम स्वर पर बलाघात है; अतः वे अन्तिम स्वर से अधिक मात्रा वाले हैं। (२) दीर्घ स्वर के बाद अघोष ध्वनि होने पर स्वर की मात्रा कुछ कम हो जाती है। यदि उसके बाद घोष ध्वनि हो तो मात्रा कुछ बड़ी होती है। जैसे—पाक, भाग। इनमें भाग की अपेक्षा पाक का आ कुछ छोटा उच्चरित होता है। (३) ह्रस्व स्वर में भी पूर्वोक्त नियम (दो) देखा जाता है। जैसे—नख-नग, जप-जब। साधारणतया ह्रस्व स्वर में यह भेद उतना स्पष्ट नहीं होता। (४) शब्द का अन्तिम स्वर अन्य समान स्वरों की तुलना में कुछ कम मात्रा का होता है। जैसे—चाचा-चाची, नाना-नानी, दादा-बाबा आदि; इनमें अन्तिम स्वर पर कम बल रहता है। (५) कम मात्रा वाले शब्दों की अपेक्षा अधिक मात्रा वाले या अधिक लम्बे शब्दों के प्रथम अक्षर अपेक्षाकृत छोटी मात्रा वाले होते हैं। जैसे—बाल-बालक, बाला-बालिका। (६) असंयुक्त व्यंजन से पूर्ववर्ती स्वर की अपेक्षा संयुक्त व्यंजन से पूर्व का स्वर दीर्घ या अधिक बड़ा होता है। जैसे—युग-युक्त, गज-गंगा।

मात्रा-लेखन—संस्कृत और हिन्दी में लघु वर्ण के लिए (।) और गुरु वर्ण के लिए (ऽ) चिह्न हैं। अंग्रेजी में लघु के लिए (˘) और गुरु के लिए (–) चिह्न हैं। भाषाशास्त्र में लघु स्वर को चिह्न-रहित छोड़ देते हैं। उससे कुछ अधिक दीर्घ के लिए (˙) चिह्न है, और दीर्घ के लिए (:) चिह्न है।

४.२२. (ख) आघात (Accent)

आघात के लिए अंग्रेजी में प्रचलित शब्द एक्सेंट (Accent) है। इसके प्रयोग पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। पामर आदि विद्वान् इसका बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग करते

---

१. सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत्।
वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा॥

हैं। पामर (Palmer) ने इसके अन्तर्गत इन सभी विषयों को लिया है—१. ध्वनि-प्रकृति, २. मात्रा (Mora), ३. बलाघात (Stress), ४. सुर-लहर (Intonation), ५. ध्वनि विषयक अन्य प्रक्रियाएँ। पेई और गेनोर (M.A. Pei and Gaynor) आदि ने एक्सेंट (Accent) का प्रयोग केवल बलाघात के अर्थ में किया है। ब्लाख और ट्रेगर आदि ने एक्सेंट के अन्दर बलाघात (Stress) और सुर (Tone, Pitch) दोनों को लिया है। ब्लाख और ट्रेगर का मत अधिक प्रचलित है।

४.२२. (ग) बलाघात (Stress)

सामान्य बातचीत में यह देखा जाता है कि प्रत्येक शब्द और वाक्य पर समान रूप से बल नहीं दिया जाता है। कुछ ध्वनियों पर अधिक बल दिया जाता है और कुछ पर कम। जिन ध्वनियों पर अधिक बल दिया जाता है उन्हें बलाघातयुक्त कहते हैं। लिखित और उच्चरित भाषा में यह मुख्य अन्तर है। लिखित स्वरूप में बलाघात को स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं कर सकते हैं। उच्चरित भाषा में किसी भी ध्वनि पर विशेष बल दिया जा सकता है और वह बलाघात-युक्त हो सकती है। बलाघात मुख्य रूप से अक्षर-बलाघात के रूप में प्राप्त होता है। अक्षर और आक्षरिक के अध्याय में यह स्पष्ट किया गया है कि कोई भी स्वर आक्षरिक हो सकता है और कुछ व्यंजन भी आक्षरिक होते हैं। इन पर बलाघात हो सकता है। बलाघात में ध्वनि की प्रबलता मुख्य रूप से रहती है।

बलाघात के मुख्य रूप से दो भेद माने जाते हैं—शब्द बलाघात और वाक्य बलाघात।

१. शब्द बलाघात—शब्द बलाघात उसे कहते हैं जहाँ पर शब्द के किसी स्वर या अक्षर पर विशेष बल दिया जाता है। ऐसे स्वर या अक्षर को बलाघातयुक्त (Stressed) कहा जाता है और शेष ध्वनियों को बलाघातहीन (Unstressed) कहते हैं। अंग्रेजी बलाघात-प्रधान भाषा है। इसमें किस ध्वनि पर विशेष बल दिया जाए यह कोषग्रन्थों आदि में संकेत के द्वारा सूचित किया जाता है। एक ही शब्द बलाघात-भेद से संज्ञा या क्रिया हो सकता है। जैसे—Con'duct में प्रथम स्वर कन् पर बलाघात करेंगे तो यह संज्ञावाचक शब्द होगा। इसका अर्थ होगा—चरित्र या आचरण। Conduct' यदि दूसरे स्वर अर्थात् डक्ट पर बल देंगे तो यह क्रिया शब्द होगा और उसका अर्थ होगा व्यवहार करना, प्रबन्ध करना आदि। कोषग्रन्थों में बलाघातयुक्त ध्वनि के बाद बिन्दु या उदात्त (, ') का चिह्न लगाते हैं। भाषा-विज्ञान में बलाघातयुक्त ध्वनि के पूर्व उदात्त चिह्न (') का प्रयोग किया जाता है। जैसे—फोटोग्राफ में फो बलाघातयुक्त है, फोटोग्राफर में टो और फोटोग्राफिक में ग्रा बलाघातयुक्त है। ('Photograph, Pho'tographer, Photo'graphic)। फ्रेंच भाषा में बलाघात का बहुत प्रयोग होता है। बलाघातयुक्त ध्वनि के ऊपर उदात्त का चिह्न (') लगाया जाता है और उसका उच्चारण बलपूर्वक किया जाता है। जैसे—कम्यूनिके (Communique'), ब्रेआल (Bre'al)। संस्कृत का 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' प्रचलित उदाहरण है। इसमें बलाघात के कारण अर्थभेद हो जाता है। यदि

इन्द्रशत्रु में इन्द्र पर बलाघात होगा तो यह बहुव्रीहि समास माना जायगा और इसका अर्थ होगा 'इन्द्र है शत्रु या नाशक जिसका'। यदि शत्रु शब्द के अन्तिम स्वर पर बलाघात करेंगे तो तत्पुरुष समास होगा और इसका अर्थ होगा इन्द्र का शत्रु। इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर की अभिवृद्धि के लिए वृत्रासुर के पुरोहितों ने उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग किया। इसमें तत्पुरुष के स्थान पर बहुव्रीहि समास वाले बलाघात के कारण मन्त्र का अर्थ ही उल्टा हो गया और इन्द्र वृत्र का नाशक हो गया। ग्रीक भाषा में भी बलाघात की प्रधानता है।

२. **वाक्य बलाघात**—वाक्य बलाघात में वाक्य के किसी एक अंश पर बल दिया जाता है और वह अंश बलाघातयुक्त होता है। जिस अंश पर बल दिया जाता है उस अर्थ की मुख्यता रहती है। जैसे—मैं आज प्रयाग जाऊँगा। इस वाक्य में चार स्थानों पर बलाघात का प्रयोग किया जा सकता है और इसके आधार पर अर्थ में अन्तर हो जाएगा। १. मैं पर बल देने से अर्थ होगा—मैं ही, अन्य कोई नहीं। २. आज पर बल देने से अर्थ होगा आज ही जाऊँगा, कल नहीं। ३. प्रयाग पर बल देने से अर्थ होगा—प्रयाग ही जाऊँगा, अन्यत्र नहीं। ४. जाऊँगा पर बल देने से अर्थ होगा—मैं जाऊँगा ही, मुझे कोई रोक नहीं सकता। वाक्य बलाघात छोटे वाक्यों और बड़े वाक्यों, दोनों में होता है। बड़े वाक्यों में जहाँ किसी उपवाक्य पर बल दिया जाता है, वह उपवाक्य प्रमुख हो जाता है। इसको वाक्यांश बलाघात भी कह सकते हैं।

बलाघात का प्रभाव—शब्दों और वाक्यों पर बलाघात का निम्नलिखित रूप में प्रभाव पाया जाता है—

१. बलाघातयुक्त ध्वनियाँ अधिक प्रबल होती हैं, अतः अधिक सुदृढ़ होती हैं। उनमें परिवर्तन बहुत कम होता है। बलाघातहीन ध्वनियाँ निर्बल होती हैं। उनमें परिवर्तन अधिक होता है। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि में बलाघातहीन ध्वनियाँ निर्बल होकर लुप्त हो जाती हैं। संस्कृत में बलाघातयुक्त कृ धातु का कर् या कार् हो जाता है। जैसे—करण, कारक आदि। बलाघातहीन होने पर गुण या वृद्धि नहीं होती है। कहीं-कहीं पर संप्रसारण भी हो जाता है। जैसे—कृ-कृत, यज्-इष्ट, वच्-उक्ति। हिन्दी में अपर-और, द्वादश-बारह, शत-सौ।

२. बलाघातयुक्त ध्वनियाँ मांसपेशियों की दृढ़ता के कारण दृढ़ (Tense) कही जाती हैं और बलाघातहीन ध्वनियाँ शिथिल (Lax)।

३. बलाघातयुक्त ध्वनि पर यदि सुर है तो वह ऊँचा होता है।

४. बलाघातयुक्त ध्वनि की मात्रा कुछ दीर्घ हो जाती है, दीर्घ हो तो दीर्घतर।

५. बलाघातयुक्त व्यंजन द्वित्व या दीर्घ के रूप में सुनाई पड़ते हैं। बलाघात में यदि वायुवेग की अधिकता होगी तो अल्पप्राण को महाप्राण हो जाता है और यदि उच्चारणावयव की दृढ़ता होती है तो व्यंजन को द्वित्व हो जाता है। संघर्षी और महाप्राण व्यंजन प्रायः द्वित्व होते हैं।

६. बलाघात में वायुवेग की प्रबलता होती है, अतः अल्पप्राण ध्वनि महाप्राण के तुल्य सुनाई पड़ती है। बलाघातहीन ध्वनि वायुप्रवाह की कमी के कारण महाप्राण होने पर भी अल्पप्राण से सुनाई पड़ती है।

बलाघातयुक्त ध्वनि अधिक शक्तिशाली, मुखर और श्रवणीय होती है। बलाघात-हीन ध्वनि की स्थिति इसके विपरीत होती है।

बलाघात का संकेत—बलाघात को दो प्रकार से सूचित किया जाता है। (१) बलाघातयुक्त ध्वनि के पहले ऊपर एक खड़ी लकीर या उदात्त का चिह्न (') लगा दिया जाता है। कोषग्रन्थों में बलाघातयुक्त ध्वनि के बाद बिन्दु या उदात्त (˙, ') लगाया जाता है। (२) यदि एक से अधिक बलाघात हों तो एक शब्द में मुख्य बलाघात का चिह्न लगाया जाता है और गौण बलाघात को चिह्नरहित छोड़ देते हैं। यदि दूसरी ध्वनि पर भी बलाघात दिखाना आवश्यक होता है तो उसके पूर्व भी छोटी खड़ी लकीर लगाई जाती है।

४.२२. (घ) स्वर या सुर (Tone, Pitch)

स्वर को सुर भी कहा जाता है। स्वर का सम्बन्ध स्वरतंत्रियों के कम्पन की आवृत्ति (Frequency of vibration) पर निर्भर रहता है। यह कम्पन जितना अधिक होगा स्वर उतना ही उच्च होगा और कम्पन जितना कम होगा उतना ही स्वर निम्न होगा। स्वरतंत्रियों के तनाव या विस्तार से कम्पन की आवृत्ति का साक्षात् सम्बन्ध है। जब कम्पन की आवृत्ति अधिक होती है तो तन्त्रियों में तनाव उत्पन्न होता है। जब कम्पन की आवृत्ति कम होती है तो स्वरतंत्रियाँ ढीली रहती हैं। संगीतशास्त्र में अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुसार स्वर की उच्चता और निम्नता को बढ़ाया और घटाया जा सकता है। ध्वनियों के विवेचन में घोष और अघोष ध्वनियों का उल्लेख किया गया है। इनमें से अघोष ध्वनियों के उच्चारण में स्वरतंत्रियों में कम्पन नहीं होता है, अतः इनमें सुर की संभावना नहीं रहती है। सुर मुख्यतया घोष ध्वनियों पर निर्भर रहता है, क्योंकि इनके उच्चारण में स्वरतंत्रियों में कम्पन होता है।

स्वर का सम्बन्ध स्वरतंत्रियों से है। स्वरतंत्रियों की उपमा तार वाले बाजों—सितार, वीणा, वायलिन आदि से दी जा सकती है। जिस प्रकार तारों को कस देने से सितार आदि में स्वर ऊँचा हो जायगा और तारों को ढीला कर देने पर स्वर निम्न हो जायगा। इसी प्रकार स्वरतंत्रियों में तनाव पैदा होने पर स्वर उच्च हो जाता है और तनाव ढीला होने पर स्वर निम्न हो जाता है। अतएव संगीतशास्त्र में स्वरतंत्रियों को कड़ा और नरम रखकर अनेक प्रकार के सुर उत्पन्न किए जाते हैं। सुरों के उतार-चढ़ाव के लिए स्वरतंत्रियों पर अधिकार करना आवश्यक होता है।

स्वरतंत्रियों के तनाव के अतिरिक्त उनका आकार भी महत्त्वपूर्ण है। स्वरतंत्रियाँ जितनी छोटी होती हैं, उतना ही स्वर उच्च होता है। स्त्रियों और बालकों की स्वरतंत्रियों का आकार छोटा होता है, अतः पुरुषों की अपेक्षा उनका स्वर उच्च होता है।

सुर के दो भेद—जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति बोलचाल में एक ही प्रकार के बलाघात का प्रयोग नहीं करता, उसी प्रकार व्यवहार में प्रयुक्त वाक्यों में सुर भी एक-सा नहीं होता है। क्रोध, आवेश, हर्षातिरेक, भय आदि में स्वर उच्च हो जाता है और सामान्य स्थिति में वह साधारण रहता है। सुर की उच्चता को आरोह कहते हैं और उसके उतार या

निम्नता को अवरोह कहते हैं। संगीत में आरोह की स्थिति में आवाज ऊँची की जाती है और अवरोह की स्थिति में निम्न।

स्वर के तीन भेद—संस्कृत में स्वरों के तीन भेद किए गए हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। आधुनिक भाषाशास्त्र में सामान्यतया तीन भेद क्रिये जाते हैं—उच्च (High), मध्य या सम (Mid या Level) और निम्न (Low)। प्रो० हाल आदि ने चार भेद का भी उल्लेख किया है और उन्होंने इनके नाम दिए हैं—Low (निम्न), Norm, Low-mid (निम्नमध्य), Mid (मध्य) और High (उच्च)। ग्रीक भाषा में तीन स्वर प्रचलित हैं—एक्यूट (Acute), ग्रेव (Grave) और सरकम्फ्लेक्स (Circumflex)। एक्यूट को उदात्त की तरह तिरछी लकीर से सूचित किया जाता है। ग्रेव ` को स्वतंत्र स्वरित की तरह दायीं ओर झुकी हुई लकीर से सूचित करते हैं। स्वतंत्र को (^) चिह्न से सूचित करते हैं। अधिकांश विद्वान् उदात्त के लिए एक्यूट को, स्वरित के लिए ग्रेव को और अनुदात्त के लिए सरकम्फ्लेक्स के चिह्न को प्रयुक्त करते हैं। वे इनका प्रयोग समानार्थक के रूप में करते हैं। वस्तुतः संस्कृत और ग्रीक के स्वर परस्पर मिलते हुए होने पर भी समानार्थक नहीं हैं।

१. उदात्त—पाणिनि ने उदात्त का लक्षण दिया है, **उच्चैरुदात्तः (१-२-२९)** जो स्वर ऊँचा या उठा हुआ होता है, उसे उदात्त कहते हैं। उदात्त का अर्थ है—उठा हुआ, ऊँचा या श्रेष्ठ। संस्कृत का एक सामान्य नियम है कि प्रत्येक पद या शब्द में सामान्यतया एक स्वर उदात्त होता है, शेष सभी अनुदात्त होते हैं। **(अनुदात्तं पदमेकवर्जम्, ६-१-१५८)** कुछ समस्त पदों में दो उदात्त भी होते हैं। कुछ अव्ययनिपात, सम्बोधन और क्रियापद आदि ऐसे भी हैं जिनमें एक भी उदात्त नहीं रहता है। ऐसे शब्दों की संख्या बहुत कम है। पतंजलि ने उदात्त के लिए तीन बातों का संकेत किया है—(१) आयाम—ध्वनि का आरोह, (२) दारुणता—स्वरतंत्री में तनाव, (३) अणुता—स्वरतंत्री में संकोच या संवृतता। **(आयामो दारुण्यम् अणुता स्वरस्य इति उच्चैःकराणि शब्दस्य—महाभाष्य १-२-२९)**

२. अनुदात्त—अनुदात्त का अर्थ है निम्न या नीचा स्वर। **(नीचैरनुदात्तः, १-२-३०)** यह सदा उदात्त से नीचा होता है। वेद में उदात्त से पहले अनिवार्य रूप से अनुदात्त स्वर होता है। इसका अभिप्राय यह है कि निम्न स्वर से उच्च स्वर की ओर अग्रसर होते हैं। पतंजलि ने स्वर के सात भेद माने हैं—उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितस्थ उदात्त, एकश्रुति। इनमें अनुदात्ततर अनुदात्त से भी निम्न कोटि का है।

३. स्वरित—स्वरित उस सम ध्वनि को कहते हैं, जिसमें उदात्त और अनुदात्त दोनों के गुणों का समन्वय रहता है। **(समाहारः स्वरितः, १-२-३१)** पाणिनि के **तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् (१-२-३२)** इस कथन से ज्ञात होता है कि स्वरित का प्रारम्भिक अंश उदात्त से भी कुछ उच्च होकर अवरोही होता है। इसमें उतार और चढ़ाव या आरोह और अवरोह का समन्वय रहता है। इसलिए इसको स्वरित कहते हैं। वेद में स्वरित दो प्रकार का है—(१) पराधीन या उदात्तमूलक। उदात्त के बाद अनुदात्त का उच्चारण स्वरित या मध्य कोटि का होता है। उसके बाद वाले अनुदात्त अनुदात्त ही रहते

हैं। स्वरित के बाद वाले अनुदात्तों पर अनुदात्त का चिह्न नहीं लगाया जाता है। उन्हें स्वरचिह्नरहित छोड़ दिया जाता है। (२) स्वतंत्रस्वरित—जहाँ पर यण् सन्धि आदि के द्वारा उदात्त लुप्त हो जाता है, वहाँ पर उदात्त के आगे वाले स्वर को स्वरित हो जाता है। जैसे—क्वं, स्वं: आदि।

संस्कृत में उदात्त स्वर रिक्त रहता है, कोई चिह्न उस पर नहीं लगाया जाता है। अनुदात्त के नीचे पड़ी लकीर दी जाती है। स्वरित में शब्द के ऊपर खड़ी लकीर दी जाती है।

सुर-लहर (Intonation)—शब्दों या वाक्यों में आरोह और अवरोह के क्रम को सुर-लहर कहते हैं। प्रत्येक वाक्य में स्वरलहर आदि से अन्त तक विद्यमान रहती है। तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा यह ज्ञात किया गया है कि अंग्रेजी में स्वर-लहर पानी की लहर के तुल्य क्रमिक उतार-चढ़ाव वाली होती है। फ्रेंच-भाषा में लगातार चढ़ाव जाता है और अन्तिम ध्वनि पर सहसा उतार देखा जाता है। सुर केवल घोष ध्वनियों में मुख्यतया रहता है। अघोष ध्वनियाँ सहगामी के तुल्य रहती हैं। सामान्यतया भाषा में घोष ध्वनियों की अपेक्षा अघोष ध्वनियाँ लगभग एक-चौथाई प्रयुक्त होती हैं।

मुख्यतया सुरलहर के दो भेद किए जाते हैं—शब्द-सुरलहर और वाक्य-सुर-लहर। तीन भाषाओं में ये दोनों सुरलहरें सार्थक होती हैं। संस्कृत, हिन्दी आदि अतान भाषाओं में केवल वाक्य-सुरलहर काकु या व्यंग्य आदि के रूप में प्रयुक्त होता है।

४.२२. (ङ) संगम या सन्धि (Juncture)

संबद्ध वाक्य में एक के बाद दूसरी ध्वनि आती जाती है। वक्ता एक ध्वनि को पूरा करके दूसरी ध्वनि का उच्चारण करता है। एक ध्वनि के बाद दूसरी ध्वनि पर जाना दो प्रकार से होता है—(१) अबाधगति से ज़ाना और (२) सबाध या कुछ विराम के साथ जाना। जैसे—वरदे, वर दे; मुखरता, मुख रता; सारसिका-सा रसिका। इन स्थानों पर ज्ञात होता है कि ध्वनि एक होने पर भी अर्थों में भेद है। अर्थ के अनुसार शब्दों को तोड़कर बोला जाता है। जहाँ पर अबाध गति से ध्वनिसंक्रम या एक ध्वनि से दूसरी ध्वनि पर जाना होता है, वह प्रथम भेद है। जैसे—वरदे-वर देने वाली, स्त्रीलिंग सम्बोधन। मुखरता—ध्वनि की प्रधानता। सारसिका—सारस की स्त्री। दूसरे भेद में इन शब्दों के बीच में थोड़ा विराम कर देने से अर्थभेद हो जाता है। जैसे—वर दे—तू वरदान दे, मुख रता-मुख में प्रेम रखनेवाली, सा रसिका—वह रसीली स्त्री। संस्कृत साहित्य में श्लेष के प्रसंग में इस विषय का विस्तृत वर्णन है। जैसे—अभंग-श्लेष, सभंग-श्लेष, सभंगाभंग-श्लेष। पाश्चात्य विद्वानों ने इसके अनेक भेद और उपभेद किये हैं। हिन्दी में इसको योजक, विवृति और मौन योजक भी कहते हैं।

*

अध्याय ५

ध्वनि-विचार

(क) स्वनिम–विज्ञान, ध्वनिग्राम–विज्ञान (Phonemics)

(ख) ध्वनि–परिवर्तन (Phonetic Changes)

१७. ध्वनि–परिवर्तन के कारण
    (क) आभ्यन्तर कारण
    (ख) बाह्य कारण

१८. ध्वनि–परिवर्तन (Phonetic Changes)
    (क) अकारण ध्वनि–परिवर्तन
    (ख) सकारण ध्वनि–परिवर्तन

१९. ध्वनि–परिवर्तन की दिशाएँ
    १. समीकरण (Assimilation)
    २. विषमीकरण (Dissimilation)
    ३. आगम (Augment)
    ४. लोप (Elision)
    ५. समाक्षरलोप (Haplology)
    ६. वर्ण–विपर्यय (Metathesis)
    ७. महाप्राणीकरण (Aspiration)
    ८. अल्पप्राणीकरण (De-aspiration)
    ९. घोषीकरण (Vocalization)
    १०. अघोषीकरण (De-vocalization)
    ११. अनुनासिकीकरण (Nasalization)
    १२. ऊष्मीकरण (Assibilation)
    १३. संधिकार्य
    १४. मात्रा–भेद

२०. विशिष्ट ध्वनि–परिवर्तन
    १. अपिनिहिति (Epenthesis)
    २. अभिश्रुति (Umlaut, Vowel Mutation)
    ३. अपश्रुति (Ablaut, Vowel Gradation)

(ग) ध्वनि–नियम (Phonetic Laws)

२१. ध्वनि–नियम
    १. ग्रिम–नियम (Grimm's Law)
    २. ग्रासमान–नियम (Grassmann's Law)
    ३. वर्नर–नियम (Verner's Law)
    ४. तालव्य–नियम (Palatal Law)
    ५. मूर्धन्य नियम (Cerebral Law)
    ६. अन्य ध्वनि–नियम

अध्याय ५

ध्वनि-विचार

(क) स्वनिम-विज्ञान, ध्वनिग्राम-विज्ञान (Phonemics)

५.१. स्वनिम–विज्ञान और स्वनिम (Phoneme)

स्वनिमाख्यं तु विज्ञानं, मूल-ध्वनि-विबोध-कृत् ।
ध्वनि-विश्लेष-विवृत्या, लिप्यंकनमिहोद्यते ॥ १ ॥
भाषाविशेष-संबद्धं साम्य-विवृतिमूलकम् ।
ध्वनेः साम्यं च वैषम्यं विवृतिश्चेह वर्ण्यते ॥ २ ॥ (कपिलस्य)

(स्वनिम-विज्ञान में मूल ध्वनियों का बोध कराया जाता है। इसमें ध्वनियों के विश्लेषण और विवरण के साथ ही उनके लिपिरूप में अंकन का वर्णन होता है। यह किसी विशेष भाषा से सम्बद्ध होता है। इसमें समान ध्वनियों को एक वर्ग में रखा जाता है। ध्वनियों की समानता, विषमता और विवरण के द्वारा उनको छाँटा जाता है।)

भाषाविशेष-संबद्धो लघिष्ठः सार्थको ध्वनिः ।
समध्वनेः प्रतिनिधिः, भेदकृत् स्वनिमो मतः ॥ ३ ॥ (कपिलस्य)

(स्वनिम किसी भाषा-विशेष से सम्बद्ध लघुतम सार्थक ध्वनि है। यह समान ध्वनियों की प्रतिनिधि होती है। अन्य ध्वनियों से किसी रूप में भिन्न होने के कारण इसको भेदक ध्वनि माना जाता है।)

५.१. (क) स्वनिम–विज्ञान के विभिन्न नाम

फोनीमिक्स (Phonemics) के लिए हिन्दी में अनेक शब्द प्रचलित हैं— ध्वनिग्राम-विज्ञान, स्वनिमी, स्वानिमी, स्वनिम-विज्ञान, स्वनग्रामिकी, ध्वनिग्रामिकी, ध्वनितत्त्व-विज्ञान, ध्वनिमात्राविज्ञान, वर्ण-विज्ञान आदि। इनमें से स्वनिम-विज्ञान और ध्वनिग्राम-विज्ञान नाम अधिक प्रचलित हैं। फोन (Phone) के लिए 'स्वन' शब्द है। अतः फोनीम को 'स्वनिम' और फोनीमिक्स को 'स्वनिम-विज्ञान' कहना अधिक उपयुक्त है। फोन का अनुवाद 'ध्वनि' करने पर फोनीम के लिए 'ध्वनिग्राम' और फोनीमिक्स के लिए 'ध्वनिग्राम-विज्ञान' शब्द होंगे।

५.१. (ख) स्वनिम–विज्ञान क्या है?

स्वनिम-विज्ञान (फोनीमिक्स) भाषाशास्त्र का एक प्रमुख अंग है। इसमें प्रत्येक

भाषा के स्वनिमों (फ़ोनीम) का वैज्ञानिक विश्लेषण-विवेचन-पद्धति के द्वारा संकलन किया जाता है और उनके आधार पर प्रत्येक भाषा के लिए सुव्यवस्थित वैज्ञानिक लिपि तैयार की जाती है। यह विज्ञान अनेक दृष्टि से भाषाशास्त्र के लिए अत्युपयोगी सिद्ध हुआ है।

५.१. (ग) स्वनिम का स्वरूप

स्वनिम (फोनीम) के स्वरूप के विषय में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद है। ब्लूमफील्ड (Leonard Bloomfield) और डेनियल जोन्स (Daniel Jones) आदि इसे भौतिक (Physical) इकाई मानते हैं। एडवर्ड सपीर (Edward Sapir), कुर्तिन तथा प्राग स्कूल के कुछ भाषाशास्त्री स्वनिम को मनोवैज्ञानिक (Psychological) इकाई मानते हैं। प्रो० ट्वाडेल (W.F. Twaddell) इसको अमूर्त काल्पनिक इकाई (Abstractional Fictitious Unit) मानते हैं। कुछ विद्वान् इसको बीजगणितीय (Algebraical) इकाई सिद्ध करते हैं। विचार करने से ज्ञात होता है कि स्वनिम (फोनीम) को अमूर्त काल्पनिक इकाई मानना अधिक उचित है। स्वनिम ध्वनि-समूह का द्योतक है, अतः यह जाति है। जिस प्रकार जाति और व्यक्ति में जाति अमूर्त है और व्यक्ति मूर्त, उसी प्रकार स्वनिम जाति होने के कारण अमूर्त है और संस्वन या संध्वनि (Allophone) मूर्त हैं। जिस प्रकार लोक-व्यवहार में जाति के स्थान पर व्यक्ति का व्यवहार होता है, उसी प्रकार भाषा में संस्वन का ही व्यवहार होता है, स्वनिम का नहीं। प्रयोग की दृष्टि से संस्वन का ही अस्तित्व है, स्वनिम इसके मूल स्वरूप को द्योतित करता है।

५.२. स्वनिम (फोनीम) का संक्षिप्त इतिहास

फोनीम (स्वनिम) वर्णमाला को द्योतित करता है। इसका इतिहास प्रायः उतना ही पुराना है, जितना वर्णमाला का। भाषा-ध्वनि या वर्णमाला के अर्थ में फोनीम शब्द का प्रयोग अर्वाचीन है। फोनीम (Phoneme) शब्द के जन्मदाता प्रो० हैवेट हैं। इन्होंने १८७६ ई० के लगभग इस शब्द का प्रयोग भाषा-ध्वनि के अर्थ में किया था। प्रो० ब्लूमफील्ड (L. Bloomfield), एडवर्ड सपीर (Edward Sapir), और द सोस्यूर (De Saussure) ने प्रारम्भ में स्वनिम-विज्ञान को आगे बढ़ाने में विशेष उल्लेखनीय कार्य किया। बाद में नये उत्साही भाषाशास्त्री पाइक (K.L. Pike), बर्नार्ड ब्लाख (Bernard Bloch), ट्रैगर (G.L. Trager), ग्लीसन (H.A. Gleason) ने इस कार्य में विशेष प्रगति की। इस क्षेत्र में इनके अतिरिक्त फिशर (F. Fischer), ट्रुबेज़काय (N.S. Trubetzkoy), ट्वाडेल (W.F. Twaddell), हाकेट (C.F. Hockett), याकोब्सन (R. Jakobson) आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

५.३. स्वनिम की परिभाषा

स्वनिम (फोनीम) भाषा की वह लघुतम इकाई है, जो समान ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करती है। यह अन्य ध्वनियों से भिन्न होती है। इसका सम्बन्ध किसी भाषा-

विशेष से होता है।[1] जिन परिस्थितियों में एक स्वनिम आता है, ठीक उन्हीं परिस्थितियों में दूसरा स्वनिम नहीं आता। प्रत्येक स्वनिम स्वतंत्र एक ही संकेत से संकेतित किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक सार्थक ध्वनि के लिए स्वतंत्र संकेत होते हैं। उच्चारणस्थान और प्रयत्न की समानता के आधार पर स्वनिमों का निर्धारण किया जाता है। स्वनिम की संघटक ध्वनियों को संस्वन, एलोफोन (Allophone) या संध्वनि कहते हैं।[2]

५.४. स्वनिम की विशेषताएँ

स्वनिम की प्रवृत्ति के विवेचन से निम्नलिखित तथ्य ज्ञात होते हैं—

१. स्वनिमों या फोनीम किसी भाषा की लघुतम अखण्ड्य इकाई होता है। जैसे; अ, इ, क्, च्, ट्, त्, प् आदि। यह एक जाति या श्रेणी है।

२. स्वनिम समान ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करता है। एक ही ध्वनि यदि अनेक प्रकार से उच्चरित होती है तो स्वनिम एक ही होगा। उसके संस्वन या संध्वनि (एलोफोन) अनेक हो सकते हैं।

३. स्वनिम में अर्थ-परिवर्तन की शक्ति होती है। जैसे; काल, गाल, लाल में क्, ग्, ल् स्वतंत्र स्वनिम हैं। अतः इनके भेद से अर्थों में अन्तर हो जाता है। संस्वन या संध्वनि में अर्थ-परिवर्तन करने की शक्ति नहीं होती।

४. स्वनिम समीपवर्ती ध्वनियों से प्रभावित होते हैं। जैसे; लाल, लूट, उल्टा में ल् ध्वनि। लाल में ल् आ के कारण कण्ठस्थान से प्रभावित है। लू में ऊ के कारण जीभ कुछ

---

1. (क) 'A phoneme is a class of phonetically similar sounds, contrasting and mutually exclusive with all similar classes in the language.'—B. Bloch and G.L. Trager : *Outlines of Linguistic Analysis*, 1972, p. 40.
(ख) 'A phoneme is a family sounds in a given language which are related in character and are used in such a way that no one member ever occurs in a word in the same phonetic context as any other member.'—D. Jones : *The Phoneme*, 1950, p. 10.
(ग) 'A phoneme is a class of sounds which (1) are phonetically similar and (2) show certain characteristic patterns of distribution in the language or dialect under consideration.'—H.A. Gleason : *An Introduction to Descriptive Linguistics*, p. 261.
(घ) 'We can define a phoneme as a unit, a bundle of sound features, or a point of contrast.'—Robert Hall : *Introductory Linguistics*, p. 79.
2. 'The individual sounds which compose a phoneme are its Allophones.'—B. Bloch and G.L. Trager : *Outlines of Linguistic Analysis*, p. 40.

आगे आती है और उल्टा में परवर्ती ट के कारण जीभ प्रतिवेष्टित होती है। इस प्रकार तीनों ल् के उच्चारण में अन्तर है।

५. स्वनिमों में ध्वन्यात्मक समानता (Phonetic Similarity) की ओर प्रवृत्ति होती है। इसके आधार पर किसी भाषा-विशेष की ध्वनियों के निर्धारण में सहायता मिलती है। जैसे, किसी भाषा में क्, ग्, च्, ज्, ट्, ड्, त्, प्, ब् मिलते हैं। इनके विवेचन से ज्ञात होता है कि इस भाषा-विशेष में स्पर्श व्यंजनों में अघोष स्पर्श के साथ घोष स्पर्श भी हैं। ऊपर दिए वर्णों में क्, च्, ट् और प् के घोष वर्ण ग्, ज्, ड् और ब् हैं, किंतु त् का घोष वर्ण् द् गायब है। ध्वन्यात्मक साम्य की प्रवृत्ति के आधार पर यह निर्णय किया जाएगा कि इस भाषा में द् ध्वनि भी होनी चाहिए। संभवत: श्रोता की त्रुटि के कारण द् को भी त् समझ लिया गया है।

६. स्वनिमों की प्रवृत्ति परिवर्तन (Fluctuation) की ओर होती है। कोई भी मनुष्य किसी एक ध्वनि को ठीक उसी प्रकार दुबारा उच्चारण नहीं कर सकता है। बाद के उच्चारणों में कुछ-न-कुछ सूक्ष्म भेद रहता है। इस परिवर्तन के कारण कुछ भाषाओं में त् और ट् या त् और द् ध्वनियाँ परिवर्तनीय हो सकती हैं। अन्य भाषाओं के श्रोता इन ध्वनियों का अन्तर सुनकर ज्ञात कर सकते हैं।

७. प्रत्येक भाषा में ध्वनि-क्रम (Sound Sequence) होते हैं। एक विशेष योजना के साथ ध्वनियों का क्रम होता है। इसके आधार पर संदिग्ध स्थान पर स्वर या व्यंजन का निर्णय किया जाता है। यदि किसी भाषा में व्यंजन-स्वर, व्यंजन-स्वर का क्रम है और कहीं पर तृतीय वर्ण संदिग्ध है तो वहाँ पर व्यंजन की स्थिति मानी जायेगी।

८. स्वनिम दो प्रकार के हैं—खण्ड्य (Segmental) और अखण्ड्य (Supra-Segmental)। खण्ड्य में स्वर और व्यंजन आते हैं, क्योंकि इनको पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। अखण्ड्य में मात्रा, सुर, बलाघात, संगम, अनुनासिकता आदि हैं। अत: केवल स्वरों और व्यंजनों को ही स्वनिम समझना त्रुटिपूर्ण है।

९. कुछ स्थानों पर स्वच्छन्द परिवर्तन (Free Variation) भी होता है। उन स्थानों पर बिना किसी अर्थ-परिवर्तन के दो ध्वनियों में से एक का प्रयोग किया जा सकता है। हिन्दी में उर्दू आदि के क़, ख़, ग़ के स्थान पर क, ख, ग का प्रयोग प्रचलित है। जैसे ग़रीब को गरीब, बुख़ार को बुखार। इसको स्वच्छन्द परिवर्तन माना जाएगा। इसी प्रकार संस्कृत की कुछ ध्वनियों को लोकभाषा में विकृत रूप में बोला जाता है। इससे भी अर्थ-परिवर्तन नहीं होता है। जैसे, य को ज, यजमान-जजमान; ष को ख, षट्कोण-खट्कोण; ज्ञ को ग्य, ज्ञान को ग्यान। इनको भी स्वच्छन्द-परिवर्तन माना जाएगा।

५.५. संस्वन (Allophone) की विशेषताएँ

१. संस्वन या संध्वनि स्वनिम के व्यवहृत रूप हैं। भाषा में संस्वन का ही प्रयोग होता है, स्वनिम का नहीं। स्वनिम को जाति कहेंगे, तो संस्वन व्यक्ति है। काल, कला आदि में कत्व जाति (क् स्वनिम) है, परन्तु व्यवहार क् संस्वन का ही होता है।

२. एक स्वनिम (फोनीम) के अनेक संस्वन हो सकते हैं। संस्वन के भेद से

स्वनिम में भेद नहीं होता है। परवर्ती ध्वनि के आधार पर क् के उच्चारण में भेद हो सकता है, जैसे—काल, कुल, क्रम, क्लान्त, क्षय आदि। ऐसे संस्वनों को क्^{1}, क्^{2}, क्^{3} आदि लिखकर अन्तर दिखाया जाता है।

३. संस्वन में अर्थभेदता नहीं होती है। क् को किसी भी स्थान से उच्चारण करें, कण्ठ से या उसके आगे-पीछे स्थान से, उससे अर्थ में अन्तर नहीं होगा।

४. संस्वन इकाई है, स्वनिम जाति या वंश।

५.६. स्वनिम-विज्ञान की उपयोगिता

१. स्वनिम-विज्ञान भाषा-शिक्षण की सरलतम वैज्ञानिक पद्धति है। इसमें प्रत्येक भाषा की प्रचलित वर्णमाला पर ध्यान न देकर केवल मूल ध्वनियों को नोट किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक भाषा में मूल ध्वनियों की संख्या सीमित रह जाती है और उन पर सरलता से अधिकार करके नवीन भाषा को सरलतम ढंग से सीखा जा सकता है।

२. स्वनिम-विज्ञान के विश्लेषणों से सिद्ध हुआ है कि विश्व की भाषाओं में कम से कम १५ से लेकर अधिक से अधिक ६० स्वनिम विभिन्न भाषाओं में पाए जाते हैं। सामान्य रूप से ३० स्वनिमों का औसत है। इनके शुद्ध ज्ञान से संबद्ध भाषा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

३. ध्वनिविज्ञान (फोनेटिक्स) के द्वारा संगृहीत सामग्री का स्वनिमविज्ञान में व्यावहारिक उपयोग होता है। संगृहीत ध्वनियों में से स्वनिमों का संकलन किया जाता है। फोनेटिक्स समुद्र है तो फोनीमिक्स उसमें से निकाले गये रत्न हैं। इन रत्नों की माला (स्वनिम-माला) ही प्रत्येक भाषा का सर्वस्व है।

४. स्वनिमविज्ञान भाषाशास्त्र को एक नवीन व्यावहारिक दृष्टिकोण देता है। यह भाषा के असार अंश को छोड़कर सार-भाग ग्रहण करने की शिक्षा देता है और अनावश्यक विस्तार के स्थान पर सूत्र-रूप से कार्य-निर्वाह की विधि बताता है।

५. स्वनिमविज्ञान भाषाशास्त्र की नींव है। भाषाशास्त्र के सभी अंग, पद-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान आदि स्वनिम के ज्ञान पर ही निर्भर हैं। स्वनिम-समूह ही पद बनता है और पद-समूह वाक्य। इस प्रकार स्वनिमविज्ञान पद, वाक्य और अर्थ का बोध कराने के कारण भाषाशास्त्र की आधारशिला है।

६. स्वनिमविज्ञान ही आदर्श वर्णमाला या लिपि के निर्माण में समर्थ है। विश्व की सभी भाषाओं के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय लिपि स्वनिम-विज्ञान के आधार पर ही संभव है। जिसमें एक ध्वनि के लिए एक ही संकेत हो तथा एक लिपि-संकेत से एक ही ध्वनि या स्वनिम का बोध हो।

स्वनिमविज्ञान के प्रवर्तक के रूप में महर्षि पाणिनि का नाम सादर लिया जा सकता है। इन्होंने माहेश्वर सूत्रों के रूप में संस्कृत के स्वनिमों (फोनीम) का सर्वांगीण संग्रह किया है। महर्षि पाणिनि की पद्धति आज भी विश्व के भाषाशास्त्रियों के लिए आदर्श एवं ग्राह्य है।

५.७. ध्वनि (Sound) और स्वनिम (ध्वनिग्राम) (Phoneme) में अन्तर

१. ध्वनि एक भौतिक घटना-मात्र है। यह भाषा-निरपेक्ष है। स्वनिम (ध्वनिग्राम)

भाषा-सापेक्ष है और यह सार्थक ध्वनि-गत भेद है।

२. ध्वनि स्थान, प्रयत्न आदि भेद से असंख्य है। स्वनिमों की संख्या भाषा-विशेष के आधार पर १५ से लेकर ६० तक ही है। किसी भी भाषा में ६० से अधिक स्वनिम नहीं हैं।

३. ध्वनि का उच्चारण होता है, स्वनिम का उच्चारण नहीं होता है। स्वनिम जातिरूप में विद्यमान रहता है।

४. ध्वनि इकाई है, स्वनिम ध्वनिसमूह का वाचक है। एक स्वनिम के अन्तर्गत आनेवाले ध्वनिसमूह में उच्चारण की दृष्टि से समानता होती है।

५. मानसिक प्रक्रिया में स्वनिम (ध्वनिग्राम) रहते हैं, ध्वनि नहीं। यद्यपि बोलने और सुनने में ध्वनि का ही प्रयोग होता है, परन्तु बोलने से पूर्व मानसिक चिन्तन में और सुनने के बाद मानसिक ग्रहण में स्वनिम ही रहते हैं। ध्वनि ध्वनिग्राम का व्यंजक है और ध्वनिग्राम शब्दार्थ के समन्वित रूप का व्यंजक है।

५.८. ध्वनिविज्ञान (Phonetics) और स्वनिमविज्ञान (Phonemics) में अन्तर

१. ध्वनिविज्ञान या फोनेटिक्स भाषण-ध्वनि का ध्वन्यात्मक रूप है। इसमें भाषण-ध्वनि ध्वन्यात्मक इकाई है। प्रत्येक भाषण-ध्वनि एक-एक इकाई है। क् को १०० बार बोलेंगे तो १०० [क्] इकाई हुई। इसका अर्थ है कण्ठ या कोमल-तालु से उच्चरित ध्वनि १०० बार बोली गई। इसके लिए [ ] कोष्ठ का प्रयोग किया जाता है।

२. स्वनिमविज्ञान या फोनीमिक्स में स्वनिम या फोनीम (Phoneme) एक वंश, वर्ग या जाति है। इसमें १०० या असंख्य बार बोलने पर भी क् एक इकाई हुई। यह कत्व जाति हुई, इसको दो तिरछी लकीरों // या हिन्दी में सुविधा के लिए दो सीधी ॥ लकीरों के मध्य में लिखा जाता है, जैसे—/क/, ।ख।

३. ध्वनिविज्ञान स्वनिमविज्ञान का आधार है। ध्वनिविज्ञान में प्रत्येक ध्वनियाँ छाँटी जाती हैं। उसके आधार पर स्वनिमविज्ञान में उन ध्वनियों के वर्ग (स्वनिम) बनाये जाते हैं। जीवित भाषा के शब्दों को सूचक से और मृत भाषा के शब्दों को साहित्य से प्राप्त किया जाता है।

५.९. स्वनिम और संस्वन (Phoneme & Allophone)

(क) स्वनिम का रूप

भाषा में दो प्रकार की ध्वनियाँ मिलती हैं—१. फोनेटिक (ध्वन्यात्मक या स्वानिक), (२) फोनीमिक (स्वनिमीय या ध्वनिग्रामीय)। दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि फोनेटिक (Phonetic) या ध्वन्यात्मक संकेत भाषण-ध्वनि की इकाई को सूचित करता है। १०० बार क् बोलने पर १०० [क्][K] इकाई हुई। उसको दो कोष्ठों [ ] के बीच में रखकर दिखाया जाता है। जैसे—[क्], [ख्]। फोनीमिक (Phonemic) या स्वनिमीय संकेत भाषण-ध्वनि के एक वंश, वर्ग या जाति को सूचित करता है।

एक वंश या जाति के लिए केवल एक स्वनिम (Phoneme, फोनीम) रहता है। १०० क् एक वंश या एक जाति है। अतः वह एक स्वनिम (फोनीम) हुआ। इस एक स्वनिम में इसके वंशज सभी क् इसके संस्वन (Allophone) होंगे। जैसे—क् के भेद कि, कु, क्त, क्ल् आदि। स्वनिम जाति या वंश है, संस्वन व्यक्ति हैं।

(ख) स्वनिम और संस्वन

स्वनिम या ध्वनिग्राम जाति है और संस्वन व्यक्ति। स्वनिम को दो तिरछी लकीरों // के अन्दर लिखा जाता है। हिन्दी टाइप में तिरछी लकीरों की सुविधा न होने से इसे दो सीधी लकीरों के बीच में भी लिखा जाता है। जैसे—क् ख् ग् स्वनिम को । क् ।, । ख् ।, । ग् । लिखेंगे।

संस्वन (Allophone, एलोफोन) को संध्वनि भी कहते हैं। Allo (एलो) का अर्थ है—एक या अन्य। यह ग्रीक शब्द Allos (एलोस) का संक्षिप्त रूप है। ग्रीक में इसका अर्थ है—अन्य। Phone का अर्थ है—स्वन या ध्वनि। अतः एलोफोन का अर्थ हुआ—पृथक्-पृथक् या एक-एक ध्वनियाँ। एक स्वनिम में अर्थात् एक जाति में अनेक संस्वन या संध्वनियाँ होंगी, उनको अलग-अलग संस्वन माना जाएगा। संस्वनों को दो कोष्ठों [ ] के बीच में लिखा जाता है। ये जितने प्रकार के होंगे, उनको उतने प्रकार का माना जाएगा और इसके लिए उसके आगे १, २, ३ आदि अंक दिए जाते हैं, जैसे—क कि कु क्त् क्ल्, क्व् पृथक् संस्वन हैं। इनकी पृथक्ता सूचित करने के लिए इन्हें दो कोष्ठों के मध्य लिखा जाएगा—

[क्-१], [क्-२], [क्-३], [क्-४], [क्-५], [क्-६]। कला, किमपि, कुल, शक्त, क्लम, क्वचित् में ६ प्रकार के क् हैं। इनके उच्चारण में भी कुछ अन्तर है। प्रत्येक उच्चारणभेद के आधार पर क् के ६ संस्वन हुए। भेद करने के लिए प्रत्येक क् संस्वन के आगे संख्या लिखी गई है।

ध्वन्यात्मक (फोनेटिक) भेद के आधार पर संस्वन (एलोफोन) भिन्न-भिन्न होंगे, परन्तु स्वनिम (फोनीम) एक ही रहेगा। इसी आधार पर एक स्वनिम के अनेक संस्वन होते हैं।

(ग) स्वनिम और संस्वन छाँटना

स्वनिम और संस्वन छाँटने में देखना होगा कि—(१) कितनी मूल ध्वनियाँ हैं। जितनी मूल ध्वनियाँ होंगी, उतने स्वनिम (फोनीम) होंगे। (२) एक ही वर्ग या जाति की जितनी ध्वनियाँ होंगी, वे उस वर्ग के संस्वन (एलोफोन) होंगे। उदाहरणार्थ, संस्कृत और हिन्दी के एक-एक वाक्य लिए जाते हैं—

१. कमले कमला शेते।			**२. निबल के बल केवल राम हैं।**		
ध्वनि		**प्रयोग**	**ध्वनि**		**प्रयोग**
(क) **व्यंजन**			(क) **व्यंजन**		
क्	-	२ बार	न्	-	१ बार + १ अनुनासिक
म्-	-	२ बार	ब्	-	२ बार

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि संस्कृत में पूर्वोक्त वाक्य में स्वनिम ८ हैं और संस्वन १६। इसी प्रकार हिन्दी के वाक्य में स्वनिम १३ हैं और संस्वन २५।

यहाँ इस बात पर ध्यान दें—

संस्कृत में केवल /ल्/ स्वनिम के पृथक् २ संस्वन दिखाए गए हैं। इसका कारण यह है कि पूर्वोक्त वाक्य में ल् दो प्रकार का है—ल् + ए, ल् + आ (ले, ला), अतः दो ल् संस्वन माने जाएँगे। क् म् आदि केवल एक प्रकार के ही हैं, अतः एक संस्वन को गुणा के चिह्न से गुणित किया गया है।

हिन्दी में केवल /न्/ स्वनिम के दो भेद दिए गए हैं। एक 'नि' में शुद्ध न् ध्वनि है, दूसरे 'हैं' में न् का अनुनासिक रूप है। शेष ब् आदि ध्वनियों में एक ही रूप है, अतः एक संस्वन दिखाया गया है। उसके आगे गुणा का चिह्न लगाकर गुणित किया गया है। विभिन्न संस्वन तभी दिखाए जाएँगे, जब उस ध्वनि के उच्चारण में स्थान, प्रयत्न, मात्रा आदि का कोई भेद होगा।

भाषाशास्त्रियों ने विश्व की समस्त भाषाओं का परीक्षण करने के बाद पाया है कि विश्व की किसी भाषा में कम से कम १५ या २० स्वनिम हैं और किसी भाषा में ५० या ६० तक स्वनिम हैं। ६० से अधिक स्वनिम (फोनीम) किसी भी भाषा में नहीं हैं। भाषा की दृष्टि से स्वनिमों की औसत संख्या ३० है।

५.१०. स्वनिम (Phoneme) और संस्वन (Allophone) का निर्धारण

सामग्री-संकलन के बाद छाँटने के समय कुछ ध्वनियाँ समान मिलती हैं और कुछ के विभिन्न रूप मिलते हैं। इनमें से किसको स्वनिम माना जाए और किसको संस्वन। यह एक उलझाने वाली समस्या है। इसका सामान्यतया हल यह है कि संबद्ध ध्वनियों का वितरण किया जाता है और प्रयोग के आधार पर परीक्षण किया जाता है कि उस भाषा में संदिग्ध दोनों में से कौन सी ध्वनि अधिक प्रयोग में आती है या एक ध्वनि का जो भेद सबसे अधिक प्रयुक्त होता है, उसे स्वनिम (Phoneme) माना जाएगा और जो ध्वनि कम प्रयुक्त होती है, उसे उसका संस्वन (एलोफोन) माना जायगा। जैसे—संस्कृत या हिन्दी में वर्ग के पंचम वर्ण ङ् ञ् ण् न् म् में किसको स्वनिम माना जाए और किसको संस्वन। वितरण एवं प्रयोग से ज्ञात होता है कि—

ङ्-ध्वनि—वाङ्मय, पङ्ख, अङ्ग, गङ्गा, लिङ्ग, लिङ्, लुङ्।

ञ्-ध्वनि—पञ्च-पंच, धनञ्जय-धनंजय, रञ्जन-रंजन।

ण्-ध्वनि—काण, काणा, द्रोण, पणि, भाण, भण्डार, प्राण।

न्-ध्वनि—कान, नासिका, नाक, नील, अन्त, तन्त्र।

म्-ध्वनि—काम, मान, मीन, कम्प, लम्ब, रम्भा।

उक्त वितरण से ज्ञात होता है कि ण्, न्, म् की पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता है। कान-काण-काम के अर्थभेद से स्पष्ट है कि इन्हें स्वतन्त्र स्वनिम माना जाए। वाङ्मय आदि शब्द ङ् की स्वतन्त्र सत्ता बताते हैं, अतः ङ् भी स्वनिम माना जाता है। ञ् के विषय में सन्देह है।

ध्वनि		प्रयोग	ध्वनि		प्रयोग
(क) व्यंजन			(क) व्यंजन		
ल्	–	२ बार	ल्	–	३ बार
श्	–	१ बार	क्	–	२ बार
त्	–	१ बार	व्	–	१ बार
			र्	–	१ बार
			म्	–	१ बार
			ह्	–	१ बार
५		८	८		१३
(ख) स्वर			(ख) स्वर		
अ	–	४ बार	अ	–	७ बार
आ	–	१ बार	आ	–	१ बार
ए	–	३ बार	इ	–	१ बार
			ए	–	२ बार
			ऐ	–	१ बार
योग—३ + ५=८		८ + ८=१६	योग—५ + ८=१३		१२ + १३=२५

स्वनिम	संख्या	संस्वन	संख्या	स्वनिम	संख्या	संस्वन	संख्या
/क/	१	[क] X २	२	/न/	१	[न्-१] [न्-२]	२
/म/	१	[म] X २	२	/ब/	१	[ब] X २	२
/ल/	१	[ल्-१] [ल्-२]	२	/ल/	१	[ल] X ३	३
/श/	१	[श]	१	/क/	१	[क] X २	२
/त/	१	[त]	१	/व/	१	[व]	१
/अ/	१	[अ] X ४	४	/र/	१	[र]	१
/आ/	१	[आ]	१	/म/	१	[म]	१
/ए/	१	[ए] X ३	३	/ह/	१	[ह]	१
योग	८		१६				
				/अ/	१	[अ] X ७	७
				/आ/	१	[आ]	१
				/इ/	१	[इ]	१
				/ए/	१	[ए] X २	२
				/ऐ/	१	[ऐ]	१
				योग	१३		२५

सामान्यतया न् ध्वनि चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्) से पूर्व ञ् के रूप में प्राप्त होती है। इसे अनुस्वार द्वारा भी दिखाया जाता है। जैसे—पञ्च-पंच, रञ्जन-रंजन। इस आधार पर इसे न् का ही एक संस्वन माना जाता है। चवर्ग से पूर्व ञ्, अन्यत्र न्। संस्कृत में पारिभाषिक शब्दावली में ञ् भी पाया जाता है। जैसे—घञ्, अञ्, ठञ्, डुकृञ् करणे आदि। सामान्यतया प्रयुक्त शब्दावली में ञ् की उपर्युक्त स्थिति है, अतः इसे न् का संस्वन माना जाता है।

इसी प्रकार कान-खान-गान आदि न्यूनतम विरोधी युग्मों में क् ख् ग् के अन्तर के कारण अर्थभेद होने से इन्हें स्वतन्त्र स्वनिम माना जाता है। भाषा की अन्य ध्वनियों का भी इसी प्रकार परीक्षण और वितरण करके स्वनिमों को छाँटा जाता है।

गण, गान, गीत, गुण में /ग्/ स्वनिम है, परन्तु उच्चारण करने से ज्ञात होगा कि चारों ग् एक जैसे नहीं बोले जाते हैं। गण में ग् कण्ठ से बोला जाता है। गान के ग् में जीभ थोड़ा आगे आती है और बल दिया जाता है। गीत के ग् में जीभ आगे तालु की ओर आती है और ई से प्रभावित है। गुण के ग् में जीभ थोड़ा पीछे हटती है और उ के कारण पश्च स्वर से प्रभावित है। इन सूक्ष्म भेदों को संस्वन (एलोफोन) में ग् के भेद बताते हुए अंकों द्वारा इसके भेद का निर्देश होता है। जैसे—

स्वनिम	संस्वन			
/ग्/	गण	गान	गीत	गुण
	[ग् १]	[ग् २]	[ग् ३]	[ग् ४]

इस प्रकार भाषा के सभी स्वनिमों के संस्वनों का निर्धारण करके उनके संस्वनों को कोष्ठ [ ] में अंकों के साथ लिखकर उनका सूक्ष्म भेद बताया जाता है।

५.११. स्वनिम छाँटने की विधि
(The technique of Phonemic analysis)

सामग्री-संकलन—किसी भी जीवित भाषा के स्वनिमों को छाँटने के लिए उस भाषा को बोलने वाले व्यक्ति से उस भाषा के वाक्यों को सुनकर संकलित किया जाता है। जिससे उस भाषा को सुना जाता है, उसे सूचक (Informant) कहा जाता है। मृत भाषा के शब्द उसके साहित्य से संकलित किए जाते हैं।

ध्वन्यात्मक लेखन—एकत्र की हुई सामग्री को ध्वन्यात्मक लेखन (Phonetic Transcription) की सूक्ष्म प्रतिलेखन (Narrow Transcription) की पद्धति से लिखा जाता है। इसमें स्वरों और व्यंजनों की सूक्ष्मताओं का भी निर्देश किया जाता है। साथ ही बलाघात, सुर आदि का भी उल्लेख किया जाता है। इसमें विशेष उल्लेखनीय बातें ये हैं—

(क) स्वर—(१) घोष, अघोष या जपित है। (२) ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत है। (३) संवृत या विवृत है। (४) अग्र, मध्य या पश्च स्वर है। (५) अनुनासिक है या अननुनासिक। (६) बलाघात या सुर से युक्त है या नहीं। (७) आक्षरिक (Syllabic) है या नहीं। यदि आक्षरिक है तो किस रूप में। (८) वृत्तमुखी है या अवृत्तमुखी।

(ख) व्यंजन—(१) स्थान की दृष्टि से उसका क्या स्थान है, कण्ठ्य, तालव्य आदि। वह अपने मूलरूप में उच्चरित है या कुछ भिन्न रूप में। (२) प्रयत्न की दृष्टि से स्पृष्ट, ईषत् स्पृष्ट या संघर्षी आदि है। अपने मूल रूप से भिन्न तो नहीं है। (३) ओष्ठ की स्थिति—वृत्तमुखी या अवृत्तमुखी। (४) स्पर्श पूर्ण है या अपूर्ण, स्फोटित है या अस्फोटित। (५) अनुनासिक है या नहीं। (६) आक्षरिक है या नहीं।

स्वनिमों या ध्वनिग्रामों को छाँटना—किसी भी भाषा के स्वनिमों को छाँटने के लिए निम्नलिखित विधि अपनाई जाती है—(१) सूचक से सुनकर एकत्र की हुई सामग्री को क्रमबद्ध लगाना, (२) उसका तुलनात्मक अध्ययन करना, (३) उसका ध्वनियों के साथ संयोजन।[1]

(१) इसके लिए एक चार्ट बनाकर प्रत्येक ध्वनि से प्रारम्भ होने वाले शब्दों को अलग-अलग नोट किया जाता है। इसमें यह भी नोट किया जाता है कि क्या कोई ध्वनि किसी विशेष ध्वनि के साथ ही आती है। यह भी देखा जाता है कि इस प्रकार नोट की गई ध्वनि प्रारम्भ, मध्य और अन्त तीनों जगह आती है या किसी विशेष स्थल पर ही। पहले प्रारम्भिक स्वनिमों को लेते हैं। प्रारम्भिक स्वनिम जिन ध्वनियों के साथ संयुक्त रूप में आते हैं, उनको भी पृथक् नोट कर लिया जाता है।

प्रारम्भिक स्वनिमों की सूची बनने पर मध्यगत स्वनिमों और अन्त्य स्वनिमों की सूची बनाई जाती है।

(२) तुलनात्मक अध्ययन से प्रत्येक ध्वनि का अन्तर किया जाता है। विरोधी या असमान स्वनिमों को अलग-अलग रखा जाता है।

(३) आदि, मध्य या अन्त में प्रत्येक स्वनिम किन ध्वनियों से संयुक्त पाया जाता है, इसका भी पूरा विवरण तैयार किया जाता है।

स्वनिमों का वर्गीकरण—किस ध्वनि (संस्वन या संध्वनि) को किस स्वनिम में रखा जाएगा, इसके लिए सामान्यतया तीन नियामक तत्त्व हैं—(१) वितरण (Distribution), (२) समानता (Similarity), (३) कार्य की एकरूपता (Identity of function)।[2] ये तीनों गुण जिन ध्वनियों में मिलते हैं, वे एक वर्ग में आएँगी।

(१) **वितरण** से अभिप्राय है कि किन परिस्थितियों में वे विभिन्न ध्वनियाँ आती हैं। जिन परिस्थितियों में एक ध्वनि आती है, उन्हीं परिस्थितियों में दूसरी ध्वनि नहीं आती है। दूसरी ध्वनि के उन परिस्थितियों में आने से अर्थभेद होगा। जैसे—कान, पान, मान, यान।

(२) **समानता** से अभिप्राय है—स्थान और प्रयत्न की समानता। स्थान और प्रयत्न की विषमता होने पर विभिन्न स्वनिम माने जाएँगे।

(३) **कार्य की एकरूपता** से अभिप्राय यह है कि यदि कार्य में अन्तर है तो पूरक वितरण और समानता होने पर भी उसे पृथक् स्वनिम माना जाएगा।

---

1. B. Bloch and G. Trager : O. L. A. (*Outline of Linguistic Analysis*), p. 40.
2. R.A. Hall Jr : *Introductory Linguistics*, p. 26.

५.१२. स्वनिम के दो भेद

स्वनिम या ध्वनिग्राम दो प्रकार के होते हैं—

(१) खण्ड्य स्वनिम (Segmental Phonemes)

(२) अखण्ड्य-स्वनिम (Supra-segmental Phonemes)

५.१२ (क) (१) खण्ड्य स्वनिम

खण्ड्य स्वनिम में वे ध्वनियाँ आती हैं, जिनको पृथक्-पृथक् बोला जा सकता है और स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। इनकी स्वतन्त्र सत्ता होती है। काल और प्रयत्न की दृष्टि से इनका विश्लेषण किया जा सकता है। खण्ड्य स्वनिम में स्वर और व्यंजन आते हैं। अ इ उ क् च् आदि को स्वतन्त्र रूप में पृथक्-पृथक् बोला और लिखा जा सकता है। खण्ड्य स्वनिम व्यक्त एवं विभाज्य है।

(२) अखण्ड्य स्वनिम

इसको खण्ड्येतर स्वनिम या खंड्येतर ध्वनिग्राम भी कहते हैं। अखण्ड्य स्वनिम को Prosodic feature (छन्दःशास्त्रीय) विशेषताएँ माना जाता है। इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ये खण्ड्य-स्वनिम पर निर्भर रहते हैं। इनमें मात्रा, सुर, संगम, बलाघात आदि आते हैं। अखण्ड्य स्वनिम अव्यक्त एवं अविभाज्य हैं।

खण्ड्य स्वनिम और वितरण (Distribution)—खण्ड्य स्वनिमों के निर्धारण में वितरण पद्धति का आश्रय लिया जाता है। सामग्री-संकलन करने और उसको निश्चित किसी क्रम से लगा लेने पर स्थान या प्रयत्न की दृष्टि से ध्वनियाँ पास-पास रखी जाती हैं। इनमें कुछ ध्वनियों के बारे में सन्देह होता है कि ये स्वनिम हैं या संस्वन। इसका निर्णय करने के लिए वितरण की पद्धति अपनाई जाती है। इसके ४ भेद किये जाते हैं—(१) अविरोधी वितरण (Non-contrastive distribution), (२) विरोधी वितरण (Contrastive distribution), (३) पूरक वितरण (Complementary distribution), (४) मुक्त परिवर्तन, स्वच्छन्द परिवर्तन या मुक्त वितरण (Free variation या Free alternation)।

(१) अविरोधी वितरण—जब दो या अधिक संस्वन इस प्रकार भाषा में प्रयुक्त होते हैं कि उनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं होता है तो उसे अविरोधी वितरण कहते हैं। जैसे—आराम, क्रम और अर्पण में र् तीन प्रकार से बोला गया है। आराम में र् के उच्चारण में जीभ की नोक हल्का एक आघात करती है। क्रम के र् के उच्चारण में जिह्वानोक दो-तीन लघु आघात करती है। अर्पण में र् के उच्चारण में जिह्वानोक कई लघु आघात करती है। इसको र् स्वनिम के तीन संस्वन [र्-१] [र्-२] [र्-३] कहा जाएगा। यह अविरोधी वितरण है। इन तीन संस्वनों में अन्तर होने से र् स्वनिम में कोई अन्तर नहीं होता है।

(२) विरोधी वितरण या व्यतिरेकी वितरण—संकलित सामग्री में

मिलती-जुलती ध्वनियाँ मिलती हैं। उनके विषय में सन्देह होना स्वाभाविक है कि ये ध्वनियाँ स्वतन्त्र स्वनिम हैं या एक स्वनिम के संस्वन। जिन दो ध्वनियों के बारे में सन्देह होता है, उन्हें संदिग्ध युग्म (Suspicious pair) कहते हैं। इसके लिए ऐसे शब्दों को लिया जाता है, जिनमें केवल उसी ध्वनि का अन्तर हो। इसे लघुतम युग्म या न्यूनतम विरोधी युग्म (Minimal pair) कहते हैं। यदि इनमें विरोध या व्यतिरेक (Contrast) होगा तो उन्हें पृथक् स्वनिम माना जाएगा। जैसे—संदिग्ध संस्वन-युग्म, म् और न्। उदाहरण—काम-कान, धाम-धान, दाम-दान। काम (कार्य), कान (कान अंग) आदि में म् और न् ध्वनि के अन्तर से अर्थभेद है, अतः म् और न् पृथक् स्वनिम माने जाएँगे। स्वनिम अर्थभेदक होता है, अतः अर्थभेद के कारण ये दोनों पृथक् स्वनिम हैं। इसी प्रकार क्-ख् के अन्तर के लिए कान-खान, क्-ग् के अन्तर के लिए कान-गान उदाहरण होंगे।

(३) पूरक-वितरण—इसको परिपूरक वितरण, पूरक बंटन भी कहते हैं। यदि किसी भाषा में दो या उससे अधिक ध्वनियाँ इस प्रकार व्यवहृत होती हैं कि जिस परिस्थिति में एक ध्वनि आती है, ठीक उसी परिस्थिति में दूसरी ध्वनि नहीं आती है, तो उसे पूरक वितरण कहते हैं। ये ध्वनियाँ एक-दूसरे की पूरक होती हैं। ये एक ही स्वनिम के दो या अधिक संस्वन हैं। इनके कारण अर्थभेद नहीं होता है। स्थान या परिस्थिति भेद से इनके उच्चारण में भेद पाया जाता है। जैसे—अंग्रेजी में आदि-अक्षर k, t, p (क्, त्, प्) का उच्चारण kh, th, ph (ख्, थ्, फ्) होता है। Kin, Tin, Pin को खिन्, थिन्, फिन् बोला जाता है। परन्तु शब्द के मध्य में इन्हें क्, त्, प् ही बोला जाता है। जैसे—Skill, Still, Spin को स्किल्, स्टिल्, स्पिन् ही बोलेंगे। इसी प्रकार जर्मन में Katze (बिल्ली) कात्से को खात्से बोलते हैं, अर्थात् आद्यक्षर क् को ख्। अन्तिम ड् को ट्, जैसे—PFERD (घोड़ा) प्फेर्ड् को प्फेर्ट्। अन्यत्र क् ड् को क् ड् ही बोलेंगे। ब्लाख और ट्रेगर ने अमेरिकन अंग्रेजी में र् के ८ प्रकार के उच्चारण बताये हैं।[1] संस्कृत और हिन्दी में इसी प्रकार क्, त्, प् के दो रूप प्राप्त होते हैं—(१) शब्द के आदि में क्, त्, प् स्फोटित, (२) शब्द के अन्त में अस्फोटित। स्फोटित में स्फोट होता है, वायुवेग रुककर झटके से बाहर निकलता है। अस्फोटित में स्फोट नहीं होता है, वायुवेग बिना झटके के बाहर निकलता है। जैसे—क्, त्, प्—काम, कान; तान, ताप; पान, पाप। अस्फोटित—वाक्, धिक्; गच्छत्, भूभृत्, जगत्; गुप् (रक्षा करना), आप् (सं० पाना, हि० आप), शप् (प्रत्यय)। ये ध्वनियाँ एक-दूसरे के स्थान पर नहीं आती हैं, एक-दूसरे की पूरक हैं, अतः इन्हें पूरक ध्वनि कहते हैं। इस प्रकार क् त् प् के दो-दो संस्वन होंगे। हिन्दी में ड-ड़, ढ-ढ़ भी पूरक ध्वनियाँ हैं। ये ड और ढ के दो-दो संस्वन हैं। डरना-उड़ना, पहाड़; ढाल-पढ़ना, पढ़। ड-आदि, मध्य और अन्त में, ड़-मध्य और अन्त में। इसी प्रकार ढ आदि में, ढ़ मध्य और अन्त मे।

---

1. Bloch and Trager : O. L. A. pp. 42-44.

(४) मुक्त परिवर्तन—इसको स्वच्छन्द परिवर्तन, मुक्त वितरण या मुक्त विभेद भी कहते हैं। जहाँ पर दो ध्वनियाँ बिना किसी अर्थभेद के एक-दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त होती हैं, उसे मुक्त परिवर्तन कहते हैं। जैसे—ब-व, बर-वर (दूल्हा), बार-वार (दिन), य-ज, यजमान-जजमान, यद्यपि-जदपि, यत्न-जतन; श् को स्, शरीर-सरीर, शूर्प-सूप, श्रीफल-सिरफल, शिर-सिर, शुक-सुक, श्वशुर-ससुर। मुक्त परिवर्तन में अर्थभेद नहीं होता है। अंग्रेजी, फारसी, अरबी आदि शब्दों को बोलने और लिखने में भी यह मुक्त परिवर्तन हिन्दी आदि में चलता है। हिन्दी में क़् ख़् ग़् आदि को क ख ग ही प्रायः बोला जाता है। क़ाबिल-काबिल, मुक़ाम-मुकाम, बुख़ार-बुखार, ग़रीब-गरीब। अंग्रेजी के ऑ को आ, ज़ को ज आदि। डॉक्टर-डॉक्टर, कॉलेज-कालेज, ज़ेब्रा-जेबरा (वन-गर्दभ), ज़ीरो-जीरो Zero (शून्य), ज़ू-जू (Zoo-चिड़ियाघर)। प्रायः सभी भाषाओं में कुछ ध्वनियों में मुक्त परिवर्तन होता है। इससे अर्थभेद नहीं होता है। ये ध्वनियाँ मूल स्वनिम की संस्वन मानी जाती हैं।

५.१२. (ख) अखण्ड्य स्वनिम (Supra-Segmental Phonemes)

जैसा कि पहले कहा गया है कि खण्ड स्वनिम विभाज्य हैं और इसमें स्वर तथा व्यंजन आते हैं। वितरण की विधि से इनका विश्लेषण किया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ स्वनिम ऐसे हैं, जो खंड्य स्वनिमों पर निर्भर हैं। इन्हें खंड्य स्वनिमों से पृथक् उच्चरित नहीं किया जा सकता है, अतः इन्हें अखंड्य, अविभाज्य या अव्यक्त कहा जाता है। ये पाँच हैं—मात्रा, सुर, बलाघात, संगम, अनुनासिकता।

(१) मात्रा (Quantity, Length)—इसको दीर्घता भी कहते हैं। स्वर और व्यंजन दोनों में मात्रा या दीर्घता के कारण अन्तर होता है। स्वरों के मात्राभेद को ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत नाम से कहा जाता है। ह्रस्व (१ मात्रा), दीर्घ (२ मात्रा), प्लुत (३ मात्रा या इससे अधिक)। इसी कारण अ, आ, अ३ में भेद है। कम, काम, राम३। व्यंजनों में भी दीर्घता होती है। संयुक्त व्यंजन दुगुना समय लेते हैं और उससे अर्थभेद भी होता है। जैसे—बचा-बच्चा, सजा-सज्जा, पका-पक्का, गदा-गद्दा।

(२) सुर या सुर-लहर (Pitch, Tone)—यह शब्द और वाक्य दोनों स्तरों पर प्राप्त होता है। स्वरतंत्रियों पर कितना तनाव आता है, इस आधार पर इसका भेद किया जाता है। वैदिक साहित्य में स्वर के तीन भेद किए गए हैं—उदात्त (उच्च), स्वरित (मध्यम) और अनुदात्त (निम्न)। ग्लीसन ने (H.A. Gleason) ने सुर (Pitch) के चार भेद किए हैं—अत्युच्च (Extra High), उच्च (High), मध्य (Mid), निम्न (Low)।[1] हाल ने इनके लिए क्रमशः ये चार नाम दिए हैं—उच्च (High), मध्य (Mid), निम्न-मध्य (Low-mid), निम्न (Low)।[2] कुछ अमेरिकन भाषाशास्त्री इनके

---

1. H.A. Gleason, *Descriptive Linguistics* (D.L.), p. 47.
2. Robert A. Hall, *Introductory Linguistics*, pp. 73-74.

लिए क्रमशः १, २, ३, ४ संख्या का प्रयोग करते हैं। सामवेद में स्वर-संकेत संख्या द्वारा ही प्रचलित था। १ (उदात्त), २ (स्वरित), ३ (अनुदात्त)। यह अधिक सुविधाजनक है। लौकिक संस्कृत और हिन्दी में सुर का प्रयोग सामान्यतया शब्दों में नहीं होता है, वाक्यों में इसका प्रयोग मिलता है। तदनुसार अर्थभेद भी होता है। जैसे—

आगतोऽसि (सामान्य)—तू आया।

आगतोऽसि? (प्रश्नवाचक)—क्या तू आया है?

चोर मारा गया। (सामान्य)

चोर मारा गया? (प्रश्नवाचक)

चोर मारा गया! (विस्मय)

(३) बलाघात (Stress, Loudness)—संस्कृत और हिन्दी में बलाघात पाया जाता है। बलाघात फेफड़ों से आने वाले वायु-प्रवाह की तीव्रता पर निर्भर होता है। अधिक या कम तीव्रता के आधार पर इसके चार भेद किए जाते हैं। १. तीव्र (Acute Accent), २. मन्द्र (Grave), ३. संश्लिष्ट (Circumflex), ४. हीन (Weak)। इनके लिए क्रमशः ये संकेत हैं— ' ' ^ —। बलाघात के आधार पर अर्थभेद होता है। जैसे—

अहं वाराणसीं गच्छामि (सामान्य) मैं वाराणसी जा रहा हूँ।

अहं' वाराणसीं गच्छामि (मैं ही वाराणसी जा रहा हूँ।)

अहं वाराणसीं' गच्छामि (मैं वाराणसी ही जा रहा हूँ।)

अहं वाराणसीं गच्छामि' (मैं वाराणसी जा ही रहा हूँ।)

हिन्दी में भी इस प्रकार जिस शब्द पर बल देंगे, उसका अर्थ मुख्य हो जायेगा। कुछ अन्य उदाहरण हैं—

उ' ठा (मैं उठा) —उठा' (तू उठाकर रख)

प' ढ़ा (पढ़ाई की) —पढ़ा' (मुझको पढ़ाने का काम कर)

(४) संगम (Juncture)—शब्दों और वाक्यों में कुछ ध्वनियाँ इस प्रकार संयुक्त रूप में मिलती हैं कि पदच्छेद या यति के द्वारा उनके विभिन्न अर्थ निकलते हैं। संस्कृत में इसके लिए श्लेष शब्द प्रचलित हैं। इसके तीन भेद किए गए हैं—अभंग, सभंग, सभंगाभंग। (१) अभंग—बिना तोड़े दो अर्थ हों। कर (हाथ, किरण), विधौ (विधि एवं विधुशब्द सप्तमी एक०, भाग्य में, चन्द्रमा में), वक्ष्यति (वह् एवं वच्, लट् प्र० १, ढोएगा, कहेगा)। (२) सभंग—सर्वदोमाधवः—सर्वदः माधवः (सब कुछ देने वाले विष्णु), सर्वदा उमाधवः (सदा शिव)। यहाँ सर्वदोमाधवः को दो प्रकार से तोड़ा गया है। (३) सभंगाभंग—सारसिका (सारस स्त्री), सा रसिका (वह रसिक स्त्री); का कुरुते न (कौन नहीं करती हैं?), काकुरुतेन (व्यंग्य ध्वनि से)। हिन्दी में—वरदे (हे वरदायी), वर दे (वर दो); आजा (दादा), आ जा; हिन्दू होटल—हिन्दू हो-टल, खाजा (मिठाई)—खा जा।

(५) अनुनासिकता (Nasalisation)—संस्कृत और हिन्दी में अनुनासिकता के आधार पर अर्थभेद पाया जाता है। इनके न्यूनतम विरोधी युग्म भी मिलते हैं। जैसे—गोद-गोंद, काटा-काँटा, दाव-दाँव, है-हैं, हो-हों, अग-अंग, रग-रंग, बेदी-बेंदी, नाव

(नौका)-नाँव (नाम)। संस्कृत में भी कुछ स्थलों पर यह प्राप्य है। अग-अंग, रजनी-रंजनी, कठ-कंठ, कट-कंट, पच-पंच।

५.१३. स्वनिमीय गठन (Phonemic Structure)

स्वनिमीय गठन का अर्थ है कि संबद्ध भाषा में प्राप्त सभी स्वनिमों की एक ऐसी पूर्ण सूची तैयार हो, जिसमें प्रत्येक स्वनिम का निश्चित कार्य निर्धारित हो। यह सूची अनेक प्रकार से बन सकती है। जैसे—(१) घोष-अघोष संस्वनों (संध्वनियों) के आधार पर; (२) स्थान के आधार पर—कण्ठ्य, तालव्य आदि; (३) प्रयत्न के आधार पर—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट आदि; (४) ओष्ठ की आकृति के आधार पर—वृत्तमुखी, अवृत्तमुखी, आदि। इसके लिए एक दूसरा बहुमूल्य प्रकार प्रस्तुत किया गया है। वह है—स्वनिमों को विशेष स्थान या परिस्थिति के अनुसार तथा संयुक्ताक्षरों के अनुसार वर्गीकृत रूप से प्रस्तुत करना। इस गठनात्मक वर्ग में एक स्थान पर, एक विशेष परिस्थिति में, आने वाले समस्त स्वनिमों को एकत्र किया जाता है। ये स्वनिम एक-दूसरे स्वनिमों से पृथक् या विरोधी होते हैं। गठनात्मक वर्ग (Structural set) के लिए निम्नलिखित पद्धति अपनाई जाती है—(१) आदि, मध्य या अन्त में स्थिति, (२) दो स्वरों या दो व्यंजनों के बीच में स्थिति, (३) स्वर और व्यंजन के बीच में स्थिति, (४) विभिन्न ध्वनियों के साथ संयुक्त होना, (५) सुर, बलाघात आदि की विशेषता।

इस दृष्टि से विचार करने पर अंग्रेजी भाषा में पाया गया है कि प्रारम्भिक संयुक्त वर्णों में ल् (L) से पहले ६ व्यंजन, र् (R) से पहले ९ व्यंजन और व् (W) से पहले ७ व्यंजन आते हैं।[1]

इस प्रकार अंग्रेजी में २२ व्यंजन स्वनिम माने जाते हैं। इसी प्रकार संयुक्त-व्यंजन स्वनिमों की संख्या ४८ है। जैसे—/PL/, /KL/, /BL/ आदि।

ग्लीसन ने अंग्रेजी में स्वनिमों की संख्या ४६ दी है—२२ व्यंजन, ९ स्वर, ३ अर्धस्वर (अन्तस्थ), १ धन-चिह्न, ४ बलाघात, ४ सुर, ३ यति (Clasuse Terminals)।[2]

५.१३ (क) संस्कृत और हिन्दी में स्वनिमीय गठन

स्वनिमीय गठन की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि संस्कृत में १० स्वर-स्वनिम तथा ३२ व्यंजन-स्वनिम हैं, योग ४२ है। हिन्दी में १० स्वर-स्वनिम तथा ३१ व्यंजन-स्वनिम, योग ४१ है।

स्वनिमीय गठन में इस बात का भी संकलन किया जाता है कि आदि, मध्य और अन्त में कौन से स्वनिम आते हैं? कौन से स्वनिम किसी स्थान-विशेष पर ही आते हैं। उदाहरण के लिए कवर्ग को लेकर कह सकते हैं कि क् ख् ग् घ् स्वनिम आदि, मध्य, अन्त तीनों स्थानों पर आते हैं। जैसे—

---

1. B. Bloch and G. Trager, O. L. A., p. 45-49.
2. H.A. Gleason, D. L., p. 50.

/क्/	कर	मकान	नाक
/ख्/	खर	मखाना	नख
/ग्/	गिरि	नगर	आग
/घ्/	घर	सघन	मेघ

इसी प्रकार संस्कृत और हिन्दी में कहा जा सकता है कि ल्-ध्वनि से पहले ६ व्यंजन और र् से पहले १५ व्यंजन आते हैं। जैसे—

ल्-संयुक्त		र्-संयुक्त			
/क्ल्/	क्लेश	/क्र्/	क्रम	/फ्र्/	फ्रांसीसी
/ग्ल्/	ग्लानि	/ख्र्/	ख्रिष्ट	/ब्र्/	ब्रह्म
/प्ल्/	प्लुत	/ग्र्/	ग्राम	/भ्र्/	भ्रम
/म्ल्/	म्लान	/घ्र्/	घ्राण	/व्र्/	व्रत
/श्ल्/	श्लोक	/त्र्/	त्रिकोण	/श्र्/	श्री
/ह्ल्/	ह्लाद	/द्र्/	द्रव्य	/स्र्/	स्रोत
		/ध्र्/	ध्रुव	/ह्र्/	ह्रस्व
		/प्र्/	प्राण		

संस्कृत में फ्र् संयुक्ताक्षर का प्रयोग नहीं होता है।

संयुक्त व्यंजन—संस्कृत और हिन्दी कोषग्रन्थों के अनुसार संयुक्त व्यंजनों या व्यंजन-गुच्छों की गणना करने पर ज्ञात होता है कि संस्कृत में ६० तथा हिन्दी में ७० संयुक्त व्यंजन शब्दों के आदि में आते हैं। जैसे—

/क्र्/	क्रम	/त्य्/	त्याग	/ब्र्/	ब्रह्म	/स्क्/	स्कन्द
/क्ल्/	क्लिष्ट	/त्र्/	त्रास	/भ्र्/	भ्रम	/स्ख्/	स्खलन
/क्व्/	क्वचित्	/त्व्/	त्वदीय	/भ्व्/	भ्वादि	/स्त्/	स्तन
/क्ष्/	क्षण	/त्स्/	त्सरु	/म्न्/	म्नात	/स्थ्/	स्थान
/क्ष्म्/	क्ष्मा	/द्य्/	द्यूत	/म्र्/	म्रदिमा	/स्न्/	स्नान
/ख्य्/	ख्याति	/द्र्/	द्रव	/म्ल्/	म्लान	/स्प्/	स्पर्श
/ख्र्/	ख्रिष्टीय	/द्व्/	द्वन्द्व	/ल्य्/	ल्युट्	/स्फ्/	स्फुट
/ग्म्/	ग्मा	/ध्म्/	ध्मात	/व्य्/	व्यक्त	/स्म्/	स्मर
/ग्र्/	ग्रन्थ	/ध्य्/	ध्यान	/व्र्/	व्रत	/स्य्/	स्यन्द
/ग्ल्/	ग्लानि	/ध्र्/	ध्रुव	/श्म्/	श्मशान	/स्र्/	स्रोत
/घ्र्/	घ्राण	/ध्व्/	ध्वज	/श्य्/	श्याम	/स्व्/	स्वच्छ
/च्य्/	च्युत	/न्य्/	न्याय	/श्र्/	श्रम	/ह्य्/	ह्यः
/ज्ञ्/	ज्ञान	/प्य्/	प्यार	/श्ल्/	श्लोक	/ह्र्/	ह्रस्व
/ज्य्/	ज्येष्ठ	/प्र्/	प्रेम	/श्व्/	श्वेत	/ह्ल्/	ह्लाद
/ज्व्/	ज्वर	/प्ल्/	प्लुत	/ष्ठ्/	ष्ठीवन	/ह्व्/	ह्वान

हिन्दी में उपर्युक्त ६० + १० = ७० संयुक्त व्यंजन शब्दों के आदि में प्रयुक्त होते हैं।

/क्य्/ क्या /ग्य्/ ग्यारह /ड्य्/ ड्योढ़ा /फ्र्/ फ्रांसीसी /म्य्/ म्यान
/ख्व्/ ख्वाब /ग्व्/ ग्वाल /न्ह्/ न्हाया /ब्य्/ ब्याह /म्ह्/ म्हारा

इसमें अत्यल्प प्रयुक्त १० संयुक्त व्यंजनों की गणना नहीं की गई है—संस्कृत ९ + हिन्दी १ = १०।

/क्ष्व्/ क्ष्वेड /प्स्/ प्सान /भ्ल्/ भ्लाश् /व्ल्/ व्ली /ष्व्/ ष्वस्क्
/थ्य्/ थ्यावल /ब्ल्/ ब्लेष्क /ल्व्/ ल्वी /श्च्य्/ श्च्योत /ह्न्/ ह्नु

इसी प्रकार शब्दों के मध्य और शब्दों के अन्त में संयुक्त व्यंजनों का संकलन करके उनके स्वनिम छाँटे जाते हैं। उदाहरणार्थ उपर्युक्त प्रक्रिया प्रस्तुत की गई है।

५.१४. संस्कृत के स्वनिम (ध्वनिग्राम)

संस्कृत में प्रयुक्त स्वनिम निम्नलिखित हैं—

(क) खण्ड्य-स्वनिम

(१) स्वर

(क) सामान्य, (ख) मिश्रित

ई		ऊ
इ		उ
ए		ओ
ऐ	अ	औ
	आ	

१०

(२) व्यंजन

प्	त्	ट्	च्	क्
फ्	थ्	ठ्	छ्	ख्
ब्	द्	ड्	ज्	ग्
भ्	ध्	ढ्	झ्	घ्
म्	न्	ण्	–	ङ्
	स्	ष्	श्	ह्
व्	ल्	र्	य्	–

३२

संस्कृत स्वनिम योग = १० + ३२ = ४२

(१) संस्कृत में १० स्वर-स्वनिम हैं। इनमें ८ सामान्य स्वर-स्वनिम हैं—अ आ इ ई उ ऊ ए ओ। २ मिश्रित स्वर-स्वनिम हैं—ऐ औ। ऐ औ क्रमशः अ + इ और अ + उ के मिश्रित रूप हैं।

(२) संस्कृत स्वर-स्वनिम में ऋ, ॠ लृ का उल्लेख नहीं है। इनको उच्चारण की दृष्टि से रि, री और लृरि मानकर र् + इ, र् + ई, ल् + रि के रूप में र् और ल् का संस्वन (Allophone) माना जाता है। निर्ऋति (विनाश, क्षय) शब्द इसमें विचारणीय है।[1] इसका समाधान दो प्रकार से ही हो सकता है—(क) ऋ को भी स्वनिम माना जाय, (ख) र् र् (दो र्) को र् का संस्वन माना जाए। सामान्यतया ऋ, ॠ और लृ स्वर-स्वनिम नहीं हैं।

(३) ञ् को स्वतन्त्र स्वनिम न मानकर न् का संस्वन माना जाता है। न् ही च् छ् ज् झ् से पूर्व ञ् होता है, अन्यत्र न् रहता है। शब्दों के मध्य में यह अनुस्वार भी हो जाता है—

पंच-पञ्च, उंछ-उञ्छ।

(४) अनुस्वार (ं) म् का संस्वन है। अनुनासिक ँ खंड्येतर स्वनिम मानना चाहिए।

(५) ह् के २ संस्वन (संध्वनियाँ) हैं—(१) ह् (:), शब्द के अन्त में या अघोष स्पर्श से पूर्व। रामः, दुःख। (२) ह्—अन्यत्र। हानि, हीन, होम।

(६) वैदिक संस्कृत में ड् और ढ् के क्रमशः ळ् और ळ्ह संस्वन हैं। ये दो स्वरों के मध्य में होते हैं। जैसे—ईडे-ईळे; मीढुषे-मीळ्हुषे।

(ख) संस्कृत के खण्ड्येतर स्वनिम

१. उदात्त (बलाघात)—शब्द-विशेष पर बल देने से वाक्य में उसका महत्त्व बढ़ जाता है, अन्य शब्दों का महत्त्व न्यून हो जाता है।

अहं गृहं गच्छामि—(मैं घर जाता हूँ, सामान्य)

अहं' गृहं गच्छामि—(अहम्—मैं पर बल है, मैं ही, अन्य नहीं)

अहं गृहं' गच्छामि—(गृहम्—घर पर बल है, घर ही, अन्यत्र नहीं)

२. प्लुत (अतिदीर्घीकरण)—संस्कृत में इसको ३ की संख्या द्वारा संकेतित किया जाता है। यह किसी वर्ण पर अधिक बल देना, दूर से पुकारना, नामोच्चारण आदि में होता है। जैसे—ओ३म् (ओ पर बहुत बल है), आगच्छ ३, देवदत्त ३।

३. संगम (श्लेष, Juncture)—वर्णश्लेष, पद-श्लेष, सभंग, अभंग, सभंगाभंग आदि अनेक प्रकार का है। जैसे—

सारसिका (सारस-पत्नी)—सा रसिका (वह रसिक स्त्री)

कामे कान्ते (मनोहर काम)—काम् + एकान्ते (एकान्त में किसको)

चेतो नलं कामयते—१. चेतः नलं कामयते-मेरा चित्त नल को चाहता है, २. चेतः न लंकाम् अयते—मेरा चित्त लंका को नहीं चाहता है। ३. चेतः अनलं कामयते—नल के न मिलने पर मेरा चित्त अग्नि को कहता है।

४. अनुनासिकता (Nasalisation)—अर्थभेद के कारण अनुनासिकता भी स्वनिम है। हस (हँसो)—हंस (हंस), अग (पर्वत)—अंग (अंग)। कश्मिँश्चित्, काँस्कान्, पुँस्कोकिलः।

---

1. *Historical Linguistics and Indo-Aryan Languages* : A.M. Ghatage, University of Bombay, 1962, p.70.

५. काकु (वक्रोक्ति)—काकु से अर्थभेद हो जाता है, अतः यह भी स्वनिम मानना उचित है।

आगतोऽसि—(सामान्य)—आ गए हो।

आगतोऽसि?—(प्रश्नवाचक)—क्या आ गए हो?

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते?—आपके उपकार का क्या कहना? अर्थात् आपने बहुत अहित किया है।

इस प्रकार संस्कृत में ४७ स्वनिम मानना उचित है—१० स्वर + ३२ व्यंजन + ५ (उदात्त, प्लुत, संगम, अनुनासिकता, काकु) = ४७।

५.१५. हिन्दी के स्वनिम (ध्वनिग्राम)

हिन्दी में प्रयुक्त स्वनिम निम्नलिखित हैं—

(क) खण्ड्य-स्वनिम

(१) स्वर

(क) सामान्य, (ख) मिश्रित

ई		ऊ
इ		उ
ए	अ	ओ
ऐ	आ	औ
		= १०

(२) व्यंजन

प्	त्	ट्	च्	क्
फ्	थ्	ठ्	छ्	ख्
ब्	द्	ड्	ज्	ग्
भ्	ध्	ढ्	झ्	घ्
म्	न्	ण्	–	ङ्
–	स्	–	श्	ह्
व्	ल्	र्	य्	–
				= ३१

हिन्दी स्वनिम योग = १० + ३१ = ४१

(१) हिन्दी में १० स्वर-स्वनिम हैं। इनमें ८ सामान्य स्वर-स्वनिम हैं—अ आ इ ई उ ऊ ए ओ। २ मिश्रित स्वर-स्वनिम हैं—ऐ, औ। ऐ और औ क्रमशः अ + इ और अ + उ के मिश्रित रूप हैं। ऐ और औ को स्वतन्त्र स्वनिम मानना आवश्यक है। इनको ए और ओ का संस्वन नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इनमें स्थानभेद और अर्थभेद हैं। जैसे—चेला-चैला, मेल-मैल, रेल-रैल, कोन-कौन, ओर-और, मोर-मौर।

(२) हिन्दी में अ इ उ को मूलस्वर एवं आ ई ऊ को उनका दीर्घीकृत रूप

मानकर उनको स्वतन्त्र स्वनिम न मानना उचित नहीं है। स्थानभेद और अर्थभेद के कारण इन तीन दीर्घ स्वरों को भी स्वतन्त्र स्वनिम मानना आवश्यक है। अ-आ, इ-ई और उ-ऊ में उच्चारण स्थान में भेद है। अर्थभेद भी है। जैसे—मन-मान, हर-हार, चिर-चीर, उठि (उठकर)-उठी, धुल-धूल, पुर-पूर, सुना-सूना।

(३) स्वर-स्वनिमों में ऋ, अं, अः को नहीं लिया गया है। हिन्दी में ये उच्चारण की दृष्टि से स्वतन्त्र स्वनिम न होकर संयुक्त ध्वनियाँ हैं। ऋ = र् + इ; अं = अ + ङ्, अ + न्, अ + म्; अः = अ + ह्। ऋ को र् का संस्वन और अं अः को अ का संस्वन माना जाएगा।

(४) व्यंजन-ध्वनिमों में क्ष, त्र, ज्ञ को नहीं लिया गया है। ये भी स्वतन्त्र स्वनिम न होकर संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ हैं। क्ष् = क् + ष्; त्र् = त् + र्; ज्ञ् = ज् + ञ् (उच्चारण की दृष्टि से ग् + यं)।

(५) हिन्दी में अंग्रेजी के तुल्य केवल अल्पप्राण व्यंजन-ध्वनियाँ (क्, ग्, च्, ज् आदि) को ही स्वनिम मानकर अल्पप्राण + ह् से काम नहीं चलाया जा सकता है। हिन्दी में अल्पप्राण और महाप्राण व्यंजन स्वतन्त्र स्वनिम हैं। इनमें अर्थभेद और उच्चारण में समय-भेद है। जैसे—कान-खान,, गिरना-घिरना, चना-छना, तान-थान, दान-धान, पेट-फेट, बात-भात, अबीर-अभीर (अहीर)।

(६) हिन्दी में ञ् स्वतन्त्र स्वनिम न होकर न् का संस्वन है।

(क) चवर्ग के पूर्व—न् > ञ्।

(ख) अन्यत्र—न् > न्।

(७) हिन्दी में ष् भी स्वतन्त्र स्वनिम नहीं है। यह श् का संस्वन है। टवर्ग से पूर्व संयुक्त व्यंजन ष् के रूप में—दुष्ट, इष्ट, पुष्ट, क्लिष्ट आदि। अन्यत्र—श् रहता है। शब्द के आदि में षट्कोण आदि शब्दों में इसका उच्चारण श् के सदृश है।

(८) हिन्दी में क़्, ख़्, ग़, ज़्, फ़्, व़् को स्वतन्त्र स्वनिम नहीं माना जा सकता है। ये क्रमशः क्, ख् आदि के संस्वन हैं। ये मूलतः हिन्दी ध्वनियाँ नहीं हैं। विदेशी (उर्दू, फारसी, अरबी, अंग्रेजी, जर्मन आदि) शब्दों के उच्चारण के लिए इन ध्वनियों का आविर्भाव हुआ है। उच्चारण-स्थान-भेद के लिए इन्हें क़् आदि के रूप में लिखा जाता है।

(९) ड़ और ढ़ के स्वतन्त्र स्वनिम नहीं हैं। ये ड और ढ के संस्वन हैं। ड आदि, मध्य और अन्त तीनों जगह पाया जाता है, ड़ मध्य में तथा अन्त में। जैसे—डरना, झंडा, अंडा, खड्ड; अड़ना, लड़ना, पहाड़, झाड़। इसी प्रकार ढ आदि में और मध्य में संयुक्त व्यंजन के रूप में पाया जाता है, ढ़ मध्य में और अन्त में। जैसे—ढोल, ढाल, ढीला, गड्ढा, चड्ढा; पढ़ना, चढ़ना, ओढ़ना, गढ़। विदेशी शब्दों (कोड-कोड़, गुड-गुड़, गोड-गोड़ आदि) से अन्तर करने के लिए इन्हें स्वतन्त्र स्वनिम नहीं माना जा सकता है। ये ड ढ के संस्वन ही हैं।

ड़ ढ़ को स्वतन्त्र स्वनिम मानना अभी तक विवादास्पद है। अधिकांश भाषाशास्त्री इन्हें स्वतन्त्र स्वनिम नहीं मानते हैं। विदेशी शब्दों के आधार पर ड-ड़, ढ-ढ़ का अर्थभेद दिखाना संभव है, परन्तु हिन्दी भाषा की दृष्टि से इनको पृथक् स्वनिम मानना उचित नहीं है। कुछ विद्वानों

ने हिन्दी बोली के शब्दों को लेकर इनका भेद दिखाने का प्रयत्न किया है। जैसे—गैंडा-गैंड़ा, लौंडा-लौंड़ा, लौंडिया-लौंड़िया।[1] इस प्रश्न को अभी विचारणीय रखना उचित होगा।

(१०) अंग्रेजी शब्दों के उच्चारण में ऑ ध्वनि मिलती है। जैसे—डॉग (Dog), डॉक्टर (Doctor), कॉलेज (College), पॉट (Pot) आदि। इसको आ का ही संस्वन मानना चाहिए। यह हिन्दी में डाग, डाक्टर आदि रूप में भी लिखा जाता है। इसको मुक्त परिवर्तन (Free alternation) मानना उचित है।

(ख) हिन्दी में खण्ड्येतर स्वनिम

हिन्दी में पूर्वोक्त स्वनिमों के अतिरिक्त ५ खंड्येतर स्वनिम माने जाते हैं—

(१) मात्रा या दीर्घता (Quantity, Length)—स्वरों में आ, ई, ऊ इन तीन दीर्घ स्वरों को स्वतंत्र स्वनिम माना गया है। प्लुत या अतिदीर्घीकरण किसी स्वर पर तिगुना या उससे अधिक बल देकर किया जाता है। इसके लिए ३ अंक वर्ण के बाद लिखा जाता है। पुकारने आदि में अन्तिम स्वर पर ऐसा बल दिया जाता है। देवदत्त३। व्यंजनों में किसी वर्ण के द्वित्व (दो बार पढ़ना) होने पर दीर्घता आती है, उसके उच्चारण में दुगुना समय लगता है और अर्थभेद भी होता है। अतः दीर्घता को स्वतन्त्र स्वनिम माना जाता है। जैसे—कटा-कट्टा (छोटी बोरी), खटा (लगा)-खट्टा, गदा-गद्दा, मिटी (नष्ट हुई)-मिट्टी (धूल), सटा-सट्टा, रमा-रम्मा (खोदने का औजार)।

(२) सुर या सुरलहर (Pitch, Intonation)—हिन्दी में सुर या सुरलहर के द्वारा अर्थभेद होता है, अतः इसे स्वनिम माना जाता है। यह पद और वाक्य दोनों में होता है। इसके ४-५ भेद हिन्दी में प्राप्य हैं।

राम-राम (संबोधन, प्रणाम)—पदों को खींचकर बोलना।

राम-राम (घृणा-सूचक)—पदों को शीघ्रता से बोलना।

चोर घड़ी चुरा ले गया। (सामान्य)—समान ध्वनि।

चोर घड़ी चुरा ले गया? (प्रश्न) 'चुरा' पर बल।

चोर घड़ी चुरा ले गया! (विस्मय) 'ले गया' पर बल।

(३) बलाघात (Stress)—यह पदगत और वाक्यगत दोनों प्रकार का है। किसी शब्द-विशेष पर बल देने से उसके अर्थ में अन्तर हो जाता है। वाक्य में जिस शब्द पर बल देंगे, वह मुख्य हो जायगा, अन्य गौण। अर्थभेद होने के कारण बलाघात को स्वतंत्र स्वनिम माना जाता है।

प'ढ़ा, लि'खा, उ'ठा, बै'ठा (केवल भूतकाल, प्रथम स्वर पर बल)।

पढ़ा', लिखा', उठा', बैठा' (द्वितीय स्वर पर बल, प्रेरणार्थ पढ़ाओ आदि)।

मैं विद्यालय गया (सामान्य)।

मैं' विद्यालय गया। (मैं पर बल, मैं व्यक्ति ही)

मैं विद्यालय' गया। (विद्यालय पर बल, विद्यालय ही, अन्यत्र नहीं)

---

१. देवीशंकर द्विवेदी, भाषा और भाषिकी, १९७४, पृ० ७७।

(४) संगम (Juncture)—यह भी हिन्दी में स्वतंत्र स्वनिम है। इसके कई भेद हैं। न्यूनतम विरोधी युग्म भी मिलते हैं। आजा (दादा)—आ जा, खाजा—खा जा, झाड़न (डस्टर)—झाड़ न, नाला—ना ला, वरदे (संबोधन)—वर दे, होटल—हो टल।

(५) अनुनासिकता (Nasalization)—अनुनासिकता के कारण शब्दों में अर्थभेद हो जाता है, अत: हिन्दी में यह भी स्वतन्त्र स्वनिम है। न्यूनतम विरोधी युग्म भी मिलते हैं। बेदी-बेंदी; रग-रंग, सास-साँस, है-हैं, हो-हों, गोद-गोंद, नाव-नाँव, दाव-दाँव।

हिन्दी के स्वनिम—इस प्रकार हिन्दी में ४६ स्वनिम मानना उचित है—

(क) खंड्य—१० स्वर, ३१ व्यंजन, (ख) अखंड्य—५ (मात्रा, सुर, बलाघात, संगम, अनुनासिकता) = योग ४६।

५.१६. ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन (Phonetic Transcription)

ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन के मुख्यतया दो भेद हैं—१. परंपरागत, २. ध्वन्यात्मक।

१. परंपरागत प्रतिलेखन—इसमें इस बात पर ध्यान रखा जाता है कि हम जो कुछ बोलते हैं, उसे परंपरागत ढंग से कैसे लिखते आये हैं। इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है कि वस्तुत: हम क्या बोल रहे हैं। अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू आदि में जो हम लिखते हैं, वह इसी प्रकार का है। जैसे—हिन्दी में लिखने और उच्चारण में यह भेद मिलता है। लिखित रूप ज्ञ, उच्चारित रूप ग्यं, इसी प्रकार ऋ-रि, ष-श आदि। पहला लिखित रूप है, दूसरा उच्चारित रूप—ज्ञान-ग्यान, ज्ञानपुर-ग्यानपुर, ऋतु-रितु, ऋण-रिण, ऋषि-रिशि, द्विवेदी-दुवेदी, राम-राम्। इसी प्रकार अंग्रेजी में अ के लिए कहीं o (Some-सम), कहीं u (cut-कट), कहीं i (Bird-बर्ड), कहीं ou (Neighbour-नेबर) लिखा जाता है। दूसरी ओर u के दो उच्चारण हैं—Put (पुट), But (बट)। कुछ ध्वनियाँ अनुच्चरित होती हैं, पर वर्तनी में लिखी जाती है—अनुच्चरित स्वर u आदि (Labour, Colour), अनुच्चरित व्यंजन—gh, k, l आदि (Light, Right, Night, Knew, Knee, Walk, Talk)। इसी प्रकार लिखित रूप—Colonel (कोलोनल), उच्चरित रूप—कर्नल; लिखित रूप—Lieutenant (ल्यूटीनेन्ट), उच्चरित रूप—लेफ्टीनेन्ट हैं। उर्दू में त् के लिए ते, तोय, दो ध्वनियाँ हैं। ज् के लिए जीम, ज़े, ज़ोय, जाल, ज्वाद आदि ध्वनियाँ हैं। इससे ज्ञात होता है कि परंपरागत प्रतिलेखन में उच्चरित ध्वनियों का ठीक-ठीक एक ही संकेत से प्रतिलेखन नहीं होता है। अत: भाषाशास्त्रीय अध्ययन के लिए परंपरागत प्रतिलेखन मान्य नहीं है।

२. ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन—ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन का अर्थ है कि जैसा बोला जाए वैसा ही लिखा जाए। उच्चरित ध्वनि के अनुरूप ही लेखन हो। इसके दो उपभेद हैं—

(क) स्थूल प्रतिलेखन (Broad Transcription),

(ख) सूक्ष्म प्रतिलेखन (Narrow Transcription)।

५.१६. (क) स्थूल प्रतिलेखन (Broad Transcription)

स्थूल प्रतिलेखन स्वनिमीय प्रतिलेखन (Phonemic Transcription) है। इसको 'प्रशस्त' या 'आयत' प्रतिलेखन भी कहते हैं। इसकी विशेषता यह है कि जो ध्वनि बोली जाती है, वही लिखी जाती है। प्रत्येक स्वनिम (ध्वनि) के अलग चिह्न हैं। इसमें स्वनिम ही नोट होते हैं, सूक्ष्म बातें, मात्रा, सुर, बलाघात आदि नहीं। संस्वनों (संध्वनियों) की सूक्ष्म बातों पर इसमें ध्यान नहीं दिया जाता है। इसकी मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

१. प्रत्येक स्वनिम (ध्वनिग्राम) के लिए पृथक् लिपिचिह्न होता है।

२. एक भाषा में एक लिपिचिह्न एक से अधिक स्वनिम का बोधक नहीं होता।

३. एक स्वनिम एक से अधिक लिपिचिह्न द्वारा नहीं लिखा जाता।

४. प्रत्येक भाषा में जितने स्वनिम होते हैं, उतने ही लिपिचिह्न होंगे।

५. स्वनिमीय लिपिचिह्नों की संख्या प्रत्येक भाषा में भिन्न होती है।

६. प्रत्येक स्वनिमीय लिपिचिह्न का अर्थ प्रत्येक भाषा में अपनी भाषा के अनुसार निश्चित होता है।

७. ये लिपिचिह्न लेखन, टाइप आदि के लिए अधिक सुविधाजनक हैं।

स्थूल प्रतिलेखन या स्वनिमीय प्रतिलेखन को दो तिरछी लाइनों // के बीच में लिखा जाता है। हिन्दी टाइप में तिरछी लाइनों की सुविधा न होने से इन्हें मुद्रण में दो सीधी लाइनों ॥ के बीच में भी लिखा जाता है। जैसे—/क/, /ग/, /न/, /म/।

प्रत्येक भाषा में अत्यधिक प्रचलित लिपिचिह्न को ही स्वनिमीय प्रतिलेखन के लिए अपनाया जाता है।

५.१६. (ख) सूक्ष्म प्रतिलेखन (Narrow Transcription)

सूक्ष्म प्रतिलेखन ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन (Phonetic Transcription) है। इसको 'संयत' या 'संकीर्ण' प्रतिलेखन भी कहते हैं। भाषाशास्त्रीय अध्ययन के लिए सूक्ष्म प्रतिलेखन की पद्धति को अपनाया जाता है। इसमें ध्वनियों के उच्चारण की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को नोट किया जाता है। जैसे—मात्राभेद, सुरभेद, विवृत, अर्ध-विवृत, वृत्तमुखी, अवृत्तमुखी, संघर्षी-पूर्ण या अपूर्ण आदि। इसमें संस्वनों या संध्वनियों (Allophone) को लिखा जाता है। संस्वनों को कोष्ठ [ ] के अन्दर लिखा जाता है। जैसे—[क्], [ख्], [ग्-१], [ग्-२] आदि।

दोनों प्रतिलेखनों का भेद इस प्रकार समझें—

(क) स्थूल प्रतिलेखन—स्वनिम (Phoneme) का लेखन, चिह्न //

(ख) सूक्ष्म प्रतिलेखन—संस्वन (Allophone) का लेखन, चिह्न [ ]

५.१६. (ग) अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपिचिह्न (International Phonetic Alphabet)

विश्व की समस्त भाषाओं के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपिचिह्न बनाए गए

ध्वन्यात्मक नागरी लिपि : (व्यञ्जन)

उच्चारणविधि	स्थान	द्वयोष्ठ्य	दन्तोष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	मूर्धन्य	वर्त्स्य-तालव्य	तालव्य	कोमल तालव्य	अलिजिह्वीय	उपालिजिह्वीय	स्वरपश्चमुखी
अल्पप्राण	अघोष	प्		त्	ट्	ट्		क्॒	क्	क़्		?
	सघोष	ब्		द्	ड्	ड्		ग्॒	ग्	ग़्		
स्पर्श महाप्राण	अघोष	फ्		थ्		ठ्			ख्			
	सघोष	भ्		ध्		ढ्			घ्			
अल्पप्राण	अघोष	पफ़्		तथ्	ट्स् (च़्)		ट्श़ (च्)					
	सघोष	ब व़्		दद्	ड्ज़्		ड्झ (ज्)					
स्पर्श-संघर्षी महाप्राण	अघोष						छ्					
	सघोष						झ्					
पार्श्विक संघर्षी	अघोष				ट्ल्							
	सघोष				ड्ल्							
संघर्षी	अघोष	प़्	फ़्	थ़्	स़्	ष्	श़्	श्	ख़्	ख़्	ह़्	ह़्
	सघोष	ब़्	व़्	द़्	ज़् र्	ज्	झ़्	घ़्	घ़्	घ़्	ʕ	ह्
अनुनासिक	अल्पप्राण सघोष	म्	म्०		न्	ण्		ञ्	ङ	ङ्		
	महाप्राण सघोष	म्ह्			न्ह्				ङ् ह			
पार्श्विक	अल्पप्राण सघोष				ल्	ळ्		ल्ल्				
	महाप्राण सघोष				ल्ह्							
लुण्ठित	अल्पप्राण सघोष				र्					ऱ्		
	महाप्राण सघोष				र्ह्							
उत्क्षिप्त	अल्पप्राण सघोष				ड्	ड़्				ऱ्		
	महाप्राण सघोष					ढ़्						
सप्रवाह अर्धस्वर	सघोष	ब़्	व़्		ऱ्			य्				

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन (The International Phonetic Alphabet)

अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि

		ओष्ठ्य	दन्तोष्ठ्य	दन्त्य और वर्त्स्य	मूर्धन्य	तालुवर्त्स्य	वर्त्स्यतालव्य	तालव्य	कण्ठ्य	अलिजिह्वीय	उपालिजिह्वीय	स्वरपश्चमुखी
व्यंजन	स्पर्श	P b		t d	ʈ ɖ			C J	k q	q G	·	ʔ
	नासिक्य	m	ɱ	n	ɳ			ɲ	ŋ	N		
	पार्श्विक संघर्षी			ɬ ɮ								
	पार्श्विक संघर्षहीन			l	ɭ			ʎ				
	लुण्ठित			r						R		
	उत्क्षिप्त			ɾ	ɽ					R		
	संघर्षी	Φ β	f v	θ ð S Z ɹ	ʂ ʐ	ʃ ʒ	ɕ ʑ	ç j	x ɣ	χ ʁ	ħ ʕ	h ɦ
	संघर्षहीन सप्रवाह तथा अर्धस्वर	W ɥ	ʋ	ɹ				j(ɥ)	(W)	ʁ		
स्वर	संवृत	(y u)						अग्र मध्य पश्च iy ɨʉ ɯu				
	अर्धसंवृत	(ø o)						eø ɤo ə				
	अर्धविवृत	(œ ɔ)						ɛœ ʌɔ				
	विवृत	(ɒ)						æ ɐ a ɑɒ				

हैं। इसमें डेनियल जोन्स (Daniel Jones) का विशेष योगदान है। सन् १९५१ तक संशोधित लिपि चिह्न का चार्ट आगे दिया गया है। ध्वन्यात्मक नागरी लिपि का प्रस्तावित चार्ट भी दिया जा रहा है।

५.१६. (घ) ध्वन्यात्मक नागरी लिपि (स्वर)

	द्वयोष्ठ्य	तालव्य अग्र	तालव्य मध्य	कोमल तालव्य पश्च
संवृत	(ई, ऊ)	ई ई,	ई ऊ	ऊ ऊं
अर्धसंवृत	(ए, ओ)	ए ए,		ओ, ओं
अर्धविवृत	(एँ, ओं)	एँ एँ,	अ	अ, ओं
विवृत	(आ)	ऐं अऽ	आ-	आ आ,

चित्र-संख्या—२९.

(ख) ध्वनि-परिवर्तन (Phonetic Changes)

५.१७. ध्वनि-परिवर्तन के कारण

परिवर्तन सृष्टि का नियम है। विश्व की प्रत्येक वस्तु में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है, हो रहा है और होता रहेगा। इसको ही वैदिक ऋषि ने **'यत् किं च जगत्यां जगत्'** (यजु० ४०-१) कहा है। संसार की प्रत्येक वस्तु संसरणशील, परिवर्तनशील है। प्रत्येक भाषा की ध्वनियों में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। इसी परिवर्तन के कारण एक-एक शब्द के अनेक अपभ्रंश हो जाते हैं। जैसे—मनुष्य, मानुष, मानस, मनुस आदि। अतएव महाभाष्यकार पतंजलि ने कहा है—

एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। (महाभाष्य, प्रथम आह्निक)

भाषा का प्रमुख तत्त्व ध्वनि है। वक्ता इसका उच्चारण करता है और श्रोता इसे सुनता है। वक्ता की ध्वनि पर दो प्रकार का प्रभाव पड़ता है—१. आभ्यन्तर, २. बाह्य। वक्ता और श्रोता से संबद्ध कारणों को आभ्यन्तर कारण कहते हैं। जैसे—प्रयत्नलाघव, मुखसुख, अज्ञान, शीघ्रभाषण आदि। इसके अतिरिक्त अन्य कारणों को बाह्य कारण कहते हैं। ये कारण बाहर से ध्वनि को प्रभावित करते हैं। जैसे—सामाजिक, राजनीतिक, भौगोलिक आदि कारण।

इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन के कारणों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) आभ्यन्तर कारण, (ख) बाह्य कारण।

(क) आभ्यन्तर कारण

(१) प्रयत्नलाघव या मुखसुख (Economy of effort)—इसको उच्चारण-सुविधा या उच्चारण-सौकर्य भी कहते हैं। यह ध्वनि-परिवर्तन का सबसे प्रमुख कारण है।

मनुष्य स्वभाव से ही कम प्रयत्न करके अधिक लाभ उठाना चाहता है। कम प्रयत्न से ही अपने भावों को स्पष्ट करना चाहता है। मुख की सुविधा के कारण इसे मुख-सुख और उच्चारण की सुविधा या सरलता के कारण उच्चारण-सुविधा आदि कहते हैं। मुख-सुख के लिए कठिन शब्दों को सरल बनाया जाता है और क्लिष्ट उच्चारणों को आदि-स्वरागम, मध्य स्वरागम आदि के द्वारा सरल बनाया जाता है। जैसे—सत्य > सच, कर्म > काम, चक्र > चक्कर, ब्राह्मण > बाम्हन, प्रचार > परचार, स्टेशन > इस्टेशन, हॉस्पिटल > अस्पताल।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। शिलालेखों में शुक्लपक्ष दिवस को शु दि > सुदी, बहुल पक्ष (कृष्ण पक्ष) दिवस को ब दि > बदी लिखा गया है। इससे सुदी और बदी शब्द प्रचलित हुए हैं।

संस्कृत व्याकरण में प्रत्याहार इसी प्रक्रिया के परिचायक हैं। जैसे—अच् = पूरे स्वर, हल् = पूरे व्यंजन, अल् = पूरी वर्णमाला। इसी प्रकार इक्, यण्, एच्, खर्, जश् आदि शब्द।

ध्वनि-परिवर्तन का सबसे प्रमुख कारण प्रयत्नलाघव है। यही समीकरण, विषमीकरण, लोप, आगम, वर्ण-विपर्यय आदि के मूल में है।

(२) लघूकरण की प्रवृत्ति—लंबे शब्दों को संक्षिप्त या लघु कर दिया जाता है। इसके मूल में भी प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति है। यह प्राचीन प्रवृत्ति है। वार्तिककार कात्यायन ने भी इसका निर्देश दिया है कि नामों आदि में एक अंग के उच्चारण से काम चलाया जाता है। जैसे—देवदत्त: को देव: या दत्त:, सत्यभामा को सत्या या भामा।

विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वाच्यः। (वार्तिक ५. ३. ८३ सूत्र पर)

इसी प्रकार उपाध्याय > ओझा > झा, नेफा, पेप्सू, मीसा, यूनेस्को आदि शब्द हैं। अंग्रेजी में पूरे नाम के स्थान पर प्रथम अक्षर ले लिए जाते हैं। जयदेव—ज. दे., रामदत्त > रा. द.। हाई-स्कूल—H.S., मास्टर ऑफ आर्ट्स—M.A. आदि। इसी प्रकार भारत-यूरोपीय > भारोपीय शब्द हैं। अंग्रेजी में Break fast + Lunch = Brunch जैसे शब्द प्रचलित हो गए हैं। इस प्रकार नाश्ता + भोजन = नाभो कहा जा सकता है। North East West South से News (समाचार) बना है।

(३) अनुकरण की अपूर्णता—अनुकरण के द्वारा ही भाषा सीखी जाती है। वाग्यन्त्र की त्रुटि या अज्ञान आदि के कारण अनुकरण पूर्ण नहीं हो पाता है, अत: कुछ शब्दों में परिवर्तन हो जाता है। र का उच्चारण कठिन है, अत: बच्चे राम को लाम, रोटी को लोटी या नोटी कहते हैं। अपढ़ आदमी ज्वायंट को जैन, इंस्पेक्टर को सिपट्टर, कोर्ट इंस्पेक्टर को कोट साहब आदि कहते हैं। अंग्रेजी के प्रभाव से दीप्ति-शंकर > डिप्टी शंकर हो गया है। ओं नम: सिद्धम् > ओनामासीधम् हो गया है।

(४) अशिक्षा—अशिक्षा या अज्ञान के कारण ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। लैन्टर्न > लालटेन, गार्ड > गारद, लाइन > लैन। यह उपर्युक्त दोनों कारणों के साथ मिलकर भी काम करता है। जैसे—मास्टर साहब > मास्साब, साधु > साहु, साहु > साव, गोस्वामी > गोसाईं। अंग्रेजी और अरबी-फारसी आदि के शब्दों में ज़ को ज, क़ को क, ग़

को ग, त को ट आदि कर देते हैं। वन्द्योपाध्याय > बनर्जी, मुख्योपाध्याय > मुकर्जी, गंगोपाध्याय > गांगुली भी इसी प्रकार बने हैं।

(५) शीघ्र भाषण—शीघ्र बोलने के कारण भी ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। इसमें मध्यगत ध्वनियों का प्रायः लोप हो जाता है। इसके साथ लघूकरण की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। जैसे—पद्मादत्त दादा > पद्दा, पदिया (कुमाऊँनी), लालमणि दादा > लल्दा, भ्रातृजाया > भौजी, उन्होंने > उन्ने, किसने > किन्ने, अब ही > अभी, तब ही > तभी, किस ही > किसी, अंग्रेजी में Do not > Don't, Will not > Won't.

(६) भावावेश—प्रेम, क्रोध आदि भावावेश में शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। राम > रामू, कृष्ण > कान्ह, कन्हैया, लालचन्द > लल्लू, पुरुषोत्तम > परसू, माँ > मम्मी, पिता > पापा, लालित > लाड़ला, बच्चा > बाचा, बचवा, बाबू > बबुआ, बब्बू आदि। ऐसे शब्दों की संख्या न्यून है।

(७) काव्यात्मकता—काव्य में छन्द के कतिपय नियमों का पालन करना पड़ता है। इसके लिए कभी ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व, कुछ वर्णागम आदि किया जाता है। संस्कृत की सूक्ति है—'अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्'—माष (उड़द) को मष कर दे, पर छन्दभंग न करे। हिन्दी के सभी काव्यों में, विशेषकर सूर, तुलसी और रीतिकालीन कवियों के काव्यों में यह प्रवृत्ति बहुत है। फलस्वरूप ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। लय एवं तुक के लिए बहुत से शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन किया जाता है। जैसे—वीर > वीरा, कबीर > कबिरा, सूर > सूरा, नदी > नदिया, देहली > देहरी, द्वार > दुआर, स्थिर > थिर, नहीं > नाहीं।

(८) बलाघात—ध्वनिपरिवर्तन में बलाघात का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस ध्वनि पर बल दिया जाता है, वह शेष रहती है, अन्य निर्बल ध्वनियाँ क्षीण हो जाती हैं। अतएव संस्कृत में चतुरीय और चतुर्य के तुरीय और तुर्य (चतुर्थ) रूप हो जाते हैं। इसी प्रकार अभ्यन्तर > भीतर, उपरि > पर, एकादश > ग्यारह, द्वादश > बारह।

(९) कृत्रिमता—आत्माभिव्यक्ति के लिए कुछ व्यक्ति शब्दों को तोड़-मरोड़ कर बोलते हैं। इसे बनावटीपन कह सकते हैं। इसी प्रकार यदृच्छा (बनावटी) शब्द भी गढ़ लिए जाते हैं। इसका स्थायी प्रभाव नहीं होता है। जैसे—भाई > भइया, भ्राता > प्रा (पंजाबी), बैठो > बैटो, उठो > उट्ठो, बहिनों > भैनों, छात्र > क्षात्र, स्मरण > सुमिरन, शुमिरन, स्पष्ट > अस्पष्ट।

(१०) भ्रामक व्युत्पत्ति—भ्रमवश कुछ शब्दों को स्वभाषा के अनुरूप बना लिया जाता है। अन्य भाषा के शब्दों को दूसरी भाषा में लेते समय प्रायः इस प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन होते हैं। मैक्समूलर > मोक्षमूलर, इन्तिकाल (अरबी) > अन्तकाल, प्रोग्राम > पुरोगम, लाइब्रेरी > रायबरेली, आर्ट्स कालेज > आठ कालेज, गो डाउन > गोदाम, बनर्जी > बन्दर जी।

(ख) बाह्य कारण

(११) भौगोलिक प्रभाव—भौगोलिक कारणों से ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता

जाता है। फारसी में स का ह हो जाता है। जैसे—सिन्धु > हिन्दु, सप्ताह > हफ्ता। पहाड़ी जिलों में स को श बोलते हैं। समाचार > शमाचार, सन्देश > शन्देश, सीट > शीट। उच्च जर्मन और निम्न जर्मन में भौगोलिक कारणों से ही ध्वनि-परिवर्तन हुआ है। जैसे—उच्च जर्मन में d > t (द् को त्) drink > trinken, day > tag, आदि के t > z (त् को त्स) two > zwei, th को d (थ् > द्) earth > erde, brother > bruder.

(१२) सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ—सामाजिक एवं राजनीतिक उन्नति या अवनति के कारण शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। उन्नति की अवस्था में शब्दों के शुद्धरूप पर बल दिया जाता है और अवनति के समय अपभ्रंश रूपों की अधिकता होती है। पण्डित > पंडा, यजमान > जजमान, दिल्ली > देहली, Delhi, मुंबई > बम्बई, Bombay, कलिकाता > कलकत्ता, बुद्ध > बुद्धू, लुंचितकेश > लुच्चा, आर्डर्ली > अर्दली, वाराणसी > बनारस।

(१३) काल-प्रभाव या स्वाभाविक विकास—काल के प्रभाव से भाषा में विकास या परिवर्तन होता रहता है। फलस्वरूप वैदिक संस्कृत से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं वर्तमान भारतीय भाषाओं का विकास हुआ। जैसे—दृश् से देखना, अस् से होना, खाद् से खाना, पा से पीना, वर्तते > बाटे, बा, निवर्तते > निबटता है।

(१४) लिपि-दोष—विभिन्न लिपियों की अपूर्णता के कारण भी ध्वनि-परिवर्तन देखा जाता है। अंग्रेजी और उर्दू आदि के प्रभाव के कारण ध्वनियों के उच्चारण में अन्तर हो गया है। जैसे—अंग्रेजी में राम > रामा, कृष्ण > कृष्णा, आर्य > आर्या, बुद्ध > बुद्धा, गुप्त > गुप्ता, मिश्र > मिश्रा, आदि। उर्दू के प्रभाव के कारण आर्यसमाज > आर्यासमाज, प्रचार > परचार, अर्जुन > अरजुन, इन्द्रजित् > इन्दरजीत, सुरेन्द्र > सुरेन्दर या सुरिन्दर आदि।

(१५) अन्य भाषाओं का प्रभाव—अन्य भाषाओं के प्रभाव के कारण भाषा की ध्वनियों में परिवर्तन देखा जाता है। फारसी और अरबी के प्रभाव के कारण हिन्दी में भी क़ ग़ ज़ आदि ध्वनियाँ फारसी या उर्दू के शब्दों में लिखी और बोली जाती हैं। यह माना जाता है कि भारोपीय भाषाओं में टवर्ग नहीं था। द्रविड़ परिवार की भाषाओं के संपर्क से संस्कृत आदि में टवर्ग ध्वनि आई है। जैसे—प्रकृत > प्रकट, संकृत > संकट, विकृत > विकट। अंग्रेजी के प्रभाव से हिन्दी में ज़ ध्वनि। Is-इज़, His-हिज़।

(१६) सादृश्य—सादृश्य या समानता के आधार पर कुछ ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। जैसे—द्वादश के सादृश्य पर एकादश। द्वि का द्वा होता है, पर एक में आ नहीं आ सकता है। यह सादृश्यमूलक है। दण्डिन् + आ = दण्डिना, करिणा आदि में ना ठीक है, पर अग्निना, वारिणा, शुचिना (तृ० एक०) में ना केवल सादृश्य के आधार पर है। तुभ्यम् > तुझे के सादृश्य पर मह्यम् > मुझे हो गया। मह्यम् में उ नहीं है। पैंतालीस के सादृश्य पर सैंतालीस में भी अनुनासिकता आई है।

५.१८. ध्वनि–परिवर्तन

भाषा के स्वरूप पर विचार करने से ज्ञात होता है कि भाषा के तुल्य ही ध्वनियों में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। ये ध्वनि-परिवर्तन मुख्यरूप से दो प्रकार के हैं— (१) अकारण या अज्ञातकारण (Unconditional या Spontaneous), (२) सकारण, सहेतुक या हैतुक (Conditional)।

(क) अकारण ध्वनि-परिवर्तन
(Unconditional Phonetic Changes)

यद्यपि विश्व में अकारण कोई कार्य नहीं होता है, तथापि कुछ ध्वनि-परिवर्तनों का कारण ज्ञात न होने से इन्हें अकारण ध्वनि-परिवर्तन की श्रेणी में रखा जाता है। संस्कृत, लैटिन और ग्रीक भाषाओं की तुलना से ज्ञात होता है कि मूल भारोपीय भाषा की कुछ स्वर ध्वनियाँ एक रूप में लैटिन और ग्रीक में मिलती हैं तथा दूसरे रूप में संस्कृत तथा अवेस्ता में। जैसे—

(क) संस्कृत एवं अवेस्ता में अ, ग्रीक और लैटिन में e (ए)।

संस्कृत	**लैटिन**	**संस्कृत**	**लैटिन**
भरामि	fero	अहम्	ego
अश्व:	equos	अस्ति	esti

(ख) संस्कृत एवं अवेस्ता में अ, ग्रीक और लैटिन में o (ओ)।

संस्कृत	**लैटिन**	**संस्कृत**	**लैटिन**	**ग्रीक**
अवि:	ovis	अष्टौ	octo	–
क:	quod	ददर्श	–	dedorke

(ग) संस्कृत एवं अवेस्ता में आ, ग्रीक और लैटिन में o (ओ)।

संस्कृत	**लैटिन**	**संस्कृत**	**लैटिन**
ददाति	donum	द्वा	duo

(घ) संस्कृत में अ, ग्रीक और लैटिन में e (ए)। संस्कृत में ऐसे स्थलों पर त् को च् तालव्य-नियम से हो जाता है।

संस्कृत	**लैटिन**	**ग्रीक**	**संस्कृत**	**ग्रीक**
च	–	te	पञ्च	pente
चित्	quid	ti		–

(ख) सकारण ध्वनि-परिवर्तन
(Conditional Phonetic Changes)

मुख-सुख, प्रयत्नलाघव, क्षिप्रभाषण, स्वराघात, अज्ञान, भावुकता आदि कारणों से कतिपय शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन होता है। ये ध्वनि-परिवर्तन नियम के रूप में अन्य शब्दों पर लागू नहीं होते हैं। ध्वनि-परिवर्तन की यह प्रक्रिया प्राचीन काल से चल रही है और आज भी चालू है। इस ध्वनि-परिवर्तन की प्रक्रिया पर प्राचीन काल से विचार होता

रहा है। वर्तमान भाषाशास्त्रियों ने इस विषय पर विस्तृत मनन-चिन्तन किया है।

प्राचीन भाषाशास्त्रियों का मत—संस्कृत के प्राचीन भाषाशास्त्रियों ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट किए हैं। निरुक्तकार यास्क मुनि, महाभाष्यकार पतंजलि और काशिकाकार वामन-जयादित्य ने ध्वनि-परिवर्तन की कुछ दिशाओं का उल्लेख किया है—

निरुक्तकार यास्क (ईसापूर्व ८वीं शती) ने आदि-शेष, आदि-लोप, अन्तलोप, उपधालोप, उपधा-परिवर्तन, वर्णलोप, द्विवर्णलोप, आदि-विपर्यय, अन्त-विपर्यय, आद्यन्तविपर्यय, अन्तिमवर्ण-परिवर्तन, वर्णोपजन (वर्ण का आगम) आदि वर्ण-परिवर्तन की दिशाओं का उल्लेख किया है।

'प्रत्तम् अवत्तम् इति धात्वादी एव शिष्यते। अथाप्यस्तेर्निवृत्तिस्थानेषु आदिलोपो भवति-स्तः, सन्तीति। अथापि अन्तलोपो भवति-गत्वा, गतम् इति। अथापि उपधालोपो भवति-जग्मतुः, जग्मुः इति। अथापि उपधा-विकारो भवति-राजा, दण्डी इति। अथापि वर्णलोपो भवति-तत्त्वा यामि इति। अथापि द्विवर्णलोपः-तृच इति। अथापि आदि-विपर्ययो भवति—ज्योतिः, घनः, बिन्दुः, वाट्य इति। अथापि आद्यन्तविपर्ययो भवति-स्तोकाः, रज्जुः,'''। अथापि अन्तव्यापत्तिर्भवति ओघः, मेघः। अथापि वर्णोपजनः-आस्थत्, द्वारः, भरूजा इति।

(निरुक्त अध्याय २, पाद १)

काशिकाकार वामन-जयादित्य (७वीं शती ई०) में निरुक्त की ५ विशेषताएँ बताते हुए १. वर्णागम, २. वर्ण-विपर्यय, ३. वर्णविकार, ४. वर्णनाश, ५. धातु का अर्थान्तर से योग, का उल्लेख किया है।

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च, द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।।

(काशिका० ६-३-१०६)

पतंजलि (ईसापूर्व २य शती) ने महाभाष्य में १. वर्णव्यत्यय, २. वर्णनाश, ३. वर्ण-उपजन (वर्णागम) और ४. वर्णविकार, इन चार ध्वनिपरिवर्तनों का सोदाहरण उल्लेख किया है।

वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेषु अर्थदर्शनात्।

वर्ण-व्यत्यये—कृतेस्तर्कः, कसेः सिकताः, हिंसेः सिंहः।''' अपायो लोपः-हतः, घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन्।''' उपजन आगमः—लविता, लवितुम्।''' विकार आदेशः—घातयति, घातकः। (महाभाष्य, नवाह्निक, आ० २, वार्तिक ७६ पर)

१. वर्ण-व्यत्यय या वर्ण-विपर्यय। जैसे—कर्त > तर्क, कसित > सिकता, हिंस > सिंह। २. वर्णलोप। जैसे—हतः में न् लोप, घ्नन्ति में हन् के अ का लोप। ३. वर्णागम। जैसे—लविता में इ का आगम। ४. वर्णविकार। जैसे—हन् > घातक, ह् को घ्।

५.१९. ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएँ

आधुनिक भाषाविज्ञान में इस विषय का अधिक विस्तार से विवेचन हुआ है।

इसका संक्षिप्त विवेचन नीचे दिया जा रहा है। इन परिवर्तनों का मुख्य कारण प्रयत्नलाघव या मुख-सुख है।

(१) समीकरण (Assimilation)

जब दो विषम ध्वनियाँ एकत्र होती हैं तो एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित करके अपने सदृश बना लेती हैं। यह समीकरण दो प्रकार का होता है—

(क) पुरोगामी समीकरण (Progressive Assimilation)—इसमें पूर्ववर्ती ध्वनि आगे की दूसरी ध्वनि को अपने सदृश बनाती है। संस्कृत में रषाभ्यां नो णः (अष्टा० ८-४-१), रदाभ्यां निष्ठातो नः० (अष्टा० ८-२-४२), ष्टुना ष्टुः (अष्टा० ८-१-४१) आदि सूत्र समीकरण प्रस्तुत करते हैं। जैसे—

विष् + नुः = विष्णुः, पुष् + तः = पुष्टः। चक्र > चक्का, अग्नि > अग्गि, पक्व > पक्का, पत्र > पत्ता।

(ख) पश्चगामी समीकरण (Regressive Assimilation)—इसमें परवर्ती ध्वनि पूर्ववर्ती ध्वनि को अपने सदृश बनाती है। जैसे—

शर्करा-शक्कर	धर्म-धम्म	सप्त-सत्त
वल्कल-वक्कल	तत् + लीन-तल्लीन	गल्प-गप्प

(२) विषमीकरण (Dissimilation)

यह समीकरण का उल्टा है। इसमें दो सम ध्वनियों में से एक ध्वनि विषम रूप धारण करती है। उच्चारण की सुविधा और अर्थ की स्पष्टता के लिए ऐसा किया जाता है। जैसे—

काक-काग	कंकण-कंगन	पुरुष-पुलिस
मुकुट-मउर (मौर)	गुरु-गरु	षष्-षट्

यह विषमीकरण स्वर और व्यंजन दोनों में होता है। संस्कृत में लिट् लकार, लुङ् लकार और सन् प्रत्यय में कुहोश्चुः (७-४-६२), अभ्यासे चर्च (८-४-५४) सूत्रों से विषमीकरण का ही कार्य होता है। जैसे—ककार > चकार, अगीगणत् > अजीगणत्, किकीर्षति > चिकीर्षति, भुभूषति > बुभूषति।

(३) आगम (Augment, Intrusion)

उच्चारण की सुविधा के लिए शब्दों के आदि, मध्य या अन्त में कुछ ध्वनियाँ जोड़ दी जाती हैं, इन्हें आगम कहते हैं। इसके मुख्य रूप से तीन भेद हैं—(क) आदि स्वरागम या प्रागुपजन, (ख) मध्यस्वरागम या स्वरभक्ति, (ग) अन्त्य स्वर (अक्षर) आगम।

(क) आदि-स्वरागम, प्रागुपजन (Prothesis)—कभी-कभी उच्चारण की सुविधा के लिए कुछ व्यंजनों, विशेषरूप से संयुक्त व्यंजनों, से प्रारम्भ होने वाले शब्दों के आदि में एक स्वर का आगम हो जाता है, इसको आदि-स्वरागम या प्रागुपजन (प्राक्-पहले, उपजन-आगम) या Prothesis (प्रो-पहले, थीसिस-रखना) कहते हैं। पंजाबी और ग्रामीण भाषाओं में इसका प्रयोग अधिक दिखाई देता है। कुछ स्थानों पर आदि-

व्यंजनागम के भी उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

आदि-स्वरागम						आदि-व्यंजनागम		
स्त्री	-	इस्त्री,	स्कूल	-	इस्कूल	अस्थि	-	हड्डी
स्नान	-	अस्नान,	स्टेशन	-	इस्टेशन	ओष्ठ	-	होठ
स्तुति	-	अस्तुति,	प्लेटो	-	[illegible]	उल्लास	-	हुलास

आदि-अक्षरागम भी मिलता है। जैसे—गुंजा-घुँघची, लैटिन—Schola > फ्रेंच—Ecole (एकल, स्कूल)।

(ख) मध्य-स्वरागम, स्वरभक्ति (Anaptyxis)—संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण में होने वाली असुविधा को दूर करने के लिए बीच में किसी स्वर के आगम को मध्य-स्वरागम कहते हैं। स्वर की भक्ति (भाग, अंश) लगने के कारण इसे स्वरभक्ति (Anaptyxis) और संयुक्त में व्यवधान डालने के कारण युक्त-विप्रकर्ष या विप्रकर्ष (Diaeresis) कहते हैं। मध्य-स्वरागम के तुल्य मध्य-व्यंजनागम और मध्य-अक्षरागम के भी उदाहरण मिलते हैं। संयुक्त व्यंजनों को सरल बनाने के लिए उत्तर-प्रदेश के लोग प्रायः आदिस्वरागम का आश्रय लेते हैं और पंजाबी लोग मध्य-स्वरागम का आश्रय लेते हैं। जैसे—

मध्य-स्वरागम						मध्य-व्यंजनागम		
स्टेशन	-	सटेशन	प्रचार	-	परचार	सुनर	-	सुन्दर
धर्म	-	धरम	कर्म	-	करम	सुनरी	-	सुन्दरी
भक्त	-	भगत	प्रसाद	-	परसाद	वानर	-	बन्दर
पंक्ति	-	पंगत	हुक्म	-	हुकुम	शाप	-	श्राप

मध्य-अक्षरागम, जैसे—ताम्र—तांबड़ा (मराठी), खल—खरल, आलस—आलकस।

संस्कृत में प्राप्त होने वाले द्विविध रूप स्वर्ण-सुवर्ण, पृथ्वी-पृथिवी, स्वर्-सुवर् आदि मध्य-स्वरागम या स्वरभक्ति के ही उदाहरण हैं।

वैदिक संस्कृत में भी स्वरभक्ति के उदाहरण मिलते हैं। जैसे—इन्द्र > इन्दर, दर्शत > दरशत भी बोला जाता है। वर्षतु को वरिषतु (या वऋषतु) और वरेण्यम् > वरेणिअम् भी पढ़ा जाता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में इसको स्वरभक्ति कहा गया है। यह छोटी स्वर-मात्रा होती है। आधी या उससे भी छोटी मात्रा होने से इसको लिखा नहीं जाता था।[1] अवेस्ता भाषा में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है—उपरि > Upairi, भरति > Baraiti।

(ग) अन्त्य-स्वरागम—अन्त में सुविधा के लिए कोई स्वर जोड़ा जाता है। संस्कृत के हलन्त शब्दों को प्राकृत में अकारान्त कर देते हैं। अंग्रेजी आदि में अन्तिम व्यंजन के बाद कोई स्वर जोड़ देते हैं। जैसे—

महत्	-	महन्त	गच्छत्	-	गच्छन्त	ग्राम	-	गँवई
हनुमत्	-	हनुमन्त	ज्वलत्	-	ज्वलन्त	पत्र	-	पतई

---

१. स्वरभक्तिः पूर्वभागक्षराङ्गम्। द्राघीयसी सार्धमात्रा। अर्धोनान्या।

(ऋग्वेद प्रातिशाख्य १-३२, ३३, ३५)

जर्मन Agon—अंग्रेजी Agony, Marl—Marle। कहीं पर अन्त में अक्षर भी लगता है। जैसे—वधू—वधूटी, बाल—बालक, बाला—बालिका, मुख—मुखड़ा, ढप—ढपली।

(४) लोप (Elision)

कभी-कभी मुख-सुख, प्रयत्नलाघव या उच्चारण में शीघ्रता, स्वराघात आदि के कारण कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है। ये लोप तीन प्रकार के होते हैं—१. स्वरलोप, २. व्यंजन-लोप, ३. अक्षरलोप। आदि, मध्य और अन्त भेद से ये तीनों भेद तीन प्रकार के होते हैं। जैसे—

आदि-स्वरलोप (Aphesis)	**मध्य-स्वरलोप** (Syncope)	**अन्त्य-स्वरलोप**
अभ्यन्तर—भीतर	राजन् + आ—राज्ञा	घर—घर्
अनाज—नाज	जगम् + अतुः—जग्मतुः	राम—राम्
अगर—गर	Do not—Don't	शिला—सिल्
अपूप—पूप, पूआ	Storey—Story	
आदिव्यंजनलोप	**मध्यव्यंजनलोप**	**अन्त्यव्यंजनलोप**
स्थाली—थाली	कति—कई	उष्ट्र—ऊँट
स्थान—थान	रात्रि—रात	निम्ब—नीम
स्कन्ध—कंधा	पंक्ति—पाँत	उपाध्याय—उपधिया
श्मशान—मसान	ब्राह्मण—बाम्हन	दण्डिन्—दण्डी
आदि-अक्षरलोप	**मध्य-अक्षरलोप**	**अन्त्य-अक्षरलोप**
उपाध्याय—झा	भाण्डागार—भंडार	माता—माँ
आदित्यवार—इतवार	पर्यंकग्रन्थि—पलत्थी	व्यंग्य—व्यंग

(५) समाक्षर-लोप (Haplology)

इसको अक्षर-लोप और सम-ध्वनिलोप भी कहते हैं। जहाँ पर दो समान ध्वनियाँ एक के बाद दूसरी आती हैं, वहाँ पर उच्चारण की सुविधा के लिए उनमें एक का लोप कर दिया जाता है। यह नाम अमेरिकन भाषाविज्ञानी प्रो० ब्लूमफ़ील्ड (Bloomfield) ने दिया है। यह दो शब्दों को मिलाकर बना है—१. ग्रीक शब्द Haplous = एक, २. ग्रीक शब्द Logos = शब्द, अर्थात् दो ध्वनियों के स्थान पर एक ध्वनि का शेष रहना। जैसे—

शेववृध—शेवृध	वितस्ति—बित्ता, बीता	स्वर्गगंगा—स्वर्गंगा
जहीहि—जहि	नाककटा—नकटा	खरीददार—खरीदार
शष्पपिंजर—शष्पिंजर	हिरण्यमय—हिरण्मय	त्रि + ऋच—तृच

(६) वर्ण-विपर्यय (Metathesis)

इसको विपर्यय, वर्ण-व्यत्यय, स्थान-विपर्यय या स्थान-परिवर्तन भी कहते हैं। यह

दो शब्दों को मिलकर बना है—Meta—परिवर्तन, Thesis—ग्रीक, Tithemi = स्थान। कभी-कभी किसी शब्द में आने वाले स्वर या व्यंजन का स्थान असावधानी के कारण या जानबूझकर बदल देते हैं। वर्ण-परिवर्तन प्राचीनकाल से प्रचलित है। निरुक्त आदि में भी इसके उदाहरण मिलते हैं।

कृत् > कर्त-तर्क	स्नान-नहाना	प्रत्यभिज्ञान-पहचान
हिंस् > हिंस-सिंह	लखनऊ-नखनऊ	चाकू-काचू
सृज् > सर्ज-रज्जु	मतलब-मतबल	वाराणसी-बनारस
अम्लिका-इमली	पहुँचना-चहुँपना	ब्राह्मण-बाम्हन

आद्यांश-विपर्यय (Spoonerism)—आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ० स्पूनर (W.A. Spooner) इस प्रकार की त्रुटि प्राय: करते थे। अत: वर्ण-विपर्यय को Spoonerism स्पूनरिज्म भी कहते हैं। उन्होंने एक छात्र से—You have wasted a whole term. (तुमने पूरा सत्र नष्ट कर दिया है,) के स्थान पर कहा कि You have tasted a whole worm. (अर्थात् तुमने पूरे कीड़े का स्वाद लिया)। waste को taste और term को worm कह गए।

(७) महाप्राणीकरण (Aspiration)

कभी-कभी अल्पप्राण ध्वनियों को मुखसुख के लिए महाप्राण बोला जाता है। जैसे—

गृह-घर	परशु-फरसा	धृष्ट-ढीठ
वाष्प-भाप	शुष्क-सूखा	वेष-भेष

(८) अल्पप्राणीकरण (De-aspiration)

कभी-कभी उच्चारण की सुविधा के लिए महाप्राण ध्वनियों को अल्पप्राण कर देते हैं। जैसे—

धधार-दधार	स्वादिष्ठ-स्वादिष्ट	बुध् + धि-बुद्धि
धधौ-दधौ	शुध् + धि-शुद्धि	सिन्धु-हिन्दु

(९) घोषीकरण (Vocalization)

कभी-कभी मुख-सुख के लिए अघोष ध्वनियों को घोष कर दिया जाता है। जैसे—

शाक-साग	काक-काग	शती-सदी
नकद-नगद	कंकण-कंगन	एकादश-एगारह

(१०) अघोषीकरण (De-vocalization)

इसमें घोष ध्वनियों को अघोष कर देते हैं। जैसे—

तद् + पर-तत्पर	सं + भृ (भर्)-confer	मदद-मदत
उद् + कट-उत्कट	प्र + भृ (भर्)-prefer	वाग् + पति-वाक्पति

(११) अनुनासिकीकरण (Nasalization)

मुख-सुख के लिए अनुनासिक-रहित शब्दों को भी अनुनासिक-युक्त कर देते हैं। यह अनुनासिकता दो प्रकार की है—

१. **सकारण**—शब्द में नासिक्य ध्वनि थी, अतः विकसित रूप में अनुनासिक आया। चन्द्र-चाँद, अन्धकार-अँधेरा, कम्पन-काँपना।

२. **अकारण**—शब्द में नासिक्य ध्वनि न होने पर भी विकसित रूप में अनुनासिकता आ जाती है। जैसे—

सर्प-साँप	अक्षि-आँख	भ्रू-भौं	निद्रा-नींद
उष्ट्र-ऊँट	अश्रु-आँसू	इष्टका-ईंट	उच्च-ऊँचा

(१२) ऊष्मीकरण (Assibilation)

कुछ ध्वनियों को ऊष्म ध्वनि में परिवर्तित कर दिया जाता है। जैसे—केन्टुम् वर्ग की भाषाओं की क् ध्वनि सतम् (शतम्) वर्ग की संस्कृत और अवेस्ता भाषा में स या श ऊष्म ध्वनि के रूप में प्राप्त होती है। जैसे—centum (केन्टुम्)-शतम्, octo (ओक्टो)-अष्ट।

(१३) संधि-कार्य

कतिपय शब्द विकसित होने पर मध्यगत व्यंजनों के लोप होने से निरन्तर अनेक स्वर-ध्वनि-युक्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में उनमें संधि-कार्य हो जाता है। जैसे—

नयन > नइन-नैन	अवतार-औतार	शत-सौ
वचन > वइन-बैन	उपल-ओला	सपत्नी-सौत

(१४) मात्रा-भेद

प्रयत्नलाघव के लिए कभी दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर देते हैं और कभी ह्रस्व को दीर्घ। जैसे—

वानर-बन्दर	आराम-अराम	प्रियतम-पीतम	अद्य-आज
आभीर-अहीर	आलाप-अलाप	पुत्र-पूत	भक्त-भात

५.२०. विशिष्ट ध्वनि-परिवर्तन

(१) अपिनिहिति, समस्वरागम (Epenthesis)

अपिनिहिति या समस्वरागम स्वरभक्ति (Anaptyxis) का ही एक रूपान्तर है। स्वरभक्ति या मध्यस्वरागम में संयुक्त व्यंजनों के बीच में स्वर का आगम हो जाता है। अपिनिहिति या समस्वरागम में संयुक्त व्यंजनों का होना आवश्यक नहीं है। इसमें शब्द में विद्यमान ध्वनि के अनुरूप ही एक स्वर (इ या उ) का आगम हो जाता है। अवेस्ता भाषा की यह प्रमुख विशेषता है। जैसे—

संस्कृत	अवेस्ता	संस्कृत	अवेस्ता
आर्य:	Airyo	तरुणम्	Taurunem
भवति	Bavai	अरुष:	Auruso
भरन्ति	Barainti	अर्वन्त:	Aurvanto

(२) अभिश्रुति (Umlaut, Vowel Mutation)

शब्द में बाद में आने वाले स्वर के कारण यदि उससे पूर्ववर्ती स्वर में परिवर्तन होता है तो उसे अभिश्रुति कहते हैं। umlaut नाम प्रो० ग्रिम का दिया हुआ है। इसका अर्थ है—um-समीप, laut-ध्वनि, अर्थात् समीपस्थ आगामी ध्वनि के कारण पूर्वध्वनि में परिवर्तन। इसका प्रयोग वस्तुत: जर्मन भाषाओं में होता है। जैसे—fuss (फुस, पैर) का बहुवचन fusse (फ्यूस्से, कई पैर)। अपिनिहिति (Epenthesis) के कारण शब्द के मध्य में जो स्वर आता है, वह आगामी स्वर के कारण परिवर्तित हो जाता है। जैसे—

Mani > Maini > Men

इसमें Maini में अन्तिम i ध्वनि के कारण मध्यगत i का e हो गया है। यह i अपिनिहिति के द्वारा आया था। जर्मन भाषाओं में आगामी i और u के कारण पूर्ववर्ती स्वरों में स्वर-परिवर्तन किया जाता है। इसे अभिश्रुति umlaut (उम्लाउट) कहते हैं।

(३) अपश्रुति (Ablaut, Vowel Gradation)

Ablaut (अपश्रुति) नाम प्रो० ग्रिम (Grimm) का दिया हुआ है। Ablaut का अर्थ है—स्वर-परिवर्तन। इस प्रवृत्ति का ज्ञान सर्वप्रथम १८७१ ई० में प्रो० ग्रिम को हुआ था। यह नियम जर्मन भाषा में मुख्य रूप से प्राप्त होता है। शब्द के अन्तर्गत स्वर को बदल देने से अर्थ में अन्तर हो जाता है। जैसे—जर्मन में Sprechen (बोलना), sprach (बोला), Gesprochen (बोला हुआ)। अंग्रेजी में उसके समकक्ष उदाहरण हैं—sing (गाना), sang (गाया), sung (गाया हुआ), song (गान)। संस्कृत में विद् (जानना), वेद (जानता है), विदित या अवेदीत् (जाना)। हिन्दी में—मिलना, मिला, मेल, मेला, सम्मेलन।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने Ablaut के लिए अपश्रुति नाम अधिक उपयुक्त माना है। अपश्रुति का कारण स्वर (Accent) माना जाता है। यह प्रवृत्ति भारोपीय, सेमिटिक और हैमिटिक भाषाओं में पाई जाती है। अंग्रेजी में स्वर-परिवर्तन के द्वारा अनेक शब्दों के बहुवचन बनाए जाते हैं। जैसे—Man-Men, Foot-Feet, Mouse-Mice।

अपश्रुति के दो प्रकार हैं—(क) गुणीय अपश्रुति (Qualitative change), (ख) मात्रिक अपश्रुति (Quantitative change)। डॉ० तारापोरवाला गुणीय अपश्रुति को Ablaut और मात्रिक अपश्रुति को Vowel gradation नाम देना अधिक उपयुक्त समझते हैं।[1] इससे दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। मराठी में Ablaut के लिए 'संप्रसारण' शब्द प्रचलित है।

---

1. Taraporewala : *Elements of the Science of Language*, 1962, p. 174.

(क) गुणीय अपश्रुति (Ablaut, Qualitative change)—इसे Metaphony (ध्वनि-परिवर्तन) भी कहते हैं। इसमें गुण की दृष्टि से स्वर मात्र में परिवर्तन हो जाता है। इससे अर्थ में भेद हो जाता है। जैसे—अग्रस्वरों के स्थान पर पश्च स्वर या अन्य स्वर-परिवर्तन। यथा—अंग्रेजी में एकवचन से बहुवचन बनाने में स्वर-भेद—Man > Men, Goose > Geese, Foot > Feet। धातुरूप में Sing-Sang-Sung। जर्मन में Gehen (गेएन, जाना), Ging (गिंग, गया), Gegangen (गेगांगेन, गया हुआ)। रूसी भाषा में—दार (दान), दरीत्‌ (उपहार में देना); त्येच (बहना), तिचेनिये (प्रवाह, धारा)। अरबी में—क़त्ल्‌ (मारना), कातिल (मारनेवाला), मकतूल (मरनेवाला), किताल (युद्ध), कत्ताल (बहुतों को मारनेवाला)। संस्कृत में सूत > सौति (सूतपुत्र), दशरथ > दाशरथि (दशरथ का पुत्र)।

(ख) मात्रिक अपश्रुति (Vowel Gradation)—मात्रिक अपश्रुति में ह्रस्व-दीर्घ आदि मात्राओं में परिवर्तन होता है। स्वर की प्रकृति वही रहती है, उसे दीर्घ, गुण, वृद्धि आदि हो जाता है। इसका कारण उदात्त स्वर (Accent) का होना या न होना माना जाता है। धातु आदि पर उदात्त स्वर होने पर गुण या वृद्धि होगी। उदात्त स्वर न होने पर वहाँ पर गुण या वृद्धि नहीं होगी, अपितु कुछ स्थानों पर संप्रसारण (य्‌ > इ, व्‌ > उ, र्‌ > ऋ) हो जाता है। धातुओं की मूल आधार श्रेणी 'गुण' वाली स्थिति को मानते हैं। इसके आधार पर ३ श्रेणियाँ मानी जाती हैं—

(१) निर्बल श्रेणी (Weak-grade)—गुण-वृद्धि नहीं, संप्रसारण होगा।

(२) सबल श्रेणी (Strong grade)—गुण होगा।

(३) दीर्घीकृत श्रेणी (Lengthened grade)—वृद्धि होगी।

'अ' ध्वनि के ७ भेद हैं—१. अ, २. अय्‌, ए (इ, ई), ३. अव्‌, ओ (उ, ऊ), ४. अर्‌ (ऋ), ५. अल्‌ (लृ), ६. अन्‌ (अ), ७. अम्‌ (अ)।

'आ' ध्वनि के ३ भेद हैं—१. आ, २. आय्‌, ऐ (ई), ३. आव्‌, औ (ऊ)।

इनके संस्कृत से उदाहरण इस प्रकार हैं—

	ध्वनि	धातु	निर्बल	सबल	दीर्घीकृत
१.	अ	पत्‌	पित्सति	पतति	पातयति
२.	अय्‌, ए	नी (नय्‌)	नीतः	नयति	नायकः
३.	अव्‌, ओ	श्रु (श्रव्‌)	श्रुतः	श्रोता	श्रावयति
४.	अर्‌	कृ (कर्‌)	कृतः	करोति	कारकः
५.	अल्‌	क्लृप्‌ (कल्प्‌)	क्लृप्तः	कल्पना	काल्पनिकः
६.	अन्‌	हन्‌	हतः	हन्ति	घातकः
७.	अम्‌	गम्‌	गतः	गमनम्‌	जगाम
८.	आ	स्था	स्थितिः	स्थान	—
९.	आय्‌, ऐ	गै (गाय्‌)	गीतम्‌	गायति	—
१०.	आव्‌, औ	पू (पाव्‌)	पूतः	पावकः	—

अपश्रुति का कारण—अपश्रुति के मूल में स्वराघात (Accent) माना जाता है। स्वराघात के दो रूप प्राप्त होते हैं—१. संगीतात्मक स्वराघात और २. बलात्मक स्वराघात। संगीतात्मक स्वराघात से आंशिक परिवर्तन होते हैं। उन्हें मात्रिक अपश्रुति में गिना जाएगा। ऐसे परिवर्तन लैटिन, ग्रीक, अंग्रेजी, रूसी, अरबी, हिन्दी आदि भाषाओं में मिलते हैं। बलात्मक स्वराघात से किसी मात्रा पर बल देने से दीर्घ, गुण या वृद्धि कार्य होते हैं और बल न देने पर उसका स्वरूप संकुचित हो जाता है, इसे निर्बल (या संप्रसारण) की स्थिति कहेंगे। ऐसी स्थिति में न केवल संप्रसारण (य् > इ, व् > उ, र् > ऋ) ही होता है (वच् > उक्त, यज् > इष्ट, प्रच्छ् > पृष्ट), अपितु धातु के अन्तिम म् न् का लोप हो जाता है (गत, हत), उपधा के अ का लोप हो जाता है (घ्नन्ति), आ को इ या ई (स्था > स्थित, पा > पीत) आदि हो जाते हैं। संस्कृत में गुण, वृद्धि और संप्रसारण के कार्य मात्रिक अपश्रुति के अन्तर्गत आते हैं।

गुणीय और मात्रिक अपश्रुति के अनेक उपभेद किए गए हैं। यहाँ पर उनके विस्तार में जाना अपेक्षित नहीं है।

(ग) ध्वनि-नियम (Phonetic Laws)

५.२१. ध्वनि-नियम

ध्वनि-नियम का स्वरूप—विभिन्न भाषाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें समय-समय पर कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन भाषा की परिवर्तनशीलता के कारण होते हैं। कुछ परिवर्तन ऐसे हैं, जिनका क्षेत्र बहुत सीमित है और कुछ का क्षेत्र व्यापक है। इन व्यापक परिवर्तनों को नियम की सीमा में बाँधने का प्रयत्न किया गया है। ऐसे ही कतिपय नियमों को ध्वनि-नियम नाम दिया गया है।

इन ध्वनि-नियमों की कुछ विशेषताएँ या सीमाएँ हैं, जिनके अन्तर्गत ये कार्य करते हैं। ये सामान्य नियम नहीं हैं और न सभी भाषाओं पर प्रभावी हैं। किसी विशेष भाषा में किसी काल-विशेष में ये प्रवृत्त होते हैं, उस भाषा में भी सार्वत्रिक रूप से वे प्राप्त होते हैं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। अतएव प्रत्येक नियम के अनेक अपवाद हैं। इसको भाषा की ध्वनि-प्रवृत्ति (Phonetic tendency) कह सकते हैं। यह प्रवृत्ति ही जब अपना स्थिर रूप ले लेती है तो उसे नियम नाम दे दिया जाता है।

ध्वनि-नियम और प्राकृतिक नियम—यहाँ यह समझ लेना उचित है कि ध्वनि-नियम प्राकृतिक नियमों के तुल्य अनिवार्य और सार्वत्रिक नहीं हैं। विज्ञान के नियम तात्त्विक और अपरिवर्तनीय हैं, परन्तु भाषा के नियम व्यावहारिक एवं परिवर्तनशील हैं। इनका आधार मानव-समाज है। मानव में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, अतः इन नियमों में भी परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक मानव की विचार-धारा, भाषण-शैली एवं ध्वनि-यन्त्र में अन्तर होता है, अतः ध्वनि-नियमों में एकरूपता संभव नहीं है। प्रत्येक भाषा में किसी काल-विशेष में कुछ ध्वनि-सम्बन्धी परिवर्तन देखे जाते हैं। उन्हें व्यावहारिक दृष्टि से ध्वनि-नियम कहा जाता है।

ध्वनि-नियम की परिभाषा—किसी भाषा-विशेष में किसी काल-विशेष में कुछ

विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत हुए विशेष प्रकार के ध्वनि-परिवर्तनों को ध्वनि-नियम कहते हैं।

उपर्युक्त परिभाषा में चार बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१. ध्वनि-नियम का सम्बन्ध किसी विशेष भाषा से ही होता है।

२. ध्वनि-नियम किसी काल-विशेष से संबद्ध होता है।

३. ऐसे ध्वनि-नियम किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही होते हैं।

४. ध्वनि-नियम कुछ विशेष ध्वनियों को ही प्रभावित करता है।

विशिष्ट ध्वनि-नियम—यहाँ पर कतिपय विशिष्ट ध्वनि-नियमों का ही वर्णन किया जा रहा है। ये हैं—

(१) ग्रिम-नियम (Grimm's Law)
(२) ग्रासमान-नियम (Grassmann's Law)
(३) वर्नर-नियम (Verner's Law)
(४) तालव्य-नियम (Palatal Law)
(५) मूर्धन्य-नियम (Cerebral Law)

मूलभाषा-सुसंबद्धाः ग्रिम-ग्रास्मान-वर्नराः ।
वर्णानां परिवृत्त्यैव, प्रसिद्धिं परमां गताः ॥१॥
क-त-पा ह-थ-फाः सन्तु, घ-ध-भा ग-द-बास्तथा ।
ग-द-बाः क-त-पाः सन्तु, ग्रिमाख्ये नियमे सति ॥२॥
महाप्राण-द्वयी-युक्ताः, द्व्यक्षरा मूलधातवः ।
महाप्राणाद्यनाशः स्याद्, ग्रासमान-विधौ स्मृते ॥३॥
पूर्वमुदात्तयोगे तु, ग्रिमाख्यो नियमो भवेत् ।
अन्यथा द्विपदा वृत्तिः, वर्नरे नियमे सति ॥४॥

१. **ग्रिम**, ग्रासमान और वर्नर नियम मूल भारोपीय भाषा से संबद्ध हैं। इन नियमों में मूल भारोपीय भाषा की ध्वनियों में परिवर्तन का वर्णन है।

२. **ग्रिम-नियम** के अनुसार मूल भारोपीय भाषा की निम्नलिखित ध्वनियों को अंग्रेजी और जर्मन भाषा में ये ध्वनियाँ हो जाती हैं—(प्रथम को द्वितीय, १ को २) क्रमशः क् त् प् को ह् (ख्), थ्, फ्। (चतुर्थ को तृतीय, ४ को ३) क्रमशः घ् ध् भ् को ग् द् ब्। (तृतीय को प्रथम, ३ को १) क्रमशः ग् द् ब् को क् त् प्।

३. **ग्रासमान-नियम**—मूल भारोपीय दो अक्षर वाली धातुओं में दो महाप्राण (ह्) ध्वनियाँ थीं। सामान्यतया प्रथम महाप्राण (ह्) ध्वनि हट जाती है। द्वितीय वर्ण में महाप्राण (ह्) ध्वनि हटने पर प्रथम वर्ण में महाप्राण ध्वनि रहती है।

४. **वर्नर नियम**—यह ग्रिम नियम का संशोधन है। यदि मूलभाषा में क् त् प् आदि से पूर्व उदात्त स्वर होगा तो ग्रिम नियमानुसार प्रथम वर्ण परिवर्तन नियम लगेगा। यदि उदात्त स्वर क् त् प् के बाद होगा तो क् त् प् को ग् द् ब् होगा, अर्थात् आगे दिये त्रिकोण के अनुसार दो पग आगे का कार्य होगा।

(१) ग्रिम-नियम (Grimm's Law)

ग्रिम-नियम का संक्षिप्त इतिहास—यह ध्वनि-नियम प्रो० याकोब ग्रिम (Jacob Grimm, 1785-1863) के नाम से प्रसिद्ध है। इस नियम को 'ध्वनि-परिवर्तन' (जर्मन में Laut-verschiebung, लाउत-ध्वनि, फेशींबुंग-परिवर्तन, अंग्रेजी में Sound-shifting-साउन्ड-ध्वनि, शिफ्टिंग-परिवर्तन) नाम दिया गया था। प्रो० मैक्समूलर (Max-Muller) ने इसे Grimm's Law (ग्रिम-नियम) नाम दिया है। प्रो० ओटो येस्पर्सन (Otto-Jespersen) का कथन है कि इस नियम को Rask's Law रास्क-नियम नाम दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह नियम डैनिश विद्वान् रास्क ने ही सर्वप्रथम प्रामाणिक रूप में अपनी पुस्तक (Undersogelse) में प्रकाशित किया था।[1] प्रो० ग्रिम ने इसके आधार पर ही इस नियम का विस्तृत वर्णन किया है। प्रो० ग्रिम ने १८२२ ई० में अपने जर्मन व्याकरण (Deustche Grammatik, दायत्श-जर्मन, ग्रामातिक-व्याकरण) का द्वितीय संस्करण निकाला था। उसमें इस नियम का विस्तार से वर्णन किया है। इस नियम की ओर पहले संकेत करने के विषय में प्रो० रास्क के अतिरिक्त प्रो० ईरे (Ihre) का भी नाम लिया जाता है।

ग्रिम-नियम दो भागों में विभक्त है।

१. प्रथम वर्ण-परिवर्तन (First sound shifting)—यह वर्ण-परिवर्तन ईसा के जन्म से पूर्व हो चुका था। इसका प्रभाव समान रूप से गाथिक, निम्न जर्मन और अंग्रेजी, डच आदि भाषाओं पर पड़ा है। भारोपीय मूलभाषा की व्यंजन ध्वनियाँ संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि में सुरक्षित हैं। अंग्रेजी का उद्भव निम्न जर्मन से है, अतः इसके द्वारा संस्कृत और अंग्रेजी की तुलना से यह परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है। इस वर्ण-परिवर्तन में एक ओर संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, स्लावोनिक भाषाएँ हैं, इनमें मूल ध्वनि सुरक्षित है। दूसरी ओर गाथिक, निम्न जर्मन, अंग्रेजी, डच आदि भाषाएँ हैं, इनमें यह परिवर्तन हुआ है।

चित्र-संख्या—३१.
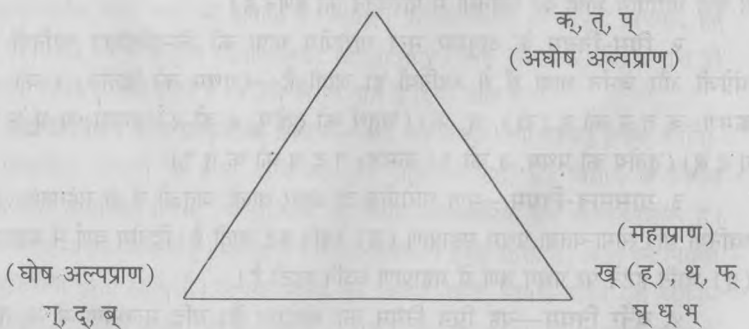
1. If any one man is to give his name to this law, a better name would be Rask's Law. —Otto Jespersen, *Language*, p. 43.

२. द्वितीय वर्ण-परिवर्तन (Second sound shifting)—द्वितीय वर्ण-परिवर्तन ७वीं और ८वीं शती ई० में हुआ है। यह वर्ण-परिवर्तन केवल जर्मन भाषा के ही दो रूपों—उच्च और निम्न—में हुआ है। निम्न जर्मन की प्रतिनिधिभाषा अंग्रेजी है। यह परिवर्तन निम्न जर्मन और अंग्रेजी से उच्च जर्मन में हुआ है। निम्न जर्मन की कुछ ध्वनियाँ उच्च जर्मन में भिन्न हो गई हैं। ऊपर दिए गए त्रिकोण के अनुसार प्रथमवर्ण-परिवर्तन में एक पग आगे चलते हैं। द्वितीयवर्ण परिवर्तन में एक पग और आगे चलते हैं।

निम्न जर्मन (Low German) और उच्च जर्मन (High German) के विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि यह अन्तर उच्च वर्ग और निम्न वर्ग से, अर्थात् व्यक्तियों से, नहीं है। जर्मनी का उत्तरी भाग समतल और नीचा है, अतः वहाँ बोली जाने वाली भाषा 'निम्न जर्मन' कही जाती है। निम्न जर्मन और अंग्रेजी में प्रथम वर्ण-परिवर्तन वाली ध्वनियाँ समान हैं। निम्न जर्मन की शाखाएँ हैं—अंग्रेजी, डच, डैनिश, नार्वेई, स्वीडिश आदि। जर्मनी में दक्षिणी पहाड़ी भाग में बोली जाने वाली भाषा को 'उच्च जर्मन' कहते हैं, क्योंकि यह ऊँचे पर्वतीय भाग में बोली जाती है।

वर्ण-परिवर्तन को इस प्रकार रखा जा सकता है—मूल भारोपीय भाषा (मू० भा०) > संस्कृत (सं०), ग्रीक (ग्री०), लैटिन (लै०) > निम्न जर्मन (नि ज), अंग्रेजी (अं) > उच्च जर्मन (उ ज)। संस्कृत के वर्ग के चतुर्थ घ ध भ ग्रीक और लैटिन में द्वितीय वर्ण अर्थात् ख थ फ हो जाते हैं। अतः उपर्युक्त त्रिकोण में चतुर्थ और द्वितीय वर्णों को एक स्थान पर रखा गया है।

सं, लै, ग्री	क् ख् (घ्)	ग्	त् थ् (ध्)	द्	प् फ् (भ्)	ब्
अं; नि ज	ह् ग्	क्	थ् द्	त्	फ् ब्	प्
उ ज	ग् क्	ख्	द् त् त्स, स्स		ब्, व् प् फ्, प्फ्	

संस्कृत		**अंग्रेजी**		**उच्च जर्मन**
१. प्रथमवर्ण	>	२. द्वितीयवर्ण	>	३. तृतीयवर्ण
२. द्वितीय०	>	३. तृतीय०	>	१. प्रथम०
३. तृतीय०	>	१. प्रथम०	>	२. द्वितीय०
४. चतुर्थ०	>	३. तृतीय०	>	१. प्रथम०

इस प्रकार प्रथमवर्ण-परिवर्तन में संस्कृत के प्रथम वर्ण को अंग्रेजी में द्वितीय वर्ण, २ और ४ को ३ तथा ३ को १ होता है।

प्रथम ध्वनि-परिवर्तन के लिए ग्रीक और लैटिन को छोड़कर मूल भारोपीय भाषा की प्रतिनिधि संस्कृत को लेने पर तथा निम्न जर्मन की प्रतिनिधि अंग्रेजी को लेने पर यह नियम स्पष्ट होता है और इसकी उपयोगिता ज्ञात होती है।

प्रथम वर्ण-परिवर्तन

ध्वनि-परिवर्तन	**संस्कृत**	**अंग्रेजी**	**अर्थ**
१. क् > ह् h, wh	कः	who	कौन

ध्वनि-परिवर्तन	संस्कृत	अंग्रेजी	अर्थ
	कद् (वैदिक)	what	क्या
२. त् > थ् th	त्रि	three	तीन
	तनु	thin	पतला
	तृण	thorn	काँटा
३. प् > फ् f	पितर्	father	पिता
	पाद	foot	पैर
४. घ् (ह्) > ग् g	हंस (घंस)	Goose	हंस
	दुहितर् (दुघितर्)	Daughter	पुत्री
५. ध् > द् d	विधवा	widow	विधवा
	धिति	Deed	कार्य
६. भ् > ब् b	भ्रातर्	Brother	भाई
	भू	Be	होना
	भर् (भृ)	Bear	धारण करना
७. ग् > क् k	गो	Cow	गाय
	युग	Yoke	जुआ
८. द् > त् t	दशन्	Ten	दस
	द्वौ	Two	दो
	अद्	Eat	खाना
९. ब् > प् p	लब (फारसी)	Lip	ओठ
	Kannabis (ग्रीक) (संस्कृत का उदाहरण नहीं मिलता है।)	Hemp	भाँग

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन में त्रिकोण के अनुसार एक पग और आगे बढ़ते हैं। निम्न जर्मन और अंग्रेजी के शब्द उच्च जर्मन में निम्नलिखित रूप में परिवर्तित हो जाते हैं—

अं०	उच्च जर्मन	अं०	उ० ज०	अं०	उ० ज०
k	ch, ख	h	g, ग्	g	ck, क्
t	s, ss, z (त्स)	th	d, द्	d	t, त्
p	pf (प्फ)	f, v	b, ब्	b	p प्

ध्वनि-परिवर्तन	अंग्रेजी	जर्मन	अर्थ
1. k—ch, ख्	Book	Buch, बुख	पुस्तक
	Cook	coch, कोख	रसोइया
2. t—s, ss, स्	Out	ous, आउस	बाहर

ध्वनि-परिवर्तन	अंग्रेजी	जर्मन	अर्थ
z, त्स	Foot	fuss, फुस्स	पैर
	Ten	zehn, त्सेन	दस
3. p—f, pf, प्फ	Up	Auf, आउफ	ऊपर
ff, प्फ	Apple	Apfel, आप्फेल	सेव
	open	offen, ओप्फेन	खोलना
4. h—g, ग्	Hostis (लै०)	Gast, गास्ट	अतिथि
5. th—d, द्	Three	Drei, द्राई	तीन
	Thick	Dick, डिक	मोटा
6. v—f b, ब्	Wife	Weib, वाइब	पत्नी
	Give	Geben, गेबेन	देना
7. g—ck, क्	Bridge	Brucke, ब्र्यूक	पुल
8. d—t, त्	God	Gott, गोट्ट	ईश्वर
	Do	Tun, तुन	करना
9. b—p, प्	Double	Doppel, डोप्पेल	दुगुना

ग्रिम-नियम के अपवाद—प्रो० ग्रिम ने इस ध्वनि-परिवर्तन के कुछ अपवादों का उल्लेख किया है उनमें मुख्य ये हैं—

१. क्, त् प् से पूर्व स् (S) संयुक्त होने पर—sk, st, sp.

२. त् से पूर्व क् या प् संयुक्त होने पर—kt, pt.

ऐसे संयुक्त व्यंजन वाले स्थलों पर ध्वनि-परिवर्तन नहीं होता है। जैसे—

ध्वनि	लैटिन	गाथिक	अर्थ
Sk, स्क	Piscis, पिस्किस	Fisks, फिस्क्स	मछली
St, स्त	Est, एस्ट	Ist, इस्ट	है
Sp, स्प	Spicio, स्पिसिओ	Spehon, स्पेहोन (उ०ज०)	
Kt, क्त	Octo, ओक्टो	Acht, आख्ट (उ०ज०)	आठ
Pt, प्त	Captus, काप्टुस	Hafts, हाफ्ट्स	रोका

जर्मानिक या टयूटानिक (जर्मनभाषा-परिवार) की सबसे प्राचीन भाषा गाथिक है। इससे ही उच्च जर्मन, निम्न जर्मन, अंग्रेजी आदि निकली हैं।

(२) ग्रासमान नियम (Grassmann's Law)

हेर्मान ग्रासमान (Hermann Grassmann, 1809-1877) भी जर्मन विद्वान् हैं। इन्होंने ग्रिम-नियम को संशोधित किया है और उसकी त्रुटियों का निराकरण किया है। निम्नलिखित उदाहरणों में ग्रिम-नियम के अनुसार ब् को प् और द् > त् होना चाहिए था, परन्तु गाथिक में भी ब् और द् ही मिलते हैं।

संस्कृत	**गाथिक**
बोधति	Biudan, बिउदान
दभ्	Daubs, दाउब्स

प्रो० ग्रासमान ने संस्कृत और ग्रीक भाषाओं की परीक्षा करने पर यह पता लगाया कि—

संस्कृत और ग्रीक भाषाओं में दो अव्यवहित सोष्म ध्वनियों में से सामान्यतया प्रथम ऊष्म ध्वनि (ह् ध्वनि) निकल जाती है। जहाँ पर द्वितीय वर्ण से ऊष्म ध्वनि निकलती है, वहाँ पर प्रथम वर्ण में ऊष्म ध्वनि आ जाती है।

इस आधार पर यह कल्पना की गई कि मूल भारोपीय भाषा में दो अक्षरों वाली ऐसी धातुओं में दो महाप्राण ध्वनियाँ थीं। उनमें से साधारणतया प्रथम ऊष्म ध्वनि (ह् ध्वनि) निकल जाती थी और द्वितीय वर्ण से ऊष्म ध्वनि निकलने पर वह प्रथम वर्ण में पुनः आ जाती थी।

इस कल्पना का आधार प्रायः इस प्रकार था—

१. धा > धधामि > दधामि, पहले ध् को द्, ह् ध्वनि हटी।

२. भृ > भभार > बभार, पहले भ् को ब्, ह् ध्वनि हटी।

३. बुध् > भुत्, बुधौ, भुत्सु। बुधौ में पहले वर्ण से ऊष्म ध्वनि हटी है। भुत्, भुत्सु में द्वितीय वर्ण से ऊष्म ध्वनि हटी है, अतः ब् > भ् हो गया। अतः मूल धातु 'भुध्' (Bhudh) है।

४. दुह् (मूल धातु, धुघ्) > धुक्, दुहौ, धुग्भ्याम्, धुक्षु।

इस प्रकार बुध् > भुध् और दभ् > धभ् धातु हैं। मूल 'भुध्' और 'धभ्' धातु मानने पर भुध् से संस्कृत में बुध् धातु हुई और ग्रिम नियमानुसार भ् > ब् होने से Biudan बना। इसी प्रकार मूल धातु 'धभ्' > दभ् और गाथिक में ध् > द् होने से Daubs बना। ग्रीक भाषा में भी प्रायः ऐसे उदाहरण मिलते हैं।

(३) वर्नर नियम (Verner's Law)

कार्ल वर्नर (Karl Verner, 1846-1896) भी जर्मन भाषाशास्त्री हैं। इन्होंने भी ग्रिम-नियम का संशोधन किया है। ग्रिम-नियम के जो अपवाद रह गए थे, उनके विषय में वर्नर ने ज्ञात किया कि ग्रिस-नियम का आधार Accent (उदात्त स्वर) था।

वर्नर नियम का स्वरूप—मूल भारोपीय भाषा के शब्दों के क्, त्, प् (k, t, p) को जर्मानिक भाषाओं में ह, थ्, फ् (h, th, f) तभी होता है, जब मूल भाषा में अव्यवहित पूर्व कोई उदात्त स्वर (Accent) होता है। यदि उदात्त स्वर क्, त्, प् के बाद होगा तो इनके स्थान पर क्रमशः ग्, द्, ब् होते हैं।

उदात्त का चिह्न तिरछी लकीर (') द्वारा दिया गया है।

संस्कृत	**लैटिन**	**गाथिक**	**अं०**	**ध्वनि-परिवर्तन**
युवक'स्	Juvencus	Juggs	Young	क् > ग्

संस्कृत	लैटिन	गाथिक	अं०	ध्वनि-परिवर्तन
शत'म्	Centum	Hund	Hundred	त् > द्
सप्त'न्	Septem	Sibun	Seven	प् > ब्

इनमें क्, त्, प् के बाद उदात्त स्वर है, अतः इन्हें ह्, थ्, फ् न होकर ग्, द्, ब् हुए हैं। भ्रा'तर् में त् से पहले उदात्त है, अतः गाथिक और अंग्रेजी में Brother में (t > th) त् को थ् मिलता है। ब्रॉथर को ही ब्रदर बोला जाता है।

मिथ्या सादृश्य—वर्नर नियम के भी कुछ अपवाद मिलते हैं। इनका समाधान मिथ्या-सादृश्य (Analogy) के द्वारा किया जाता है। भ्रा'तर > Brother होता है। इसके सादृश्य पर ही अंग्रेजी में पित'र् > Father और मात'र् > Mother बनते हैं। इनमें वर्नर के नियमानुसार त् > द् (t > d) होना चाहिए था, पर हुआ है त् > थ् (t > th)। इसका कारण मिथ्या सादृश्य ही समझना चाहिए।

(४) तालव्य नियम (Palatal Law)

तालव्य-नियम को पता लगाने का श्रेय मुख्यरूप से विल्हेल्म थामसन (Wilhelm Thomsen), जोहन्स श्मिट (Johannes Schmidt) और कालित्स (H. Collitze) को है। सास्यूर (De Saussure) का भी नाम इस विषय में लिया जाता है। प्रायः एक ही समय में इन्होंने इस नियम की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। कुछ लोग इसका श्रेय कालित्स देकर इसे 'कालित्स-नियम' भी कहते हैं।

तालव्य नियम का महत्त्व—सामान्यतया यह विश्वास किया जाता था कि मूल भारोपीय भाषा की स्वर और व्यंजन ध्वनियाँ संस्कृत में सबसे अधिक सुन्दर रूप में सुरक्षित हैं। परन्तु संस्कृत, लैटिन और ग्रीक भाषाओं की तुलना से भाषाशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मूल भारोपीय भाषा की व्यंजन ध्वनियाँ संस्कृत में अधिक प्रामाणिक रूप में सुरक्षित हैं तथा मूल स्वर-ध्वनियाँ ग्रीक और लैटिन में। इस निष्कर्ष का कारण यह था कि ग्रीक और लैटिन में जिन स्थानों पर ह्रस्व a, e, o, तीन पृथक् स्वर ध्वनियाँ मिलती हैं वहाँ पर संस्कृत में केवल अ ध्वनि मिलती है। तुलना करने से ज्ञात होता है कि जहाँ पर ग्रीक और लैटिन में ह्रस्व a और o ध्वनि हैं, वहाँ पर संस्कृत में अ ध्वनि होने पर कोई वर्ण परिवर्तन नहीं होता है। यदि ह्रस्व e के स्थान पर 'अ' ध्वनि हुई है तो वहाँ पर क् > च् और ग् > ज् पाते हैं। मूल भाषा के ह्रस्व e के स्थान पर अ होने पर कण्ठ्य ध्वनि क्, ग् के तालव्य च्, ज् होने को तालव्य नियम कहा जाता है। निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है कि संस्कृत की 'अ' ध्वनि मूल भारोपीय भाषा के a, e, o, इन तीन ध्वनियों के स्थान पर मिलती है।

ध्वनि	संस्कृत	लैटिन	ग्रीक
a को अ	अनिति	Animus	Anemos
e को अ	अहम्	Ego	Ego
e को अ	भरामि	Fero	Fero
e को अ	ददर्श	—	Dedorka

ध्वनि	संस्कृत	लैटिन	ग्रीक
o को अ	अष्टौ	Octo	Octo
o को अ	अस्थि	Os	Osteon

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत का अ = ग्रीक और लैटिन का a, e, o, संस्कृत के 'अ' से a, e, o, इन तीन ध्वनियों की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है, अत: मूल भारोपीय स्वरों के लिए लैटिन और ग्रीक को प्रामाणिक माना जाता है।

तालव्य-नियम—मूल भारोपीय भाषा में कवर्ग की तीन श्रेणियाँ मानी जाती हैं[1]—

१. शुद्ध कण्ठ्य	२. कण्ठोष्ठ्य	३. कण्ठतालव्य
क् ख् ग् घ्	क्व् ख्व् ग्व् घ्व्	क्य् ख्य् ग्य् घ्य्

इनमें से कण्ठोष्ठ्य कवर्ग ग्रीक लैटिन आदि में क्व् (क् के साथ व् श्रुति भी) आदि के तुल्य हो गया। कण्ठतालव्य कवर्ग ग्रीक लैटिन आदि में कवर्ग रहा (Centum केन्टुम्) और संस्कृत-अवेस्ता आदि पूर्वीय भाषाओं में स् या श् (सतम्-शतम्, सतम्-वर्ग) हो गया। शुद्ध कण्ठ्य (क् ख् ग् घ्) और कण्ठोष्ठ्य (क्व्, ख्व्, ग्व्, घ्व्) ध्वनियाँ भारत-ईरानी शाखा में कहीं पर कवर्ग के रूप में प्राप्त होती हैं और कहीं पर चवर्ग के रूप में। जहाँ पर चवर्ग के रूप में परिवर्तित हुई हैं, वहाँ पर कण्ठोष्ठ्य ध्वनियों के बाद मूल भारोपीय भाषा में e या i (इ, ई, ए,) तालव्य ध्वनियाँ मिलती हैं। जहाँ पर ये तालव्य ध्वनियाँ बाद में नहीं होती हैं, वहाँ पर संस्कृत-अवेस्ता आदि में कवर्ग-ध्वनि ही मिलती है।

मूल भारोपीय भाषा के शुद्ध कण्ठ्य और कण्ठोष्ठ्य ध्वनियों के बाद यदि कोई तालव्य स्वर (इ, ई ए, e, i) आता है तो कण्ठ्य ध्वनि को तालव्य ध्वनि (क् > च्, ग् > ज्) हो जाती है। अन्यत्र कवर्ग ध्वनि बनी रहती है। जैसे—

ध्वनि-परिवर्तन	संस्कृत	लैटिन	ग्रीक	अर्थ
क् > च्	च	Que	Te	और
क् > च्	पञ्च	Quinque	Pente	पाँच
क् > च्	चिद्	Quid	Ti	अनिश्चयार्थ
ग् > ज्	जनस्	—	Genos	मनुष्य
	जानु	Genu	Gonu	घुटना

अन्यत्र ध्वनि-परिवर्तन नहीं होता। जैसे—

क् > क्	कतर:	Quod	Poteros	कोई एक
	कर्क:	Cancer	Karkinos	केकड़ा
ग् > ग्	युगम्	Jugum	Zugon	जुआ

तालव्य-नियम के प्रभाव से ही संस्कृत में गम् > जगाम , कृ > चकार, हन् > जघान आदि में अभ्यास (द्वित्व का पूर्व अंश) में च् ज् आदि तालव्य ध्वनि मिलती है। ग्रीक, लैटिन आदि में अभ्यास में e स्वर मिलता है। जैसे—ग्रीक-Dedorka (सं० ददर्श),

---

१. देखो—T. Burrow (टी० बरो): संस्कृत भाषा (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ ७७।

Gegona (सं० जजान), लैटिन-Tetigi (सं० तस्थौ)। तालव्य-नियम के प्रभाव से ही Queen > सं० जनि (स्त्री) हुआ है। संस्कृत में भी कवर्गीय ध्वनियों के दो रूप मिलते हैं—पचति-पाकः, ओजस् > उग्रः, रञ्जन-रङ्गः, रागः, यज्-यागः, शोचते-शोकः।

(५) मूर्धन्य नियम (Cerebral Law)

संस्कृत में मूर्धन्य नियम का संकेत पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है।[1] र् और ष् के बाद न् को ण् होता है और इ, ए, ओ आदि स्वर तथा क् आदि व्यंजनों के बाद स् को ष् होता है। जैसे—उत्तीर्ण, विष्णु, रामेषु, वाक्षु। न् को ण् और स् > ष् होना मूर्धन्यीकरण है।

इसको आधार मानकर प्रो० पॉट (Pott) और रूसी विद्वान् प्रो० फोर्तुनातोव (Fortunatov)[2] ने संस्कृत भाषा में मूर्धन्य ध्वनियों के विकास का इतिहास ढूँढ़ना प्रारम्भ किया। इस नियम की सूक्ष्मताओं का अध्ययन करने के कारण प्रो० फोर्तुनातोव के नाम से यह मूर्धन्य-नियम प्रचलित हुआ। इस नियम के अध्ययन का कारण यह है कि भारोपीय भाषाओं में किसी भी भाषा में, यहाँ तक कि अवेस्ता में भी, मूर्धन्य ध्वनियाँ ट, ठ आदि नहीं मिलती हैं। परन्तु संस्कृत में इनका प्रयोग बहुत प्रचलित है। अधिकांश विद्वानों ने संस्कृत टवर्ग के लिए द्रविड़ भाषाओं का संपर्क कारण माना है।

मूर्धन्य नियम का स्वरूप यह है—(१) यदि मूलभाषा में र् या ल् के बाद तवर्ग होगा तो उसे टवर्ग हो जाता है। (२) यदि मूलभाषा में ऋ है और यदि वह हटता है या परिवर्तत होकर अ आदि होता है, तो परवर्ती तवर्ग को टवर्ग हो जाता है। जैसे—

मूल रूप	**संस्कृत रूप**	**मूल रूप**	**संस्कृत रूप**
कृत	कट (चटाई)	अवर् (वैदिक)	अवट (गड्ढा)
विकृत	विकट	ऋध् (बढ़ना)	आढ्य (धनी)
संकृत	संकट	पृथति (वै० बताना)	पठति

फोर्तुनातोव ने यह नियम दिया—१. मूलभाषा के ल् के बाद तवर्ग को टवर्ग होता है और ल् का लोप होता है। २. मूल भाषा के र् या ऋ के बाद तवर्ग को टवर्ग नहीं होता।

(१) मूल रूप	**संस्कृत रूप**	**(२) मूल रूप**	**संस्कृत रूप**
ग्रीक-प्लतुस्	पटु	लैटिन-Verto (वर्तो)	वर्तामि (हूँ)
लैटिन-Palm (पाम)	पाणि	गाथिक-Gredus	गर्धः (लोभी)
लैटिन-Culter (कल्टर)	कुठार	लिथु०-Ardyti	अर्धः (आधा)

इस नियम के अपवादों की संख्या अधिक होने के कारण प्रो० वाकरनागल (Wackernagel), ब्रुगमान (Brugmann) और बार्थोलोमे (Bartholome) ने

---

१. रषाभ्यां नो णः समानपदे (अ० ८-४-१) इण्कोः (अ० ८-३-५७), आदेशप्रत्यययोः (अ० ८-३-५६)

2. *An Introduction to Comparative Philology*, P.D. Gune, 1918, pp. 146-147.

फोर्तुनातोव के नियम को अस्वीकृत किया है। र् या ऋ के बाद तवर्ग को टवर्ग मिलता है। जैसे—भृत > भट, नृत् > नट, कृत > कट। इस प्रकार मूर्धन्य नियम कुछ अंशों में ही ग्राह्य है।

(६) अन्य ध्वनि नियम

उपर्युक्त नियमों के अतिरिक्त कुछ सामान्य ध्वनि-नियम हैं। इसका सामान्य परिचय दिया जा रहा है।

(क) अवेस्ता नियम—अवेस्ता में संस्कृत की इन ध्वनियों के स्थान पर ये ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं। स् > ह्, घ् ध् भ् को ग्, द् ब्; क्, त्, प्, को ख्, थ्, फ् तथा स्वरागम।

ध्वनि	**संस्कृत**	**अवेस्ता**	**ध्वनि**	**संस्कृत**	**अवेस्ता**
स् > ह्	भरसि	बरहि	क् > ख्	क्रतुः	ख्रतुस्
	असुर	अहुर	त् > थ्	सत्य	हइथ्यो
भ् > ब्	भवति	बवइति	प् > फ्	प्रोक्तः	फ्राओख्तो
	भरन्ति	बरइन्ति	स्वरागम	एति	एइति

(ख) ग्रीक नियम—मूल भारोपीय भाषा की ध्वनियों में ग्रीक में कुछ परिवर्तन हो जाते हैं। जैसे—(१) दो स्वरों के मध्य स् को ह् होकर उसका लोप, (२) वर्ग के चतुर्थ वर्ण को द्वितीय वर्ण, अर्थात् भ् > फ्, ध् > थ् आदि।

मूल रूप	**संस्कृत**	**ग्रीक**	**मूल रूप**	**संस्कृत**	**ग्रीक**
Generos	—	Geneos	भ् > फ्	भ्रातर्	Frater
भ् > फ्	भरामि	Fero	ध् > थ्	मधु	Methu मेथु
भ् > फ्	नभस्	Nefos	ज् > ग्	जानु	Gonu गोनु

(ग) लैटिन नियम—मूल भारोपीय भाषा की ध्वनियों में लैटिन में कुछ परिवर्तन हो जाते हैं। जैसे—(१) दो स्वरों के बीच स् को र्, (२) वर्ग के चतुर्थ वर्ण को द्वितीय वर्ण या तृतीय वर्ण अर्थात् भ् > फ् या ब्, ध् > थ् था द् आदि।

मूल रूप	**संस्कृत**	**ग्रीक**	**मूल रूप**	**संस्कृत**	**ग्रीक**
Generos	—	Geneos	भ् > ब्	नभस्	Nebul
भ् > फ्	भरति	Fero	भ् > ब्	तुभ्यम्	Tibi
भ् > फ्	भवति	Faum	ध् > फ्	धूमः	Fumus

(घ) प्राकृत नियम—संस्कृत की अनेक ध्वनियों का प्राकृत भाषा में परिवर्तन हो जाता है। जैसे—(१) शब्दों के मध्यगत क् त् प् को ग् द् ब् होते हैं। (२) ख् थ् फ् घ् ध् भ् को ह् होता है। (३) ट् ठ् को ड् ढ्; (४) प् को व् आदि।

ध्वनि	**संस्कृत**	**प्राकृत**	**ध्वनि**	**संस्कृत**	**प्राकृत**
त् > द्	अतिथि	अदिधि	ट् > ड्	कुटुम्ब	कुडुम्ब
त् > द्	आगतः	आगदो	ठ् > ढ्	पठन	पढण
ख् > ह्	मुख	मुह	प् > व्	दीपाली	दिवाली

ध्वनि	**संस्कृत**	**प्राकृत**[1]	**ध्वनि**	**संस्कृत**	**प्राकृत**
घ् > ह्	मेघ	मेह	श् > स्	अशेष	असेस
ध् > ह्	वधू	वहू	ष् > ह	पाषाण	पाहाण

(**ङ) फारसी-नियम**—फारसी में संस्कृत की कुछ ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। जैसे—(१) स् को ह्, (२) ज् को ज़्।

ध्वनि	**संस्कृत**	**फारसी**	**ध्वनि**	**संस्कृत**	**फारसी**
स् > ह्	सिन्धु	हिन्द	ज् > ज़्	जानु	ज़ानू
स् > ह्	सप्त	हफ्त	ज् > ज़्	जातः	ज़ादह
ध्वनि	**संस्कृत**	**फारसी**	**ध्वनि**	**संस्कृत**	**फारसी**
स् > ह्	सम (सब)	हम	भ् > ब्	नास्तिनाभूत्	नेस्तनाबूद

इसी प्रकार ओष्ठ्य नियम आदि कुछ सामान्य नियम हैं, जो विशेष महत्त्वपूर्ण न होने से नहीं दिए गए हैं।

*

१. विशेष विवरण के लिए देखो—लेखककृत 'संस्कृत व्याकरण', पृष्ठ ४१० से ४१६।

अध्याय ६

पदविज्ञान
(Morphology)

१. पद और वाक्य
२. पद और शब्द
३. पद और सम्बन्धतत्त्व
४. सम्बन्धतत्त्व के प्रकार
५. अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का संयोग
६. संस्कृत में सम्बन्धतत्त्व
७. हिन्दी में सम्बन्धतत्त्व
८. पद-विभाग
९. व्याकरणिक कोटियाँ
१०. रूप-परिवर्तन की दिशाएँ
११. रूप-परिवर्तन के कारण
१२. रूपिम-विज्ञान या रूपग्राम-विज्ञान (Morphemics)
१३. संरूप (Allomorph)
१४. संहिता, संधि या रूपस्वनिम-विज्ञान
१५. संस्कृत की सन्धियाँ

अध्याय ६

पदविज्ञान (रूपविज्ञान)

(Morphology)

प्रकृति-प्रत्ययैर्मिश्रं, सार्थक-ध्वनि-संगतम् ।
रूप-निर्माण-संबद्धं, पद-विज्ञानमिष्यते ॥ १ ॥
भाषाविशेष-संबद्धो लघिष्ठः सार्थको ध्वनिः ।
बद्ध-मुक्त-गुणैर्युक्तो रूपिमः कथितो बुधैः ॥ २ ॥ (कपिलस्य)

६.१. पद और वाक्य

भाषा की सार्थक इकाई वाक्य है। यह वाक्य भी भाषा का एक अवयव मात्र होता है, परन्तु व्यवहार की दृष्टि से इसे ही इकाई मानकर कार्य किया जाता है। वाक्य में पद और पदों में वर्ण होते हैं। विचार करने से ज्ञात होता है कि पदों के प्रत्येक वर्ण का कोई अर्थ नहीं होता है। जैसे—रामः के र् आ म् अः का अलग-अलग कोई अर्थ नहीं है, इसी प्रकार वाक्य में प्रयोग के बिना पदों (रामः आदि) का भी कुछ अर्थ नहीं है। कोषग्रन्थों में दिए गये शब्द, तबतक सार्थक नहीं होते, जबतक उनका किसी वाक्य में प्रयोग नहीं होता है। केवल 'राम' या 'पुस्तक' कहने से कोई अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। रामः पुस्तकं पठति, राम पुस्तक पढ़ता है, यह वाक्य है। इसमें वाक्य में प्रयोग के कारण रामः, पुस्तकम् और पठति सार्थक होते हैं। इसीलिए वाक्य को ही सार्थक इकाई माना जाता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में यह भाव स्पष्ट रूप से दिया है—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव ।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ (वाक्यपदीय, १-७३)

महाभाष्यकार पतंजलि का भी मत है कि वास्तविक सत्ता वाक्य की है, पदों की नहीं। पद-विभाजन जन-साधारण को समझाने का एक उपाय है।[1] वाक्यों से पदों को निकाल कर समझाया जाता है कि यह कर्ता है, यह कर्म है, यह क्रिया है, इत्यादि। भर्तृहरि ने इस विश्लेषण की प्रक्रिया को पारिभाषिक नाम 'अपोद्धार' (विश्लेषण) दिया है। अपोद्धार से ही वाक्य के प्रत्येक पद का अर्थ बताया जाता है और प्रत्येक पद में प्रकृति-प्रत्यय का बोध कराया जाता है।[2]

---

१. आह चैवं भाष्यकारः। तस्मान्मन्यामहे पदान्यसत्यानि एकमभिन्न-स्वभावकं वाक्यम्। तदबुधबोधनाय पदविभागः कल्पित इति। (पुण्यराज, वाक्यपदीय, २-५७ की टीका)

२. यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृति-प्रत्ययादयः।
अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते॥ (वाक्यपदीय, २-१०)

६.२. पद और शब्द

पद या रूप (Form) और शब्द (Word) को सामान्यतया एकार्थक समझा जाता है, परन्तु यह भूल है। सार्थक मूलरूप को 'शब्द' कहते हैं। इसे संस्कृत में 'प्रातिपदिक'[1] या 'प्रकृति' कहा जाता है। कोशग्रन्थों में ये सार्थक शब्द या प्रातिपदिक मिलते हैं। इनके द्वारा वस्तु, व्यक्ति या क्रिया का बोध कराया जाता है।[2]

शब्द के भेद—शब्द प्रकृति और प्रत्यय के संयोग से बना है या नहीं, इस आधार पर संस्कृत और हिन्दी में शब्दों के तीन भेद किए गये हैं—**(१) रूढ**—जिनमें प्रकृति और प्रत्यय को स्पष्ट रूप से अलग नहीं किया जा सकता है, जैसे—मणि, रत्न, नूपुर, आढ्य, स्थूल आदि। **(२) यौगिक**—जो प्रकृति और प्रत्यय के संयोग से बने हैं, जैसे—कृ+तृ=कर्तृ, कर्ता, कृ+अक=कारक। भूत+इक=भौतिक। धनवान्, बलवान्, श्रीमान् आदि। **(३) योगरूढ**—जो शब्द यौगिक होते हुए भी किसी विशेष अर्थ में रूढ हो जाते हैं, उन्हें योगरूढ कहते हैं, जैसे—सरसिज, पंकज आदि। तालाब या कीचड़ में उत्पन्न होने वाला, यह यौगिक अर्थ है, परन्तु ये शब्द कमल के अर्थ में रूढ हैं। रूढ शब्दों को 'अव्युत्पन्न प्रातिपदिक' और यौगिक शब्दों को 'व्युत्पन्न प्रातिपदिक' कहते हैं। पाणिनि ने रूढ शब्दों के अतिरिक्त यौगिक शब्दों को भी प्रातिपादिक मानने के लिए नियम दिया है—

कृत्-तद्धित-समासाश्च। (अष्टा०, १-२-४६)

कृत-प्रत्ययान्त, तद्धित-प्रत्ययान्त और समासयुक्त पद भी प्रतिपादिक होते हैं, अत: इनसे भी सुप् प्रत्यय होंगे। इस प्रकार सभी सार्थक शब्दों को प्रातिपादिक कहा जाएगा।

पद और शब्द में अन्तर

सामान्यतया पद और शब्द को एकार्थक समझा जाता है, परन्तु भाषा-विज्ञान और व्याकरण की दृष्टि से ये दोनों शब्द भिन्न अर्थ वाले हैं।

सार्थक ध्वनि-समूह को 'शब्द' कहते हैं। संस्कृत में इसे 'प्रातिपदिक' कहते हैं। इसे मूलरूप समझना चाहिए। कोई भी शब्द जबतक पद नहीं बन जाएगा, उसका प्रयोग नहीं हो सकता है। पद बनाने के लिए शब्द में कुछ विशेष अर्थों के बोधक प्रत्यय लगाए जाते हैं। इनके लगाने पर वह शब्द प्रयोग के योग्य होता है। इसलिए संस्कृत में नियम है—

'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः।' 'अपदं न प्रयुञ्जीत'।

(महाभाष्य)

अर्थात् न केवल प्रकृति (मूलशब्द, धातु) का प्रयोग करना चाहिए और न केवल प्रत्यय का। अपद (शब्द को पद बनाए बिना) का प्रयोग न करें। इस प्रकार इसका अन्तर यह होता है—

---

१. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। (अष्टाध्यायी, १-२-४५)

२. येनोच्चारितेन सास्नालांगूल-ककुद-खुर-विषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः।

(महाभाष्य आह्निक -१)

शब्द	पद
मूल शब्द (प्रकृति, धातु, प्रातिपदिक)	प्रकृति+प्रत्यय=पद

प्रकृति से दो प्रकार के प्रत्यय होकर रूप बनते हैं—

१. **सुवन्त**—प्रकृति या प्रातिपदिक+सुप् प्रत्यय, जैसे, रामः=राम+सु (स्)। सभी संज्ञा और विशेषण शब्दों से सुप् प्रत्यय लगते हैं। उपसर्ग और अव्ययों के बाद भी सुप् लगते हैं, परन्तु उनका लोप हो जाता है।

२. **तिङन्त**—धातुओं से तिङ् प्रत्यय (ति, तः, अन्ति आदि) लगते हैं। धातु+तिङ् प्रत्यय=तिङन्त। जैसे पठति=पठ्+अ+ति (वह पढ़ता है)। धातुओं से तिङ् प्रत्यय लगते हैं। तिङ् प्रत्यय लगने पर ही उनका प्रयोग हो सकता है। संस्कृत में—राम गम् (राम जाना) का प्रयोग नहीं हो सकता है, क्योंकि इनमें पद बनाने वाले प्रत्यय सुप् और तिङ् नहीं लगे हैं।

सुप् और तिङ्—(१) शब्दों के अन्त में लगने वाले कारक चिह्नों (case endings) सु, औ, जस् (:, औ, अः आदि) को सुप् कहते हैं। ये कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों तथा वचन (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) को बताते हैं।

(२) धातुओं के अन्त में लगने वाले काल (Tense) और वृत्ति (Mood) के बोधक तिः, तः, अन्ति आदि (Terminations) को तिङ् कहते हैं। इनसे काल, वृत्ति, वाच्य (कर्तृ, कर्म, भाववाच्य) और वचन आदि का बोध कराया जाता है।

हिन्दी में सुप् के स्थान पर स्वतन्त्र कारक चिह्न (को, ने, से, का, पर आदि) लगाए जाते हैं। क्रिया या धातु में कालवाचक चिह्न (ता, ते, है, हूँ, गा, गे आदि) लगाये जाते हैं। 'राम जाना' का प्रयोग न होकर प्रयोग होगा—राम जाता है, राम गया, राम जाएगा आदि।

कृत और तद्धित प्रत्यय—सुप् और तिङ् के साथ ही कृत् और तद्धित प्रत्ययों का ज्ञान भी आवश्यक है।

(१) कृत् प्रत्यय (Primary suffixes)—धातु+कृत् प्रत्यय=कृदन्त शब्द। ये धातु के अन्त में जुड़ते हैं। इनके लगाने से संज्ञा शब्द बन जाते हैं और उनसे सुप् प्रत्यय होते हैं। कृ+तृ=कर्तृ, कर्ता (करनेवाला), कृ+तव्य=कर्तव्य, कृ+अक=कारक, रम्+घञ् (अ)=राम, दिव्+घञ् (अ)=देव। इनसे पहले उपसर्ग भी लग जाते हैं, जैसे—हृ+घञ् (अ)=हार, विहार, संहार, आहार, प्रहार आदि।

(२) तद्धित प्रत्यय (Secondary Suffixes)—सभी संज्ञा शब्दों (कृत् प्रत्यय आदि लगाकर बने हुए शब्दों) से विभिन्न अर्थों में तद्धित प्रत्यय होते हैं। ये भी संज्ञा शब्द होते हैं। इनसे सुप् प्रत्यय होते हैं। ये पुत्र, उत्पन्न होना, संबद्ध, भाव आदि अर्थों को बताते हैं। जैसे—दशरथ+इ=दाशरथि (दशरथ का पुत्र), देव+इक=दैविक (देव-सम्बन्धी), वाराणसी+एय=वाराणसेय (वाराणसी में होनेवाला), मृदु+ता=मृदुता (मृदुत्व) आदि।

कृत् और तद्धित प्रत्ययों से बने हुए अधिकांश शब्दों का प्रयोग संज्ञा शब्दों के तुल्य होता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि विश्व की अनेक भाषाओं में शब्द और पद में अन्तर नहीं है, जैसे—एकाक्षर या अयोगात्मक चीनी भाषा में प्रत्येक शब्द स्वतंत्र है।

उसमें वचन और कारक आदि के चिह्न स्वतन्त्र शब्द होते हैं, जैसे—वो (मैं), नि (तू), था (वह)। मेन (बहुवचन चिह्न), ति (सम्बन्ध कारक का, की)। वो ति (मेरा), वो मेन (हम), वो ति (मेरा), वो मेन ति (हमारा) आदि। सेमेटिक (अरबी आदि) भाषाओं में प्रत्यय या सम्बन्धतत्त्व शब्द के अन्दर लग जाते हैं। क् त् ब् (पढ़ना) > किताब (पढ़ी जानेवाली, पुस्तक)।

६.३. पद और सम्बन्धतत्त्व

प्रत्येक वाक्य में दो प्रकार के विशिष्ट तत्त्व होते हैं—

(१) भावों के प्रतिरूप एवं विषयानुभूति के तत्त्व, (२) इन भावों के परस्पर विशेष सम्बन्ध के संकेतक तत्त्व, जैसे—गुरु ने शिष्य से प्रश्न पूछा। इसमें गुरु, शिष्य, प्रश्न, पूछना ये चार शब्द भाव-विशेष के बोधक हैं। इस प्रकार के भाव-विशेष-बोधक तत्त्वों को अर्थतत्त्व (Semanteme, सीमेन्टीम) कहते हैं। दूसरे तत्त्व हैं—ने, से, भूतकाल का चिह्न आ। ये सम्बन्धबोधक तत्त्व हैं। इनको सम्बन्धतत्त्व (Morpheme, मार्फीम) कहते हैं।

अर्थतत्त्व (Semanteme) **और सम्बन्धतत्त्व** (Morpheme, रूपिम)—अर्थतत्त्व उन तत्त्वों को कहते हैं, जो मानसिक प्रतिमाओं के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। जैसे पूर्वोक्त उदाहरण में गुरु, शिष्य, प्रश्न, पूछना। सम्बन्धतत्त्व उन तत्त्वों को कहते हैं, जो उक्त प्रकार से व्यक्त भावों में परस्पर सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करते हैं, जैसे—ने, से, आ आदि। केवल अर्थतत्त्व पूरे भाव की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते, अत: सम्बन्ध तत्त्वों की आवश्यकता होती है। 'ने' लगाने से ज्ञात होता है कि गुरु कर्ता है, 'से' लगाने से ज्ञात होता है कि शिष्य कर्म है, पूछना > पूछा (आ) से ज्ञात होता है कि भूतकाल की क्रिया है। इसी प्रकार संस्कृत का वाक्य ले सकते हैं—वृक्षात् पुष्पम् आनय। अर्थतत्त्व है—वृक्ष, पुष्प, आ + नी, सम्बन्धतत्त्व है—आत्, अम्, लोट् म० १। त्वं पठसि, त्वं पठ, त्वं पठिष्यसि में अर्थभेद का कारण सम्बन्धतत्त्व है। हिन्दी—राम पढ़ता है, राम ने पढ़ा, राम पढ़ेगा। अर्थतत्त्व राम, पढ़ है। अर्थभेद सम्बन्धतत्त्व के द्वारा है। इसी प्रकार फ्रेंच में Don (दों-देना) क्रिया है। सम्बन्धतत्त्व के भेद से अर्थभेद होते जाते हैं, जैसे—Je donne (ज दोन-मैं देता हूँ), Tu donnais (त्यू दोनै-तूने दिया), La donation (ला दोनास्यों-दान)।

उपर्युक्त उदाहरणों को देखने से ज्ञात होता है कि सम्बन्धतत्त्व दो प्रकार के हैं—(१) अर्थतत्त्व से पृथक् सत्ता रखने वाले, जैसे—ने, से आदि, (२) अर्थतत्त्व में समन्वित होकर एकरूप हो जाने वाले, जैसे—आत्, अम्, इष्यसि, आ आदि। इसी प्रकार सम्बन्धतत्त्वों के कुछ अन्य भेद हैं। उनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

६.४. सम्बन्धतत्त्व (Morpheme) के प्रकार

विश्व की समस्त भाषाओं के विश्लेषण से सम्बन्धतत्त्वों के कुछ प्रकार विशेष रूप से दृष्टिगोचर हुए हैं। वे हैं—

(१) शून्य तत्त्व (Zero Modification, Zero alternant)—इसी को Zero Element, Zero Inflection भी कहते हैं। पाणिनि ने पद बनाने के लिए सभी शब्दों से, चाहे वे उपसर्ग, निपात, अव्यय कुछ भी हों, सुप् का विधान करके अव्यय शब्दों (स्वः, च, वा, प्र, परा आदि) के बाद सुप् का लोप बताया है। (अव्ययादाप्सुपः, अष्टा० २-४-८२)। इस प्रकार अव्ययों में सम्बन्धतत्त्व शून्य (०) रूप में रहता है। यह शून्य तत्त्व भाषाशास्त्र के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसके लिए सभी पाश्चात्त्य भाषाशास्त्रियों ने पाणिनि आदि भारतीय वैयाकरणों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है।[1]

शून्य तत्त्व का अभिप्राय है कि शब्द या धातु अपने मूलरूप में रहते हुए व्याकरण के सम्बन्धों को बताते हैं, जैसे—बालिका, वारि, मधु, सरित्, जगत् आदि। ये प्रथमा एक वचन के रूप हैं। कर्ता अर्थ बताते हैं, अन्त में कारक चिह्न स् आदि नहीं हैं, अतः इसे शून्य तत्त्व कहते हैं।

हिन्दी में आज्ञा अर्थ में क्रियापद प्रायः मूलरूप में रहते हैं। जैसे—आ, जा, खा, चल, उठ, बैठ, पूछ, लिख, पढ़ आदि। ये मध्यमपुरुष एकवचन आज्ञा अर्थ के रूप हैं। तू आ, तू पढ़, तू लिख आदि।

अंग्रेजी में एकवचन और बहुवचन में Sheep (शीप, भेड़, भेड़ें), Deer (डीयर, मृग) ही होता है। I go, We go, You go, They go में क्रिया go के साथ सम्बन्धतत्त्व नहीं है। अतः इसे शून्य तत्त्व कहते हैं। He goes, he walks में सम्बन्धतत्त्व es, s है। यह प्रथमपुरुष एकवचन का अर्थ बताता है। फ्रेंच में Pierre Frappe paul (पियेर फ्राप पाल-पियेर पाल को पीटता है), इसमें 'फ्राप' क्रिया मूलरूप में है, अतः शून्यतत्त्व है। अंग्रेजी में भूतकाल के ये रूप शून्य तत्त्व के उदाहरण हैं—Cut, put, bet, Let, set, wed, spread आदि।

(२) स्वतन्त्र शब्द—विश्व की अनेक भाषाओं में स्वतन्त्र शब्द सम्बन्धतत्त्व का काम करते हैं, जैसे—

(क) संस्कृत में—इति, च, वा, कृते, अर्थम् आदि। 'इति' उद्धरण का काम करता है। न गमिष्यामि इत्युवाच ('नहीं जाऊँगा' ऐसा उसने कहा)। स्नानस्य कृते, स्नानार्थम् (नहाने के लिए), रामः कृष्णश्च, रामः कृष्णो वा (च-और, वा-अथवा)।

(ख) हिन्दी में—कारक चिह्न ने, को, से, द्वारा, का, पर आदि।

(ग) अंग्रेजी में—To (को), from (से), in (में), on (पर), upon (पर), with (से) आदि।

(घ) चीनी भाषा में—कारक चिह्न आदि के वाचक शब्द—मेन (बहुवचन चिह्न), ति (का), यु (को), त्सुंग (से), लि (पर) आदि। चीनी भाषा में पूर्ण (full) और रिक्त (Empty) दो प्रकार के शब्द होते हैं। सम्बन्धतत्त्व वाले शब्द रिक्त शब्द होते हैं।

---

1. L. Bloomfield : *Language*, p. 209.

(ङ) फ्रेन्च में—Quidi (किदि, उद्धरण-सूचक), du (दु-का), Dans (दाँ-में), ne....pas (न···पा, नहीं), Sur (स्युर-पर)।

(च) जर्मन् में—zu (त्सु-को), Auf (आउफ-पर), Mit (मित-से)। लैटिन, ग्रीक, अरबी, फारसी आदि में इसी प्रकार के सम्बन्धतत्त्व-बोधक स्वतन्त्र शब्द मिलते हैं।

कभी-कभी दो स्वतन्त्र शब्द सम्बन्धतत्त्व का बोध कराते हैं। अंग्रेजी में—If....then, Either....or, neither....nor आदि। संस्कृत में—यत्र···तत्र (जहाँ···वहाँ), च···तथा, यदि···तर्हि। हिन्दी में—ज्यों···त्यों, यद्यपि···तथापि, यदि···तो।

(३) पद-क्रम (शब्द-स्थान)—संसार की विभिन्न भाषाओं में वाक्यों में पदों का क्रम निश्चित होता है। तदनुसार ही उसका अर्थ समझा जाता है। इस प्रकार वाक्य में पद-क्रम या शब्दों का निश्चित स्थान सम्बन्धतत्त्व का काम करता है, जैसे—संस्कृत और हिन्दी में वाक्य में पद-क्रम है—कर्ता, कर्म, क्रिया। किन्तु अंग्रेजी में क्रम है—कर्ता, क्रिया, कर्म। यदि पदों का क्रम बदल दिया जायगा तो अर्थ में अन्तर हो जाएगा।

Ram killed Ravana. राम ने रावण को मारा।
Ravana killed Ram. रावण ने राम को मारा।
केवल स्थान बदलने से पूरा अर्थ बदल गया।
मुखं कमलम् इव सुन्दरम्। (मुख उपमेय, कमल उपमान)
कमलं मुखम् इव सुन्दरम्। (कमल उपमेय, मुख उपमान)

केवल स्थान बदल देने से उपमेय-उपमान में अन्तर हो गया। दूसरे वाक्य में मुख कमल के तुल्य सुन्दर नहीं रहा, अपितु कमल ही मुख के तुल्य सुन्दर हो गया। हिन्दी में स्थान-भेद से कर्ता कर्म हो जाता है।

घर गिर गया। (घर कर्ता)
मैं घर जाता हूँ। (घर कर्म)

चीनी भाषा में क्रम है—कर्ता, क्रिया, कर्म। केवल स्थान बदल देने से कर्ता कर्म हो जाता है और कर्म कर्ता।

वो त नि (वो-मैं, त-मारता हूँ, नि-तुम, तुमको), नि त वो (तू मुझे मारता है)।

संस्कृत और हिन्दी में समस्त (समास-युक्त) पदों में शब्दों का स्थान सम्बन्धतत्त्व का काम करता है। स्थान-भेद से अर्थ में अन्तर हो जाता है, जैसे—

पतिगृह - पति का घर, ससुराल।
गृहपति - घर का स्वामी, गृह-स्वामी।
राजपण्डित - राजाओं का पण्डित।
पण्डितराज - पण्डितों का राजा।
घनश्याम - बादल के तुल्य काला।
श्यामघनः - काला बादल।
राजगृह - राजा का घर, महल।
गृहराज - घरों का राजा, बड़ा घर।

संस्कृत और हिन्दी में अधिकारी का प्रयोग पहले होता है, बाद में अधिकृत वस्तु। जैसे—राजगृह, राजप्रासाद, राजभवन, राजकुमार, पतिगृह, श्वसुरालय (ससुराल)। चीनी भाषा में भी ऐसा ही क्रम है। राजा का घर—वांग तियेन (वांग-राजा, तियेन-घर)। फ्रेंच और वेल्श भाषाओं में इसका क्रम उल्टा है, अर्थात् अधिकृत वस्तु पहले, अधिकारी बाद में। जैसे—राजभवन को फ्रेंच भाषा में—La maison du roi (ला मेजों द्यु रूआ; मेजों-भवन, द्यु-का, रूआ-राजा), वेल्श भाषा में—ति ब्रेनहिन (ति-भवन, ब्रेनहिन-राजा)।

(४) द्विरुक्ति (Reduplication)—अनेक भाषाओं में पूरे अंग या उसके अंश की द्विरुक्ति या आवृत्ति सम्बन्धतत्त्व का काम करती है। संस्कृत में धातु आदि की द्विरुक्ति (दो बार पढ़ना) में प्रथम अंश को अभ्यास कहते हैं। संस्कृत में द्विरुक्ति से अर्थ में अन्तर हो जाता है। लिट् (परोक्ष भूत) में द्विरुक्ति मुख्यरूप से दिखाई देती है, जैसे—दृश् (देखना) > ददर्श (देखा), पठ् > पपाठ (पढ़ा), लिख् > लिलेख (लिखा), गद् > जगाद (बोला)। कारं कारम्, श्रावं श्रावम्, ग्रामं ग्रामम्, बार-बार या प्रत्येक, अर्थ बताते हैं।

सन् और यङ् प्रत्यय करने पर भी द्वित्व होता है। युध् > युयुत्सते (लड़ना चाहता है), पठ् > पिपठिषति (पढ़ना चाहता है), कृ > चिकीर्षति (करना चाहता है)। भू > बोभूयते (बार-बार होता है)। णिच् प्रत्ययान्त के लुङ् (भूतकाल) में भी द्वित्व होता है। चुर् > अचूचुरत् (चुराया)।

ग्रीक और लैटिन में भी परोक्ष भूत अर्थ में द्वित्व होता है, ग्रीक— Leip-o (मैं छोड़ता हूँ), Le-loip-a (मैंने छोड़ा)। भूतकाल में स्वर-परिवर्तन भी हुआ है—Leip को Loip। लैटिन में—Can-o (मैं गाता हूँ), Ce-cin-i (मैंने गाया)। यहाँ भी भूतकाल में स्वर-परिवर्तन-Can > Cin।

(५) आगम (Affixation, Addition)—शब्दों और धातुओं में उनसे पहले, मध्य में या अन्त में कुछ सम्बन्धतत्त्व जुड़ जाते हैं, उन्हें आगम कहते हैं। ये तीन प्रकार के हैं—

(क) आदिसर्ग या पूर्वसर्ग (Prefix)
(ख) विकरण या मध्यसर्ग (Infix)
(ग) प्रत्यय या अन्तसर्ग (Suffix)

अंग्रेजी में इन तीनों के लिए एक शब्द है Affix (आगम, जो जुड़ता है)। इसी के तीन भेद हैं—(क) Prefix (Pre-पहले, fix-जुड़ना)। संस्कृत में इसे व्यापक अर्थ देकर उपसर्ग कह सकते हैं। हिन्दी में इसको आदियोग, पूर्वसर्ग, आदि-सर्ग, पूर्व प्रत्यय आदि भी कहते हैं। (ख) in-fix (In-अन्दर, fix-जुड़ना)। संस्कृत में मध्य में जुड़ने वालों को 'विकरण' कहते हैं। हिन्दी में इसके लिए मध्य-योग, मध्य-सर्ग शब्द भी आते हैं। (ग) Suffix (sub-बाद में, fix-जुड़ना)। संस्कृत में इसे प्रत्यय कहते हैं। हिन्दी में इसे अन्तयोग, अन्तसर्ग भी कहते हैं।

(क) पूर्वसर्ग (Prefix)—पूर्वसर्ग (उपसर्ग आदि) के पहले लगने से अर्थ में

अन्तर हो जाता है। हार से ही प्रहार, आहार, विहार, संहार आदि विभिन्न अर्थ वाले शब्द बन जाते हैं। अतः संस्कृत का सुभाषित है—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यः प्रतीयते ।
प्रहाराहार-संहार-विहार-परिहारवत् ॥ (सि० कौ०)

इसी प्रकार भाव से आविर्भाव, तिरोभाव, प्रभाव, अनुभाव आदि। वि-जय, परा-जय; वि-धान, सं-वि-धान, नि-धान; वि-कार, सं-स्कार आदि।

अंग्रेजी में पूर्वसर्ग या आदियोग के अनेक उदाहरण हैं। Re-, de, un, ex, per, com आदि अनेक पूर्वसर्ग हैं, जैसे—Re-ceive (रिसीव, पाना), de-ceive (डिसीव-धोखा देना), Per-ceive (परसीव-देखना), Conceive (कन्सीव-सोचना)। इसी प्रकार Im-port, Ex-port, Pre-fer, Re-fer, Con-fer आदि।

संस्कृत में लङ्, लुङ् आदि में प्रारम्भ में लगने वाला 'अ' भी आदि-योग या पूर्वसर्ग है, जैसे—पठ् > अपठत् (पढ़ा), अलिखत् (लिखा), अकरोत् (किया)। यह भूतकाल का अर्थ बताता है।

(ख) विकरण या मध्यसर्ग (Infix)—मध्य में जुड़नेवाले प्रत्यय आदि अनेक प्रकार के हैं—

(१) विकरण—भू आदि धातुओं से होनेवाले शप् (अ), श्यन् (य), उ, ना, अय आदि। पठ्-पठति, युध् > युध्यते, कृ > करोति, ज्ञा > जानाति, चुर > चोरयति। (२) कर्मवाच्य और भाववाच्य बोधक य—गम् > गम्यते, कृ > क्रियते। (३) प्रेरणार्थक णिच् (अय)—पठ् > पाठयति, कारयति। (४) इच्छार्थक सन् (स)—कृ > चिकीर्षति, युयुत्सते, पिपठिषति। रुधादिगण में श्नम् (न) धातु के बीच में जुड़ता है। रुध् > रुन्ध् (रोकना), छिद् > छिन्द्, छिनत्ति (काटता है), भुज् > भुङ्क्ते (खाता है)। संस्कृत में मध्ययोग के उदाहरण बहुत अधिक हैं।

हिन्दी में लिखना > लिखवाना, करना > करवाना, उठना > उठवाना, गिरना > गिरवाना आदि प्रेरणार्थक शब्द मध्ययोग के ही उदाहरण हैं।

(ग) प्रत्यय या अन्तसर्ग (Suffix)—शब्दों या धातुओं के अन्त में जुड़ने वाले प्रत्यय। संस्कृत में तिङ्, सुप् आदि। जैसे—देव > देवः, देवौ, देवाः, देवम् आदि। पठ् > पठति, पठतु, अपठत्, पठिष्यति आदि। कृत्, तद्धित, स्त्रीप्रत्यय आदि भी प्रत्यय या अन्तसर्ग हैं। कृ > कर्तव्य, भूत > भौतिक, ब्राह्मण > ब्राह्मणी।

अंग्रेजी में बहुवचनसूचक—S, भूतकाल-सूचक-ed, निरन्तरता द्योतक-ing अन्तसर्ग ही हैं। Boy > Boys, Walk > Wallked, Go > Going.

हिन्दी में कारक चिह्न ने, को, से, पर आदि तथा कालबोधक चिह्न ता, गा, आ आदि अन्तसर्ग के उदाहरण हैं। राम > राम को, राम ने। पढ़ > पढ़ता है, पढ़ेगा, पढ़ा आदि।

(६) आन्तरिक परिवर्तन (Internal change)—शब्दों और धातुओं में उनके अन्दर कुर परिवर्तन कर देने से अर्थ में अन्तर हो जाता है। यह तीन प्रकार का है—(क) स्वर-परिवर्तन, (ख) व्यंजन-परिवर्तन, (ग) स्वर-व्यंजन-परिवर्तन।

(क) स्वर-परिवर्तन—गुण > गौण, देव > दैव, पुत्र-पौत्र, वसुदेव > वासुदेव, दशरथ > दाशरथि आदि। स्वर-परिवर्तन से पुत्र आदि अर्थ होते हैं। हिन्दी में स्वर-परिवर्तन से भूतकाल, प्रेरणा आदि अर्थ होते हैं—उठ > उठा, हँस > हँसा, पढ़ > पढ़ा, पढ़ना > पढ़ाना, करना > कराना, हँसना > हँसाना आदि।

अंग्रेजी में—Sing (गाना) > Sang, Sund; Run (दौड़ना) > Ran, Come > Came. Mouse > Mice, Tooth > Teeth, Foot > Feet, Man > Men बहुवचन बनते हैं।

जर्मन में—Geb (गेब-देना) से Er gibt (एर गिब्ट-वह देता है), Wir geben (विर गेबेन-हम देते हैं), Wir gaben (विर गाबेन-हमने दिया)। e को i और a आदेश।

अरबी आदि में अन्तर्वर्ती स्वर-परिवर्तन से अर्थभेद हो जाता है, जैसे—क् त् ब् (लिखना) से किताब, कातिब (लिखने वाला), कुतुब (पुस्तकें)। स् ल् म् (मानना) > सलाम, सलीम, सालिम। क् त् ल् (मारना) से कातिल (मारने वाला), किताल (युद्ध), कतील (जो मारा गया)।

(ख) व्यंजन-परिवर्तन—व्यंजन-परिवर्तन से अर्थ में भेद हो जाता है। भुज् > भोज्य (भक्ष्य)-भोग्य (उपभोग योग्य)। अंग्रेजी में Advice (संज्ञा, परामर्श), Advise (एड्वाइज़, परामर्श देना, क्रिया)। Send (भेजना)-Sent (भेजा)।

(ग) स्वर-व्यंजन-परिवर्तन—स्वर और व्यंजन दोनों बदलने से अर्थभेद। जैसे—संस्कृत में यज् > लुङ् परस्मैपद अयाक्षीत्, आत्मनेपद—अयष्ट (यज्ञ किया), भज् (सेवा करना)—लुङ् प० अभाक्षीत्, आ० अभक्त (सेवा की), पच् (पकाना)—लुङ् अपाक्षीत्-अपक्त (पकाया)।

(७) आदेश (Suppletion, Replacement)—मूल शब्द के बदले दूसरे शब्द का प्रयोग। आदेश का अर्थ है—परिवर्तन। पूर्ण परिवर्तन को आदेश कहते हैं, जैसे— दृश् > पश्य, पश्यति (देखता है)। अस् > भू, बभूव (हुआ)। ब्रू > वच्, उवाच (बोला), अवोचत् (बोला)। ब्रू > आह्, आह (कहता है)। सद् > सीद्-सीदति (बैठता है) आदि।

भाषा-विज्ञान के अनुसार दृश् को पश्य्, अस् को भू और ब्रू को वच् आदि आदेश संभव नहीं हैं। थोड़ा ध्वनि-परिवर्तन संभव है, पर पूरी धातु बदल जाना और उसका काया-कल्प होना संभव नहीं है। इसलिए भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह मानना उचित प्रतीत होता है कि दृश्-पश्य्, अस्-भू, ब्रू-वच् आदि ये दोनों प्रकार की धातुएँ पहले प्रचलित थीं। परकाल में लट् आदि में पश्य शेष रही, अन्यत्र दृश्। इसी प्रकार अस् के लिट् आदि के रूप लुप्त हो गये और उनके स्थान पर भू के ही रूप रह गये। इसी प्रकार ब्रू, वच्, आह् तीन धातुएँ थीं। प्रत्येक के कुछ ही रूप शेष रहे, अन्य लुप्त हो गए।

हिन्दी में जा > गया। ये भी दो धातुएँ हैं। या (जाना) से 'जा' है। गम् से गतः

(गया) बना। इसी प्रकार अंग्रेजी में भी Go > went (गया)। Went में Wen+t (वेन् धातु से भूतकालिक t) लगा, यह भाषाशास्त्री मानते हैं। इसी प्रकार Be (होना) से Is, are, am, was, were आदि रूप आदेश के हैं। ये भी प्राचीन रूपों के अवशेष हैं।

(८) न्यूनत्व या ध्वनिवियोजन (Subtraction)—इसको Minus-feature (ऋण-अभिलक्षण) भी कहते हैं। इसमें कुछ ध्वनियों को घटा या निकाल दिया जाता है। इसमें लोप-कार्य होता है। जैसे—गम्+त > गत (गया), कुरु+मः=कुर्मः (करते हैं), दा+सन्=दिदासति के स्थान पर दित्सति (देना चाहता है), लभ्+सन् > लिलप्सते के स्थान पर लिप्सते (पाना चाहता है)। मुच्+स > मुमुक्षते का मोक्षते (छूटना चाहता है)। इनमें स्वर, व्यंजन या स्वर-व्यंजन-समूह का लोप हुआ है।

फ्रेंच भाषा में इसके उदाहरण बहुत मिलते हैं। फ्रेंच में अन्तिम व्यंजन का लोप होता है। पुंलिंग में शब्द मूलरूप में रहता है, अतः अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है। स्त्रीलिंग में e लग जाने से व्यंजन शेष रह जाता है। पुंलिंग में शब्द ध्वनिन्यूनता-युक्त होता है।

पुंलिंग	**उच्चारण**	**स्त्रीलिंग**	**उच्चारण**	**अर्थ**
Gentil	जाँति	Gentille	जाँतिय	सज्जन
Petit	पति	Petite	पतित	छोटा, नाटा
Bon	बों	Bonne	बोन	अच्छा
Long	लों	Longe	लोंग	लम्बा

(९) स्वराघात (Accent) **और लय** (Modulation)—स्वराघात, लय और तान भी सम्बन्धतत्त्व का काम देते हैं। इनसे अर्थ-भेद हो जाता है। इसके लिए संस्कृत का 'इन्द्रशत्रुः' शब्द प्रसिद्ध है—अन्तिम ध्वनि 'त्रु' पर उदात्त होने पर अर्थ होगा—इन्द्र का शत्रु (वृत्र), आदि वर्ण 'इ' पर उदात्त होगा तो अर्थ होगा—इन्द्र है शत्रु (नाशक) जिसका, वह। 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व'—वृत्र की विजय के लिए प्रार्थना की, पर तत्पुरुष स्वर के स्थान पर बहुव्रीहि-स्वर पढ़ देने से इन्द्र ही वृत्र का नाशक हो गया।

संस्कृत में तद्धित प्रत्यय आदि लगने पर स्वर में अन्तर हो जाता है। पु'त्र > पुत्र'वन्त्, पु'रुष > पुरुष' ता, ऋ'षि > आर्षेय', अ'तिथि > आतिथ्य'।

हिन्दी में—उ'ठा (उठा)-उठा' (उठाओ)। भोजपुरी में—जाबऽ? (तुम जाओगे?)-जाऽब (मैं जाऊँगा)। इसी प्रकार ले बऽ?-लेऽब, दे बऽ?—दे ऽब।

अंग्रेजी में बलाघात भेदक होता है। एक ही शब्द संज्ञा और क्रिया दोनों होता है। संज्ञा में प्रथम स्वर पर बलाघात होगा और क्रिया में अन्तिम स्वर पर। जैसे—Im'port (संज्ञा), Import' (क्रिया), Trans'fer (सं०)—Transfer' (क्रि०), Con'tact (सं०)—Contact' (क्रि०), Pro'ject (सं०)—Project' (क्रि०)। ग्रीक में भी समस्त पदों में स्वरभेद से अर्थभेद हो जाता है—पत्रोक्स्तो'नोस (तो उदात्त, जो अपने पिता को मारता है), पत्रो'क्स्तोनोस (जो उदात्त, अपने पिता द्वारा मारा गया)। इस प्रकार स्वराघात और लय सम्बन्धतत्त्व का काम करते हैं।

६.५. अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का संयोग

अर्थतत्त्व (Semanteme) और सम्बन्धतत्त्व (Morpheme) का संयोग सभी भाषाओं में एक प्रकार का नहीं है। उपर्युक्त उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए इनके तीन प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं—

(क) पूर्ण संयोग—कुछ भाषाओं में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व इस प्रकार मिल जाते हैं कि दोनों को पृथक् दिखाना संभव नहीं है। वे 'नीरक्षीर-न्याय' के अनुसार दूध-पानी की तरह मिल जाते हैं। जैसे—

संस्कृत—भूत > भौतिक, आत्मन् > आत्मिक, नदी > नद्यः।

अंग्रेजी—Run > Ran, Bring > Brought, Get > Got आदि।

अरबी—क् त् ब् > किताब, कातिब, मकतब, कुतुब, किताबत।

भारोपीय और सेमिटिक (Semitic, सामी) परिवार की भाषाओं में पूर्ण संयोग का बाहुल्य है।

(ख) अपूर्ण संयोग—कुछ भाषाओं में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व इस प्रकार मिले रहते हैं कि वे एक होने पर भी अलग-अलग देखे जा सकते हैं। इसे 'तिल-तण्डुलन्याय' कहना चाहिए। जैसे—तिलों में चावल अलग दिखाई देते हैं, उसी तरह अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व पृथक् दिखाई देते हैं, जैसे—

संस्कृत—देव+त्व > देवत्व, मानवता---मानव+ता, सिंहवत्---सिंह+वत्, धन-वान्---धन+वान्, आयुष्मान्---आयुष्+मान्।

हिन्दी—उसको---उस+को, कृति---कृ+ति, भूत---भू+त, जीवन---जीव्+अन, मैंने---मैं+ने, गाड़ीवान---गाड़ी+वान।

अंग्रेजी—Boys---Boy+s, Walked---Walk+ed, Manly---Man+ly, Playing---Play+ing, Childish---Child+ish.

तेलुगू—गुर्रम् (पेड़) > गुर्रम् + उ (पेड़ का), गुर्रम् + उनु (पेड़ को), गुर्रम् + उनकु (पेड़ के लिए)।

तुर्की—एव् (घर) > एव् + इ (घर को)। एव् + लेर् + इ (घरों को), एव् + इन (घर का), एव लेरिन (घरों का)। लेर् = बहुवचन।

(ग) दोनों स्वतन्त्र—कुछ भाषाओं में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व की स्वतन्त्र स्थिति रहती है। इनको पृथक् किया जा सकता है। जैसे—

(१) चीनी भाषा में दो प्रकार के शब्द होते हैं—पूर्णशब्द, रिक्तशब्द। अर्थतत्त्व को पूर्णशब्द कहते हैं, सम्बन्धतत्त्व को रिक्तशब्द। रिक्तशब्दों पर कभी उदात्त स्वर (Accent) नहीं होता है। सम्बन्धतत्त्व के रूप में 'ति' का अर्थ है—का, मेन—बहुवचन चिह्न, लि---भूतकाल का चिह्न।

पूर्णशब्द हैं—वो (Wo)-मैं, नी (Ni)-तू, था (T'a)-वह। फु (Fu)-पिता, मु (Mu)-माता, फु-चिन (पिता) और मु-चिन (माता)। 'चिन' का स्वतंत्र अर्थ 'सम्बन्धी' है, फु-चिन (पितृ-सम्बन्धी, पिता)।

पूर्ण शब्द	रिक्त शब्द	शब्द	अर्थ
वो (Wo, मैं)	ति (ti, का)	वोति	मेरा
फुचिन (पिता)	—	वोति फुचिन	मेरे पिता
लाइ (Lai, आना)	ला (la, भूतकाल)	लाइला	आया

इस प्रकार वो-मेन-ति मु-चिन (हमारी माँ), नी-मेन-ति फू-चिन (तुम्हारे पिता)।

(२) कुछ भाषाओं में अर्थतत्त्व एक स्थान पर इकट्ठे कर दिए जाते हैं और सम्बन्धतत्त्व दूसरी जगह। अमेरिका की चिनूक भाषा में सम्बन्धतत्त्व पहले रख दिया जाता है और अर्थतत्त्व बाद में, जैसे—'उस आदमी ने औरत को चाकू से मार दिया' इस वाक्य को लिखा जाएगा—

वह (मनुष्य)- वह (स्त्री)-यह-से।
मारना-आदमी, औरत-चाकू।

सम्बन्धतत्त्व की अधिकता

कुछ भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व प्रत्येक शब्द के साथ लगता है। इसलिए सम्बन्धतत्त्वों की अधिकता हो जाती है, जैसे—सूबी भाषा में 'ब' बहुवचन सूचक है।

लड़कियाँ चलती हैं—ब-कजन ब एंदा।

'मु'—एकवचन का चिह्न है।

सुन्दर व्यक्ति—मु-न्तु मु-लोतु।

संस्कृत में विशेष्य के अनुसार सभी विशेषणों में लिंग, वचन, विभक्ति लगते हैं—त्रीणि सुन्दराणि पुस्तकानि, त्रयः वीराः योधाः, तिस्रः कोमलाङ्ग्यः युवतयः। इस प्रकार प्रत्येक शब्द से सम्बन्धतत्त्व लगते हैं।

६.६. संस्कृत में सम्बन्धतत्त्व

सम्बन्धतत्त्व के जो ९ प्रकार बताए गये हैं, वे सभी संस्कृत में मिलते हैं।

१. **शून्य तत्त्व**—जैसे—बालिका, वारि, मधु, वाक् पयः आदि।

२. **स्वतन्त्र शब्द**—इति, च, वा, कृते, अर्थम् आदि।

३. **पदक्रम**—पतिगृह-गृहपति, राजगृह-गृहराज।

४. **द्विरुक्ति**—दृश् > ददर्श, युध् > युयुत्सुः, चुर्-अचूचुरत्।

५. **आगम**—इसके तीनों भेद पूर्वसर्ग, मध्यसर्ग, अन्तसर्ग मिलते हैं।
जैसे—विजय, युध्-युध्यते, देव-दैव।

६. **आन्तरिक परिवर्तन**—इसके भी तीनों भेद मिलते हैं।
जैसे—गुण-गौण, भोज्य-भोग्य, भज्-अभाक्षीत्, अभक्त।

७. **आदेश**—जैसे—दृश् > पश्य, अस् > भू।

८. **ध्वनि वियोजन**—दा + सन् > दिदासति के स्थान पर दित्सति।

९. **स्वराघात**—इन्द्रशत्रुः।

६.७. हिन्दी में सम्बन्धतत्त्व

सम्बन्धतत्त्व के अधिकांश प्रकार हिन्दी में भी मिलते हैं।

१. **शून्य तत्त्व**—कर, जा, खा। उठ, बैठ आदि।

२. **स्वतन्त्र शब्द**—कारक चिह्न ने, को, से आदि।

३. **पदक्रम**—राम आया-आयाराम, राम गया-गयाराम (दलबदलू)।

४. **द्विरुक्ति**—थपथपाना, खटखटाना, बड़बड़ाना।

५. **आगम**—इसके तीनों भेद मिलते हैं, जैसे—संविधान, परछाईं, विक्रय > विक्री, गिरना > गिरवाना, पढ़ना > पढ़वाना, उठना > उठवाना, उस > उसको, तू > तूने, मैं > मैंने।

६. **आन्तरिक परिवर्तन**—उठ > उठा, करना > कराना, लिखना > लिखाना।

७. **आदेश**—जा > गया।

८. **स्वराघात**—काकु, व्यंग्य आदि में स्वराघात के कारण अर्थ-परिवर्तन। उठा-उठा'। जला-जला'।

६.८. पद-विभाग (Parts of Speech)

यास्क ने निरुक्त में पद को चार भागों में विभक्त किया है।[1] इसको आधुनिक ढंग से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

१. नाम—संज्ञा शब्द (राम, रमा, बालक आदि)

२. आख्यात—क्रिया शब्द (जाना, खाना आदि)

३. उपसर्ग—सम्बद्ध अव्यय (प्र, उप, सम् आदि)

४. निपात—अव्यय शब्द (च, वा, इव, हि आदि)

यास्क ने पद के चार विभागों के उल्लेख में नाम और आख्यात (नामाख्याते) को एक साथ लिखा है और उपसर्ग तथा निपात को (उपसर्ग-निपाताश्च) अलग दिया है। इससे स्पष्ट है कि पद-विभागों में नाम और आख्यात ही मुख्य हैं, अतः इसे एक समस्त पद में दिया गया है। उपसर्ग और निपात को कम महत्त्वपूर्ण समझकर इसे पृथक् दिया है। सामान्यतया पद के ये ४ भाग प्रतिशाख्य आदि ग्रन्थों में भी स्वीकार किए गए हैं। पाणिनि ने सुप्तिङन्त पदम् (अष्टा० १-४-१४) में पद को केवल दो भागों में विभक्त किया है। सुबन्त (नाम), तिङन्त (आख्यात)। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में[2] विशेष रूप से उल्लेख किया है, कि प्राचीन दो आचार्य वार्ताक्ष और औदुम्बरायण पद के दो ही विभाग मानते थे। यदि वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो नाम और आख्यात यही दो तत्त्व मुख्य हैं। उपसर्ग स्वतन्त्र रूप से अर्थ के वाचक नहीं हैं, अपितु निर्बद्ध (बद्ध) होकर ही अर्थ के

---

१. चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। भावप्रधानम् आख्यातम्। सत्त्वप्रधानानि नामानि। (निरुक्त अ० १-१)

२. चतुष्ट्वं नास्तीति, वार्ताक्षौदुम्बरायणौ। (वाक्य० २-३४७)

द्योतक होते हैं।[1] अतः वैयाकरणों ने उपसर्ग को वाचक न मानकर केवल द्योतक (प्रकाशक) माना है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है, अतः इसे अव्यय कहते हैं। उपसर्ग और निपात में अन्तर यह है कि निपात का प्रयोग स्वतन्त्र भी हो सकता है। पाणिनि ने उपसर्ग और निपात को भी सुबन्त में लिया है। अतः इनके बाद की कारक-विभक्तियों का लोप दिखाया है।[2]

भर्तृहरि ने प्राचीन मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि आचार्यों ने पद के दो, चार और पाँच भेद माने हैं।[3] उन्होंने पाँचवाँ भेद कर्मप्रवचनीय भी दिया है। वस्तुतः कर्मप्रवचनीय वे शब्द हैं जो पहले क्रिया के बोधक थे (कर्म-क्रिया, प्रवचनीय कहने वाले अर्थात् जो क्रिया-बोधक थे)[4], किन्तु प्रयोग से घिसने के कारण केवल उपसर्ग आदि के रूप में शेष रह गए।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से पाणिनि का पद-विभाजन सर्वश्रेष्ठ है। संज्ञा और क्रिया, ये दो ही मुख्य हैं। व्यावहारिक सुविधा के लिए ही नाम से उपसर्ग और निपात को पृथक् किया गया है।

हिन्दी में पद-विभाग अंग्रेजी व्याकरण के आधार पर किया गया है। कामता प्रसाद गुरु ने हिन्दी के ८ पद-विभाग किए हैं—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण, सम्बन्ध-सूचक, समुच्चय-बोधक, विस्मयादिबोधक। अंग्रेजी का पद-विभाग वस्तुतः लैटिन से लिया गया है। यह विभाजन अंग्रेजी के लिए भी संगत नहीं माना जाता है। परम्परा के आधार पर, अनावश्यक एवं अनुपयुक्त होने पर भी, यह ८ प्रकार का पद-विभाग हिन्दी में माना जाता है। वस्तुतः इन आठ विभागों को ३ विभागों में समाहित किया जा सकता है।

१. नाम—संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण। ये संज्ञा के ही विभिन्न रूप हैं। नाम में इनका अन्तर्भाव होता है। पाणिनि ने इनको सुबन्त में रखा है।

२. आख्यात या तिङन्त—क्रिया-शब्द।

३. अव्यय—इसमें क्रिया-विशेषण (जब, तब, कहाँ, जैसा आदि), सम्बन्ध-सूचक (को, ने, से आदि), समुच्चय-बोधक (और, अथवा, किन्तु आदि), विस्मयादि-बोधक (ओह, आह, छिः आदि), ये चारों भेद समाहित होते हैं। इस प्रकार आठ भेदों को तीन भेदों में लिया जा सकता है।

६.९. व्याकरणिक कोटियाँ (Grammatical Categories)

भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का आश्रय लिया जाता है। भाषा में वाक्य ही

---

१. न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति। (निरुक्त १-३)

२. अव्ययादाप्सुपः (अष्टा० २-४-८२)

३. द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृति-प्रत्ययादिवत्॥ (वाक्य० ३-१)

४. 'कर्म क्रियां प्रोक्तवन्तः' इति कर्मप्रवचनीयाः। (सि० कौ० तत्त्वबोधिनी)

वह लघुतम इकाई है, जो भावों को व्यक्त करने में समर्थ होता है। प्रत्येक वाक्य में पद-विभाग की कोटियाँ सम्मिलित रहती हैं। इनके परस्पर सम्बन्ध को बताने के लिए सम्बन्ध-तत्त्वों की आवश्यकता पड़ती है। सम्बन्ध-तत्त्व जिन भावों की अभिव्यक्ति करते हैं, वे हैं—लिंग, वचन, पुरुष, काल, वृत्ति (मूड, Mood), कारक आदि। लिंग, वचन आदि को व्याकरणिक कोटियाँ कहते हैं। इनका कार्य है—भाषा में अभिव्यंजना-सम्बन्धी सूक्ष्मता और निश्चयात्मकता लाना। इनके लिए ही सम्बन्ध-तत्त्वों का प्रयोग किया जाता है।

व्याकरणिक कोटियों के विषय में तीन बातें उल्लेखनीय हैं—

१. प्रत्येक भाषा में शब्द-निर्माण और रचना-पद्धति में भेद होता है। संस्कृत, चीनी, अरबी तथा अंग्रेजी की रचना-पद्धति भिन्न हैं।

२. प्रत्येक भाषा की व्याकरणिक कोटियाँ काल-सापेक्ष हैं। कालक्रमानुसार इन कोटियों में परिवर्तन होता रहता है, जैसे—संस्कृत के तीन लिंग और तीन वचन के स्थान पर प्राकृत और अपभ्रंश में दो लिंग, दो वचन शेष रहे।

३. प्रत्येक भाषा के गठन के आधार पर व्याकरणिक कोटियों का निर्माण और वर्गीकरण होता है। इसके आधार पर ही भाषा का विवेचन और विश्लेषण होता है तथा नये शब्दों के निर्माण में इनसे सहायता मिलती है।

(१) लिंग (Gender)

लिंग का अर्थ है—चिह्न, जिससे किसी वस्तु को पहचाना जा सके। लिंग दो प्रकार के हैं—१. प्राकृतिक या जन्म-सिद्ध, २. व्याकरणिक। प्राकृतिक लिंग में पुरुष और स्त्री का कुछ अवयव-संस्थानों के द्वारा निर्णय किया जाता है। स्तन, केश आदि के द्वारा स्त्री। रोम, मूँछ आदि के द्वारा पुरुष। इन दोनों के अभाव में नपुंसक।[1] व्याकरणिक लिंग प्राकृतिक लिंग का अनुसरण अनिवार्य रूप से नहीं करते हैं। प्रत्येक भाषा में इसके अपवाद मिलते हैं। सामान्यतया तीन लिंग संस्कृत, जर्मन आदि भाषाओं में प्रचलित हैं। इनके लिए अलग चिह्न भी निर्दिष्ट हैं। इनके नाम हैं—पुंलिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसक लिंग। कोई भी भाषाशास्त्री आज तक इस कार्य में सफल नहीं हो सकता है कि वह शब्दों के लिंग-निर्णय का कोई उचित आधार बता सके।

यदि संस्कृत भाषा का उदाहरण लें तो इसमें पत्नी के लिए तीनों लिंगों के शब्द हैं। जैसे, दार (पत्नी) पुंलिंग बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है, दाराः, दारान् (पत्नी)। स्त्री, नारी, पत्नी, भार्या आदि स्त्रीलिंग में आते हैं। कलत्रम् (पत्नी) नपुंसक लिंग है। इस प्रकार पत्नी के लिए तीनों लिंग में शब्द मिलते हैं। प्राकृतिक दृष्टि से केवल स्त्रीलिंग होना चाहिए था। इसी प्रकार निर्जीव जल के लिए आपः (जल, स्त्रीलिंग, बहु०), जलम्,

---

१. स्तनकेशवती स्त्री स्यात्, लोमशः पुरुषः स्मृतः।
उभयोरन्तरं यच्च, तदभावे नपुंसकम्॥
(वाक्यपदीय, लिंगसमुद्देश १ की व्याख्या में उद्धृत)

नपुंसक लिंग। एक ही अर्थ में ग्रन्थः पुं०, पुस्तकम् नपुं०। इसी प्रकार का अन्तर अन्य भाषाओं में भी पाया जाता है। जैसे—जर्मन में पत्नी (wife)-वाचक शब्द वाइब (weib) नपुंसक लिंग है—Das weib (डास वाइब)। इसी प्रकार जर्मन में सूर्य स्त्रीलिंग है—Die sonne (डी ज़ोने, सूर्य) और चन्द्रमा पुंलिंग है—Der mond (डेर मोन्ट, चन्द्रमा)। इसके विपरीत फ्रेन्च में सूर्य पुंलिंग है—Le soleil (ल सोलेय्, सूर्य) और चन्द्रमा स्त्रीलिंग (La lune, ला ल्यून, चन्द्रमा)।

रूसी भाषा में सूर्य-वाचक 'सोन्त्से' नपुंसक लिंग है और चन्द्रमा-वाचक 'लूना' पुंलिंग है। संस्कृत में सूर्य-वाचक 'मित्रः' शब्द पुंलिंग है, परन्तु वही 'मित्रम्' मित्र अर्थ में नपुंसक लिंग है। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि लिंग के विषय में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता है। संस्कृत में तट शब्द तीनों लिंगों में आता है—तटः, तटी, तटम्। कुटी (कुटिया) शब्द स्त्रीलिंग है, किन्तु कुटीरः (कुटी) पुंलिंग है। हिम (बर्फ) नपुंसक लिंग है, किन्तु ग्लेशियर या हिम-समूह का वाचक 'हिमानी' शब्द स्त्रीलिंग है। इसी प्रकार जंगल-वाचक 'अरण्यम्' शब्द नपुंसक लिंग है, किन्तु महावन-वाचक 'अरण्यानी' (बड़ा जंगल) शब्द स्त्रीलिंग है। मनुष्य के लिए अयं जनः, इयं व्यक्तिः, पुंलिंग और स्त्रीलिंग दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। इसी प्रकार एक ही वस्तु के लिए इदं वस्तु, अयम् अर्थः, ये दोनों नपुंसक लिंग और पुंलिंग प्रयोग मिलते हैं। पाणिनि ने इस विषय में लोक-व्यवहार को ही प्रामाणिक माना है।[1] पतंजलि और भर्तृहरि ने लिंग का आधार विवक्षा (वक्ता के कहने की इच्छा) को माना है।[2]

प्रत्येक भाषा में लिंग का आधार प्राकृतिक लिंग ही नहीं है। अमेरिका और अफ्रीका की कुछ भाषाओं में भी चेतन और अचेतन के आधार पर लिंग-विभाजन होता है। अलगोन्किन् और स्लावी भाषा में चेतन और अचेतन के आधार पर ही लिंग हैं। पूर्वी अफ्रीका के मसई लोगों की भाषा में लम्बी और सबल वस्तुओं के लिए अलग लिंग (पुंलिंग) है और छोटी या निर्बल के लिए अलग लिंग (स्त्रीलिंग)।

भाषा में लिंग के आधार पर ही व्याकरणिक अन्विति होती है। पुंलिंग के लिए पुंलिंग शब्द, स्त्रीलिंग के लिए स्त्रीलिंग शब्द। जैसे—शोभनः बालकः, शोभना बालिका, शोभनं पुष्पम्। हिन्दी में—बालक पढ़ता है, बालिका पढ़ती है।

लिंग का भाव दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है—**१. प्रत्यय लगाकर**—संस्कृत में आ या ई लगाकर पुंलिंग से स्त्रीलिंग। बालकः-बालिका, सुन्दरः-सुन्दरी, गौरः-गौरी

---

१. तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्। (अष्टा० १-२-५३)

२. स्थितेषु त्रिषु लिङ्गेषु विवक्षा-नियमाश्रयः।
कस्यचिच्छब्द-संस्कारे व्यापारः क्वचिदिष्यते॥

(वाक्यपदीय कांड ३, लिंगसमुद्देश, श्लोक १९)

उपात्त-शब्दशक्तिनियमाद् हि नियतलिङ्गोपायैरर्थस्याभिधानम्,
प्रयुक्तानां चेदमन्वाख्यानमिति व्यवस्था सिद्धा॥

(वाक्य० हेलाराज, पूर्वोक्त श्लोक की व्याख्या में)

(गोरी), प्रेयस्-प्रेयसी (प्रिया)। हिन्दी में—आ, ई, इन, इया, आनी, नी आदि लगाकर। जैसे—बालिका, नारी, धोबिन, कुतिया, नौकरानी, हथिनी, शेरनी आदि। अंग्रेजी में स् या एस् (ss, ess) लगाकर स्त्रीलिंग बनाते हैं। प्रिंस-प्रिंसेस् (Prince-Princess, राजकुमारी), गॉड-गॉडेस् (God-Goddess, देवी), लायन-लायनेस् (Lion-शेर, Lioness-शेरनी)। **२. स्वतन्त्र शब्द लगाकर**—पुंलिंग के लिए 'ही' (He), स्त्रीलिंग के लिए 'शी' (She)। He-goat (ही गोट, बकरा), She-goat (शी गोट, बकरी)। इसी प्रकार मैन (Man), वूमन (Woman), मेड (Maid) आदि शब्द अंग्रेजी में लगते हैं। जैसे—Washer-man (वाशर मैन, धोबी), Washer-woman (वाशर वूमन, धोबिन), Maid servant (मेड सर्वेन्ट, नौकरानी)।

संस्कृत में लिंग का प्रभाव संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम और क्रिया पर भी पड़ता है। जैसे—तानि सर्वाणि सुन्दराणि पुस्तकानि पठितव्यानि सन्ति (वे सब सुन्दर पुस्तकें पढ़ने योग्य हैं)। हिन्दी में क्रिया पर लिंग का प्रभाव पड़ता है। जैसे—लड़के जाते हैं, लड़कियाँ जाती हैं। हिन्दी में विशेषण और सर्वनाम पर लिंग-भेद का प्रभाव नहीं होता है।

(२) वचन (Number)

संस्कृत में तीन वचन होते हैं—एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। वैदिक और लौकिक संस्कृत में द्विवचन का प्रयोग है। प्राचीन फारसी और अवेस्ता में इसका अत्यधिक व्यवहार होता था। प्राचीन स्लावी में यह अभी तक प्रयोग में आता है। केल्टी भाषा में केवल आयरी के प्राचीन रूपों में द्विवचन मिलता है। लिथुआनी आदि भाषाओं में भी द्विवचन मिलता है। इस द्विवचन का धीरे-धीरे लोप हो गया है। पाली, प्राकृत आदि में द्विवचन नहीं है। ग्रीक आदि में भी द्विवचन का लोप हो गया है। लैटिन में द्विवचन प्रारम्भ से ही नहीं था। हिन्दी में द्विवचन नहीं है। सम्भवतः हाथ, आँख, नाक, कान, पैर आदि के जोड़े को देखकर द्विवचन की कल्पना हुई थी। परन्तु बाद में इसके कम प्रयोग को देखकर, इसे व्याकरण से हटाया गया। इसके लिए दो शब्द का प्रयोग होने लगा। दो आँख, दो कान आदि। संस्कृत में इसके लिए युग, युगल, द्वय, द्वयी आदि शब्द प्रयोग में आने लगे। जैसे—करयुगम्, करयुगलम्, करद्वयम्, करद्वयी (दो हाथ), आदि।

संख्या का महत्त्व बताते हुए भर्तृहरि ने वस्तुओं के भेद और अभेद का कारण संख्या को बताया है, और 'एक' संख्या को ही 'दो' आदि का कारण माना है।[1] संस्कृत में विशेषण आदि में भी वचन का प्रभाव रहता है। द्वे शोभने बालिके, त्रीणि पठनीयानि पुस्तकानि, तिस्रः बालिकाः, चत्वारि फलानि। संस्कृत में द्विवचन और बहुवचन बनाने के लिए शब्द-रूपों में औ, जस् (अः) आदि लगते हैं। क्रिया-रूपों में तः, अन्ति आदि। हिन्दी में बहुवचन बनाने के लिए शब्द-रूपों में एँ ओं आदि लगते हैं। जैसे—बालिकाएँ,

---

१. (क) भेदाभेदविभागो हि लोके संख्यानिबन्धनः। (वाक्य० कांड ३, संख्या० १)

(ख) द्वित्वादियोनिरेकत्वं भेदास्तत्पूर्वका यतः।
विना तेन न संख्यानामन्यासामस्ति संभवः॥ (वाक्य० कांड ३, संख्या० १५)

पुस्तकों आदि। अंग्रेजी में s, es लगते हैं।

बहुत्व अर्थ को दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है—१. व्यक्ति या वस्तु के अनुसार, २. समूह के अनुसार। व्यक्तिगत बहुत्व में बहुवचन होता है। समूहगत बहुत्व में एकवचन का भी व्यवहार होता है। जैसे—दो के लिए-जोड़ा (२), दर्जन (Dozen, १२), ग्रोस (Gross, १२ दर्जन या १४४) आदि। संस्कृत में व्यक्तिसमूह में जाति की एकता मानकर एकवचन का भी प्रयोग होता है।[1] जैसे—सज्जनः नमस्यः (सज्जनों को नमस्कार करे)। हिन्दी में—कुत्ता स्वामिभक्त पशु है। यहाँ कुत्तों के अर्थ में कुत्ता का प्रयोग है। जाति-शब्द समस्त जाति का बोधक हो जाता है। संस्कृत में २० से आगे की गिनतियाँ एकवचन में ही प्रयुक्त होती हैं (विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः)। विंशतिः बालकाः, शतं जनाः, सहस्रं योधाः। संस्कृत में एक से चार तक संख्यावाचक शब्दों के रूप विशेष्य के तुल्य चलते हैं परन्तु पंचन् (पाँच) से आगे एक ही रूप रहता है। क्रिया में भाव-वाच्य में केवल एकवचन ही होता है। बालकेन सुप्यते (बालक सोता है), बालकेन पठितव्यम् (बालक को पढ़ना चाहिए)।

संस्कृत में कुछ शब्दों का प्रयोग केवल द्विवचन में ही होता है। जैसे—दम्पती (पति-पत्नी), पितरौ (माता-पिता), अश्विनौ (२ अश्विनी-कुमार)। इसी प्रकार संस्कृत में कुछ शब्द सदा बहुवचन में ही आते हैं। जैसे—दाराः (पत्नी), लाजाः (खील), असवः, प्राणाः (प्राण), आपः (जल), वर्षाः (वर्षा), सुमनसः (फूल)। संस्कृत में—आदरार्थे बहुवचनम्—आदर अर्थ प्रकट करने में एकवचन के स्थान पर बहुवचन होता है। गुरवः पूज्याः, गुरु पूज्य है।

(३) पुरुष (Person)

भाषा में पुरुष की कल्पना का आधार है—१. वक्ता, २. श्रोता, ३. इनसे भिन्न व्यक्ति या वस्तु। १. वक्ता—उत्तम पुरुष, २. श्रोता—मध्यम पुरुष, ३. अन्य व्यक्ति या वस्तु—प्रथम या अन्य पुरुष। संस्कृत और अंग्रेजी में क्रिया के रूप चलाने में मौलिक अन्तर है। संस्कृत में क्रम है—प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष एवं उत्तम पुरुष—वह, तू, मैं। अंग्रेजी में इसके विपरीत क्रम है—उत्तम पुरुष (First Person), मध्यम पुरुष (Second Person), अन्य पुरुष (Third Person)। यह क्रम-भेद दोनों भाषाओं का मनोवैज्ञानिक अन्तर बताता है। संस्कृत के क्रम में अन्य पुरुष (वह) ब्रह्म, ईश्वर आदि का बोधक है, अतः ब्रह्म को क्रिया में प्रधानता दी गई है। अतः उसके पश्चात् श्रोता को द्वितीय स्थान पर रखा गया है। वक्ता या मैं को अन्तिम स्थान दिया गया है। इसके विपरीत अंग्रेजी में 'मैं' और 'हम' को सर्वप्रथम रखा गया है। 'वह' को अन्त में।

पुरुष के आधार पर क्रिया के रूपों में परिवर्तन होता है। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में पुरुष के आधार पर क्रिया-रूपों में अन्तर होता है। जैसे—पठ् से सः पठति,

---

१. जात्याख्यायामेकस्मिन्० (अष्टा० १-२-५८)

त्वं पठसि, अहं पठामि। अंग्रेजी में अधिकांश रूपों में मूल रूप से काम चल जाता है। I go, we go, they go। केवल एकवचन में s या es लगाया जाता है। जैसे—He walks, He goes. कभी-कभी सहायक क्रिया is, am, was, were रखकर काम चलाया जाता है। अधिकांशतः अन्य पुरुष एकवचन में अन्तर होता है। अरबी और फारसी आदि में इसी प्रकार पुरुष-भेद में अन्तर किया जाता है। चीनी आदि भाषाओं में यह अन्तर नहीं है। पुरुष का एकवचन (मैं, तू, वह) अन्यव्यावर्तक होता है और बहुवचन (हम, तुम, वे) अन्य-संग्राहक। जैसे—'मैं'—मैं के अतिरिक्त कोई नहीं। 'हम'—मैं तथा अन्य व्यक्ति भी। इस प्रकार द्विवचन और बहुवचन अन्य-संग्राहक हैं।

(४) कारक (Case)

पतंजलि ने (महाभाष्य १-४-२३) 'कारक' की व्याख्या की है कि—कारक अन्वर्थ (सार्थक) शब्द है। कारक का अर्थ है—'करोति इति कारकम्'। जो क्रिया का निष्पादक होता है, उसे कारक कहते हैं। कैयट और भर्तृहरि का कथन है कि क्रिया साध्य है और कारक साधन है। इस प्रकार क्रिया को सिद्ध करने वाले को 'कारक' कहते हैं।[1] संस्कृत व्याकरण के अनुसार सात कारक माने गए हैं। कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण और सम्बोधन। सम्बन्ध या षष्ठी को कारक नहीं माना जाता है, क्योंकि क्रिया की सिद्धि में उसका साक्षात् योग नहीं होता है। जैसे—राज्ञः पुरुषः आगच्छति (राजा का पुरुष आता है), इसमें राजा का सम्बन्ध पुरुष से है, न कि क्रिया से। गंगा का जल मधुर है, में गंगा का सम्बन्ध जल से है, क्रिया से नहीं। सम्बोधन को भी प्रथमा एकवचन का सम्बोधन का रूप माना जाता है। उसकी भी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इस प्रकार ६ कारक ही होते हैं। कुछ प्राचीन आचार्यों ने सम्प्रदान और अपादान को भी क्रिया से साक्षात् सम्बद्ध न मानकर कारकों की संख्या केवल चार मानी है। अतएव कारकत्व की पहचान 'कृ' धातु केवल चार कारकों में है—कर्त्ता, कर्म, करण, अधिकरण।

कारकों की संख्या विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न है। अंग्रेजी में दो कारक हैं। लैटिन और जर्मन में पाँच। प्राचीन स्लाविक में छः, संस्कृत, ग्रीक और लिथुआनी में सात, हिन्दी में आठ और जार्जी भाषा में २३ कारक हैं।

(५) क्रिया (Verb)

विभिन्न आधारों को लेकर क्रिया के अनेक भेद किए गए हैं। जैसे—कर्म का होना या न होना; क्रिया के फल का भोक्ता कौन है; क्रिया की पूर्णता-अपूर्णता; क्रिया की निरंतरता या उसका अभाव आदि। भारोपीय परिवार की भाषाओं में ये भेद मिलते हैं—

---

१. गुणभावेन साकांक्षं तत्र नाम प्रवर्तते।
साध्यत्वेन निमित्तानि क्रियापदमपेक्षते॥ (वाक्यपदीय २-४६)
नाम कारकपदं क्रियायां गुणभूतं सत् पदान्तरमाकांक्षति। (हेलाराज)

(क) सकर्मक-अकर्मक—जिस क्रिया में कर्म होता है, उसे सकर्मक कहते हैं। जिसमें कर्म नहीं होता, उसे अकर्मक कहते हैं। कर्म का भाव (होना) और अभाव ही इनके भेद का आधार है। वान्द्रियैज़ (Vendryes) का यह कथन उपयुक्त है कि—'सकर्मक और अकर्मक क्रियाओं का भेद सम्भवतः निम्नलिखित ढंग से अधिक स्पष्टतया समझ में आ सकता है। क्योंकि सकर्मक का अर्थ ही यह है कि उसमें कर्म होना चाहिए, अतः उन सभी क्रियाओं को सकर्मक कहना चाहिए, जिनके कार्य के उद्देश्य की सूचना वाक्य में रहे, और इसके विरुद्ध अकर्मक उनको कहना चाहिए जिनका प्रयोग बिना कर्म की अभिव्यक्ति के हो।[1] भारोपीय परिवार की विभिन्न भाषाओं में सकर्मक और अकर्मक के भेद का आधार सुनिश्चित नहीं है। लैटिन में वह क्रिया सकर्मक है, जिसमें कर्म के साथ कर्म कारक का प्रयोग हो। फ्रांसीसी में उस क्रिया को सकर्मक कहते हैं, जिसके तुरन्त पश्चात् कर्म आवे। विभिन्न भाषाओं में एक ही भाव को किसी भाषा में सकर्मक तो किसी में अकर्मक क्रियाओं द्वारा व्यक्त किया जाता है। संस्कृत में भी कुछ धातुएँ सकर्मक होते हुए भी, कर्म का प्रयोग न होने के कारण, अकर्मक मानी जाती हैं।[2] जैसे—नदी वहति (नदी बहती है), मेघः वर्षति (बादल बरसता है), हितात् न शृणोति (हितकारी की बात नहीं सुनता है)। सामान्यतया वह्, वृष् और श्रु धातुएँ सकर्मक हैं।

(ख) आत्मनेपद-परस्मैपद—संस्कृत में कर्मफल के भोक्ता के आधार पर दो पद माने जाते हैं—(१) **आत्मनेपद**—'आत्मने' का अर्थ है—अपने लिए, अतः आत्मनेपद का अर्थ होता है कि जिस क्रिया का फल कर्ता को स्वयं मिलता है। जैसे—भोजनं कुरुते (भोजन करता है), कर्त्ता को भोजन क्रिया का फल मिलता है। (२) **परस्मैपद**—यदि फल का भोक्ता कोई दूसरा व्यक्ति हो तो परस्मैपद होता है। जैसे—पुत्राय मोदकम् आनयति (पुत्र के लिए लड्डू लाता है), शिष्याय फलं ददाति, फल का भोक्ता दूसरा है, अतः परस्मैपद हुआ। जिन धातुओं से दोनों पद होते हैं, उन्हें उभयपदी कहते हैं। संस्कृत के परकालीन साहित्य में दोनों पदों का यह भेद लुप्त हो गया और दोनों पद समान रूप से प्रयुक्त होने लगे। जैसे—

सः कार्यं करोति कुरुते वा (वह काम करता है)।

(ग) वाच्य (Voice)—भारोपीय भाषाओं में तीन वाच्य मिलते हैं—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य। क्रिया में कर्त्ता की प्रधानता होने पर कर्तृवाच्य, कर्म की प्रधानता होने पर कर्मवाच्य और केवल भाव या क्रिया (व्यापार) की प्रधानता होने पर भाववाच्य। जैसे—

कर्तृवाच्य—रामः गृहं गच्छति (राम घर जाता है)

कर्मवाच्य—रामेण गृहं गम्यते (राम के द्वारा घर जाया जाता है)

---

१. वांद्रियैज़—भाषा, हिन्दी अनुवाद-डॉ० ज० कि० बलवीर, पृष्ठ १३०।

२. धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया॥ (सि० कौ० सूत्र २७०१ पर)

भाववाच्य—रामेण सुप्यते (राम के द्वारा सोया जाता है)

सकर्मक क्रिया के दो वाच्य होते हैं—कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य। अकर्मक क्रिया का कर्मवाच्य नहीं होता है, केवल कर्तृवाच्य और भाववाच्य होते हैं। जैसे—सः स्वपिति (वह सोता है), तेन सुप्यते (उसके द्वारा सोया जाता है)। भाववाच्य में संस्कृत में क्रिया में केवल प्रथम पुरुष एकवचन का प्रयोग होता है और शब्द में नपुंसक लिंग एकवचन। जैसे—तेन पठ्यते, तेन पठितव्यम्। संस्कृत में कार्य की सरलता के आधार पर कर्म को कर्ता मानकर कर्म-कर्तृवाच्य नाम दिया गया है। इसमें क्रिया कर्मवाच्य के तुल्य रहती है और कर्ता कर्तृवाच्य के तुल्य प्रथमा में। जैसे—पच्यते ओदनः (भात पकता है), भिद्यते काष्ठम् (लकड़ी फटती है)।

भारोपीय परिवार की अधिकांश भाषाओं में कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य की क्रिया की भावना प्रयत्नमात्र है। कर्मवाच्य से प्रायः ऐसी क्रिया का बोध होता है जो समाप्त हो गई हो। अतएव फ्रांसीसी में ऐत्र (Etre, होना) धातु की सहायता के बिना कई क्रियाएँ भूतकाल के अर्थ का बोध नहीं करा सकती हैं। यही बात लैटिन में भी थी। लैटिन में कर्मवाच्य का एक अन्य प्रयोग भी था, जिसको अवैयक्तिक वाच्य या भाववाच्य कहा जाता है।

(६) काल, वृत्ति (Tense, Mood)

काल के सामान्यतया तीन भेद किए जाते हैं—१. वर्तमान, २. भूत, ३. भविष्यत्। इसका आधार है—कार्य की निष्पत्ति के होने का समय। यदि घटना अबकी है तो वर्तमान काल, पहले की है तो भूतकाल, आगे होने वाली हो तो भविष्यत् काल। इन कालों की क्रिया की पूर्णता अपूर्णता आदि, प्रकार या वृत्ति (मूड, Mood) के आधार पर अनेक भेद उपभेद हो गए हैं। प्रत्येक भाषा में काल की धारणा भिन्न-भिन्न है। काल के लिए टेन्स (Tense) शब्द का प्रयोग होता है और प्रकार या वृत्ति के लिए मूड (Mood) शब्द। संस्कृत में दोनों के लिए 'लकार' शब्द का प्रयोग होता है। संस्कृत में १० लकार हैं। इनको काल और वृत्ति के विभाजन के अनुसार इस प्रकार कहा जाएगा। **(१) वर्तमान**—लट्। **(२) भूतकाल**—तीन प्रकार का है—(क) सामान्यभूत—लुङ्, (ख) अनद्यतन (आज का न हो) भूत—लङ्, (ग) परोक्ष-भूत—लिट्। **(३) भविष्यत्**—तीन प्रकार का है—(क) सामान्य भविष्यत्—लृट्, (ख) अनद्यतन भविष्यत्—लुट्, (ग) हेतुहेतुमद् भविष्यत्—लृङ्। इसके अतिरिक्त ३ वृत्तियाँ हैं—(१) आज्ञा अर्थ—लोट्, (२) चाहिए अर्थ—विधिलिङ्, (३) आशीर्वाद अर्थ—आशीर्लिङ्। वेद में लोट् लकार का प्रयोग आता है। यह अभिलाषा सम्भावना, विधि (आज्ञा) या प्रार्थना अर्थ में होता है। हिन्दी में तीन काल हैं—वर्तमान, भूत, भविष्य। १. निश्चयार्थ, २. आज्ञार्थ और ३. सम्भावनार्थ, इन तीन मुख्य अर्थों को लेकर तथा व्यापार की सामान्यतया पूर्णता एवं अपूर्णता के आधार पर हिन्दी में कालों की संख्या १६ है। इसका विवरण निम्न प्रकार से है—

भूत	वर्तमान	भविष्य
१. भूत सामान्य निश्चयार्थ	१. वर्तमान सम्भावनार्थ	१. भविष्य निश्चयार्थ
२. भूत सामान्य सम्भावनार्थ	२. वर्तमान आज्ञार्थ	२. भविष्य आज्ञार्थ
३. भूत अपूर्ण निश्चयार्थ	३. वर्तमान अपूर्ण निश्चयार्थ	३. भविष्य अपूर्ण निश्चयार्थ
४. भूत अपूर्ण सम्भावनार्थ	४. वर्तमान अपूर्ण सम्भावनार्थ	४. —
५. भूत पूर्ण निश्चयार्थ	५. वर्तमान पूर्ण निश्चयार्थ	५. भविष्य पूर्ण निश्चयार्थ
६. भूत पूर्ण संभावनार्थ	६. वर्तमान पूर्ण संभावनार्थ	६. —

इस प्रकार हिन्दी में भूत के ६ भेद, वर्तमान के ६ भेद तथा भविष्य के ४ भेद हैं।

संस्कृत में पूर्वोक्त लकारों के अतिरिक्त क्रिया के अनेक स्वतन्त्र रूप होते थे। जैसे—

१. प्रेरणार्थक—(अय)—कृ > कारयति (वह करवाता है)

२. इच्छार्थक—(सन्)—कृ > चिकीर्षति (वह करना चाहता है)

३. भृशार्थक—(य)—कृ > चेक्रीयते (वह बार-बार करता है)

इनके अतिरिक्त नामधातु भी होते हैं। ये शब्दों से क्रिया-शब्द बनते हैं। जैसे—पुत्र > पुत्रीयति (वह पुत्र चाहता है), कृष्ण > कृष्णायते (कृष्ण की तरह आचरण करता है), कुमारी > कुमारायते (कुमारी की तरह आचरण करता है)।

हिन्दी में केवल प्रेरणार्थक रूप मिलते हैं। प्रेरणार्थक रूप आ या वा लगाकर बनते हैं। जैसे—जलना > जलाना, जलवाना, करना > कराना, करवाना।

भारोपीय क्रियाओं का वर्गीकरण तुलनात्मक व्याकरण के आधार पर इस प्रकार किया गया है—सातत्यद्योतक (ड्यूरेटिव), प्रगतिद्योतक (मूमेण्टरी), पूर्णार्थक (पर्फेक्टिव), अपूर्णार्थक (इम्पर्फेक्टिव), उपक्रामक (इन्कोहेटिव), पुनरर्थक (इटरेटिव), समाप्ति-द्योतक (टर्मिनेटिव) आदि। काल-विभाजन की दृष्टि से फ्रेंच भाषा सर्वाधिक पूर्ण है। इसमें काल के सूक्ष्म भेदों के लिए विविध लकार हैं। इसमें भूत में भी भविष्य और भविष्य में भी भूत की अभिव्यक्ति हो सकती है।

६.१०. रूप-परिवर्तन की दिशाएँ

रूप-परिवर्तन सामान्यतया दो दिशाओं में होता है—

(१) सरलीकरण-हेतु समरूपता।

(२) सन्देह-निवारणार्थ नए रूपों की उत्पत्ति।

१. **सरलीकरण-हेतु समरूपता**—विभिन्न भाषाओं के प्राचीन और नवीन व्याकरणों को देखने से ज्ञात होता है कि विश्व की प्राय: सभी भाषाओं के प्राचीन व्याकरणों में शब्दरूपों और धातुरूपों की संख्या बहुत अधिक थी। अपवाद-नियमों की संख्या भी बहुत थी। वचन, कारक और लकारों या वृत्तियों (Moods) की संख्या अधिक थी। बाद में सरलीकरण के हेतु अपवादों की संख्या कम या सर्वथा समाप्त कर दी गई। इससे जन-साधारण अपवादों के उलझन में न फँसकर सामान्य नियमानुसार प्रयोग

करने लगा। जैसे—वैदिक संस्कृत में—शब्दरूपों में प्र० बहु० में देवा:, देवास: और तृतीया बहु० में देवै:, देवेभि: आदि दो-दो रूप प्रचलित थे। संस्कृत व्याकरण में केवल प्र० बहु०-देवा: और तृ० बहु० देवै: रूप रह गए। इसी प्रकार इकारान्त उकारान्त आदि शब्दों के रूपों में बहुत वैकल्पिक रूप थे। इनको हटाकर संस्कृत में एक-एक रूप रह गए। प्राकृत में आने पर शब्द-रूपों और धातु-रूपों की संख्या बहुत कम रह गई। प्राकृत में द्विवचन का सर्वथा अभाव हो गया। चतुर्थी का अभाव हो गया। प्रथमा और द्वितीया बहुवचन के रूप प्राय: एक हो गए। धातुरूपों में लङ्, लुङ् और लिट् लकारों का अभाव हो गया। आत्मनेपदी रूपों का भी प्राय: अभाव हो गया। अधिकांश शब्दरूप अकारान्त राम आदि के तुल्य चलने लगे। हलन्त शब्दों के अन्तिम अक्षरों का या तो लोप हो गया या उनको अकारान्त बनाकर राम के तुल्य रूप चले। जैसे—धनवत् का धनवन्त, श्रीमत् का श्रीमन्त बनाकर राम के तुल्य रूप चले। क्रिया-रूपों में दस गणों के स्थान पर केवल दो गण शेष रहे। भ्वादिगण और चुरादिगण शेष रहे। दोनों गणों के रूप समान ही चलते हैं। हिन्दी में आते-आते कारक-चिह्न सुप् के स्थान पर स्वतन्त्र कारक-चिह्न लगने लगे। इससे शब्दरूप चलाने का झंझट समाप्त हो गया। इसी प्रकार धातु-रूपों के लिए तिङ् के स्थान पर परसर्ग ता, था, आदि काल-चिह्न प्रयुक्त होने लगे। इससे धातु रूप चलाने की आवश्यकता समाप्त हो गई। अंग्रेजी में Go-Went, जैसे अपवादों को कम करके भूतकाल का चिह्न—ed सामान्य रूप से प्रयुक्त होने लगा।

अंग्रेजी में बली (strong) क्रियाओं के रूपों के स्थान पर निर्बल (weak) क्रियाओं के रूप, समीकरण हेतु, स्थान लेते जा रहे हैं।

इसी प्रकार संस्कृत के तीन लिंगों के स्थान पर पाली, प्राकृत आदि में दो लिंग—पुंलिंग, स्त्रीलिंग; तीनों वचनों के स्थान पर दो वचन—एक०, बहुवचन, दस गणों के स्थान पर दो गण, धातु-रूपों में तीन पदों के स्थान पर केवल परस्मैपद आदि सरलीकरण के साधनों से अनेक प्राचीन रूपों का लोप हो गया।

२. संदेह-निवारणार्थ नए रूपों की उत्पत्ति—सरलीकरण के द्वारा अनेक रूपों के स्थान पर समानरूप हो जाने के कारण संदेह और भ्रम उत्पन्न होने लगे। इनके निवारणार्थ नए प्रयत्न किए गए। कारकों में भेद के लिए परसर्ग प्रयोग में आए। जैसे—को, ने, से, का, पर आदि। इस प्रकार नए कारक-चिह्नों की उत्पत्ति हुई। क्रियारूपों में कालभेद के लिए ता, था, गा आदि पर-सर्ग लगे। संस्कृत में तिङन्त क्रिया-रूप तीनों लिंगों के लिए एक थे, जैसे—बालक: पठति, बालिका पठति, बाल: पतति, कुमारी पतति, पत्रं पतति, परन्तु हिन्दी में लिंगभेद से भेद होता है। पुंलिंग में—राम जाता है, जाएगा, गया आदि, स्त्रीलिंग में—सुशीला जाती है, जाएगी, गई आदि।

प्रान्तीय भेद के कारण कुछ नए प्रयोग विभिन्न उपभाषाओं में मिलते हैं, जैसे—भोजपुरी में वर्तते (है) से बाटे। खाना खात बाटे (खाना खा रहा है)। कुछ और रूप घिस कर—'तू का करत बाड़' के स्थान पर 'तू का करताड़' (करत + बाड़ = करताड़) (तू क्या कर रहा है?) जैसे प्रयोग भी बोलचाल की भाषा में प्रचलित हैं।

६.११. रूप-परिवर्तन के कारण

संक्षेप में रूप-परिवर्तन के निम्नलिखित कारण हैं—

१. सरलीकरण—जिस प्रकार सरलता के लिए ध्वनियों में एकरूपता लाई जाती है और ध्वनि-परिवर्तन होता है, उसी प्रकार रूपों में भी सरलता के लिए परिवर्तन होने हैं। जैसे—उपर्युक्त प्रकरण में दिए गए उदाहरणों में द्विवचन का लोप, चतुर्थी आदि कारकों का अभाव, लुङ् आदि लकारों का अभाव। वैदिक संस्कृत में तुम् (को, के लिए) के अर्थ में से, असे, अध्यै, ऐ, इष्ये, अम्, तो:, तवे, तवै आदि १८ प्रत्यय हैं, किन्तु संस्कृत में केवल तुमुन् (तुम्) प्रत्यय ही रह गया है। जैसे—कृ > कर्तुम् (करने को)। वैदिक व्याकरण में लेट् लकार था, जो संस्कृत में सर्वथा लुप्त हो गया। इसी प्रकार हिन्दी में संस्कृत के सुप् और तिङ् प्रत्ययों का लोप हो गया और परसर्गों से उसका काम लिया जाने लगा। इसके मूल में सरलीकरण की प्रवृत्ति है।

२. नवीनता की अभिरुचि—जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नवीनता की अभिरुचि दिखाई पड़ती है। भाषा में भी इसका प्रभाव स्पष्टरूप से दिखाई पड़ता है। नवीनता के लिए कुछ नये शब्दों की सृष्टि की जाती है या अप्रचलित शब्दों का नये अर्थ में प्रयोग देखा जाता है। संस्कृत में प्रिय और प्रियतम तथा प्रिया-प्रियतमा प्रचलित हैं। हिन्दी में प्रेयसी का प्रयोग प्रियतमा के अर्थ में नवीनता का द्योतक है। बंगला में मार्ग के अर्थ में सरणि या सरणी का प्रयोग बहुत प्रचलित है। नवीनता के लिए उच्चै:श्रवा: के अनुकरण पर देवश्रवा:, सत्यश्रवा:, विश्वश्रवा: आदि नाम मिलते हैं। इसी प्रकार मृदुता के लिए म्रार्दव, पटुता के लिए पाटव, सुन्दरता के लिए सौन्दर्य आदि शब्द प्रयोग में आने लगे हैं। भाषा में यह नवीनता कभी-कभी क्लिष्टता और अरुचि का कारण हो जाती है।

३. सादृश्य—विश्व की सभी भाषाओं में रूप-परिवर्तन में सादृश्य (Analogy) का बहुत बड़ा हाथ रहा है। इस सादृश्य का कारण सरलता और समीकरण की प्रवृत्ति रही है। करिन् + आ = करिणा, दण्डिन् + आ = दण्डिना में 'ना' लगना व्याकरण की दृष्टि से पूर्णतया शुद्ध है। इसके अनुकरण पर हरि + आ = हरिणा, कवि + आ = कविना, वारि + आ = वारिणा, भानु + आ = भानुना आदि रूप बने हैं। ये व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध होते, परन्तु सादृश्य के आधार 'आ' के स्थान पर 'ना' का प्रयोग होने लगा। इसी प्रकार द्वादश द्वा + दश = के अनुकरण पर एक + दश = एकादश हो गया। इसमें आ जाने का कोई कारण नहीं है। त्रीणि से तीन, तीनों शब्द बनेंगे, परन्तु द्वौ से 'दो' बन सकता है, 'दोनों' नहीं। यह 'दोनों' शब्द तीनों के सादृश्य पर बना है।

४. अज्ञता—अज्ञान के कारण भी रूप-सम्बन्धी अनेक परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। जैसे—उपर्युक्त के स्थान पर 'उपरोक्त', तदनन्तर या तत्पश्चात् के स्थान पर 'उपरान्त', श्रीयुत के स्थान पर श्रीयुत्, विद्वत्ता के स्थान पर विद्वानता और महत्ता के स्थान पर महानता। ये प्रयोग अज्ञता-सूचक हैं, परन्तु चल पड़े हैं। मरना > मरा, भरना > भरा के तुल्य करना > करा शुद्ध प्रयोग था, पर लेना > लिया, देना > दिया के सादृश्य पर करना का 'किया' प्रयोग चल पड़ा। अशुद्ध होने पर भी चल पड़ा है। इसी प्रकार अभि + ज्ञ में

अ को निषेधार्थक समझकर कुछ लोग 'भिज्ञ' प्रयोग करते हैं। शुद्ध 'स्रष्टा' के स्थान पर 'सृष्टा', शुद्ध 'अनुगृहीत' के स्थान पर अनुग्रह के सादृश्य पर 'अनुग्रहीत' अशुद्ध प्रयोग अज्ञता के कारण हैं।

५. बल (Stress, Emphasis)—किसी शब्द पर बल देने के लिए भी भाषा में रूप-परिवर्तन किया जाता है। 'श्रेष्ठ' शब्द 'तम' अर्थ वाला (Superlative) है, परन्तु श्रेष्ठ से लोग सन्तुष्ट न रहकर बल देने के लिए 'सर्वश्रेष्ठ' और 'श्रेष्ठतम' का भी प्रयोग करते हैं। यह 'डबल सुपरलेटिव' हो गया, जो कि निषिद्ध है। इसी प्रकार स्वादु से स्वादिष्ट (स्वादुतम, अत्यधिक स्वाद वाला) शब्द बना है, परन्तु 'अत्यन्त स्वादिष्ट' शब्द बल देने के लिए प्रयुक्त होने लगा।

बल देने के लिए कुछ अशुद्ध प्रयोग भी चल पड़ते हैं। जैसे—अनेक (एक से अधिक) शब्द बहुवचन का बोधक है। इसका भी 'अनेकों' बहुवचनान्त प्रयोग (अनेकों विद्वानों ने, आदि) चल पड़ा है। भोजपुरी में 'फजूल' (व्यर्थ) के अर्थ में अशुद्ध शब्द 'बेफजूल' बेकार अर्थ में चलता है। यद्यपि बे (नहीं) + फजूल (व्यर्थ) का अर्थ होगा—सार्थक या जो व्यर्थ नहीं है।

६.१२. रूपिम–विज्ञान या रूपग्राम–विज्ञान (Morphemics)

जिस प्रकार स्वन (Sound) के आधार पर स्वनिम-विज्ञान नाम पड़ा है, उसी प्रकार रूप या पद (morph, मार्फ) के आधार पर रूपिम-विज्ञान (मार्फीमिक्स) नाम पड़ा है। इसको रूपग्राम-विज्ञान, मार्षिमी, पदिम-विज्ञान आदि नाम भी दिए गए हैं।

पाश्चात्त्य भाषाशास्त्रियों को यह विज्ञान भारतीय भाषाशास्त्रियों, मुख्यतः पाणिनि, की देन है। पाश्चात्त्य भाषाशास्त्री इस ऋण को स्वीकार करते हैं। प्रो० आर० एच० रोबिन्स (R.H. Robins) ने लिखा है कि भाषाशास्त्र में रूपिम (morpheme, मार्फीम) के अध्ययन का महत्त्व भारतीय वैयाकरणों की देन है।[1]

पाणिनि ने जिस प्रकार संस्कृत भाषा के पद-विज्ञान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन अष्टाध्यायी में उपस्थित किया है, वह विश्व के भाषाशास्त्रियों के लिए आदर्श है। ऐसा सर्वांगीण अध्ययन आजतक किसी भाषा का प्रस्तुत नहीं किया गया है।

रूपिम-विज्ञान (रूपग्राम-विज्ञान) का आधार रूप या पद है। इसमें प्रत्येक भाषा में प्रयुक्त पदों (रूपों) के सार्थक अवयवों का विभाजन करके रूपिम (मार्फीम) और

---

1. Recognition of the status of the morphemes in linguistic analysis was one of the achievements of the ancient Indian linguists, of whom Panini is the most famous, and this is one of the debts Western linguistic scholarship owes to Indian work, which became known in Europe during the course of the nineteenth century.

—R.H. Robins : *General Linguistics*, p. 202.

संरूप (Allomorph, एलोमार्फ) का निर्धारण किया जाता है। इसका आधार अर्थ और वितरण होता है। यह रूपिम (मार्फीम) सामान्यतया चार रूपों में प्राप्त होता है—(१) रूपिम (Free morpheme), (२) बद्ध रूपिम (Bound morpheme), (३) संयुक्त रूपिम (Complex morpheme), (४) मिश्रित या समस्त रूपिम (Compound morpheme)। एक ही रूपिम के समानार्थक विभिन्न रूपों को संरूप (Allomorph) कहते हैं। संरूपों में जो अधिक प्रचलित या प्रयुक्त होता है, उसे रूपिम (morpheme) माना जाता है, शेष को संरूप। संयुक्त और समस्त रूपिमों में पद-संघटना में कुछ ध्वन्यात्मक परिवर्तन भी होते हैं, उनका अध्ययन संधि या रूपस्वनिम विज्ञान (morphophonemics, मार्फोफोनीमिक्स) के अन्तर्गत किया जाता है। इस प्रकार रूपिम-विज्ञान के विषय हैं—

१. रूपिम या रूपग्राम (Morpheme)
२. संरूप (Allomorph)
३. संधि और रूपस्वनिमविज्ञान (Morphophonemics)

रूपिम (रूपग्राम, Morpheme)

रूपिम का लक्षण—भाषा या वाक्य की सार्थक लघुतम इकाई को रूपिम (रूपग्राम) कहते हैं।[1] रूपिम और स्वनिम में मुख्य अन्तर यह है कि—स्वनिम का सार्थक होना अनिवार्य नहीं है, रूपिम का सार्थक होना अनिवार्य है। 'राम' में र् आ म् अ = ४ स्वनिम हैं, ये चारों निरर्थक हैं। परन्तु 'राम'—रूपिम एक सार्थक इकाई है। यह एक रूपिम है, क्योंकि एक सार्थक शब्द है।

रूप या पद का विवेचन पहले किया जा चुका है। उसमें शब्द या धातु + प्रत्यय = रूप का उल्लेख हुआ है। प्रत्येक पद या रूप को दो दृष्टियों से देखा जाता है—(१) रचना, (२) अर्थ।

(१) अङ्ग-रूपिम—रचना की दृष्टि से रूप को बाँटने पर दो तत्त्व मिलते हैं—धातु या प्रातिपदिक + प्रत्यय। धातु और प्रातिपदिक को Root, Stem, Base कहते हैं। संस्कृत में इसे 'अंग' (आधार, मूलतत्त्व) कहते हैं।[2] इसमें ही सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित आदि प्रत्यय जुड़ते हैं। मूल धातु या प्रातिपदिक (अंग) को Root-morpheme (धातु-रूपिम या अंग-रूपिम) कहते हैं। इनमें लगने वाले प्रत्ययों को Affix-morpheme (प्रत्यय-रूपिम) कहते हैं। इस प्रकार रचना की दृष्टि से दो प्रकार के रूपिम हैं—

---

1. (A) Any form, whether free or bound, which can not be divided into smaller meaningful parts is a morpheme.—B. Bloch & G.L. Trager : *Outlines of Linguistic Analysis*, p. 54.
(B) These minimal grammatical units are called morphemes.—R.H. Robins : *General Linguistics*, p. 202.

२. यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (अष्टा० १.३.१३)।

१. अंग-रूपिम, २. प्रत्यय-रूपिम।

१. अंग-रूपिम—इनमें से **अंग-रूपिम** मुक्त (Free) और बद्ध (Bound) दोनों प्रकार के हो सकते हैं, जैसे—हिन्दी में—राम, कृष्ण, बालक; अंग्रेजी में—Cat, Rat, Man, ये मुक्त अंग-रूपिम (Free Root-morpheme) हैं। इनका स्वतन्त्र रूप में प्रयोग हो सकता है। बद्ध अंगरूपिम (Bound Root-morpheme) में क्रिया या संज्ञापदों में धातु आदि से पूर्व आने वाले उपसर्ग या निपात हैं, जैसे—प्र + हार, आ + हार, सम् + हार, तिरस् + कार, आविस् + भाव = आविर्भाव, दुस् + कृत्य = दुष्कृत्य, अनु + भू, आदि। अंग्रेजी में—Perceive, Conceive, manly आदि। इनमें प्र, आ, सम् आदि उपसर्ग; तिरस्, आविस् आदि निपात; Per, con, ly आदि बद्ध अंगरूपिम हैं। प्र आदि का अंग के रूप में स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हो सकता है।

(२) प्रत्यय-रूपिम (Affix Morpheme)—प्रातिपदिक और धातु के अन्त में लगने वाले सुप् (सु औ जस्, : औ, अ: आदि) और तिङ् (तिप् तस् झि; ति त: अन्ति आदि) प्रत्यय-रूपिम हैं। इसी प्रत्यय कृत् (तृ, तवत्, ति, तव्य आदि) और तद्धित (अ, वत्, मत्, तर, तम, त्व, ता आदि) प्रत्यय भी प्रत्यय-रूपिम हैं। इनका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हो सकता है। ये अंग के साथ मिलकर प्रयुक्त होते हैं, जैसे—राम:, पचति, कृतम्, वासुदेव: आदि।

रचना की दृष्टि से अंग और प्रत्यय रूपिम के अतिरिक्त एक अन्य भेद मुक्त-बद्ध-रूपिम भी माना जाता है।

(१) मुक्त रूपिम (मुक्त रूपग्राम, Free Morpheme)—जो रूपिम (मार्फीम) स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त हो सकता है, उसे मुक्त रूपिम कहते हैं। जैसे—हिन्दी में—पुस्तक, गृह, बालिका, स्वावलम्बन आदि संज्ञा शब्द; पढ़, उठ, रो, हँस आदि क्रिया-शब्द; अंग्रेजी में—Boy, Cat, Play, Drive, Ride आदि, इनका स्वतन्त्र रूप में प्रयोग हो सकता है। रचना और प्रयोग की दृष्टि से ये एक अविभाज्य अंग हैं। ये सार्थक सूक्ष्मतम रूप हैं। इनमें प्रत्येक वर्ण का कोई अर्थ नहीं है।

(२) बद्ध रूपिम (बद्ध रूपग्राम, Bound Morpheme)—जो रूपिम (मार्फीम) स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त न होकर किसी अंग (धातु, प्रकृति, Stem) के साथ मिलकर ही प्रयुक्त होते हैं, इन्हें बद्ध रूपिम कहते हैं। जैसे ऊपर दिये गये उदाहरणों में धातु से पूर्व लगने वाले उपसर्ग और निपात आदि तथा अंग के बाद में लगने वाले सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित आदि प्रत्यय। शब्दों के बाद लगने वाले कारक चिह्न सुप् (: औ, अ: आदि), धातुओं के अन्त में लगने वाले तिङ् (ति, त: आदि), कृत् प्रत्यय (त, तवत्, ति, तृ आदि), तद्धित प्रत्यय (ता, तर, तम आदि), स्त्री-प्रत्यय (आ, ई आदि), ये धातु या शब्द के साथ मिलकर ही प्रयोग में आते हैं। जैसे—बालक:, पचति, कृतम्, वासुदेव:, मधुरता, रमा, सुपुत्री आदि। अंग्रेजी में Pre-fer, Re-fer, Con-fer, Man-ly, Play-s, Play-ed, Person-al आदि में जुड़ने वाले निपात (आदिसर्ग, Prefix) Pre, Re, Con-, आदि तथा अन्त में जुड़ने वाले प्रत्यय (अन्तसर्ग, Suffix) -s, -ed, -al आदि बद्ध-रूपिम हैं। इनका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हो सकता है।

(३) मुक्त-बद्ध रूपिम (मुक्त-बद्ध-रूपग्राम, Free-bound Morpheme)—इन्हें अर्धमुक्त, अर्धबद्ध, बद्धमुक्त रूपिम या मर्षिम आदि नाम भी दिये गये हैं। जो रूपिम मुक्त और बद्ध दोनों रूपों में प्राप्त होता है, उसे मुक्त-बद्ध रूपिम कहा जाता है। जैसे—गृह-स्वामी, राज-पुरुषः, घनश्यामः आदि समस्त पद। समासयुक्त पदों में दो या अधिक अवयव होते हैं। समस्त पद में वे एकपद में बद्ध हैं, इसलिए वे बद्ध रूपिम हैं। राजपुरुषः में राजन् और पुरुष का अलग प्रयोग नहीं कर सकते हैं। राजपुरुषः समस्त पद 'राजकीय कर्मचारी' अर्थ बताता है। उपर्युक्त उदाहरणों में गृह, राजन्, धन, स्वामी, पुरुष आदि का स्वतन्त्र भी प्रयोग होता है, अतः ये शब्द मुक्त रूपिम भी हैं। अतः इन्हें मुक्त-बद्ध रूपिम कहा जाता है।

(४) मिश्र रूपिम (मिश्र रूपग्राम, Complex Morpheme)—मिश्र रूपिम उसे कहते हैं, जहाँ पर मुक्त + बद्ध रूपिम मिलकर प्रयुक्त हों। संस्कृत में प्रायः सभी सुबन्त, तिङन्त, कृदन्त और तद्धित-प्रत्ययान्त पद मिश्र रूपिम होते हैं, क्योंकि इनमें अंग + प्रत्यय = पद होते हैं। बालकः (बालक + स्), पचति (पच् + अति), कृतम् (कृ + त + अम्), सुन्दरता (सुन्दर + ता) में प्रकृति और प्रत्यय मिलकर पद बने हैं। अतः मिश्र रूपिम हैं।

(५) संयुक्त रूपिम (संयुक्त रूपग्राम, Compound Morpheme)—इसको समस्त रूपिम भी कहते हैं। जहाँ पर दो या अधिक शब्द मिलकर एक समस्त (समासयुक्त) पद बन जाते हैं, वहाँ पर दो अंग-रूपिमों के मिलने से एक स्वतन्त्र शब्द बनता है, अतः वह संयुक्त रूपिम होता है। जैसे—राजन् + पुरुष = राजपुरुष (राजकीय कर्मचारी), दश + आनन = दशानन (रावण), नील + उत्पल = नीलोत्पल (नीलकमल), कृष्ण + सर्प = कृष्णसर्प (एक विशेष प्रकार का काला साँप)। इनमें एक से अधिक अंग-रूपिम हैं, अतः इन्हें संयुक्त रूपिम कहते हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी में Blackbird, Gentleman, Salesman, Playmate आदि समस्त पद हैं, अतः ये संयुक्त रूपिम हैं।

अर्थ और कार्य की दृष्टि से रूपग्रामों के दो भेद हैं—

(१) अर्थतत्त्व या अर्थदर्शी रूपिम (Stem Morpheme)—इसको अंग-रूपिम या धातु-रूपिम भी कहते हैं। संस्कृत व्याकरण के अनुसार ये अंग, प्रातिपदिक या धातु (Stem, Root) हैं। ये केवल अर्थ का बोध कराते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं करते हैं। ये मनुष्य के विचारों का साक्षात् प्रतिनिधित्व करते हैं। ये संज्ञा (मोहन, बालक, पुस्तक आदि), क्रिया (भू, गम्, पठ्, जा, हो, पढ़ आदि), विशेषण (सुन्दर, पटु, मृदु आदि), सर्वनाम (सर्व, उभ, सब, मैं, हम, तू आदि) आदि होते हैं। प्रत्येक भाषा में इनकी संख्या हजारों में है। अंग्रेजी में ये अधिकांश में मुक्त रूपिम (Free Morpheme) के रूप में प्राप्त होते हैं। जैसे—Boy, Man, Play आदि। लैटिन में अधिकांश अर्थदर्शी रूपिम बद्ध-रूपिम (Bound Morpheme) के रूप में मिलते हैं। जैसे—Vena (वेना-शिकार करना) + tor (कर्त्ता, संस्कृत तर्), Venator (वेनातोर-शिकारी)। संस्कृत और हिन्दी में दोनों प्रकार के अर्थदर्शी रूपिम मिलते हैं। मुक्त रूपिम हैं—मणि, बाल, बाला, भू,

पठ्, जा, हो आदि। बद्ध रूपिम हैं—हन् + तृ = हन्ता (मारने वाला), पठ् + अक = पाठक (पढ़ने वाला), भुज् + अन = भोजन, युज् + अ = योग, भूत + इक = भौतिक आदि। अर्थ की दृष्टि से इनका विचार अर्थ विज्ञान में किया जाएगा। अर्थतत्त्व को अर्थिम (Semanteme सीमेन्टीम या Sememe सेमीम) कहते हैं।

(२) सम्बन्धतत्त्व या सम्बन्धदर्शी रूपिम (Functional Morpheme)—ये सम्बन्धदर्शी रूपग्राम या क्रार्यात्मक रूपग्राम भी कहे जाते हैं। ये अंग (Stem) के तुल्य मुख्य रूप से अर्थ के बोधक न होकर संज्ञा, क्रिया आदि में सम्बन्धों का बोध कराते हैं। ये हैं—सुप्, तिङ् आदि प्रत्यय, पूर्वसर्ग, मध्यसर्ग और अन्तसर्ग आदि प्रत्यय। ये कारक, वचन, लिंग, काल, पुरुष, वृत्ति (Mood) आदि का बोध कराते हैं। जैसे—रामः—एकवचन, पुंलिंग, कर्ता। पठति—वर्तमानकाल, प्रथम पुरुष, एकवचन। ये व्याकरणिक कार्य करते हैं, अतः इन्हें कार्यात्मक रूपिम (Functional Morpheme) कहा जाता है। ये बद्ध-रूपिम (Bound Morpheme) हैं।

संस्कृत में इनकी संख्या लगभग १०० है (२१ सुप् + ९ तिङ् परस्मै०, ९ तिङ् आत्मने०, २२ उपसर्ग, स्त्रीप्रत्यय, पूर्वसर्ग, मध्यसर्ग, अन्तसर्ग, १० विकरण आदि)। हिन्दी में इनकी संख्या २ दर्जन के लगभग है। अंग्रेजी में इनकी संख्या १ दर्जन से कुछ कम है और लैटिन में इनकी संख्या २०० के लगभग है।

सम्बन्धतत्त्वों के लगने से अंग (Stem) में कुछ विकार भी हो जाता है। जैसे—हरि + अः = हरयः, स्त्री + अः = स्त्रियः, नारी + अः = नार्यः, बालक + ओं = बालकों, कर + आ = किया, जा + आ = गया (भूतकाल)।

सम्बन्धतत्त्व के दो भेद—सम्बन्धतत्त्व या सम्बन्धदर्शी रूपिम के २ मुख्य भेद हैं—(क) शब्दसाधक रूपिम। (ख) रूपसाधक रूपिम।

(क) शब्दसाधक रूपिम—ये रूपिम (Morpheme) अंगरूपिम (Stem-Morpheme) के साथ जुड़कर शब्द या धातु बनाते हैं। ऐसे बने शब्दों या धातुओं को धातुज, व्युत्पन्न या यौगिक शब्द (Derivative Words) कहते हैं। कृत्, तद्धित, णिच्, सन् आदि प्रत्यय इसी प्रकार के हैं। ये शब्दसाधक रूपिम हैं। इनके लगाने से शब्द प्रातिपदिक बनते हैं। इनमें प्रकृति और प्रत्यय को पृथक् किया जा सकता है। प्रत्ययों का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हो सकता है, अतः ये बद्धरूपिम (Bound Morpheme) हैं। इनसे बने शब्द मिश्र-रूपिम (Complex Morpheme) होते हैं। जैसे—कृ + अक = कारक, देव + इक = दैविक, लोक + इक = लौकिक, पठ् + णिच् = पाठय (पढ़ाना), कृ + सन् = चिकीर्ष, चिकीर्षा, चिकीर्षु (करने की इच्छा वाला) आदि।

(ख) रूपसाधक रूपिम—ये रूपिम धातु या शब्द से लगते हैं। इनके लगने से शब्दरूप और धातुरूप आदि बनते हैं। ये सदा बद्ध-रूपिम (Bound Morpheme) हैं। इनसे बने रूपों को पद (सुबन्त या तिङन्त रूप) (Inflected words) कहते हैं। ये रूपिम हैं—सुप्, तिङ्, आदि, ता, गा, आ, था,

ओं आदि। जैसे—राम + अम् = रामम्, पठ् + अति = पठति, जा > जाता है, जाएगा, गया; पुस्तक > पुस्तकों।

रूपिम (रूपग्राम, Morpheme) के दो भेद—खंडोकरण (Segmentation) के आधार पर भी रूपिम के दो भेद किए जाते हैं—(क) खंड रूपिम (खंड रूपग्राम, Segmental), (ख) अखंड रूपिम (Supra-segmental)।

(क) खंड रूपिम (Segmental Morpheme)—खंड रूपिम उसे कहते हैं, जिसमें रूपिम या रूपग्राम को तोड़कर पृथक् किया जा सके। जैसे ऊपर के उदाहरणों में सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित, स्त्रीप्रत्यय आदि।

(ख) अखंड रूपिम (Supra-segmental Morpheme)—अखंड रूपिम उसे कहते हैं, जिसे तोड़कर पृथक् न किया जा सके। जैसे—बलाघात (stress), सुर (Tone, Pitch), सुरलहरी (Intonation) आदि। स्वनिम-विज्ञान (Phonemics) में भी इनका उल्लेख किया गया है। उसी प्रकार रूपिमविज्ञान (Morphemics) में भी इन्हें स्वीकार किया जाता है।

६.१३. संरूप (Allomorph)

रूपिम या रूपग्राम के समानार्थक, किन्तु परिपूरक वितरण वाले, रूपों को संरूप कहते हैं। १. संरूप या एलोमार्फ (Allomorph) का अर्थ है—एलो-अवयव, मार्फ-रूपिम अर्थात् रूपिम के अंग या अवयव। जिस प्रकार स्वनिम के अवयव संस्वन होते हैं, उसी प्रकार रूपिम के अवयव अर्थात् उसी अर्थ को बताने वाले विभिन्न रूप संरूप कहे जाते हैं। संरूप के लिए आवश्यक नहीं है कि वह ध्वन्यात्मक दृष्टि से परस्पर समान हों, उनमें अर्थ की एकता अनिवार्य है। यहाँ यह स्मरण रखें कि पर्यायवाची शब्द या प्रत्यय संरूप के उदाहरण नहीं होंगे। जैसे, संस्कृत में लट् प्रथम पुरुष बहुवचन में अन्ति, अति लगते हैं, पठ्-पठन्ति, दा-ददति। इसमें अन्ति और अति एक ही अर्थ में आते हैं। 'अन्ति' अधिक प्रचलित है, अतः उसे रूपिम माना जाएगा और 'अति' परिपूरक वितरण में आने से संरूप कहा जाएगा। हिन्दी में संज्ञा शब्दों के बहुवचन में ओं, ओ, ए, एं आदि लगते हैं। जैसे—पुस्तक-पुस्तकों, घोड़ा-घोड़े, माता-माताएँ, जाति-जातियाँ आदि। इनमें बहुवचन में 'ओं' सबसे अधिक प्रचलित है, अतः उसे बहुवचन-सूचक रूपिम माना जाता है। अन्य बहुवचन-सूचक प्रत्यय 'ओं' के परिपूरक वितरण में आने के कारण संरूप माने जाते हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी में संज्ञा के बहुवचन में स्, ज़, इज़, इन, रिन, शून्य लगते हैं। जैसे—Book-Books, Eye-Eyes, Rose-Roses, Ox-Oxen, Child-Children, Sheep-Sheep। इनमें से स् (S) सर्वाधिक प्रचलित है, अतः उसे रूपिम माना जाता है और अन्य पाँच को उसका संरूप माना जाता है।

परिपूरक वितरण (Complementary distribution)—परिपूरक वितरण से अभिप्राय है कि जो प्रत्यय उसी अर्थ का बोध कराते हैं और जिन परिस्थितियों में एक का प्रयोग होता है, उन्हीं परिस्थितियों में दूसरे का प्रयोग नहीं हो सकता है। जैसे—

संस्कृत में प्रथमा द्विवचन में रामौ, हरी, भानू आदि रूप बनते हैं। इनमें 'औ' प्रथमा द्विवचन के रूप में अत्यन्त प्रचलित है, अतः उसको रूपिम माना जाएगा और ई, ऊ आदि को उसका संरूप कहा जाएगा। द्विवचन के अर्थ में ही युग, युगल, युग्म आदि शब्दों का प्रयोग होता है। जैसे—दो छात्रों के लिए—छात्रयुगम्, छात्रयुगलम्, छात्रयुग्मम्। इनमें प्रयुक्त युग आदि शब्दों को द्विवचन-सूचक 'औ' का संरूप नहीं कहेंगे, क्योंकि ये 'औ' के तुल्य प्रत्यय न होकर द्विवचन के सूचक शब्द हैं। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी के रूपिम और संरूप को निम्नलिखित उदाहरणों से समझा जा सकता है। रूपिम को दो तिरछी लकीरों // के बीच में भी लिखा जाता है। हिन्दी में सुविधा के लिए दो विराम रेखाओं ॥ के बीच में रूपिम लिखा जाता है और संरूप को दो कोष्ठ [ ]-चिह्नों के बीच में लिखा जाता है। जैसे—संस्कृत प्रथमा बहुवचन, हिन्दी बहु०, अंग्रेजी बहु०।

रूपिम	संरूप	परिपूरक वितरण
/आः/	[आः]	सभी अकारान्त पुंलिंग शब्दों से। रामाः, नराः, जनाः, बालकाः आदि।
	[अः, अयः]	इकारान्त शब्दों से। हरयः, कवयः।
	[अः, अवः]	उकारान्त शब्दों से। भानवः, तरवः।
	[अः, अरः]	ऋकारान्त कुछ शब्दों से। पितरः, मातरः।
	[अः, आरः]	ऋकारान्त, तृच् प्रत्ययान्त से। कर्तारः, धर्तारः।
/ओं/	[ओं]	सभी शब्दों से बहु० में। पुस्तकों, फलों, फूलों, लड़कियों, हाथियों, साधुओं।
	[ओ]	संबोधन बहु० में। छात्रो, बालको, छात्राओ, लड़कियो।
	[ए]	आकारान्त पुं० से। लड़के, घोड़े, छोटे।
	[एं]	आ, उ, ऊ, औ अन्त वाले शब्दों से। छात्राएँ, माताएँ, वस्तुएँ, बहुएँ, गौएँ।
	[आं]	इकारान्त, ईकारान्त से। जातियां, नदियां।
	[ं]	इया अन्त वाले स्त्री० से। गुड़ियां, चुहियां।
/S/	[s]	स्, श् से भिन्न अघोष व्यंजनान्त से। Books, Cats.
	[z]	ज्-भिन्न घोष व्यंजनान्त से। cows (काउज़्), dogs (डाग्ज़्)
	[iz]	स्, श्, ज् अन्त वाले शब्दों से। Horses, Prizes, Rushes (हार्सिज़्, प्राइजेज़्, रशिज़्)
	[en]	ox-oxen.
	[ren]	child-children.

रूपिम और संरूप के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है। इनके होने पर ही कोई किसी रूपिम का संरूप होगा—१. समानार्थक हों। २. एक प्रकार की रचना में प्रयोग में आएँ। ३. विरोधी न हों। ४. परिपूरक वितरण में हों अर्थात् प्रत्येक

के आने की स्थिति स्पष्ट रूप से अलग हो, विरोध न हो और एक ही स्थिति में एक से अधिक प्रयोग में न आते हों। परिपूरक वितरण ध्वन्यात्मक, रूपात्मक या दोनों परिस्थितियों (Phonological conditioning, morphological conditioning) पर निर्भर होता है।

६.१४. संहिता, सन्धि या रूपस्वनिम–विज्ञान (Morphophonemics)

रूपस्वनिम-विज्ञान या रूपध्वनिग्राम-विज्ञान रूपविज्ञान की ही एक शाखा है। इसको अंग्रेजी में मार्फोफोनीमिक्स (Morphophonemics) कहते हैं। इसका अर्थ है—मार्फो—रूपसम्बन्धी, फोनीमिक्स—ध्वनिविकार। इस प्रकार मार्फोफोनीमिक्स का अर्थ होता है—दो रूपों या दो शब्दों के मिलने से होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन। यह रूपविज्ञान का ही एक अंग है। इसके लिए पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी संस्कृत का संधि शब्द अपनाया है। दो रूपों के अन्तर्गत होने वाले सभी प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन संधि शब्द में आ जाते हैं। इस प्रकार दो शब्दों या दो रूपों के मिलने पर स्वर, व्यंजन या विसर्ग के विभिन्न रूप हो जाते हैं। संस्कृत-व्याकरण में इसको संधि-प्रकरण के अन्तर्गत लिया जाता है। मार्फोफोनीमिक्स बहुत लम्बा शब्द है, संधि छोटा पारिभाषिक शब्द है, अतः पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी संधि शब्द को अपनाया है।

मार्फोफोनीमिक्स के लिए 'संहिता' शब्द—विद्वानों ने विचार करके यह प्रस्तुत किया है कि मार्फोफोनीमिक्स का पूर्णतया पर्यायवाची शब्द संधि शब्द नहीं हो सकता है। संधि शब्द केवल दो शब्दों या पदों के मिलने पर स्वर, व्यंजन या विसर्ग सन्धि का ही अर्थ बताता है। मार्फोफोनीमिक्स शब्द दो शब्दों के मिलने पर केवल स्वर आदि की सन्धि ही नहीं, अपितु ध्वनि-सम्बन्धी सभी परिवर्तन इसके अन्तर्गत आते हैं, जो सन्धि की सीमा से बाहर माने जाते हैं। जैसे—जगत् + ईश = जगदीश, जगत् + नाथ = जगन्नाथ, निस् + चल = निश्चल आदि। ये सन्धि और मार्फोफोनीमिक्स दोनों में आ जाएँगे। परन्तु विश्व + मित्र = विश्वामित्र, बृहत् + पति = बृहस्पति आदि उदाहरण सन्धि के अन्तर्गत नहीं आते हैं। ये रूपस्वनिम-विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। संस्कृत का संहिता शब्द अधिक व्यापक है और उसके अन्तर्गत मार्फोफोनीमिक्स का पूरा अर्थ अन्तर्गत हो जाता है। अतः मेरे विचार से मार्फोफोनीमिक्स के लिए संहिता शब्द अधिक उपयुक्त है। संहिता का लक्षण है—परः सन्निकर्षः संहिता (अष्टा० १-४-१०९) अर्थात् वर्णों या पदों का निकटतम सम्पर्क तथा उससे होने वाले सभी ध्वनि-परिवर्तन आदि कार्य। अतएव यजुर्वेद आदि को संहिता कहा जाता है, क्योंकि इनमें संहितामूलक सभी संधि आदि कार्य हो चुके हैं। संहिताकार्य होने पर ही मन्त्र अपने वास्तविक रूप में प्रयुक्त होता है।

मार्फोफोनीमिक्स और सन्धि में अन्तर—मार्फोफोनीमिक्स और सन्धि में निम्नलिखित अन्तर हैं—

१. सन्धि में पद के आदि और पद के अन्त में आने वाली ध्वनियों के परिवर्तन पर विचार

होता है, परन्तु रूपस्वनिम-विज्ञान (मार्फोफोनीमिक्स) में सभी स्थानों पर होने वाले ध्वनि-परिवर्तनों का विचार किया जाता है। जैसे—जगदीश, जगन्नाथ आदि सन्धि के उदाहरण हैं। निम्नलिखित उदाहरणों में सन्धि-कार्य नहीं है, परन्तु विभिन्न अन्तर होते हैं। जैसे—

ब्राह्मण + आवली = बम्हनौली (ब्राह्मण-ग्राम)

लौह + हट्ट = लोहटिया (लोहा बाजार) (औ-ओ, ह-लोप)

चमार + अवटी = चमरौटी (चमारों की बस्ती) (आ-अ, अव को ओ)

लड़की + ओं = लड़कियों (ई-इ, य् का आगम)

बच्चा + ओं = बच्चों (आ का लोप)

महत् + आत्मा = महात्मा (त् को आ)

आ + चर्य = आश्चर्य (स् का आगम)

२. सामान्यतया संज्ञा शब्दों में ही दो ध्वनियों के योग से गुण, वृद्धि आदि में एकादेश होकर तीसरा परिवर्तित रूप मिलता है। जैसे—गण + ईश = गणेश, सूर्य + उदय = सूर्योदय आदि। परन्तु रूपस्वनिमीय परिवर्तन संज्ञा शब्द और धातु-रूप तथा परसर्ग आदि को मिला करके भी होते हैं। जैसे—हिन्दी के उच्चारण में मार + डाला = माड्डाला, भाग + जा = भाज्जा, मुझ + से = मुस्से आदि।

६.१५. संस्कृत की संधियाँ

भाषाशास्त्र की दृष्टि से संस्कृत की संधियों को निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है। इन्हें केवल अच् सन्धि, हल् सन्धि, विसर्ग सन्धि आदि अस्पष्ट नाम न देकर इनके स्वरूप-बोधक नाम देने पर निम्नलिखित भेद होंगे—

१. गुणीकरण[1]—दो विभिन्न-स्थानीय ह्रस्व या दीर्घ मूल स्वरों के संयोग से एक स्वतन्त्र स्वरध्वनि (अ, ए, ओ) उत्पन्न होती है। जैसे—अ + इ = ए, देव + इन्द्रः = देवेन्द्रः। अ + उ = ओ, सूर्य + उदयः = सूर्योदयः। अ + ऋ = अर्, राज + ऋषिः = राजर्षिः।

२. वृद्धीकरण[2]—दो विभिन्न—स्थानीय स्वरध्वनियों के संयोग से एक स्वतन्त्र स्वरध्वनि (आ, ऐ, औ) उत्पन्न होती है। इसमें पूर्वपद में अ या आ होता है और उत्तरपद में ए ऐ ओ औ। जैसे—छात्र + एकता = छात्रैकता, जल + ओघः = जलौघः। उपसर्ग + धातु का ऋ = आर्, उप + ऋच्छति = उपार्च्छति। प्र + एति = प्रैति।

३. दीर्घीकरण[3] (Lengthening)—दो समस्थानीय स्वरध्वनियों के संयोग से एक दीर्घ स्वर-ध्वनि (ई, ऊ, ॠ) उत्पन्न होती है। जैसे—गिरि + ईशः = गिरीशः, भानु + उदयः = भानूदयः।

४. व्यंजनीकरण[4]—यह दो प्रकार का है—१. पूर्ण व्यंजनीकरण, जैसे—यण्

१. आद्गुणः (अष्टा० ६-१-८७)

२. वृद्धिरेचि (अ० ६-१-८८), एत्ये० (६-१-८९), उपसर्गादृति० (६-१-९१)

३. अकः सवर्णे दीर्घः (६-१-१०१)

४. इको यणचि (६-१-७७), एचोऽयवायावः (६-१-७८), वान्तो यि० (६-१-७९)

संधि, २. अपूर्ण व्यंजनीकरण, जैसे—अयादि संधि। असमान स्वर बाद में होने पर इ, उ, ऋ को क्रमशः य्, व्, र् व्यंजन हो जाता है। जैसे—प्रति + एकः = प्रत्येकः, अनु + अयः = अन्वयः, मातृ + आ = मात्रा। संयुक्त स्वर ए, ऐ, ओ, औ के स्थान पर स्वर का आदि अंश अ या आ रह जाता है तथा शेष स्वर के अंश को य् या व् हो जाता है। अतः अय्, अव् आदि हो जाता है। ने + अनम् = नयनम्, पो + अनः = पवनः, नै + अकः = नायकः, पौ + अकः = पावकः। इसी प्रकार गो + यम् = गव्यम्।

५. स्वरीकरण[1] (Vowelization)—व्यंजन के स्थान पर स्वर हो जाना। यह भी दो प्रकार का है—१. विसर्ग या र् को उ, २. संप्रसारण कार्य, य् व् र् को क्रमशः इ, उ, ऋ। कः + अयम् = कोऽयम्, रामः + गच्छति = रामो गच्छति, विश्व + वाहः = विश्वौहः, यज् + तः = इष्टः, वच् + तिः = उक्तिः, प्रच्छ् + तम् = पृष्ठम्।

६. विसर्गीकरण[2]—स् या र् को विसर्ग (:) करना। जैसे—पुनर् > पुनः, रामस् > रामः, पयस् + सु = पयःसु।

७. अघोषीकरण[3] (De-vocalization)—घोष या नाद ध्वनि (वर्ग के ३, ४) को अघोष (१) करना। चर्त्व-संधि। तद् + परः = तत्परः। उद् + थानम् = उत्थानम्। वाग् + पतिः = वाक्पतिः।

८. घोषीकरण[4] (Vocalization)—अघोष ध्वनि (वर्ग के १, २) को घोष (३) करना। जगत् + ईशः = जगदीशः, अच् + अन्तः = अजन्तः, सुप् + अन्तः = सुबन्तः। अप् + धिः = अब्धिः।

९. अल्पप्राणीकरण[5] (De-aspiration)—महाप्राण ध्वनि (वर्ग के २, ४) को अल्पप्राण (१, ३) करना। शुध् + धिः = शुद्धिः, दुघ् + धम् = दुग्धम्।

१०. महाप्राणीकरण[6] (Aspiration)—अल्पप्राण ध्वनि (वर्ग के १, ३) को महाप्राण (२, ४) करना। दुह् + स् = धुक्, बुध् + भ्याम् = भुद्भ्याम्।

११. नासिकीकरण[7] (Nasalization)—यह दो प्रकार का है— (१) अनासिक्य ध्वनियों को नासिक्य (वर्ग का ५) बनाना, (२) म् या न् को अनुस्वार करना। तत् + मयम् = तन्मयम्। यत् + न = यत्न। वाक् + मयम् = वाङ्मयम्। किम् + करोति = किं करोति, मन् + स्यते = मंस्यते।

१२. समीकरण (Assimilation)—दो विषम व्यंजन-ध्वनियों को एक-रूप

---

१. अतो रो० (६-१-११३), हशि च (६-१-११४), इग्यणः० (१-१-४५), वाह ऊठ् (६-४-१३३), वचिस्वपि० (६-१-१५), ग्रहिज्या० (६-१-१६)
२. खरवसानयो० (८-३-१५), शर्परे० (८-३-३५)
३. खरि च (८-४-५५)
४. झलां जशोऽन्ते (८-२-३९), झलां जश् झशि (८-४-५३)
५. झलां जश् झशि (८-४-५३)
६. एकाचो बशो भष्० (८-२-३७)
७. यरोऽनुनासिके० (८-४-४५), मोऽनुस्वारः (८-३-२३), नश्चा० (८-३-२४)

बनाना या एकस्थानीय बनाना। इसके कई भेद हैं—

(क) तालव्यीकरण (श्चुत्व संधि)[1] (Palatalization)—स् > श्, हरिस् + शेते = हरिश्शेते। रामस् + च = रामश्च। द् > ज्, सद् + जनः = सज्जनः। त् > च्, सद् + चित् = सच्चित्। न् > ञ्, याच् + ना = याच्ञा।

तालव्य ध्वनि पहले या बाद में होने पर समीपस्थ स् या तवर्ग ध्वनि का तालव्य होना।

(ख) मूर्धन्यीकरण (ष्टुत्व संधि)[2] (Cerebralization)—मूर्धन्य ध्वनि (ष्, टवर्ग) पहले या बाद में होने पर समीपस्थ स् या तवर्ग को मूर्धन्य ध्वनि (ष्, टवर्ग) होना। स् > ष्, रामस् + षष्ठः = रामष्षष्ठः, दुस् + तः > दुष्टः। त् > ट, हृष् + तः = हृष्टः, पुष् + तः > पुष्टः। द् > ड्, उद् + डीनः > उड्डीनः। न् > ण्, विष् + नुः > विष्णुः, कृष् + नः > कृष्णः।

(ग) पूर्वसवर्ण[3] (**पुरोगामी समीकरण**, Progressive Assimilation)—पूर्व-ध्वनि के आधार पर परवर्ती व्यंजन का पूर्वध्वनि के तुल्य होना। स् > त्, उत् + स्थानम् > उत्थानम्, त् का लोप भी। ह् > घ्, वाग् + हरिः > वाग्घरिः। ह् > ध्, तद् + हितः > तद्धितः।

(घ) परसवर्ण[4] (**पश्चाद्गामी समीकरण**, Regressive Assimilation)—परवर्ती ध्वनि के आधार पर पूर्ववर्ती ध्वनि का पर-ध्वनि के तुल्य होना। त् या द् > ल्, तत् + लीनः > तल्लीनः, पद् + लवः > पल्लवः। न् को अनुनासिक-सहित ल् ँ ल्, विद्वान् + लिखति > विद्वांल्लिखति। अनुस्वार को ङ्, अं + कः > अङ्कः, ं > न्, शां > तः > शान्तः।

(ङ) अनूष्मीकरण[5] (De-assibilation)—समीकरण के लिए ऊष्म ध्वनि (श्, ष्, स्) को ऊष्म-रहित करना। श् > छ्, तत् + शिवः > तच्छिवः। स् को विसर्ग (:) करना भी अनूष्मीकरण है। रामस् > रामः।

(च) ऊष्मीकरण[6] (Assibilation)—ऊष्म-भिन्न ध्वनि को ऊष्म (श्, ष्, स्) बनाना। जैसे—विसर्ग (:) को स्, श् या ष्। विसर्ग को स्, रामः + त्राता > रामस्त्राता, : > श्, हरिः + शेते > हरिश्शेते। : > ष्, आविः + कृतम् > आविष्कृतम्, दुः + कृतम् > दुष्कृतम्। न् > स्, कान् + कान् > कांस्कान्।

१३. विषमीकरण[7] (Dissimilation)—समान ध्वनियों में से एक को,

---

१. स्तोः श्चुना श्चुः (अ० ८-४-४०)
२. ष्टुना ष्टुः (८-४-४१)
३. उदः स्थास्तम्भोः० (८-४-६१), झयो हो० (८-४-६२)
४. तोर्लि (८-४-६०), अनुस्वारस्य ययि० (८-४-५८), वा पदान्तस्य (८-४-५६)
५. शश्छोऽटि (८-४-६३)
६. विसर्जनीयस्य सः (८-३-३४), इदुदुपधस्य० (८-३-४१), कानाम्रेडिते (८-३-१२)।
७. झलां जश् झशि (८-४-५३), खरि च (८-४-५५)

सामान्यतया पूर्ववर्ती ध्वनि को, विषम बनाना। ध् > द्, युध् + धम् > युद्धम्, बुध् + धिः > बुद्धिः। थ् > त्, उथ् + थानम् > उत्थानम्।

१४. मूर्धन्यीकरण[1] (Cerebralization)—अमूर्धन्य ध्वनियों को मूर्धन्य (ष्, ण् आदि) बनाना। र् या ष् के बाद न् को ण् होता है। अट् (स्वर, अन्तःस्थ) आदि बीच में होने पर भी न् को ण् होता है। कीर् + नः = कीर्णः। इसी प्रकार जीर्णः, शीर्णः, पूर्णः आदि। रामेन > रामेण। स् > ष्, रामे + सु = रामेषु। इसी प्रकार हरिषु, भानुषु आदि।

१५. अनासिकीकरण[2] (De-nasalization)—नासिक्य ध्वनियों (न्, म्) को नासिक्य से भिन्न ध्वनि कर देना। न् > स्, कान् + कान् > कांस्कान्, तान् + तान् = तांस्तान्, कस्मिन् + चित् > कस्मिंश्चित्। म् > स्, पुम् + कोकिलः > पुंस्कोकिलः।

१६. पूर्वरूप[3] (Regressive Assimilation)—दो सम या विषम स्वरों के मिलने पर केवल पूर्वस्वर का शेष रहना। राम + अम् > रामम्, हरि + अम् > हरिम्। ए या ओ + अ = ए, ओ। हरे + अव > हरेऽव, विष्णो + अव = विष्णोऽव। हरे + अः = हरेः।

१७. पररूप[4] (Progressive Assimilation)—दो सम या विषम स्वरों के मिलने पर केवल परवर्ती स्वर का शेष रहना। अ + ए > ए, प्र + एजते = प्रेजते, उप + ओषति = उपोषति। शिवाय + ओम् = शिवायोम्। भव + अन्ति = भवन्ति। अत् + इ > इ, पटत् + इति = पटिति।

१८. ह्रस्वीकरण[5] (Shortening)—दो विषम ध्वनियों के मिलने पर पूर्ववर्ती स्वर को ह्रस्व करना। ई को इ, चक्री + अत्र = चक्रि अत्र। आ > अ, ब्रह्मा + ऋषिः = ब्रह्म ऋषिः। ई > इय्, सुधी + औ = सुधियौ, ऊ > उव्, कटप्रू + औ = कटप्रुवौ। इय् वाले स्थान पर ई को इ और य् का आगम तथा उव् वाले स्थान पर ऊ को उ तथा व् का आगम समझना चाहिए। जैसे—हिन्दी में लड़की > लड़कियाँ।

१९. आगम[6] (Augment, Intrusion)—दो विषम ध्वनियों के बीच में स्वर या व्यंजन का आगम होता है। ओ > अव, अव् + अ, गो + इन्द्रः = गवेन्द्रः। व्यंजन के रूप में न्, ध्, ङ्, त्, क्, ण् आदि का आगम होता है। तस्मिन् + इति = तस्मिन्निति, प्रत्यङ् + आत्मा = प्रत्यङ्ङात्मा, षट् + सन्तः = षट्त्सन्तः, सन् + शम्भुः = सञ्च्छम्भुः, प्राङ् + षष्ठः = प्राङ्क्षष्ठः, वृक्ष + छाया = वृक्षच्छाया।

---

१. रषाभ्यां नो णः० (८-४-१) अट्कुप्वाङ्० (८-४-२), इण् कोः (८-३-५७), आदेशप्रत्यययोः (८-३-५९)

२. कानाम्रेडिते (८-३-१२), नश्छव्य० (८-३-७), पुमः खय्य० (८-३-६)।

३. अमि पूर्वः (६-१-१०७), एङः पदान्तादति (६-१-१०९), ङसिङसोश्च (६-१-११०)

४. एङि पररूपम् (६-१-९४), ओमाङोश्च (६-१-९५), अतो गुणे (६-१-९७), अव्यक्ता० (६-१-९८)

५. इकोऽसवर्णे० (६-१-१२७), ऋत्यकः (६-१-१२८), अचि श्नु० (६-४-७७)

६. अवङ् ० (६-१-१२३), इन्द्रे च (६-१-१२४), ङमो ह्रस्वा० (८-३-३२), डः सि धुट् (८-३-२९), शि तुक् (८-३-३१), ङ्णोः० (८-३-२८), छे च (६-१-७३)

२०. **लोप**[1] (Elision)—यह लोप अनेक प्रकार का है—समस्वर-लोप, विषम-स्वर-लोप, एक व्यंजन का लोप, अनेक व्यंजनों का लोप, स्वर-व्यंजन-समूह का लोप, समाक्षर लोप आदि। पूर्वरूप और पररूप के उदाहरणों में वस्तुतः पूर्व या पर स्वर-ध्वनि का लोप है। मनस् + ईषा = मनीषा, गच्छन् + त् + स् = गच्छन्, कर् + त् + तव्यम् = कर्त्तव्यम्, हरय् + इह = हर इह, देवाय् + गच्छन्ति = देवा गच्छन्ति, पुनर् + राजते = पुना राजते।

२१. **द्वित्व**[2] (Doubling)—किसी व्यंजनध्वनि को दो बार पढ़ना। कर् + तव्यम् = कर्त्तव्यम्, कार् + यम् = कार्य्यम्।

२२. **प्रकृतिभाव**[3] (Ceasura, **सीज़्यूरा**)—कुछ विशेष परिस्थितियों में सन्धि न करना। इससे शब्द या पद पूर्ववत् बने रहते हैं। जिन स्थानों पर प्लुत या प्रगृह्य संज्ञा होती है, वहाँ सन्धि-नियम नहीं लगते हैं। संस्कृत में प्रकृतिभाव वाले स्थल अनेक हैं। हरी + एतौ = हरी एतौ, विष्णू + इमौ = विष्णू इमौ, पचेते + इमौ = पचेते इमौ, अमी + ईशाः = अमी ईशाः, अस्मे + इन्द्रः = अस्मे इन्द्रः, इ + इन्द्रः = इ इन्द्रः, अहो + ईशाः = अहो ईशाः।

*

---

१. शकन्ध्वादिषु० (वा०), संयोगान्तस्य लोपः (८-२-२३), हलो यमां० (८-४-६४), लोपः शाकल्यस्य (८-३-१९), हलि सर्वेषाम् (८-३-२२), रो रि (८-३-१४)

२. अचो रहाभ्यां द्वे (८-४-४६)

३. प्लुतप्रगृह्या० (६-१-१२५), ईदूदेद् द्विवचनं० (१-१-११), अदसो मात् (१-१-१२), शे (१-१-१३), निपात० (१-१-१४), ओत् (१-१-१५)

अध्याय ७

वाक्य-विज्ञान
(Syntax)

१. वाक्य–विज्ञान का स्वरूप
२. पद और वाक्य
(अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधान–वाद)
३. वाक्य की परिभाषा
४. वाक्य के अनिवार्य तत्त्व
५. वाक्य में पद–विन्यास के आवश्यक गुण
६. वाक्य और पदक्रम
७. अन्त:केन्द्रिक और बहिष्केन्द्रिक रचना
८. वाक्यों के प्रकार
९. वाक्य का विभाजन
१०. वाक्य के निकटतम अवयव
११. वाक्य में परिवर्तन की दिशाएँ
१२. वाक्य–परिवर्तन के कारण
१३. पदिम (Taxeme)

अध्याय ७

वाक्य-विज्ञान (Syntax)

वाक्यानां रचना भेदाः, परिवृत्तिः पदक्रमः ।
वाक्य-विश्लेषणं चैव, वाक्यविज्ञानमिष्यते ॥ (कपिलस्य)

(वाक्य-विज्ञान में निम्नलिखित बातों का विवेचन किया जाता है—वाक्यों की रचना, वाक्यों के प्रकार (भेद), वाक्यों में परिवर्तन, वाक्यों में पदक्रम (पद-विन्यास) और वाक्यों का विश्लेषण।)

७.१. वाक्य-विज्ञान का स्वरूप

वाक्य-विज्ञान में भाषा में प्रयुक्त विभिन्न पदों के परस्पर सम्बन्ध का विचार किया जाता है। अतएव वाक्य-विज्ञान में इन सभी विषयों का समावेश हो जाता है—वाक्य का स्वरूप, वाक्य की परिभाषा, वाक्य की रचना, वाक्य के अनिवार्य तत्त्व, वाक्य में पदों का विन्यास, वाक्यों के प्रकार, वाक्य का विभाजन, वाक्य में निकटस्थ अवयव, वाक्य में परिवर्तन, परिवर्तन की दिशाएँ, परिवर्तन के कारण, पदिम (Taxeme) आदि। इस प्रकार वाक्य-विज्ञान में वाक्य से संबद्ध सभी तत्त्वों का विवेचन किया जाता है।

पद-विज्ञान और वाक्य-विज्ञान में अन्तर यह है कि पद-विज्ञान में पदों की रचना का विवेचन होता है। अतः उसमें पदविभाजन (संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि), कारक, विभक्ति, वचन, लिंग, काल, पुरुष आदि के बोधक शब्द किस प्रकार बनते हैं, इस पर विचार किया जाता है। वाक्य-विज्ञान उससे अगली कोटि है। इसमें पूर्वोक्त विधि से बने हुए पदों का कहाँ, किस प्रकार प्रयोग होता है, पदों को किस प्रकार रखना या सजाना चाहिए, उनको विभिन्न प्रकार से रखने से अर्थ में क्या अन्तर होता है, आदि विषयों का विवेचन है। ध्वनि निर्मापक तत्त्व हैं। जैसे मिट्टी, कपास आदि; पद बने हुए वे तत्त्व हैं, जिनका उपयोग किया जा सकता है, जैसे—ईंट, वस्त्र आदि; वाक्य वह रूप है, जो वास्तविक रूप में प्रयोग में आता है, जैसे—मकान, सिले वस्त्र आदि। पद ईंट है तो वाक्य मकान या भवन।

तात्त्विक दृष्टि से ध्वनि, पद और वाक्य में मौलिक अन्तर है। ध्वनि मूलतः उच्चारण से संबद्ध है। यह शारीरिक व्यापार से उत्पन्न होती है, अतः ध्वनि में मुख्यतया शारीरिक व्यापार प्रधान है। पद में ध्वनि और सार्थकता दोनों का समन्वय है। ध्वनि

शारीरिक पक्ष है और सार्थकता मानसिक पक्ष है। पद में शारीरिक और मानसिक दोनों तत्त्वों के समन्वय से वह वाक्य में प्रयोग के योग्य बन जाता है। सार्थकता का सम्बन्ध विचार से है। विचार मन का कार्य है, अतः पद में मानसिक व्यापार भी है। वाक्य में विचार, विचारों का समन्वय, सार्थक एवं समन्वित रूप में अभिव्यक्ति, ये सभी कार्य विचार और चिन्तन से संबद्ध हैं, अतः मानसिक कार्य हैं। वाक्य में मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक पक्ष मुख्य होता है। विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति वाक्य से होती है, अतः वाक्य ही भाषा का सूक्ष्मतम सार्थक इकाई माना जाता है। इनका भेद इस प्रकार भी प्रकट किया जा सकता है—**१. ध्वनि**—उच्चारण से संबद्ध है, शारीरिक तत्त्व मुख्य है, प्राकृतिक तत्त्व की प्रधानता के कारण प्रकृति के तुल्य 'सत्' है। **२. पद**—इसमें शारीरिक और मानसिक दोनों तत्त्व हैं, सत् के साथ चित् भी है, अतः 'सच्चित्' रूप है। **३. वाक्य**—मानसिक पक्ष की पूर्ण प्रधानता के कारण भाषा का अभिव्यक्त रूप है, अतः 'आनन्द' रूप या 'सच्चिदानन्द' रूप है। वाक्य ही सार्थकता के कारण रसरूप या आनन्दरूप होता है। भावानुभूति, रसानुभूति या आनन्दानुभूति का साधन वाक्य ही है। वाक्य सत्, चित्, आनन्द का समन्वित रूप है, अतः दार्शनिक भाषा में इसे 'सच्चिदानन्द' कह सकते हैं।

७.२ पद और वाक्य (अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद)

पद और वाक्य के सापेक्ष महत्त्व पर दार्शनिकों में पर्याप्त विवाद है। इस विषय पर न्यायदर्शन, मीमांसादर्शन और व्याकरण-दर्शन में बहुत विस्तार से विचार हुआ है। मीमांसा के दो प्रमुख आचार्यों ने पद और वाक्य के सापेक्ष महत्त्व पर दो विभिन्न मत प्रस्तुत किए हैं—

(१) अभिहितान्वयवाद[1]—इस वाद के प्रवर्तक आचार्य कुमारिल भट्ट हैं। इनका मत **'अभिहितान्वयवाद'** कहा जाता है। इसका अर्थ है—**'अभिहितानां पदार्थानाम् अन्वयः'** पद अपने अर्थ को कहते हैं और उनका वाक्य में अन्वय हो जाता है। इस अन्वय से एक विशिष्ट प्रकार का वाक्यार्थ निकलता है। इस वाद को 'पद-वाद' कह सकते हैं। इस वाद में पदों का महत्त्व है और पद-समूह ही वाक्य है। पद के अतिरिक्त वाक्य का कोई महत्त्व नहीं है।

(२) अन्विताभिधानवाद[1]—इस वाद के प्रवर्तक आचार्य कुमारिल भट्ट के शिष्य आचार्य प्रभाकर गुरु हैं। इनका नाम प्रभाकर है। योग्यता में अपने गुरु कुमारिल से भी अधिक बढ़े हुए थे, अतः अपने गुरु का भी गुरु हो जाने के कारण इन्हें 'गुरु' कहा जाने लगा। इनका मत **'अन्विताभिधानवाद'** कहा जाता है। इसका अर्थ है—**'अन्वितानां पदार्थानाम् अभिधानम्'** वाक्य में पदों के अर्थ समन्वित रूप से विद्यमान

१. इन दोनों वादों की विस्तृत व्याख्या के लिए देखें—लेखक-कृत अर्थ-विज्ञान और व्याकरण-दर्शन, अध्याय ८, पृष्ठ ३२७ से ३४४ तक।

रहते हैं। वाक्य को तोड़ने से पृथक्-पृथक् पदों का अर्थ ज्ञात होता है। वाक्य से पदों को निकालने को 'अपोद्धार' (Analysis) कहते हैं। इस वाद में वाक्य को महत्त्व दिया गया है, अतः इसे 'वाक्यवाद' भी कह सकते हैं। 'अन्विताभिधानवाद' के अनुसार पदों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वे वाक्य के अवयव हैं और वाक्य-विश्लेषण से उनका अर्थ निकलता है। इस मत के अनुसार '**वाक्य ही भाषा की सार्थक इकाई है**'। आधुनिक भाषा-विज्ञान भी इस मत का पोषक है कि 'Sentence is a significant unit' (वाक्य ही सार्थक इकाई है)। आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इसी मत का समर्थन करते हुए कहा है—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन् ।। (वाक्य० १-७३)

(पदों में वर्णों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और न वर्णों में अवयवों की। वाक्य के अतिरिक्त पदों की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।)

विचार करने से ज्ञात होता है कि 'वाक्यवाद' ही ग्राह्य मत है। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है। 'अंगों का समूह शरीर है' या 'शरीर के अवयव अंग है'। विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि—हाथ, पाँव, आँख, नाक आदि को मिलाकर शरीर नहीं बना है—अपितु ये सभी अंग हमारे शरीर के अवयव हैं। इसी प्रकार भाषा विचारों की अभिव्यक्ति का साधन है। मन में विचार या भाव समन्वित रूप में वाक्य के रूप में उदय होते हैं। उन वाक्यों को धारावाहिक रूप में हम उच्चारण द्वारा प्रकट करते हैं। विचार संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि पदों के रूप में उदय नहीं होते हैं, अतः वाक्य की स्वाभाविक एवं स्वतन्त्र सत्ता है। सामान्य जन को सिखाने के लिए वाक्य-विश्लेषण (अपोद्धार) द्वारा नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात के रूप में वाक्य-विश्लेषण करके पद बनाए जाते हैं और उनका अर्थ निर्धारित किया जाता है। यदि चिन्तन पदों के रूप में होगा तो विचारों का प्रवाह ही नहीं बनेगा।

वाक्य-प्रयोग वस्तुतः एक जटिल मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। वाक्य-प्रयोग का मनोवैज्ञानिक क्रम यह है—**(१) चिन्तन**—अपने अभीष्ट अर्थ का विचार करना, **(२) चयन**—उपयुक्त शब्दों को चुनना, **(३) भाषिक गठन**—व्याकरण के अनुरूप उन शब्दों को क्रमबद्ध लगाना, **(४) उच्चारण**—उच्चारण के द्वारा वाक्य रूप में उन्हें प्रकट करना। ये चारों चीजें बहुत सुसंबद्ध रूप में चलनी चाहिएँ, तभी भाषण सुव्यवस्थित होगा। चिन्तन और उच्चारण में समरूपता न होने पर अव्यवस्था होगी। चिन्तन शिथिल होने पर अटकना पड़ेगा, अधिक तीव्र होने पर उच्चारण की गति साथ नहीं देगी। उच्चारण की गति तेज करने पर भाषा अस्पष्ट हो जाएगी और अर्थबोध ठीक नहीं होगा।

७.३. वाक्य की परिभाषा

वाक्य की परिभाषा अत्यन्त विवादास्पद है। भारत के प्राचीन वैयाकरणों, दार्शनिकों और साहित्यकारों ने वाक्य की परिभाषा अलग-अलग दी हैं—

वाक्य की परिभाषा—पतंजलि ने महाभाष्य में वाक्य के ५ लक्षण दिए हैं[1]—१. एक क्रिया-पद वाक्य है। २. अव्यय, कारक और विशेषण से युक्त क्रिया-पद वाक्य है। ३. क्रिया-विशेषण-युक्त क्रिया-पद वाक्य है। ४. विशेषण-युक्त क्रिया-पद वाक्य है। ५. क्रियापद-रहित संज्ञा-पद भी वाक्य होता है। जैसे—तर्पणम् (तर्पण करो), पिण्डीम् (ग्रास खाओ)। मीमांसकों, नैयायिकों और साहित्यशास्त्रियों ने साकांक्ष पद-समूह को 'वाक्य' माना है।[2] आचार्य विश्वनाथ ने 'आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पद-समूह को वाक्य माना है।'[3]

आचार्य 'भर्तृहरि' ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों और दार्शनिकों के मतों का संग्रह 'वाक्यपदीय' में करते हुए वाक्य की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं :—[4]

(१) क्रिया-पद को वाक्य कहते हैं।
(२) क्रिया-युक्त कारकादि के समूह को वाक्य कहते हैं।
(३) क्रिया एवं कारकादि-समूह में रहनेवाली 'जाति' वाक्य है।
(४) क्रियादि-समूह-गत एक अखण्ड शब्द (स्फोट) वाक्य है।
(५) क्रियादि-पदों के क्रम-विशेष को वाक्य कहते हैं।
(६) क्रियादि के बुद्धिगत समन्वय को वाक्य कहते हैं।
(७) साकांक्ष प्रथम पद को वाक्य कहते हैं।
(८) साकांक्ष पृथक्-पृथक् सभी पदों को वाक्य कहते हैं।[5]

पतंजलि और थ्रॉक्स—ईसा से पूर्व भाषाशास्त्रीय तत्त्व-चिन्तकों में भारत में 'पतंजलि' (१५० ई० पू० के लगभग) और यूरोप में 'डियोनिसियस थ्रॉक्स' (प्रथम शताब्दी ई० पू०) का नाम उल्लेखनीय है। दोनों ही आचार्यों ने वाक्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—**'पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द-समूह को वाक्य कहते हैं।'**

---

१. (क) एकतिङ्। (महाभाष्य २-१-१)
(ख) आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। सक्रियाविशेषणं च। आख्यातं सविशेषणम्। (महाभाष्य २-१-१)
(ग) महाभाष्य १-१-४४

२. (क) अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्। (मीमांसा० २-१-४६)
(ख) पदसमूहो वाक्यम् अर्थसमाप्तौ। (वात्स्यायन, मंजूषा, पृ० १)
(ग) मिथ: साकांक्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यम्। (शब्दशक्तिप्रकाशिका, श्लोक १३)

३. वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्त: पदोच्चय:। (सा० दर्पण २-१)

४. आख्यातशब्द: संघातो जाति: संघातवर्तिनी।
एकोऽनवयव: शब्द: क्रमो बुद्ध्यनुसंहृति:॥
पदमाद्यं पृथक् सर्वपदं साकांक्षमित्यपि।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्॥ (वाक्यपदीय २-१, २)

५. इन मतों की विस्तृत व्याख्या के लिए देखें—लेखककृत अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन, अध्याय ८ तथा वाक्यपदीय का द्वितीय कांड।

इसमें दो बातों पर विशेष बल दिया गया है—

(क) वाक्य शब्दों का समूह है।

(ख) वाक्य पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है।

समीक्षा—भाषाशास्त्री वाक्य की उपर्युक्त दोनों विशेषताओं को पूर्णतया स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। उनके तर्क ये हैं—

(१) भाषा की इकाई वाक्य है, न कि शब्दसमूह या पद।

(२) यह आवश्यक नहीं है कि वाक्य शब्दों का समूह ही हो। एक पद वाले भी वाक्य प्रयोग में आते हैं। 'चलोगे?' 'हाँ', 'कहाँ से?' 'घर से', 'कुतः' 'नद्याः' आदि।

(३) अनेक भाषाओं में एक समस्त पद ही पूरे वाक्य का काम देता है।

(४) वाक्य भाषा का एक अंग है, वह पूर्ण की प्रतीति नहीं करा सकता। एक ग्रन्थ या भाषण में सहस्रों वाक्य होते हैं, तब पूर्ण की अभिव्यक्ति होती है। एक-एक वाक्य विचार-धारा की एक-एक तरंग मात्र हैं।

वाक्य की व्यावहारिक परिभाषा—वाक्य की निर्विवाद शास्त्रीय परिभाषा देना संभव नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से वाक्य की परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं—

'भाषा की लघुतम पूर्ण सार्थक इकाई को वाक्य कहते हैं।'

'सार्थं लघिष्ठं पूर्णार्थं वाक्यं स्याद् भाषणाङ्गकम्।' (कपिलस्य)

अर्थात् 'पूर्ण अर्थ की बोधक सार्थक लघुतम इकाई को वाक्य कहते हैं। यह भाषण या विचारों का एक अंग होता है।'

कोई भी वाक्य तात्त्विक रूप से पूर्ण अर्थ का बोध नहीं कराता है। वह विचार-धारा का एक अंश होता है। पूरा भाषण या पूरा ग्रन्थ ही पूर्ण अर्थ का बोधक होता है। उसे हम 'महावाक्य' कह सकते हैं। वाक्य उसका अंग होगा। पतंजलि ने वाक्य की सत्ता के साथ ही 'महावाक्य' की सत्ता भी मानी है और वाक्य को अंग माना है।

सा चावश्यं वाक्यसंज्ञा वक्तव्या, समानवाक्याधिकारश्च।

(महाभाष्य २-२-१)

७.४. वाक्य के अनिवार्य तत्त्व

अभिहितान्वयवादी आचार्य कुमारिल भट्ट आदि ने वाक्य में तीन तत्त्वों को अनिवार्य बताया है—१. आकांक्षा, २. योग्यता, ३. आसत्ति (संनिधि)। इसको ही आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है।

वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। (सा० दर्पण २-१)

इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) आकांक्षा—आकांक्षा का अर्थ है—अपेक्षा या जिज्ञासा की असमाप्ति। वाक्य में प्रयुक्त शब्दों को एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है। कर्ता को कर्म और क्रिया की अपेक्षा रहती है; कर्म को कर्ता एवं क्रिया की तथा क्रिया को कर्ता एवं कर्म की। अपेक्षा को 'जिज्ञासा' भी कह सकते हैं। इस अपेक्षा या जिज्ञासा की पूर्ति होने पर ही वाक्य बनता

है। आकांक्षा की पूर्ति के बिना वाक्य अपूर्ण रहता है। इसलिए वाक्य में पदों का साकांक्ष होना अनिवार्य है। साकांक्षता के कारण वाक्य में पद परस्पर संबद्ध (Inter-related) होते हैं। जैसे—केवल 'राम' कहने से वाक्य पूरा नहीं होता है। जिज्ञासा होती है कि वह क्या करता है?, 'पढ़ता है' कहने पर जिज्ञासा होती है कि 'कौन पढ़ता है?' क्या पढ़ता है?' इसी प्रकार केवल 'पुस्तक' कहने से भी वाक्य की पूर्ति नहीं होती। पुस्तक का क्या होता है? रामः पुस्तकं पठति (राम पुस्तक पढ़ता है), वाक्य में कर्ता 'राम', 'पुस्तक' नाम के कर्म को, 'पढ़ना' क्रिया करता है। ये तीनों पद 'रामः पुस्तकं पठति' परस्पर आकांक्षा-युक्त (साकांक्ष, अपेक्षायुक्त) हैं, अतः वाक्य पूर्ण हुआ। आकांक्षा के द्वारा श्रोता की जिज्ञासा की पूर्ति होती है, साकांक्ष पद ही वाक्य होते हैं। आकांक्षा-रहित गाय, अश्व, मनुष्य आदि शब्द वाक्य नहीं होते।

(२) योग्यता—योग्यता का अर्थ है—पदों में पारस्परिक संबंध की योग्यता या क्षमता। अर्थात्—पदों के द्वारा जो अर्थ कहा जा रहा है, उसको क्रियात्मक रूप देने की योग्यता या क्षमता होनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह होता है कि पदों के अन्वय में कोई बाधा न हो। पदों के अन्वय में दो प्रकार से बाधा पड़ती है—(क) अर्थमूलक, (ख) व्याकरण-मूलक।

(क) अर्थमूलक बाधा या अयोग्यता—कोई वाक्य व्याकरण की दृष्टि से ठीक हो, परन्तु अर्थ या प्रतीति की दृष्टि से अयोग्य या अनुपयुक्त हो तो वह वाक्य नहीं होगा। जैसे—स वह्निना सिञ्चति (वह आग से सींचता है), स वायुना लिखति (वह हवा से लिखता है)। आग से सींचा नहीं जा सकता है और न हवा से लिखा जा सकता है, अतः ये दोनों वाक्य व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी अर्थ की दृष्टि से अयोग्य हैं, अतः वाक्य नहीं हैं, यहाँ पर अर्थ या प्रतीति-सम्बन्धी बाधा है।

(ख) व्याकरण-मूलक बाधा या अयोग्यता—वाक्य यदि अर्थ की दृष्टि से ठीक हो और व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हो तो वह वाक्य नहीं माना जाएगा। लिंग, विभक्ति, वचन, विशेषण आदि में 'व्याकरणिक अन्विति' या एकरूपता होनी चाहिए। निम्नलिखित वाक्यों में व्याकरण की दृष्टि से अयोग्यता है—१. सुशीला जाता है। २. राम आती है। ३. मैं सुन्दरी पुस्तक देखता है। ४. राम ने बोला। इनमें लिंग, विभक्ति, विशेषण आदि की अयोग्यता है।

अंग्रेजी में व्याकरणिक दृष्टि से एकरूपता को Congruence या Concord कहते हैं। हिन्दी में व्याकरणिक एकरूपता को 'अन्विति' या 'पदों की अन्विति' कहते हैं। अंग्रेजी के Congruence या Concord का अभिप्राय संस्कृत के 'योग्यता' शब्द में समाहित है।

(३) आसत्ति (संनिधि)—आसत्ति का अर्थ है—समीपता। इसको ही संनिधि भी कहते हैं। समीपता से अभिप्राय है कि वाक्य में प्रयुक्त पद लगातार या क्रमबद्ध रूप से उच्चरित हों। बीच में आवश्यकता से अधिक समय देने पर उन पदों का क्रम टूट जाएगा और वे वाक्य नहीं बनेंगे। 'मैं खाना खाता हूँ' में 'मैं खाना' आज बोला गया और २ घंटे

या १ दिन बाद कहा गया—'खाता हूँ' समय का अधिक व्यवधान हो जाने से यह वाक्य नहीं बनेगा और न इससे कोई अर्थ निकलेगा। इसलिए समय की समीपता या सान्निध्य अनिवार्य है, जिससे वाक्य क्रमबद्ध हो सके।

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहा है। इसी प्रकार उक्त गुणों से युक्त वाक्यों के समूह को 'महावाक्य' नाम दिया है। सभी काव्य, महाकाव्य आदि ग्रन्थ 'महावाक्य' हैं। कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में वाक्यों से महावाक्य बनने में अंगागिभाव से अपेक्षा होने से पुनः समन्वय होकर एकवाक्यता मानी है।[1]

कुछ विद्वानों ने आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति के अतिरिक्त दो अन्य तत्त्वों का उल्लेख किया है—१. सार्थकता, २. अन्विति। वस्तुतः ये दोनों तत्त्व 'योग्यता' में ही आ जाते हैं।

१. सार्थकता—वाक्य में प्रयुक्त शब्द सार्थक होने चाहिए। पद तभी वाक्य बनते हैं, जब वे सार्थक हों। 'योग्यता' के द्वारा पदों की सार्थकता भी आवश्यक है। सार्थक पद ही अर्थ-प्रतीति की योग्यता रखते हैं। अतः सार्थकता का पृथक् उल्लेख अनावश्यक है।

२. अन्विति (अन्वय)—अन्विति का अर्थ है—व्याकरण की दृष्टि से एकरूपता। लिंग, वचन, विभक्ति, विशेषण आदि समरूप हों। लिंगभेद, वचनभेद, विभक्तिभेद आदि से व्याकरण-सम्बन्धी अनुरूपता विच्छिन्न होती है, अतः अन्विति की आवश्यकता है। ऊपर 'योग्यता' में व्याकरणमूलक बाधा का अभाव भी अनिवार्य बताया गया है, अतः अन्विति या अन्वय को पृथक् मानना आवश्यक नहीं है। व्याकरण-सम्बन्धी अन्विति को अंग्रेजी में Congruence, Concord, Agreement कहते हैं।

७.५. वाक्य में पद-विन्यास के आवश्यक गुण

भारतीय आचार्यों ने वाक्य में आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति गुणों का होना अनिवार्य बताया है। पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने वाक्य में पद-विन्यास-सम्बन्धी चार विशेषताओं का उल्लेख किया है। इन्हें Features of arrangement कहा जाता है। ये हैं—१. Selection (चयन), २. Order (क्रम), ३. Modification (ध्वनि-परिवर्तन), ४. Modulation (स्वर-परिवर्तन)।

१. चयन (Selection)—चयन का अर्थ है—वाक्य में प्रयुक्त होने वाले उपयुक्त पदों का चयन। यह चयन दो प्रकार से होता है—(क) अर्थ की दृष्टि से, (ख) रूप की दृष्टि से।

(क) अर्थ की दृष्टि से चयन—भाव और भाषा की दृष्टि से किस वाक्य में कौन सा शब्द या पद अत्यन्त उपयुक्त है, उसका ही प्रयोग करना। यह आर्थिक चयन है।

---

१. स्वार्थबोधसमाप्तानाम् अङ्गाङ्गित्व-व्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते॥ (तन्त्रवार्तिक)

आर्थिक-चयन मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। किस भाव के लिए कौन शब्द उपयुक्त होगा और किसका प्रयोग होना चाहिए, यह बौद्धिक प्रक्रिया में आएगा। उपयुक्त शब्दों का ही प्रयोग हो, यह वक्ता की कामना रहती है। वह पर्यायवाची शब्दों में से अत्यन्त उपयुक्त शब्द का प्रयोग करता है। जैसे स्त्रीवाचक शब्दों में युवती, नारी, रमणी, कामिनी, वामा, अबला, महिला आदि शब्द हैं। युवती में यौवन है, नारी में नर की संगिनी, भाव है। रमणी में रमणत्व या रति, कामिनी में कामभावना, वामा में वक्रता, अबला में असहायत्व मुख्य है। 'अबला का सौन्दर्य दर्शनीय है' यह वाक्य असंगत एवं अनुपयुक्त है, क्योंकि दर्शनीय सौन्दर्य के लिए युवती, तरुणी या कामिनी शब्द उपयुक्त हैं। इसी प्रकार सूक्ष्मतापूर्वक चयन करना अर्थ-पक्ष है।

(ख) रूप की दृष्टि से चयन—इसका सम्बन्ध रचना से है। व्याकरण और प्रयोग की दृष्टि से वह शब्द उपयुक्त हो। यह योग्यता एवं अन्विति का कार्य है। 'न ऊधो का लेना, न माधो का देना', 'न घर का न घाट का' मुहावरों में 'न...न' का प्रयोग शिष्ट-संमत है, पर 'मैं घर न जाऊँगा' में 'न' का प्रयोग अशुद्ध है, यहाँ पर 'नहीं' लगेगा—मैं घर नहीं जाऊँगा। इसी प्रकार व्याकरण-संमत शब्दों का प्रयोग रूपात्मक चयन है।

२. क्रम (Order)—क्रम का अभिप्राय है कि भाषा में प्रयुक्त वाक्यों के पदों को किस क्रम में रखा जाए। इसको पद-क्रम कहते हैं। सभी भाषाओं में पद-क्रम एक प्रकार का नहीं है। संस्कृत और हिन्दी में सामान्यतया पदक्रम का प्रकार है—कर्ता, कर्म, क्रिया। अंग्रेजी, चीनी भाषा आदि में पदक्रम है—कर्ता, क्रिया, कर्म। जैसे—

संस्कृत—रामः पुस्तकं पठति। हिन्दी—राम पुस्तक पढ़ता है।

अंग्रेजी—Ram reads the book.

संस्कृत में पद-क्रम में परिवर्तन भी होता है, परन्तु वह सामान्य नियम नहीं है। संस्कृत में पद-क्रम में परिवर्तन करने पर भी विभक्तियों के कारण कर्ता कर्ता ही रहता है और कर्म कर्म। जैसे—रामः रावणं हन्ति। रावणं रामः हन्ति। हन्ति रावणं रामः। इन तीनों में ही मारने वाला राम रहा और मरने वाला रावण।

संस्कृत, जर्मन, रूसी आदि श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में विभक्तियाँ शब्दों के साथ मिली रहती हैं। शब्दों का अर्थ निश्चित रहता है। अतः पदक्रम बदलने पर भी अर्थ में भेद नहीं आता।

सामान्यतया पदक्रम बदलने के दो कारण हैं—१. बल, २. छन्द में प्रयोग। किसी शब्द पर बल देना होता है तो उसे पहले रख देते हैं। 'नहीं पढ़ूँगा' 'नहीं' पर बल है। छन्द की मात्राओं आदि की पूर्ति के लिए शब्दों को आगे-पीछे रखा जाता है।

३. ध्वनि-परिवर्तन (Modification)—वाक्य में दो ध्वनियों के समीप आने से उनमें कुछ ध्वनि-परिवर्तन हो जाते हैं। इसको 'सन्धि' कहते हैं। जैसे—जगत् + ईश = जगदीश, अच् + अन्त = अजन्त, रमा + ईश = रमेश, पुनः + जन्म = पुनर्जन्म, मनस् + रथ = मनोरथ। इसी प्रकार महात्मा, महोदय, अध्यात्म आदि में ध्वनि-परिवर्तन है। बोलचाल में ध्वनि-परिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते हैं। लिखते कुछ हैं, बोलते कुछ

और हैं। जैसे—कब आओगे > कबाओगे। कब तक > कब्तक, जल लाना > जल्लाना, रखा > रक्खा, नारायण विहार > नरैना बिहार, पंडितजी > पंडिज्जी।

४. **स्वर-परिवर्तन** (Modulation)—वाक्यों में बलाघात आदि के कारण स्वरों में कहीं आरोह, कहीं अवरोह होता है। जिस ध्वनि पर बल देते हैं, वह उदात्त हो जाती है। उसे ऊँची आवाज (आरोह) के साथ बोलते हैं। जिस पर बल नहीं देते, वह मध्यम या निम्न ध्वनि में बोली जाती है। स्वर-परिवर्तन से ही उठा (उठ गया) और उठा' (उठावो), पढ़ा (पढ़ लिया)—पढ़ा' (पढ़ावो) में अर्थ में अन्तर हो जाता है। 'आपने पुस्तक पढ़ ली है न', 'आपने खाना खा लिया है न' में निषेधार्थक 'न' (नहीं) शब्द उच्चारण में स्वर-भेद के कारण ही विधि-वाचक हो गया है। यहाँ 'न' का निषेध अर्थ नहीं है।

७.६. वाक्य और पदक्रम

१. **वाक्य में पदक्रम**—विश्व की अधिकांश भाषाओं में वाक्य में पद-क्रम निश्चित है। उसी क्रम से उस भाषा में वाक्यों का प्रयोग होता है। पद-क्रम की दृष्टि से विश्व की भाषाओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—(क) परिवर्तनीय पदक्रम, (ख) अपरिवर्तनीय पद-क्रम।

(क) परिवर्तनीय पद-क्रम—परिवर्तनीय पद-क्रम वाली वे भाषाएँ हैं, जिनमें वक्ता की इच्छा के अनुसार पद-क्रम में परिवर्तन किया जा सकता है। ऐसी भाषाएँ हैं—संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अरबी, फारसी आदि। इनमें शब्दों में विभक्तियाँ लगी होती हैं, अत: स्थान बदलने पर भी कर्ता आदि का भेद ज्ञात होने से अर्थ में अन्तर नहीं पड़ता। जैसे—रामः रावणं हन्ति (राम रावण को मारता है), रावणं हन्ति रामः।

(ख) अपरिवर्तनीय पद-क्रम—अपरिवर्तनीय पद-क्रम वाली वे भाषाएँ हैं, जिनमें पद-क्रम में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इनमें पद-क्रम में परिवर्तन से अर्थ में अन्तर हो जाता है, जैसे—चीनी भाषा। चीनी भाषा में पदक्रम है—कर्ता, क्रिया, कर्म। (ताङ् = मारना)।

वाङ् ताङ् चाङ्—वाङ् चाङ् को मारता है।

हिन्दी और अंग्रेजी में प्रश्नवाचक शब्द (क्या, why, when आदि) वाक्य के आदि में आते हैं, परन्तु चीनी भाषा में अन्त में आते हैं। जैसे—

वाङ् श्येन शेङ् त्साई ज्या मा—क्या श्री वाङ् घर पर हैं?

(श्येन शेङ् = श्री, श्रीमान्, त्साई = पर, ज्या = घर, मा = क्या)

हिन्दी, अंग्रेजी आदि में भी सामान्यतया पदक्रम अपरिवर्तनीय रहता है।

२. **वाक्य में स्वराघात**—वाक्य में संगीतात्मक और बलात्मक दोनों प्रकार का स्वराघात प्राप्त होता है। संगीतात्मक स्वराघात से आश्चर्य, शंका, निराशा आदि का भाव व्यक्त किया जाता है। जैसे—'वे चले गए' के अनेक अर्थ होंगे। संगीतात्मक स्वराघात वाक्य-सुर के रूप में होता है। किसी पद-विशेष पर बल देने से बलात्मक स्वराघात (Stress accent) होता है। जैसे—'मैं अभी जाऊँगा' में मैं, अभी और जाऊँगा में से

जिस पर बल देंगे, वह अर्थ मुख्य होगा।

३. वाक्य में पद-लोप—प्रयोग और व्यवहार के आधार पर वाक्य में संक्षेप के लिए पदों का लोप हो जाता है। ऐसे स्थानों पर क्रिया का लोप रहता है और उसका अध्याहार (स्मरण) करके पूर्ण अर्थ का ज्ञान होता है। जैसे—कुतः? (कहाँ से, कहाँ से आ रहे हो?)

प्रयागात् (प्रयाग से, अर्थात् प्रयाग से आ रहा हूँ।)

इस प्रकार कर्ता, क्रिया आदि से हीन वाक्यों में यथायोग्य कर्ता, किया आदि का अध्याहार कर लिया जाता है।

४. वाक्य और पदक्रम-विषयक तथ्य—वाक्य और पदक्रम के सम्बन्ध में विचार करते समय निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए—

(क) भाषा यदि दीर्घकाल से चली आ रही है तो उसकी वाक्य-रचना दो विभिन्न कालों में भिन्न हो सकती है।

(ख) वाक्य-रचना पर अन्य भाषाओं का भी प्रभाव पड़ता है। आधुनिक बोल-चाल की हिन्दी पर अंग्रेजी वाक्य-रचना का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैसे—'उसने कहा कि मैं प्रयाग नहीं जाऊँगा' के स्थान पर 'उसने कहा कि वह प्रयाग नहीं जाएगा।'

(ग) शिक्षा के प्रभाव के कारण शिक्षितों के द्वारा प्रयुक्त भाषा में कुछ कृत्रिमता रहती है, अतः शिक्षितों की अपेक्षा अशिक्षितों की भाषा में प्रयुक्त पदक्रम अधिक मान्य एव विश्वसनीय होता है।

(घ) पदक्रम के विशिष्ट अध्ययन के लिए पद्यात्मक काव्यों आदि की अपेक्षा गद्य की भाषा अधिक उपयोगी होती है।

(ङ) पदक्रम के ज्ञानार्थ अनुवाद आदि की अपेक्षा मूल पाठ अधिक उपयुक्त होता है।

(च) पदक्रम के अध्ययन के लिए अलंकृत काव्यात्मक भाषा की अपेक्षा सरल सुबोध भाषा अधिक उपयुक्त है। इसमें भाषा का स्वाभाविक प्रवाह देखने को मिलता है।

(छ) पदक्रम के अध्ययन के लिए लिखित भाषा की अपेक्षा उच्चरित भाषा का अधिक महत्त्व है। उच्चरित भाषा में भाषा के स्वाभाविक रूप का साक्षात्कार होता है।

७.७. अन्तःकेन्द्रिक (Endocentric) और बहिष्केन्द्रिक (Exocentric) रचना

वाक्य-रचना की दृष्टि से सभी रचनाओं को दो भागों में बाँटा जाता है—(क) अन्तःकेन्द्रिक, (ख) बहिष्केन्द्रिक।

(क) अन्तःकेन्द्रिक रचना (Endocentric Construction)

Endo-centric (एण्डो-सेन्ट्रिक) शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है—Endo (अन्तर्गत, अन्दर) ग्रीक-Endon (=within) का समस्त पदों में प्रयुक्त होने वाला संक्षिप्त रूप है। Centric (सेन्ट्रिक) शब्द Centre (सेन्टर-केन्द्र) का विशेषणात्मक रूप है। अतः Endocentric का अनुवाद होगा—अन्तःकेन्द्रिक। अन्तःकेन्द्रिक उस रचना को

कहते हैं, जिसका केन्द्र अन्दर हो। इसको अन्तर्मुखी रचना भी कह सकते हैं। यदि रचना का पद-समूह (वाक्यखण्ड) उतना ही काम करता है, जितना उसके एक या अनेक निकटतम अवयव करते हैं, तो उसे अन्तःकेन्द्रिक वाक्यांश कहेंगे और ऐसी रचना को अन्तःकेन्द्रिक रचना कहेंगे।[1] इसमें मुख्यरूप से विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध होता है। इसमें एक या अनेक विशेष्य होते हैं और उनके एक या अनेक विशेषण हो सकते हैं। जैसे—सुन्दर फूल, शुद्ध दूध, स्वादिष्ट भोजन, सज्जन व्यक्ति, सीधी गाय आदि में एक विशेषण और एक विशेष्य है। अत्यन्त सुन्दर फूल, पूर्ण शुद्ध दूध, अत्यधिक स्वादिष्ट भोजन में एक विशेष्य के दो-दो विशेषण हैं। 'धनुर्धर राम और योगिराज कृष्ण' वाक्यांश में दो विशेष्य और दो विशेषण हैं। इस प्रकार अन्तःकेन्द्रिक रचना के अनेक भेद हैं। जैसे—

१. **विशेषण + संज्ञा शब्द**—शुद्ध दूध, काला आदमी, लाल घोड़ा।

२. **क्रिया-विशेषण + विशेषण**—बहुत स्वच्छ, अत्यन्त कुटिल, अत्यधिक मनोहर, खूब शरारती।

३. **क्रिया-विशेषण + क्रिया**—शीघ्र आया, तुरन्त गया, खूब खेला, तेज चला, चुप बैठा।

४. **संज्ञा शब्द + विशेषण उपवाक्य**—मनुष्य, जो कर्मठ है। जीवन, जो भाररूप है। पुष्प, जो सौरभयुक्त है।

५. **सर्वनाम + विशेषण उपवाक्य**—वह, जो आज आया है। वह, जो पढ़ाई में लगा है। तू, जो मेरा मित्र है।

६. **सर्वनाम + पूर्वसर्गात्मक वाक्यांश**—Those at home; those on the ship.

७. **क्रिया + क्रियाविशेषण उपवाक्य**—पहुँचा, जहाँ दुर्घटना हुई थी। गया, जहाँ मेला लगा था।

८. **संज्ञाशब्द + संयोजक + संज्ञाशब्द**—कृष्ण और अर्जुन।

अन्तःकेन्द्रिक रचना के भेद—अन्तःकेन्द्रिक रचना दो प्रकार की होती है—**(क) समवर्गी** (Co-ordinative)। जैसे—राम और कृष्ण, दूध और दही, रोटी और मक्खन, फूल और फल। इसमें दोनों समान वर्ग या एक-सी स्थिति वाले होते हैं। द्वन्द्व समास वाले स्थलों पर ऐसे समवर्गी शब्द मिलते हैं। **(ख) आश्रितवर्गी** (Subordinative)—इसमें एक या कुछ शब्द मुख्य (Head) होते हैं और शेष उनके आश्रित (Attribute या Subordinate) होते हैं। जैसे—सुन्दर फूल, मधुर फल, स्वादिष्ट व्यंजन, मनोरम प्रासाद।

---

1. If a phrase has the same function as one or more of its immediate constituents, it is an Endocentric Phrase and has an endocentric construction.

   —B. Bloch and G.L. Trager : *Outlines of Linguistic Analysis*, p. 76.

आश्रितवर्गी के भी दो भेद हैं—**(१) मुख्य** (Head), जैसे—ऊपर के उदाहरणें में फूल, फल आदि विशेष्य। **(२) आश्रित** (Subordinative या Attributive)—ये विशेषण शब्द होते हैं। जैसे—सुन्दर, मधुर आदि।

आश्रित के भी दो भेद हैं—**(१) मुख्य**। आश्रितों में भी जो प्रमुख होता है या विशेष्य का स्थान ले लेता है, उसे मुख्य कहते हैं। जहाँ विशेषण का भी विशेषण लगता है, वहाँ एक विशेषण विशेष्य-वत् हो जाता है। जैसे—'अत्यन्त मधुर फल' में मधुर विशेषण (आश्रित) है, फल विशेष्य (मुख्य), फिर 'अत्यन्त मधुर' में 'अत्यन्त' विशेषण (आश्रित) है और 'मधुर' विशेष्य-वत् है। **(२) आश्रित**—विशेषण का विशेषण आश्रित का आश्रित होगा। जैसे—'मधुर' विशेषण का विशेषण 'अत्यन्त'।

(ख) बहिष्केन्द्रिक रचना (Exocentric Construction)

Exocentric (एक्सोसेन्ट्रिक) शब्द भी दो शब्दों से मिलकर बना है—Exo (बाह्य, बहिर्गत, बाहरी) ग्रीक (Exo = outside, बाहरी) का समस्त पदों में प्रयुक्त होने वाला रूप है। Centric शब्द Centre (सेन्टर, केन्द्र) से बना है। Exocentric का अर्थ है—बहिष्केन्द्रिक, जिसका केन्द्र बाहर हो। इसको बहिर्मुखी रचना भी कह सकते हैं। यदि रचना का वाक्यांश अपने निकटतम अवयव के अनुरूप कार्य न करता हो तो उसे बहिष्केन्द्री वाक्यांश कहेंगे और उस रचना को बहिष्केन्द्रिक कहेंगे।[1] यह रचना अन्तःकेन्द्रिक के विपरीत होती है। दोनों रचनाओं में ये अन्तर हैं—

(क) अन्तःकेन्द्रिक में एक मुख्य और एक विशेषण होता है। अथवा दो या अधिक समवर्गी शब्द मुख्य होते हैं। उनके विशेषण हो सकते हैं।

(ख) बहिष्केन्द्रिक में न विशेष्य होता है और न विशेषण।

(ग) बहिष्केन्द्रिक में कोई एक शब्द या वाक्यांश पूरी रचना के स्थान पर नहीं आ सकता है।

जैसे—शुद्ध दूध में, हाथ से, राम के लिए, छत पर। इन वाक्यांशों में संज्ञा-शब्द कारक-चिह्नों (में, से, के लिए, पर) का स्थान नहीं ले सकते हैं और न कारक-चिह्न संज्ञा शब्दों का। कारक-चिह्नों आदि के कारण यह रचना बहिष्केन्द्रिक है। कारकचिह्न संज्ञाशब्द के आश्रित नहीं हैं। दोनों स्वतन्त्र और निरपेक्ष हैं। ऐसे स्थानों पर केन्द्र बहिर्मुख है या बाहर है। इसी प्रकार मैं आया, वह गया, उसने काम किया, उसने पाठ पढ़ा, आदि वाक्य कर्ता-क्रियात्मक या उद्देश्य-विधेय-मूलक हैं। ये भी बहिष्केन्द्रिक ही हैं, क्योंकि इनमें उद्देश्य विधेय का स्थान नहीं ले सकता है और न विधेय उद्देश्य का।

बहिष्केन्द्रिक रचना में संज्ञा शब्द + कारकचिह्न या निपात होते हैं। हाथ + से, घर +

---

1. If a phrase has not the same function as any of its immediate constituents, it is an Exocentric Phrase and has an Exocentric construction.

—B. Bloch and G.L. Trager : *O. L. A.*, p. 76.

पर, छत + पर, पेड़ + से आदि। ये वाक्यांश किसी संज्ञा-शब्द आदि के विशेषक के रूप में आते हैं। जैसे—हाथ से काम करो, घर पर पुस्तक है, छत पर पक्षी है। इनमें 'हाथ से', 'घर पर' आदि वाक्यांश काम, पुस्तक आदि के विशेषक (Attribute) के रूप में हैं।

रचना-वृक्ष
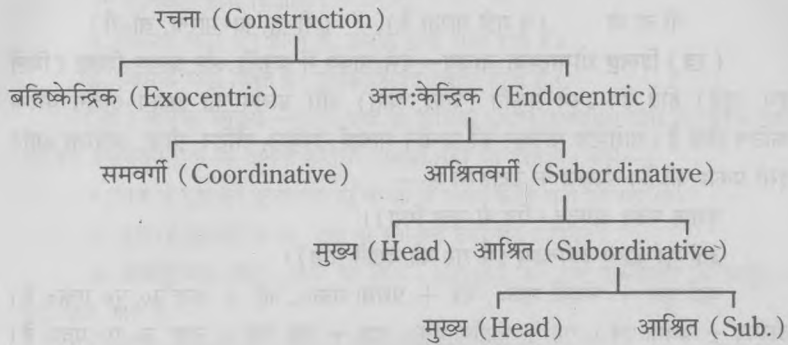
७.८. वाक्यों के प्रकार

विभिन्न दृष्टिकोण से विचार करने पर भाषा में प्रयुक्त वाक्यों के अनेक प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। इनको संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

१. आकृति-मूलक भेद
२. रचना-मूलक भेद
३. अर्थ-मूलक भेद
४. क्रिया-मूलक भेद
५. शैली-मूलक भेद

१. आकृतिमूलक भेद—विश्व की भाषाओं का आकृतिमूलक-भेद (Morphological classification) किया जाता है। प्रकृति (Root) और प्रत्यय (Affix) या अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व किस प्रकार मिलते हैं, इसके आधार पर वाक्य भी चार प्रकार के मिलते हैं—

(क) अयोगात्मक (Isolating) वाक्य।
(ख) श्लिष्ट योगात्मक (Inflectional) वाक्य।
(ग) अश्लिष्ट योगात्मक (Agglutinative) वाक्य।
(घ) प्रश्लिष्ट योगात्मक (Incorporating) वाक्य।

(क) अयोगात्मक वाक्य—अयोग का अर्थ है—प्रकृति और प्रत्यय अथवा अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का मिला हुआ न होना। अयोगात्मक भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय अलग-अलग रहते हैं। इनमें कारक-चिह्न आदि स्वतन्त्र शब्द होते हैं। चीनी भाषा

अयोगात्मक भाषा है। इसमें पद-क्रम निश्चित है—कर्ता, क्रिया, कर्म। विशेषण कर्ता के पूर्व आता है। जैसे—

१. ता ज़ेन	(बड़ा आदमी),	(ता-बड़ा, ज़ेन-आदमी)
ज़ेन ता	(आदमी बड़ा है)	(इसमें 'ता' विधेय हो गया है)
२. वो ता नी	(मैं तुझे मारता हूँ)	(वो-मैं, ता-मारना, नी-तुम)
नी ता वो	(तू मुझे मारता है),	(नी-तू, ता-मारना, वो-मैं)

(ख) श्लिष्ट योगात्मक वाक्य—ऐसे वाक्य में प्रकृति और प्रत्यय श्लिष्ट (मिले हुए, जुड़े) होते हैं। इनमें प्रकृति (शब्द, धातु) और प्रत्यय को अलग-अलग करना कठिन होता है। भारोपीय परिवार की प्राचीन भाषाएँ संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, अवेस्ता आदि इसी प्रकार की हैं। संस्कृत के उदाहरण हैं—

वृक्षात् पत्रम् अपतत् (पेड़ से पत्ता गिरा)।

अहं गुरुं द्रष्टुम् अगच्छम् (मैं गुरु को देखने गया)।

यहाँ वृक्ष + पंचमी एक०, पत्र + प्रथमा एक०, पत् + लङ् प्र० पु० एक० है। अस्मद् + प्रथमा एक०, गुरु + द्वितीया एक०, दृश् + तुम्, गम् + लङ् उ० पु० एक० है। इन वाक्यों में प्रकृति और प्रत्यय को सरलता से अलग नहीं किया जा सकता है।

(ग) अश्लिष्ट योगात्मक वाक्य—ऐसे वाक्यों में प्रकृति और प्रत्यय अथवा अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व अश्लिष्ट (घनिष्ठता से न मिलना) ढंग से मिले हुए होते हैं। प्रकृति और प्रत्यय जुड़े होने पर भी तिल-तण्डुल-वत् (तिल और चावल की तरह) अलग-अलग देखे जा सकते हैं। तुर्की भाषा में इसके सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। जैसे—एल्-इम्-डे-कि (मेरे हाथ में है, एल्-हाथ, इम्-मेरा, डे-में, कि-होना) (El-im-de-ki)।

(घ) प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्य—ऐसे वाक्यों में प्रकृति और प्रत्यय इतने अधिक घनिष्ठ रूप में मिल जाते हैं कि पदों को पृथक् करना कठिन होता है। पूरा वाक्य एक शब्द-सा हो जाता है। ऐसे उदाहरण दक्षिण अमेरिका की चेरीकी भाषा, पेरीनीज पर्वत के पश्चिमी भाग में बोली जानेवाली बास्क भाषा आदि में मिलते हैं।

१. चेरीकी में—नाधोलिनिन (हमारे पास नाव लाओ)

२. बास्क में—हकारत (मैं तुझे ले जाता हूँ)

हिन्दी आदि की बोल-चाल की भाषा में ऐसे उदाहरण मिलते हैं—

१. भोजपुरी—सुनलेहलीहं (मैंने सुन लिया है)

२. मेरठ की बोली—उन्नेका (उसने कहा)

३. गुजराती—मकुंजे (मैं कह्युं जे, मैंने यह कहा कि)

२. रचना-मूलक भेद—वाक्य की रचना या गठन के आधार पर वाक्य के तीन भेद होते हैं—

(क) सामान्य (सरल या साधारण) वाक्य (Simple sentence)

(ख) मिश्र वाक्य (Complex sentence)

(ग) संयुक्त वाक्य (Compound sentence)

(क) सामान्य वाक्य—इसमें एक उद्देश्य होता है और एक विधेय अर्थात् एक संज्ञा और एक क्रिया। जैसे—वह पुस्तक पढ़ता है।

(ख) मिश्र वाक्य—इसमें एक मुख्य उपवाक्य होता है और उसके आश्रित एक या अनेक उपवाक्य होते हैं। जैसे—

१. यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः।

२. यस्यार्थाः तस्य मित्राणि।

३. जिसके पास धन होता है, उसके सभी मित्र होते हैं।

४. जिसके पास विद्या है, उसका सर्वत्र आदर होता है।

(ग) संयुक्त वाक्य—इसमें एक से अधिक प्रधान उपवाक्य होते हैं। इनके साथ आश्रित उपवाक्य एक या अनेक होते हैं अथवा नहीं भी होते हैं। जैसे—

१. जब मैं गुरु की कुटी पर पहुँचा तो वे स्नान करने नदी पर गए थे।

२. यदाऽहं गुरुगृहं प्रापम्, तदा स स्नानार्थं नदीं गत आसीत्।

३. अर्थमूलक भेद—अर्थ या भाव (Mood) की दृष्टि से वाक्य के प्रमुख ८ भेद किए जाते हैं—

१. विधि-वाक्य	कृष्ण काम करता है।
२. निषेध-वाक्य	कृष्ण काम नहीं करता है।
३. प्रश्न-वाक्य	क्या कृष्ण काम करता है?
४. अनुज्ञा-वाक्य	तुम करो!
५. सन्देह-वाक्य	कृष्ण काम करता होगा।
६. इच्छार्थक वाक्य	ईश्वर, तुम्हें सद्बुद्धि दे।
७. संकेतार्थक वाक्य	यदि कृष्ण पढ़ता तो अवश्य उत्तीर्ण होता।
८. विस्मयार्थक वाक्य	अरे तुम उत्तीर्ण हो गए!

सुर आदि के आधार पर अन्य भेद भी किए जा सकते हैं।

४. क्रिया-मूलक भेद—वाक्य में क्रिया के आधार पर दो भेद होते हैं—

(क) क्रियायुक्त वाक्य, (ख) क्रियाहीन वाक्य।

(क) क्रियायुक्त वाक्य—सामान्यतया सभी भाषाओं में एक वाक्य में एक क्रिया होती है। वह विधेय के रूप में होती है। अधिकांश वाक्य इसी कोटि में आते हैं। जैसे—सः पुस्तकं पठति (वह पुस्तक पढ़ता है)।

वाच्य (Voice) के आधार पर क्रियायुक्त वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—१. कर्तृवाच्य, २. कर्मवाच्य, ३. भाववाच्य।

१. कर्तृवाच्य में कर्ता मुख्य होता है। कर्ता में प्रथमा होती है। जैसे—रामः पुस्तकं पठति (राम पुस्तक पढ़ता है)। **२. कर्मवाच्य** में कर्म मुख्य होता है, अतः कर्म में प्रथमा होती है और कर्ता में तृतीया। जैसे—मया पुस्तकं पठ्यते (मेरे द्वारा पुस्तक पढ़ी जाती है)। **३. भाववाच्य** में क्रिया मुख्य होती है। कर्म नहीं होता। कर्ता में तृतीया होती है और क्रिया में सदा प्रथम पुरुष एकवचन होता है। जैसे—मया हस्यते (मेरे द्वारा हँसा

जाता है), मया हसितम् (मैं हँसा)।

(ख) क्रियाहीन वाक्य—प्रचलन के आधार पर कई भाषाओं में क्रियाहीन वाक्यों का भी प्रयोग होता है। वहाँ क्रियापद गुप्त रहता है।

१. प्रचलन-मूलक—प्रचलन के आधार पर संस्कृत, रूसी, बंगला आदि में सहायक क्रिया के बिना भी वाक्यों का प्रयोग होता है। क्रिया अन्तर्निहित (Understood) मानी जाती है। हिन्दी, अंग्रेजी में सामान्यतया सहायक क्रिया का होना अनिवार्य है। जैसे---

संस्कृत---इदं मम गृहम् (यह मेरा घर है)

रूसी—एता मोय दोम (यह मेरा घर है)

बंगला—एइ आमार बाड़ी (यह मेरा घर है)

२. प्रश्न-वाक्य—प्रश्न-वाक्यों में प्रश्न और उत्तर दोनों स्थलों पर या केवल उत्तर-वाक्य में क्रिया नहीं होती। जैसे—

प्रश्न—कस्मात् त्वम् (कहाँ से?)

उत्तर---प्रयागात् (प्रयाग से)

यहाँ पर पूरा प्रश्न वाक्य होगा---तुम कहाँ से आ रहे हो? उत्तर—मैं प्रयाग से आ रहा हूँ। प्रयत्नलाघव के कारण क्रियाहीन वाक्य का प्रयोग होता है।

३. मुहावरों में—लोकोक्तियों या मुहावरों में क्रियाहीन वाक्यों का प्रयोग होता है। जैसे, यथा राजा तथा प्रजा (जैसा राजा वैसी प्रजा); गुणाः पूजास्थानम् (गुण पूजा के स्थान हैं); प्रज्ञाहीनः अन्ध एव (बुद्धिहीन अन्धा है); घर का जोगी जोगना आन गाँव का सिद्ध, आम के आम गुठली के दाम; सत्यं शिवं सुन्दरम्; जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ।

४. विज्ञापनों, समाचार-पत्रादि के शीर्षकों में—'बूढ़े से जवान', 'नक्कालों से सावधान', 'देश में दुर्भिक्ष', 'युवती पर हमला', 'हिन्दुओं सावधान', 'इस्लाम खतरे में' आदि।

५. आतंक, भय, विस्मय आदि के सूचक पदों में—आग!, चोर-चोर!, हाय दुर्भाग्य!, बाढ़-बाढ़!, भूकम्प!

५. शैली-मूलक भेद—शैली के आधार पर वाक्यों के तीन भेद किए जाते हैं—१. शिथिल वाक्य, २. समीकृत, ३. आवर्तक।

१. शिथिल वाक्य—इसमें अलंकृत या मुहावरेदार वाक्य की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। वक्ता या लेखक मनमाने ढंग से बात कहता है। जैसे—'एक थी रानी कुन्ती, उसके पाँच पुत्तर, एक का नाम युधिष्ठिर, एक का नाम भीम, एक का नाम कुछ और, एक का नाम कुछ और, एक का नाम भूल गया।' यह कथावाचकों आदि की शैली होती है।

२. समीकृत वाक्य---इसमें संतुलन और संगति का ध्यान रखा जाता है। जैसे, यस्यार्थाः तस्य मित्राणि (जिसके पास पैसा, उसी के मित्र), यतो धर्मस्ततो जयः, इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः, यथा राजा तथा प्रजा, जिसकी लाठी उसकी भैंस, न घर का न घाट का। समीकृत वाक्य विरोधमूलक भी होते हैं। जैसे—कहाँ हंस कहाँ बगुला, कहाँ राजा कहाँ

रंक, कहाँ शेर कहाँ सूअर। समीकृत वाक्य सन्तुलन आदि गुणों के कारण लोकोक्ति के रूप में प्रचलित हो जाते हैं।

३. आवर्तक वाक्य—इसमें कथनीय वस्तु अन्त में दी जाती है। श्रोता की जिज्ञासा अन्तिम वाक्य सुनने पर ही पूर्ण होती है। यदि, अगर आदि लगाकर वाक्यों को लंबा किया जाता है। जैसे—'यदि सुख चाहिए, यदि शान्ति चाहिए, यदि कीर्ति चाहिए, यदि अमरता चाहिए तो विद्याध्ययन में मन लगाओ।'

७.९. वाक्य का विभाजन

विश्व की समस्त भाषाओं की वाक्य-रचना-पद्धति एक प्रकार की नहीं है, अत: उनके वाक्यों का विभाजन भी एक प्रकार से नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक भाषा में कर्ता, कर्म, क्रिया, विशेषण आदि का स्थान निश्चित नहीं है। संस्कृत और हिन्दी में सामान्यतया क्रम है—१. कर्ता, २. कर्म, ३. क्रिया। कर्ता के विशेषण कर्ता से पूर्व और क्रिया-विशेषण क्रिया से पूर्व आते हैं। अंग्रेजी में क्रम-भेद है। अंग्रेजी में है—कर्ता, क्रिया, कर्म।

संस्कृत	हिन्दी	अंग्रेजी
बालक: पुस्तकं पठति	बालक पुस्तक पढ़ता है	The boy reads the book.

संस्कृत में क्रम बदलकर भी बोला जाता है—पुस्तकं पठति बालक:, पठति बालक: पुस्तकम्। हिन्दी में भी अब क्रमभेद मिलता है। जैसे—कह रहे थे तुम। उठा लो बोझ। पढ़ ली न तुमने पुस्तक? आ गए धूर्ताधिराज। न आए बादल, न पड़ी वर्षा।

पद-क्रम की इन सूक्ष्मताओं के होते हुए भी सामान्यतया भाषाओं के वाक्यों को दो भागों में विभक्त किया जाता है—

१. उद्देश्य (Subject)—जिसके विषय में कुछ कहा जाता है। जैसे—बालक आदि।

२. विधेय (Predicate)—जो कुछ कहा जाता है। जैसे—पढ़ता है, जाता है, आदि।

अंग्रेजी के भाषाशास्त्री इसे 'Actor-Action Construction' (कर्ता-क्रिया वाली रचना) कहते हैं। कर्ता के स्थान पर आने वाले शब्दों को 'Nominative Substantive Expressions' (संज्ञा-स्थानीय शब्द) कहते हैं। क्रिया के स्थान पर आने वाले शब्दों को 'Finite Verb Expression' (क्रिया-स्थानीय शब्द) कहते हैं। क्रिया शब्द क्रिया का ही काम करते हैं, परन्तु संज्ञाशब्द 'विधेय' के पूरक के रूप में भी आ सकते हैं। जैसे—वह है राम। मैं हूँ मोहन।

उद्देश्य को दो भागों में बाँटा जाता है—१. कर्ता, २. कर्ता का विस्तार।

विधेय के अनेक भाग हैं—कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों का विस्तार, क्रिया, क्रिया-विशेषण, पूरक, पूर्वकालिक क्रिया आदि।

रचना के आधार पर वाक्य के तीन भेद किए जाते हैं—

(क) सामान्य वाक्य (Simple Sentence)

(ख) मिश्र वाक्य (Complex Sentence)

(ग) संयुक्त वाक्य (Compound Sentence)

इनका स्पष्टीकरण ७.८. (२) में है।

७.१०. वाक्य के निकटतम अवयव (Immediate Constituents)

वाक्य में प्रयुक्त पद या शब्द, जो स्थान की दृष्टि से नहीं, अपितु अर्थ की दृष्टि से निकट या समीप होते हैं, उन्हें **निकटतम अवयव** कहा जाता है। संस्कृत का सुभाषित है—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः ।
अर्थतो ह्यसमानानाम् आनन्तर्यमकारणम् ॥

जिसका जिससे अर्थमूलक सम्बन्ध है, वह दूर होने पर भी उसका ही है। अर्थ से असंबद्धों की समीपता भी सामीप्य का कारण नहीं। वस्तुतः अर्थ की समीपता ही समीपता है, स्थान की समीपता समीपता नहीं है। जैसे—

Is he coming ? (क्या वह आ रहा है?)

इसमें स्थान की दृष्टि से Is और coming दूर हैं, परन्तु अर्थ की दृष्टि से समीप हैं, अतः Is coming निकटतम अवयव हैं। He और coming समीप होने पर भी अर्थ की दृष्टि से दूर होने से निकटतम अवयव नहीं माने जाते हैं।

भाषा में निकटतम अवयवों की अन्विति होने से ही शुद्ध अर्थ का बोध होता है। वाक्यार्थ-बोध की दृष्टि से निकटतम अवयवों का बहुत अधिक महत्त्व है। अतएव संस्कृत या हिन्दी के पद्यों में अन्वय बताने की आवश्यकता होती है। अन्वय बताने का अभिप्राय है कि इस पद का इस पद से निकटतम सम्बन्ध है, अतः इन्हें पास रख कर श्लोक या पद्य का अर्थ ठीक समझा जा सकता है। जैसे—

संस्कृत—स सांयात्रिकः, यो व्यापारार्थं विदेशम् अगच्छत्, ह्यो गृहं प्रत्यागतः।

हिन्दी—वह समुद्री व्यापारी, जो व्यापार के लिए विदेश गया था, कल घर आ गया।

इसमें सांयात्रिकः (समुद्री व्यापारी) प्रारम्भ में है और प्रत्यागतः (आ गया, लौट आया) अन्त में है, ये दोनों अर्थ की दृष्टि से निकटतम अवयव हैं। इस वाक्य का विश्लेषण इस प्रकार होगा—

(क) उद्देश्य—स सांयात्रिकः, यः व्यापारार्थं विदेशम् अगच्छत्। (वह समुद्री व्यापारी, जो व्यापार के लिए विदेश गया था) इसमें जो 'व्यापार के लिए विदेश गया था' यह संज्ञा उपवाक्य है। व्यापारी विशेष्य है, 'वह' और 'समुद्री' उसके विशेषण हैं।

(ख) विधेय—'कल घर आ गया।' क्रिया—'आ गया', 'घर' सकर्मक क्रिया 'आ गया' का कर्म है, 'कल' क्रिया-विशेषण है। निकटतम अवयवों का ठीक ज्ञान हो जाने पर वाक्य का अर्थ स्पष्ट होता है।

प्रत्येक भाषा के वाक्य-गठन में कुछ विशेषताएँ होती हैं, उन्हें उस भाषा के वक्ता

और श्रोता जानते हैं, अत: उन्हें उनका अर्थ स्पष्ट होता है। अतएव दूसरी भाषा से अनुवाद करने में शाब्दिक अनुवाद न करके भावात्मक अनुवाद अपेक्षित होता है। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में 'मरना' अर्थ अनेक प्रकार से प्रकट किया जाता है। दूसरी भाषा में उसका शाब्दिक अनुवाद अस्पष्ट या अनर्थकारी होगा। जैसे—

संस्कृत—स पञ्चत्वं गतः, स दिवं ययौ, स प्राणान् अत्यजत्, स स्वर्गं ययौ, स भस्मावशेषोऽभूत् (वह मर गया)।

हिन्दी—वह स्वर्गवासी हो गए; उनका देहावसान हो गया; उनकी जीवन-लीला समाप्त हुई; वे वैकुण्ठवासी हो गए; वे अब नहीं रहे, वे चल दिए।

अंग्रेजी—He died; He is dead; His life came to an end.

उपर्युक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि प्रत्येक भाषा में अपनी भावाभिव्यक्ति का प्रकार पृथक् या स्वतन्त्र होता है। 'उसकी बातों से मेरा सिर चक्कर खाने लगा', 'चक्कर खाने' का अनुवाद अंग्रेजी 'Eating Circle' न होकर 'I am perturbed by his talks' अनुवाद किया जाएगा। अत: अर्थाभिव्यक्ति के लिए प्रत्येक भाषा के वाक्य-गठन का ज्ञान अपेक्षित है।

कुछ स्थानों पर प्रकरण के अनुसार विशेषणों का अर्थ समझा जाता है। जैसे—वे सुन्दर फल और फूल, वे मनोहर कुमारियाँ और कुमार, खोटा पैसा और बेटा, कड़वी दवा और बात, शुद्ध हृदय मन और वचन। शुद्धं हृदयं मनो वचनं च, कटु औषधं वचनं च, सरला नारी गतिश्च। अंग्रेजी में—Old book dealer. इनमें दिए हुए विशेषण सुन्दर, मनोहर, शुद्धम्, कटु, old आदि केवल पहले शब्द के साथ भी लग सकते हैं और प्रकरण के अनुसार दूसरे शब्द के साथ भी। जैसे—सुन्दर फल एवं फूल, सुन्दर फल और सुन्दर फूल। पहले अर्थ में 'सुन्दर' केवल फल का विशेषण है, फूल का नहीं। दूसरे अर्थ में दोनों का विशेषण है। इसी प्रकार Old book dealer के दो अर्थ हो सकते हैं—१. पुरानी किताबों को बेचने वाला, २. पुराना पुस्तक-विक्रेता। पहले अर्थ में old पुस्तक का विशेषण है और दूसरे अर्थ में विक्रेता का।

वक्ता के स्वभाव का ज्ञान भी निकटतम अवयव के निर्धारण में सहायक होता है। जैसे—'मैं अभी आया था' के स्थान पर 'मैं आया था, अभी' प्रयोग। निकटतम अवयव के ज्ञान के लिए 'वाक्य-सुर' का ज्ञान भी अपेक्षित होता है। एक ही वाक्य कहने के टोन के आधार पर सामान्य, प्रश्नवाचक, विस्मयवाचक आदि हो जाता है। जैसे—हाथ उठा (ऊपर उठा), हाथ उठा' (हाथ ऊपर उठाओ), चोर भगा (भाग गया), चोर भगा' (चोर को भगावो)।

७.११. वाक्य में परिवर्तन की दिशाएँ

विकास-क्रम के अनुसार विश्व की प्रत्येक भाषा में परिवर्तन होते हैं। भाषा में परिवर्तन के कारण वाक्यों के गठन और प्रयोग में भी परिवर्तन होता है। यदि संस्कृत और हिन्दी की तुलना करें तो ज्ञात होगा कि संस्कृत में पद-क्रम में परिवर्तन किया जा सकता है—पुस्तकं पठ—पठ पुस्तकम्, गोविन्दं भज—भज गोविन्दम्, परन्तु हिन्दी में काव्य-

प्रयोगों आदि को छोड़कर सामान्यतया पद-क्रम में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। पद-क्रम निश्चित है—कर्ता, कर्म, क्रिया। राम गाँव जाता है, के स्थान पर—गाँव राम जाता है, नहीं कह सकते। संस्कृत के तिङन्त धातुरूपों में तीनों लिंगों में क्रिया एक ही रहती है—बालकः पतति (गिरता है), बालिका पतति, पत्रं पतति, परन्तु हिन्दी में लिंग-भेद से क्रिया में भेद होता है—बालक पढ़ता है, बालिका पढ़ती है।

वाक्य में परिवर्तन की मुख्य दिशाएँ ये हैं—

(१) पदक्रम में परिवर्तन—हिन्दी में नवीनता के लिए पदक्रम में कुछ नये परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। पहले 'मात्र' का प्रयोग संबद्ध शब्द के बाद होता था, अब पहले होने लगा है। जैसे—मानवमात्र, प्राणिमात्र, एक रुपयामात्र के स्थान पर मात्र मानव, मात्र प्राणी, मात्र एक रुपये के लिए, आदि। विशेषण का प्रयोग विशेष्य से पूर्व होता है, परन्तु नवीनता के लिए विशेष्य के बाद भी विशेषण का प्रयोग होता है। **काला** आदमी, **प्राकृतिक** दृश्य, उस **महात्मा** की जीवन लीला, **सूअर** का बच्चा, निर्धनता का अभिशाप के स्थान पर आदमी **काला**, दृश्य **प्राकृतिक**, जीवनलीला उस **महात्मा** की, बच्चा **सूअर** का, जैसे प्रयोग प्रचलित हो गए हैं।

(२) अन्वय में परिवर्तन—संस्कृत में विशेष्य-विशेषण में लिंग और वचन की अन्विति अनिवार्य है—शोभनः बालकः, शोभनौ बालकौ, शोभना बालिका, शोभनं पुष्पम्, विद्वान् शिष्यः, विदुषी शिष्या। हिन्दी में प्रारम्भ में इसी आधार पर पूज्य पिताजी, पूज्या माताजी, सुन्दर बालक, सुन्दरी कन्या आदि प्रयोग प्रचलित थे, परन्तु अब इस भेद को हटाकर केवल पुंलिंग विशेषण का ही प्रयोग किया जाता है। पूज्य पिताजी, पूज्य माताजी, सुन्दर कन्या आदि।

(३) अधिक पद-प्रयोग—अज्ञान आदि के कारण वाक्य में कुछ अधिक पदों का प्रयोग भी किया जाता है। जैसे—'फजूल' (व्यर्थ) के स्थान पर 'बेफजूल'; 'दरअसल' (वस्तुतः) के स्थान पर 'दरअसल में'; घर जाता हूँ—घर **को** जाता हूँ, मुझे—मेरे **को**, वह दुर्जन—वह दुर्जन **व्यक्ति**, श्रेष्ठ—**श्रेष्ठतम**, सौन्दर्य—**सौन्दर्यता**।

(४) पद या प्रत्यय का लोप—संक्षेप या प्रयत्नलाघव के लिए कहीं-कहीं पर पद या प्रत्यय का लोप कर दिया जाता है। जैसे—अहं गच्छामि के स्थान पर 'गच्छामि'; त्वं पठ, त्वं लिख, पठ, लिख। 'त्वं कुतः आगच्छसि' को कुतः; 'मैं नहीं पढ़ता हूँ' को 'मैं नहीं पढ़ता'; 'वह बीमार उठ नहीं सकता है और न बैठ सकता है' को 'वह बीमार उठ-बैठ नहीं सकता'।

(५) कोष्ठ और डैश का प्रयोग—अर्थ की स्पष्टता के लिए कहीं-कहीं पर कोष्ठ ( ) और डैश (—) का प्रयोग किया जाता है। जैसे—

(क) राम (परशुराम) ने क्षत्रिय वंश का नाश किया।

(ख) राम—जमदग्नि पुत्र, परशुराम—का क्रोध असह्य था।

(६) आदरार्थक बहुवचन—आदर या महत्त्व दिखाने के लिए एक के लिए भी बहुवचन का प्रयोग होता है। जैसे—'गुरुः पूज्यः' 'गुरवः पूज्याः'। 'अत्रभवान्' (पूज्य)

को अत्रभवन्तः। 'राम वन गया' को 'राम वन गए'। इसी प्रकार 'आपके शुभदर्शन हुए', 'आप कब पधारे', 'हमारा (मेरा) अनुरोध है'।

(७) प्रत्यक्ष (Direct) **और अप्रत्यक्ष** (Indirect) **कथन**—अंग्रेजी के वाक्यगठन के प्रभाव के कारण हिन्दी में भी तदनुरूप वाक्यों का प्रयोग होने लगा है। 'शीला ने कहा कि मैं कल नहीं आऊँगी' के स्थान पर 'शीला ने कहा कि वह कल नहीं आएगी।'

(८) कारक के लिए अर्धविराम (Comma)—अंग्रेजी के अनुसरण पर हिन्दी में भी संक्षेप के लिए कारक-चिह्नों के स्थान पर अर्ध-विराम (कॉमा) का प्रयोग होता है। जैसे—

'प्रयाग विश्वविद्यालय के कुलपति' के स्थान पर 'कुलपति, प्रयाग विश्वविद्यालय'। इसी प्रकार 'अध्यक्ष, लोकसभा' 'प्रधानमन्त्री, भारत सरकार' आदि।

७.१२. वाक्य-परिवर्तन के कारण (Causes of Syntactical changes)

१. अन्य भाषाओं का प्रभाव—विश्व की विविध भाषाओं के परस्पर सम्पर्क के कारण भाषाओं के वाक्य-गठन पर प्रभाव पड़ता है। भारत में यवनों के आगमन के साथ अरबी, फारसी आई और अंग्रेजों के साथ अंग्रेजी। दोनों का प्रभाव हिन्दी भाषा पर पड़ा है। वाक्यों में 'कि' और 'चूँकि' का प्रयोग फारसी का प्रभाव है। हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य में 'कि' वाले प्रयोग नहीं मिलते हैं। संस्कृत में 'कि' के लिए 'यत्' निपात है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कथन वाले वाक्यों में अंग्रेजी का प्रभाव पड़ा है। 'सीता ने कहा कि मैं भी वन जाऊँगी' के स्थान पर 'सीता ने कहा कि वह भी वन जाएगी'। अंग्रेजी के प्रभाव के कारण हिन्दी में भी बड़े-बड़े वाक्यों की रचना होने लगी है। संस्कृत में विशेषण-बहुल लम्बे वाक्य दूसरे ढंग के हैं। अंग्रेजी के प्रभाव के कारण क्रिया के बाद कर्म का प्रयोग भी कुछ चलने लगा है—'वह पुस्तक पढ़ता है' के स्थान पर 'वह पढ़ता है पुस्तक'। इसी प्रकार के वाक्य हैं—मैं पीता हूँ चाय, मैं लाया हूँ गुड़िया, मैं खाता हूँ मक्खन, आदि।

संस्कृत में किसी अन्य के कथन को 'इति' बाद में लगाकर कहा जाता है। इसके लिए अब हिन्दी में ' ' इन्वर्टेड कामा का प्रयोग अंग्रेजी की देन है। स तथास्तु इत्युक्त्वा अन्तर्हितः (वह 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गए)।

२. विभक्तियों का घिस जाना—संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि प्राचीन भाषाएँ संयोगात्मक (Synthetical) थीं। विकासक्रम के अनुसार वे वियोगात्मक (Analytical) हो गईं। इसके परिणामस्वरूप वाक्य-रचना में अन्तर आ गया। विभक्तियों, प्रत्ययों का कार्य परसर्गों, सहायक क्रिया आदि से लिया जाने लगा। संयोगात्मक अवस्था में पदक्रम में परिवर्तन हो सकता था। कर्ता, कर्म, क्रिया को आगे-पीछे रख सकते थे, परन्तु वियोगात्मक अवस्था में पदक्रम निश्चित हो जाता है, जैसा कि हिन्दी, अंग्रेजी आदि में

विद्यमान है। इसमें कर्ता और कर्म का स्थान बदलने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है। हिन्दी में ने (तृ० एक० एन), पर (उपरि) आदि घिसे हुए कारक-चिह्न हैं।

३. बलाघात—बलाघात के कारण वाक्य-गठन में परिवर्तन हो जाता है। 'मैं पराजय जैसी चीज नहीं जानता,' के स्थान पर 'पराजय, मैं नहीं जानता'।

४. स्पष्टता—स्पष्टता के लिए वाक्य-गठन में परिवर्तन होता है। इसके लिए कोष्ठ या डैश का प्रयोग होता है। 'अमरत्व (मोक्ष की कामना) मानव-जीवन का लक्ष्य है'।

५. मनःस्थिति—वक्ता की मानसिक स्थिति के कारण वाक्य-गठन पर प्रभाव पड़ता है। शोक, दुःख, युद्धकाल, विपत्ति, संघर्ष आदि के समय मनःस्थिति क्षुब्ध होती है, अतः ऐसे समय में सरल, स्पष्ट, तीखी और गंभीर भाषा का प्रयोग होता है। ऐसे समय में अलंकृत पदावली नहीं चलती। अन्य अवसरों पर अलंकृत भाषा का ही महत्त्व है।

६. नवीनता की प्रवृत्ति—नवीनता की प्रवृत्ति के कारण वाक्य-गठन में परिवर्तन होता है। जैसे—'मात्र' का प्रयोग। 'पुस्तक का मूल्य दो रुपए मात्र' के स्थान पर 'पुस्तक का मूल्य मात्र दो रुपए।' विशेष्य के बाद विशेषण का प्रयोग—'दुकान गरीब की' आदि।

७. अज्ञानता—अज्ञानता के कारण अशुद्ध वाक्य-प्रयोग। श्रेष्ठ के स्थान पर 'श्रेष्ठतम', 'महत्ता' को 'महानता', 'विद्वत्ता' को 'विद्वानता', 'दर असल' के स्थान पर 'दर असल में'।

८. अनुकरण—अन्य भाषाओं के अनुकरण के कारण वाक्य-रचना में परिवर्तन होता है। अंग्रेजी वाक्य-रचना के अनुकरण पर हिन्दी में भी तदनुरूप रचना इसका ही परिणाम है। 'रमा ने कहा कि मैं कल पढ़ने नहीं जाऊँगी' के स्थान पर 'रमा ने कहा कि वह कल पढ़ने नहीं जाएगी'।

९. परम्परावाद—संस्कृत में प्राचीन परम्परा के प्रति अनुराग है और हिन्दी में परम्परावादिता के विरुद्ध संघर्ष है। इसके फलस्वरूप वाक्य-रचना में भी अन्तर होता है। संस्कृत में विशेष्य के अनुसार विशेषण में भी लिंग-वचन होते हैं। हिन्दी में विशेषण में अन्तर नहीं किया जाता है। हिन्दी में वर-वधू आदि दोनों को—आयुष्मान् हो, संबोधन में भी प्रिया, प्रेयसी, प्रियतमा आदि; विद्वान् शिष्य एवं शिष्याएँ आदि। संस्कृत के विद्वान् वर को आयुष्मान् हो, वधू को आयुष्मती हो, कहेंगे। संबोधन में प्रिये, प्रेयसि, प्रियतमे, कहेंगे। वे विद्वान् शिष्य और विदुषी शिष्याएँ, कहेंगे। वे पूज्य पिताजी, पूजनीया माताजी, लिखेंगे।

इसी प्रकार आदरार्थ में बहुवचन का प्रयोग वाक्यों में मिलता है। 'राम वन गए।' 'उनका राज्याभिषेक हुआ', 'गुरु जी आ गए।'

७.१३. पदिम (Taxeme)

प्रो० ब्लूमफील्ड ने सर्वप्रथम इस Taxeme (टैक्सीम) शब्द का प्रयोग किया था। अब इसका प्रचलन समाप्त होता जा रहा है। Taxeme शब्द Syntax के Tax शब्द को लेकर eme (ईम) प्रत्यय लगाकर बना है। 'टैक्सीम' शब्द के लिए हिन्दी में 'पदिम'

शब्द का प्रयोग होता है। पदिम के लिए अंग्रेजी में ग्रीक शब्द Syntagma (सीनटेग्मा) भी चलता है। इसका अर्थ है—एक साथ रखे हुए पद।

पदिम क्या है?—वाक्य के लघुतम अवयव को 'पदिम' कहते हैं।[1] वाक्य का लघुतम अवयव 'पद' होता है। वाक्य के अंग के रूप में 'पद' का अध्ययन 'पदिम' है। वाक्य में पद किस प्रकार कार्य करते हैं; वे किन अर्थों की अभिव्यक्ति करते हैं; उनके स्थान-परिवर्तन से क्या अर्थभेद होता है?—आदि का विवेचन 'पदिम' का विषय है। पदिम के अवयव को 'संपद' (Allotax) कहते हैं।

७.६. में रचना के आधार पर वाक्य के तीन भेद किए गए हैं—सामान्य वाक्य, मिश्र वाक्य और संयुक्त वाक्य। Taxeme (पदिम) में इन तीनों प्रकार के वाक्यों का चार प्रकार से अध्ययन किया जाता है—

(क) पदक्रम (Order, Word or Morpheme order)—पदों को किस क्रम से रखना चाहिए तथा सम्बन्धतत्त्व का क्या क्रम होगा। इसका इसमें विचार होता है।

(ख) स्वर-परिवर्तन (Modulation)—वाक्यों में संगीतात्मक और बलात्मक स्वराघातों का प्रभाव तथा उनसे होनेवाले अर्थभेद का अध्ययन पदिम का विषय है।

(ग) ध्वनि-परिवर्तन (Phonetic modification)—वाक्य में होने वाले ध्वनि-परिवर्तनों का अध्ययन। ये परिवर्तन संधि, समास आदि के द्वारा होते हैं। जैसे—महान् + आत्मा = महात्मा, राजन् + सखि = राजसख:, मध्य + अहन् = मध्याह्न, Roy > Regal > Regular।

(घ) चयन (Selection)—वाक्य में उपयुक्त शब्दों का चयन करके प्रयोग करना। संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि में अत्यन्त उपयुक्त शब्दों को छाँटना और उनका प्रयोग करना। विशेष विवरण के लिए ७.५. शीर्षक देखें।

Syntax में ही इन सभी बातों का विवेचन एवं विश्लेषण किया जाता है। अत: Taxeme (पदिम) के अलग विवेचन की आवश्यकता नहीं मानी जाती है।

1. We might use Taxeme 'Significant unit of Syntactical Combination' and Allotax for 'Positional Variant of a Taxeme.'
—Robert A. Hall, *Introductory Linguistics*, p. 192.

अध्याय ८

अर्थविज्ञान
(Semantics)

१. अर्थविज्ञान क्या है?
२. अर्थविज्ञान का नामकरण
३. अर्थविज्ञान का इतिहास
४. अर्थ का महत्त्व
५. अर्थ का लक्षण
६. अर्थज्ञान कैसे होता है?
७. शब्द और अर्थ का सम्बन्ध
८. संकेतग्रह (अर्थज्ञान) के साधन
९. संकेतग्रह के बाधक तत्त्व
१०. शब्दशक्ति
११. एकार्थक और नानार्थक शब्द
१२. एकार्थक शब्दों का अर्थ-निर्णय
१३. नानार्थक शब्दों का अर्थ-निर्णय
१४. अर्थपरिवर्तन (अर्थविकास) की दिशाएँ
   (१) अर्थविस्तार
   (२) अर्थसंकोच
   (३) अर्थादेश
   (४) अर्थोत्कर्ष
   (५) अर्थापकर्ष
१५. अर्थ-परिवर्तन के कारण
१६. अर्थिम, अर्थतत्त्व (Semanteme)
१७. अर्थिम और रूपिम में सम्बन्ध

अध्याय ८

अर्थविज्ञान (Semantics)

(विकासोऽर्थस्य तद्भेदाः, परिवृत्तेश्च हेतवः ।
एकानेकार्थसंज्ञानम्, अर्थविज्ञानमिष्यते ॥ (कपिलस्य))

(अर्थविकास, अर्थविकास के भेद, अर्थ-परिवर्तन के कारण, एकार्थक और अनेकार्थक शब्दों के अर्थ का निर्णय, अर्थविज्ञान है।)

८.१. अर्थविज्ञान क्या है?

अर्थ शब्द की आत्मा है, शब्द-शरीर है। ध्वनि-विज्ञान, पद-विज्ञान और वाक्य-विज्ञान भाषा के शरीर हैं। इनमें भाषा के शरीर या बाह्यरूप का विवेचन, विश्लेषण किया जाता है। अर्थ आत्मा है। अर्थविज्ञान में शब्दार्थ के आन्तरिक पक्ष का विवेचन, विश्लेषण किया जाता है। अर्थ क्या हैं? अर्थ का ज्ञान कैसे होता है? शब्द और अर्थ में क्या सम्बन्ध है? संकेतग्रह कैसे होता है? मन में बिम्ब-निर्माण कैसे होता है? बिम्ब से अर्थबोध की प्रक्रिया आदि भाषा के आन्तरिक पक्ष हैं। अर्थविज्ञान में शब्दों के अर्थ में विकास, अर्थविकास की दिशाएँ, अर्थपरिवर्तन के कारण, एकार्थक और अनेकार्थक शब्दों के अर्थ का निर्णय, संकेतग्रह के साधन आदि अर्थविज्ञान के बाह्य पक्ष हैं।

जिस प्रकार शरीर के ज्ञान के बाद आत्मा का ज्ञान अपेक्षित है, उसी प्रकार ध्वनि, पद, वाक्य के ज्ञान के बाद अर्थरूपी आत्मा का ज्ञान अपेक्षित एवं अनिवार्य है। अतएव भर्तृहरि ने वाक्यार्थरूपी प्रतिभा को आत्मा कहा है—

यन्नेत्रः प्रतिभात्माऽयं भेदरूपः प्रतीयते। (वाक्यपदीय १-११८)

८.२. अर्थविज्ञान का नामकरण

प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में अर्थसम्बन्धी विवेचन को अर्थविज्ञान नाम दिया है।

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥

(महाभारत, वनपर्व २-१६)

यथा च चोदनाशब्दो वैदिक्यामेव वर्तते ।
शब्दज्ञानार्थविज्ञानशब्दौ शास्त्रे तथा स्थितौ ॥

(श्लोकवार्तिक, शब्दपरिच्छेद-१३)

भाषाविज्ञान के अर्थ-विषयक विवेचन को आजकल अंग्रेजी में Semantics

(सीमेन्टिक्स) कहते हैं। यह नाम फ्रेंच विद्वान् मिशेल ब्रेआल (Michel Bre'al) द्वारा प्रचारित हुआ है। हिन्दी में इसके लिए अर्थविचार, शब्दार्थविचार, शब्दार्थ-विज्ञान आदि नाम भी प्रचलित रहे हैं। संप्रति अर्थविज्ञान नाम ही सर्वप्रिय है। अंग्रेजी में इसके लिए प्रारम्भ में अनेक नाम चले। जैसे—Rhematology (र्हेमेटोलॉजी), Semasialogy (सीमे-सिआलॉजी), Rhematics (र्हेमेटिक्स), Sematology (सीमेटोलॉजी) आदि। एक दर्जन से अधिक नामों में से अब Semantics (सीमेन्टिक्स) नाम ही शेष रह गया है।

८.३. अर्थविज्ञान का इतिहास

विषय के रूप में 'अर्थविज्ञान' नया विषय है। प्रारम्भ में अनेक भाषाशास्त्रियों ने इसे दर्शन का विषय कहकर भाषाविज्ञान में रखने पर आपत्ति की थी। परन्तु अब यह भाषाशास्त्र का एक अंग बन गया है। भारतवर्ष में शब्द और अर्थ का विवेचन दर्शनशास्त्र का विषय रहा है। न्यायदर्शन और मीमांसादर्शन में शब्दशक्ति, शब्दार्थज्ञान, स्वत:प्रामाण्य—परत:प्रमाण्य आदि का गहन विवेचन हुआ है। वैदिक साहित्य में इन्द्र, वृत्र, वृत्रहा, नदी, उदक, तीर्थ आदि शब्दों की निरुक्ति (Etymology) मिलती हैं।[1] ऋग्वेद में अर्थ के महत्त्व पर कुछ मन्त्र हैं।[2] यास्ककृत निरुक्त ही अर्थविज्ञान का सर्वप्रथम भारतीय ग्रन्थ है। जिसमें निर्वचन के नियम, अर्थ का महत्त्व, मन्त्रार्थ की विधि, प्रकरण आदि का महत्त्व बताया गया है। इसके पश्चात् पतंजलिकृत 'महाभाष्य' और भर्तृहरि-कृत 'वाक्यपदीय' इस विषय के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।[3] अर्थविज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करने वाले पाश्चात्य विद्वान् हैं—फ्रेंच विद्वान् मिशेल ब्रेआल, जर्मन विद्वान् पाल, के० रीजिंग, ए० बेनरी, पोस्टगेट, ब्रुगमान, स्वीट आदि।

८.४. अर्थ का महत्त्व

आचार्य पाणिनि ने भाषा का सार 'अर्थ' माना है। अतएव 'अर्थवान्' या सार्थक

---

१. संदर्भ के लिए देखें लेखककृत 'संस्कृत व्याकरण' भूमिका, पृष्ठ १०-११।

२. (क) ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥
(ख) ऋग्० १०-७१-४ (ऋग्० १-१६४-३९)

३. पाश्चात्य विद्वानों के कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ये हैं—1. Michel Bre'al का Essai de semantique, 2. Ogden एवं Rechards का Meaning of Meaning, 3. Carnap का Introduction to Semantics, 4. Linsky का Semantics, 5. Ullmann का Principles of Semantics.

भारतीय विद्वानों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ये हैं—१. डॉ० बाबूराम सक्सेना का 'अर्थविज्ञान', २. रवि बाबू का 'भाषातत्त्व', ३. डॉ० हरदेव बाहरी का Hindi Semantics, ४. लेखक-कृत 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन', ५. डॉ० भोलानाथ तिवारी का 'शब्दों का जीवन', 'शब्दों का अध्ययन', ६. डॉ० विश्वनाथ का 'अर्थतत्त्व की भूमिका', ७. प्रो० विजनविहारी भट्टाचार्य का 'वागर्थ'।

शब्दों को ही 'प्रातिपदिक' (मूल संज्ञाशब्द या प्रकृति) माना है—

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। (अष्टा-१-२-४५)

यास्क ने अपने ग्रन्थ 'निरुक्त' अर्थात् निर्वचन, निरुक्ति (Etymology) का आधार ही अर्थ को माना है। अर्थ-ज्ञान के बिना निर्वचन असंभव है।

अर्थनित्यः परीक्षेत। (निरुक्त २-१)

यास्क ने कई स्थानों पर अर्थ का महत्त्व घोषित किया है। उनका कथन है कि जो वेद पढ़कर उसका अर्थ नहीं जानता, वह ठूँठ है, भारवाहक पशु है। जो अर्थ जानता है, उसे ही समस्त कल्याण प्राप्त होता है। वही ज्ञान की ज्योति से पापों को नष्ट करके ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

(निरुक्त १-१८)

पतंजलि ने भी महाभाष्य में यही भाव व्यक्त किया है कि—'अर्थज्ञान के बिना जो शब्द मूलपाठ के रूप में दुहराया जाता है, वह उसी प्रकार ज्ञान को प्रज्वलित नहीं करता है, जैसे बिना अग्नि में डाला हुआ सूखा ईंधन'।

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥(महाभाष्य आ० १)

ऋग्वेद के एक मन्त्र में 'अर्थज्ञ' को अजेय योद्धा बताया गया है और अर्थज्ञानहीन को बिना दूधवाली गाय एवं फल-फूलहीन वाणी का संग्रहकर्ता बताया है—

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥

(ऋग्० १०-७१-५)

यास्क ने भी अर्थ को वाणी का फल-फूल माना है।

अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। (निरुक्त १-२०)

इससे स्पष्ट है कि भाषा की सार्थकता अर्थ से है। अर्थ ही भाषा का सर्वस्व है। अर्थहीन भाषा सन्तानहीन स्त्री के तुल्य है।

८.५. अर्थ का लक्षण

अर्थ के अनेक लक्षण दिए गए हैं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में १८ और ओग्डेन एवं रिचार्ड्स ने Meaning of Meaning में अर्थ के १६ लक्षण दिए हैं।[1] भर्तृहरि ने संक्षेप में अर्थ का सुन्दर लक्षण दिया है कि—'**शब्द के द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसे ही अर्थ कहते हैं।**' अर्थ का अन्य लक्षण नहीं है।

---

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखें लेखककृत 'अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन', अध्याय २, पृष्ठ ६३ से ६७।

(२) पर-प्रत्यक्ष—पर-प्रत्यक्ष का अर्थ है—जिसे पर या दूसरे ने देखा है। जिन देशों, स्थानों, पर्वतों, समुद्रों आदि को हमने स्वयं नहीं देखा है, उनका ज्ञान हम दूसरों के प्रत्यक्ष से करते हैं, जिन्होंने स्वयं उसे देखा है। पर-प्रत्यक्ष के आधार पर ही हम भूगोल में सभी देशों, नगरों, नदियों, समुद्रों, दर्शनीय स्थलों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। पर-प्रत्यक्ष में ही आप्तवाक्य, आप्त-वचन या प्रामाणिक व्यक्तियों के कथन भी आते हैं। अतएव वेद, शास्त्र, स्मृतियों आदि से हम पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, मोक्ष, ईश्वर, जीव, आत्मा-परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

८.७. शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

संकेतग्रह—शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध है या नहीं? यह प्रश्न स्वाभाविक है। 'गाय' कहने से 'गाय' पशु अर्थ ही क्यों लिया जाता है? अश्व आदि अन्य पशु क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक सार्थक शब्द किसी अर्थ (वस्तु) विशेष का बोध कराता है। कौन सा शब्द किस अर्थ का बोध कराता है, यह संकेतग्रह पर निर्भर है। यह पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक भाषा में कोई शब्द किसी अर्थ को संकेतित करता है। प्रत्येक भाषा में इस शब्द का यह अर्थ होगा, यह संकेतित है। यह संकेत सामान्यतया स्वेच्छा-जन्य या यादृच्छिक (यदृच्छा-जन्य) होता है। प्रारम्भ में कोई व्यक्ति किसी विशेष अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग करता है। बाद में वह शब्द उस समाज या उस भाषा में लोकप्रिय हो जाता है। वही उस शब्द का संकेतित अर्थ माना जाता है। एक ही शब्द (या ध्वनि-समूह) विभिन्न भाषाओं में विभिन्न अर्थ बताता है—अंग्रेजी Know (नो, जानना) संस्कृत और हिन्दी में निषेधार्थक 'नो' माना जायेगा, knee (नी, घुटना) संस्कृत के अनुसार 'नी' (ले जाना) होगा। अतः यह माना जाएगा कि किसी एक ध्वनि का कोई एक अर्थ नहीं है। किसी शब्द से किसी अर्थ का सम्बन्ध स्थापित करना 'संकेतग्रह' है। इसी प्रकार किसी ध्वनि-समूह से किसी वस्तु का सम्बन्ध स्थापित करना या बोध कराना 'संकेतग्रह' है। यह संकेतग्रह लोक-व्यवहार एवं अनुशासन से होता है।

आवाप-उद्वाप या अन्वय-व्यतिरेक—'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः' 'तदभावे तदभावः व्यतिरेकः'। जिस शब्द के होने पर जो अर्थ बना रहेगा, उसे **'अन्वय'** कहेंगे। जिस शब्द के न होने पर जो अर्थ नहीं रहेगा, उसे **'व्यतिरेक'** कहेंगे। 'अन्वय' को **'आवाप'** और 'व्यतिरेक' को **'उद्वाप'** कहते हैं। बालक के अर्थज्ञान की प्रक्रिया को देखें तो ज्ञात होगा कि वह अन्वय-व्यतिरेक की पद्धति से भाषा सीखता है। 'गाय लाओ', 'गाय ले जाओ', 'घोड़ा लाओ', 'घोड़ा ले जाओ।' इन चार वाक्यों से बालक ४ शब्द सीखता है—गाय, घोड़ा, लाओ, ले जाओ। प्रथम दो वाक्यों में 'गाय' शब्द है। 'लाओ' कहने पर 'गाय' पशु लाया गया। 'ले जाओ' कहने पर वह 'गाय' हटाई गई। दोनों वाक्यों में 'गाय' शब्द रहा। इससे बालक को स्पष्ट हुआ कि 'गाय' शब्द का अर्थ यह गाय—नामक पशु है। अन्य दो वाक्यों से 'घोड़ा' का अर्थ स्पष्ट हुआ। 'लाओ' से लाना होता है,

यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते ।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ॥ (वाक्य० २-३२८)

इससे स्पष्ट है कि अर्थ का सामान्य लक्षण 'प्रतीति' है। प्रत्येक व्यक्ति शब्द को सुनकर कुछ अर्थ समझता है। उसकी यह व्यक्तिगत अनुभूति 'प्रतीति' ही उसका अर्थ होता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक भाषा में एक ही अर्थ के लिए पृथक्-पृथक् शब्द हैं। शब्दों के अर्थ स्वाभाविक नहीं, अपितु सांकेतिक एवं यदृच्छामूलक हैं। एक ही शब्द का विभिन्न भाषाओं में विभिन्न अर्थ होता है। प्रत्येक भाषा का वक्ता और श्रोता अपनी भाषा में संकेतित अर्थ को ही ग्रहण करता है।

८.६. अर्थज्ञान कैसे होता है?

ज्ञान, प्रत्यय या प्रतीति भाषा का मानसिक पक्ष है। मन में विचार उठते हैं, वक्ता शब्दों के द्वारा उन्हें प्रेषित करता है, श्रोता कान से उन शब्दों को सुनता है, मन को उनके अर्थों की प्रतीति होती है। इसका विवरण अध्याय २-६ में दिया गया है। इस प्रकार भाषा का उद्गम और अर्थ-ज्ञान (अर्थावगम)-रूपी परिणति दोनों भाषा के मानसिक पक्ष हैं। भाषा वक्ता से लेकर श्रोता तक, आदि से अन्त तक, मानसिक पक्ष में अनुस्यूत है।

अर्थज्ञान के दो साधन—अर्थ का ज्ञान प्रत्यय या प्रतीति के रूप में होता है। इस प्रतीति या ज्ञान के दो साधन हैं—(१) आत्म-प्रत्यक्ष (स्व-प्रत्यक्ष या आत्म-अनुभव), (२) पर-प्रत्यक्ष (पर-अनुभव)।

(१) आत्म-प्रत्यक्ष—आत्म-प्रत्यक्ष का अर्थ है—स्वयं किसी वस्तु आदि को अपनी आँखों आदि से देखना या अनुभव करना। जैसे—मनुष्य, स्त्री, गाय, अश्व, पक्षी आदि को देखकर स्वयं ज्ञान प्राप्त करना। इसी प्रकार संतरा, नीबू आदि का रस स्वयं चखकर उनके रस का अनुभव करना। यह आत्म-प्रत्यक्ष है। आत्म-प्रत्यक्ष स्पष्ट, अधिक प्रामाणिक और स्थायी होता है। आत्म-प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—(क) बाह्य-इन्द्रिय-जन्य, (ख) अन्तरिन्द्रिय-जन्य।

(क) बाह्य-इन्द्रिय-जन्य—बाह्य इन्द्रियाँ हैं—आँख, नाक, कान, त्वचा और जिह्वा। आँख से देखी हुई वस्तु, नाक से सूँघी हुई गन्ध, कान से सुना हुआ शब्द, त्वचा से छुआ हुआ पदार्थ और जीभ से चखा हुआ स्वाद, बाह्य-इन्द्रिय-जन्य ज्ञान या अनुभव है। इनका ज्ञान और इनकी प्रामाणिकता इन्द्रियों ने स्वयं प्रत्यक्ष की है।

(ख) अन्तरिन्द्रिय-जन्य ज्ञान—अन्तरिन्द्रिय या अन्तःकरण मन है। कुछ सूक्ष्म चीजों का ज्ञान बाह्य इन्द्रियाँ नहीं कर पातीं, उनका ज्ञान मन करता है। जैसे—सुख या दुःख का अनुभव, शोक और क्रोध का अनुभव, भूख-प्यास का अनुभव आदि। शोक, दुःख, हर्ष, क्षोभ आदि का अनुभव व्यक्ति स्वयं मन से करता है। यह अन्तरिन्द्रिय-जन्य आत्म-प्रत्यक्ष है। अन्तरिन्द्रिय से होने वाला प्रत्यक्ष सूक्ष्म होने के कारण कम स्पष्ट और कुछ अंश तक अनिर्वचनीय एवं अवर्णनीय होता है।

'ले जाओ' से हटाना होता है, यह स्पष्ट हुआ। इस अन्वय-व्यतिरेक पद्धति से बालक को एक-एक शब्द का अर्थज्ञान होता है।

बिम्बनिर्माण—मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्य के मस्तिष्क पर प्रत्येक शब्द का बिम्ब (चित्र) अंकित होता है। यह बिम्ब स्थायी रूप से मस्तिष्क में बना रहता है। 'गाय' देखने पर गाय का बिम्ब अंकित हुआ। पुनः गाय देखने पर वह बिम्ब उद्‌बुद्ध हो जाता है और हम गाय को पहचान लेते हैं। इसी प्रकार वस्तु का बिम्ब मन पर अंकित होता है, साथ ही उसका वाचक शब्द (गाय आदि) भी संस्काररूप में अंकित हो जाता है। इस शब्द (गाय शब्द) और अर्थ या वस्तु (गाय-पशु) के स्थिर मानसिक संस्कार को **बिम्ब-निर्माण** कहते हैं। इस बिम्ब-निर्माण का फल यह होता है कि 'गाय' शब्द से 'गाय' अर्थ संबद्ध हो गया और भविष्य में 'गाय' पशु को देखते ही 'गाय' शब्द उपस्थित हो जाता है।

दार्शनिक दृष्टिकोण—दार्शनिक या भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि शब्द और अर्थ अन्योन्याश्रित (Interrelated) हैं। शब्द शरीर है; अर्थ आत्मा है। दोनों को मिलाकर 'सार्थक शब्द' बनता है। अर्थ के बिना शरीर 'निर्जीव' है और शब्द के बिना 'अर्थ' अग्राह्य या अप्रयोज्य (प्रयोग के अयोग्य) है। शब्द मूर्तरूप देता है और अर्थ उसमें चेतनता देता है। अतः सार्थक प्रयोग के लिए दोनों का समन्वितरूप में उपस्थित होना अनिवार्य है। अतएव भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में शब्द और अर्थ को एकतत्त्व के ही दो अभिन्न अंग माने हैं।

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ । (वाक्य० २-३१)

भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ का वाचक-वाच्य सम्बन्ध माना है। वे 'अभिधा' शक्ति के अन्दर ही 'लक्षणा' और 'व्यंजना' का भी अन्तर्भाव मानते हैं।

अस्याऽयं वाचको वाच्य इति षष्ठ्या प्रतीयते ।
योगः शब्दार्थयोस्तत्त्वमप्यतो व्यपदिश्यते ॥ (वाक्य० ३-३-३)

८.८. संकेतग्रह (अर्थज्ञान) के साधन

आचार्य जगदीश ने 'शब्दशक्ति-प्रकाशिका' में संकेतग्रह या अर्थज्ञान के ८ साधन माने हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

१. व्याकरण, २. उपमान, ३. कोश, ४. आप्तवाक्य, ५. व्यवहार, ६. वाक्यशेष (प्रकरण), ७. विवृति (विवरण, व्याख्या), ८. प्रसिद्ध पद का सांनिध्य।

(१) व्याकरण—व्याकरण शब्दों के अर्थ के ज्ञान में अत्यन्त सहायक है। उससे ही प्रकृति-प्रत्यय, शब्दरूप, समास, तद्धित, कृत्, स्त्रीलिंग प्रत्ययों आदि का बोध होता है। कर्ता—कृ (करना) + तृ (ता प्रत्यय वाला अर्थ), कर्ता—करने वाला, अर्थ ज्ञात हुआ। पठ् से पठति, अपठत्, पठिष्यति—पढ़ता है, पढ़ा, पढ़ेगा का अन्तर व्याकरण ही

बतायेगा। वासुदेव—वसुदेव + अ (पुत्र अर्थ में), वसुदेव का पुत्र, अर्थ व्याकरण से ही स्पष्ट होगा।

(२) उपमान—उपमान का अर्थ है सादृश्य। सदृश वस्तु बताकर किसी शब्द का अर्थ बताना। जैसे—गौरिव गवयः (गाय के तुल्य नील गाय होती है)। इस उपमान से गवय (नील गाय) का अर्थ ज्ञात हो जाता है।

(३) कोश—कोशग्रन्थों से शब्दों का अर्थ ज्ञात करने में बहुत सहायता मिलती है। वृत्रहा, त्रिपुरारि, मध्वरि, काय आदि का अर्थ हमें ज्ञात नहीं है तो कोश-ग्रन्थ की सहायता से इनका अर्थ इन्द्र, शिव, विष्णु, शरीर आदि ज्ञात हो जाता है।

(४) आप्तवाक्य—यथार्थवक्ता को 'आप्त' कहते हैं। वेद, शास्त्र, गुरु, माता, पिता आदि आप्त में गिने जाते हैं। बालक माता-पिता को आप्त मानकर ही बचपन में सारी भाषा सीखता है। ईश्वर, जीव, पाप, पुण्य, मोक्ष आदि का ज्ञान हमें वेद आदि से ही होता है।

(५) व्यवहार—व्यवहार का अभिप्राय है—लोक-व्यवहार। बालक से लेकर वृद्ध तक लोक-व्यवहार से ही सबसे अधिक अर्थ-ज्ञान या संकेतग्रह करते हैं। संसार की सभी वस्तुओं के नाम हम लोक-व्यवहार से ही जानते हैं। माता-पिता, गुरु, साथी, मित्र आदि के व्यवहार से ही सम्बन्धियों के नाम, सम्बन्ध (भाई, चाचा, मामा आदि) का ज्ञान, पशु-पक्षियों के नाम, बाजार की सभी चीजों के नाम आदि जानते हैं। लोक-व्यवहार अर्थज्ञान का सर्वोत्तम साधन है।

(६) वाक्यशेष (प्रकरण)—वाक्यशेष का अर्थ है—प्रकरण। प्रकरण या प्रसंग नानार्थक शब्दों के अर्थ-निर्णय में सर्वोत्तम सहायक है। 'रस' और 'ध्वनि' शब्द के अनेक अर्थ हैं। प्रसंग के अनुसार इनके अर्थ का निर्णय होता है। जैसे—१. 'रसो वै सः' में रस का अर्थ 'आनन्द' लिया जाएगा। परमात्मा आनन्दरूप है। २. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (रसयुक्त वाक्य काव्य है) में रस का अर्थ 'काव्य-रस' है। ३. 'सरसं भोजनम्' (रसयुक्त भोजन) में रस का अर्थ भोज्य षड्रस है। ४. 'ध्वनिरात्मा काव्यस्य' (काव्य की आत्मा ध्वनि है) में ध्वनि का अर्थ 'व्यंजना' है। ५. 'कोकिल-ध्वनि' में ध्वनि का अर्थ 'शब्द या कूजन' है।

(७) विवृति (विवरण, व्याख्या)—विवरण या व्याख्या से अनेक शब्दों का अर्थ स्पष्ट होता है। विशेषरूप से पारिभाषिक, तकनीकी या दार्शनिक आदि शब्दों को बिना व्याख्या के नहीं समझा जा सकता है। जैसे—तन्त्र, विधान, विधि, शासन-पद्धति, अर्थशास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण-दर्शन, अद्वैत, द्वैत, त्रैत, विशिष्टाद्वैत आदि।

(८) प्रसिद्ध (या ज्ञात) पद का सांनिध्य—प्रसिद्ध या ज्ञात पदों की समीपता से अज्ञात शब्द का अर्थ ज्ञात होता है। जैसे—'बलाहक और विद्युत् का संयोग' में विद्युत् (बिजली) का अर्थ ज्ञात होने से बलाहक का अर्थ 'बादल' ज्ञात हुआ। 'पयोधि में मगर' मगर का अर्थ ज्ञात होने से पयोधि का अर्थ 'समुद्र' ज्ञात होता है। 'सुधा' के दो अर्थ हैं—अमृत और चूना। 'सुधा-सिक्त भवन' में भवन के सान्निध्य से 'चूना' अर्थ लिया जाएगा (चूने से पुता मकान), 'सुधा-पान से अमर देवगण' में देवगण के सांनिध्य से सुधा का अर्थ 'अमृत' लिया जाएगा।

पाश्चात्त्य विद्वानों ने अर्थबोध के तीन साधन माने हैं—

१. व्यवहार (Demonstration)—किसी वस्तु का बोध कराने के लिए उसे बार-बार दिखाना या उसकी ओर इंगित करना। इस तरह ब्लैकबोर्ड, पेन्सिल, कलम, चाक, पुस्तक, कापी, छात्र आदि शब्दों का बोध कराया जाता है।

२. विवरण (Circumlocution)—किसी वस्तु का विवरण देकर उसका बोध कराना। जैसे—समुद्र, पहाड़, जंगल, ताजमहल, किला आदि शब्दों का ज्ञान विवरण देकर कराया जाता है।

३. अनुवाद (Translation)—एक ही भाषा के कठिन शब्दों को या अन्य भाषा के शब्दों को अनुवाद के द्वारा समझाया जाता है। जैसे—शतक्रतु = इन्द्र, विवस्वान् = सूर्य। अंग्रेज को सेव = Apple, आम = Mango कहकर समझाया जाता है।

पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट अर्थबोध के ये तीन साधन उपर्युक्त आठ साधनों की तुलना में बहुत न्यून प्रतीत होते हैं।

८.९. संकेतग्रह के बाधक तत्त्व

निम्नलिखित तत्त्व संकेतग्रह में बाधक होते हैं—

१. समरूपता का अभाव—वक्ता और श्रोता में सम-रूपता, एक प्रकार का स्तर या समानाधिकरण्य (समान-एक, अधिकरण-आश्रय) का अभाव संकेतग्रह में बाधक होता है। यह तीन प्रकार का होता है—

(क) भाषागत समरूपता—वक्ता और श्रोता यदि एक-दूसरे की भाषा समझते होंगे, तभी संकेतग्रह या अर्थबोध होगा, अन्यथा नहीं। अतएव रूसी, चीनी, जापानी भाषा बोलने वाले से हिन्दी बोलने वाले का वार्तालाप दुभाषिये के बिना असंभव होता है। दोनों में भाषा की समता नहीं है।

(ख) बौद्धिक समरूपता—वक्ता और श्रोता का बौद्धिक स्तर समान होगा, तभी दोनों एक-दूसरे का अभिप्राय ठीक समझ सकेंगे। गँवार के सम्मुख रस-निरूपण, ध्वनि-सिद्धान्त या वक्रोक्ति की चर्चा 'भैंस के आगे बीन बजाना होगा'। यहाँ दोनों का बौद्धिक स्तर समान नहीं है।

(ग) भावात्मक समरूपता—वक्ता और श्रोता में यदि भावात्मक या हार्दिक समानता नहीं होगी तो अर्थबोध नहीं होगा। 'सहृदय' ही रसध्वनि को समझ सकेगा। नीरस व्यक्ति के लिए ऐसा काव्य अर्थहीन है।

२. अशुद्ध अर्थज्ञान—यदि शब्द का अशुद्ध अर्थ समझ रखा है तो उससे अर्थबोध नहीं होगा। यदि किसी ने 'वर्णी' का 'ब्रह्मचारी, शिष्य' के स्थान 'रंगवाला' अर्थ समझा है, या 'श्रोत्रिय' (वेदविद्) का अर्थ 'सुन्दर कानवाला' या 'शालीन' (शिष्ट) का अर्थ 'सुन्दर मकान वाला' समझा है तो उससे अर्थबोध नहीं होगा।

३. संकेत का भूल जाना—शब्द का अर्थ स्मरण किया था, परन्तु वह अनभ्यास के कारण भूल गया है तो उससे अर्थज्ञान नहीं होगा। 'अन्वय-व्यतिरेक' 'अपोद्धार

(विश्लेषण)' 'परिदेवना (विलाप)' का अर्थ भूल गया है तो इन शब्दों के प्रयोग से अर्थबोध नहीं होगा।

४. **आवृत्तिजन्य दृढ़ता का अभाव**—बार-बार आवृत्ति न करने पर शब्द का अर्थ विस्मृत हो जाता है। आवृत्ति से शब्द का अर्थ मस्तिष्क में बद्धमूल हो जाता है। मस्तिष्क में शब्द का अर्थ बद्धमूल न होने पर वह अर्थ तुरन्त उपस्थित नहीं होगा और अर्थबोध नहीं होगा।

ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में प्रत्यक्ष ज्ञान के बाधक ८ कारण गिनाए हैं। वे भी संकेतग्रह के बाधक तत्त्व के रूप में लिए जा सकते हैं। वे हैं—

अतिदूरात् सामीप्याद् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ (सांख्यकारिका-७)

५. **अतिदूरता**—वक्ता और श्रोता के एक-दूसरे से बहुत दूर होने पर संकेतग्रह नहीं हो सकेगा। दूरी के कारण दोनों को एक-दूसरे की आवाज स्पष्ट नहीं सुनाई पड़ने से अर्थबोध नहीं होगा।

६. **अतिसमीपता**—अत्यधिक समीपता होने पर भी संकेतग्रह नहीं हो पाता। कोई कान के बिलकुल पास जोर-जोर से बोले तो वे शब्द स्पष्ट नहीं सुनाई पड़ते, अतः अर्थबोध नहीं होता।

७. **इन्द्रियघात**—इन्द्रियघात का अभिप्राय है ज्ञानेन्द्रिय में किसी प्रकार की न्यूनता आ जाना। कान से शब्द सुना जाता है। यदि वक्ता या श्रोता अथवा दोनों कान के बहरे हों तो शब्द न सुन सकने के कारण संकेतग्रह न होने से अर्थबोध नहीं होगा।

८. **मन की अस्थिरता या अनवधानता**—यदि वक्ता या श्रोता अथवा दोनों के मन एकाग्र नहीं हैं और वे ध्यान से एक-दूसरे की बात नहीं सुन रहे हैं तो शब्द से संकेतग्रह नहीं होगा और न अर्थज्ञान होगा। रूप, रस, शब्द आदि सभी प्रकार के ज्ञान के लिए मन की एकाग्रता अनिवार्य है।

९. **अतिसूक्ष्मता**—यदि ध्वनि बहुत सूक्ष्म या धीमी है तो वह श्रोता के कान तक नहीं पहुँच पाती। अतएव संकेतग्रह के अभाव में अर्थबोध नहीं होता। बड़ी सभाओं आदि में आवाज धीमी होने से पीछे तक नहीं पहुँचती। पीछे बैठे श्रोता इसीलिए हल्ला करते हैं।

१०. **व्यवधान**—वक्ता और श्रोता के मध्य किसी प्रकार का (दीवार, पर्दा आदि) व्यवधान आने से वक्ता की ध्वनि श्रोता तक नहीं पहुँचती है, अतः अर्थबोध नहीं होता है।

११. **अभिभव**—अभिभव का अर्थ है—तिरस्कृत होना, दब जाना। पास में हल्ला या ऊँची आवाज हो रही हो तो धीमी आवाज दब जाएगी। वक्ता के पास विद्यमान कोई व्यक्ति जोर-जोर से बोल रहा हो तो वक्ता की ध्वनि दब जाएगी और श्रोता को उसकी बात स्पष्ट सुनाई न पड़ने से अर्थबोध नहीं होगा।

१२. **समानाभिहार**—समानाभिहार का अर्थ है—समान अर्थात् सदृश वस्तु में, अभिहार—मिल जाना। एक साथ कई बाजे बज रहे हों तो प्रत्येक की ध्वनि स्पष्ट सुनाई नहीं पड़ेगी, क्योंकि सबकी आवाज मिल गई है। इसी प्रकार स्टेज पर कई वक्ता एक

साथ बोलने लगें तो उन सबकी आवाज मिश्रित हो जाएगी और श्रोता को किसी की भी बात स्पष्ट समझ में नहीं आएगी। इसको समानाभिहार कहते हैं।

अतएव भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में स्पष्ट निर्देश किया है कि शब्द केवल सत्ता-मात्र से अर्थ के बोधक नहीं होते, अपितु वे जब तक कान और मन के विषय नहीं हो जाते, तब तक अर्थ का बोध नहीं कराते हैं।

विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रतीयते ।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः ॥ (वाक्य० १-५६)

८.१०. शब्दशक्ति

शब्द से अर्थ का बोध होता है। इसमें शब्द बोधक है और अर्थ बोध्य। 'गाय का दूध पीओ' में गाय और दूध शब्द हैं, इनसे गाय-पशु और दूध-वस्तु का बोध कराया जाता है। प्रयोग या उपयोग में अर्थ (वस्तु) ही आता है, शब्द नहीं। शब्द अर्थ (वस्तु) का बोध कराकर निवृत्त हो जाता है। इसलिए भाषा में महत्त्व अर्थ का है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को वाच्य-वाचक या बोध्य-बोधक सम्बन्ध कहते हैं। शब्द वाचक या बोधक है, अर्थ वाच्य या बोध्य।

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में गहन मनन-चिन्तन किया है। इस विवेचन को वे 'शब्दशक्ति' या 'वृत्ति-निरूपण' नाम से प्रस्तुत करते हैं। शब्दों से होने वाला अर्थ तीन प्रकार का है—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। इसी आधार पर शब्द भी तीन प्रकार का होता है—वाचक, लक्षक और व्यंजक। इन तीनों में विद्यमान शक्ति या वृत्ति को अभिधा, लक्षणा और व्यंजना कहते हैं।

शक्ति या वृत्ति	**शब्द**	**अर्थ**	**उदाहरण**
अभिधा	वाचक	वाच्य (मुख्य)	गाय, अश्व, मनुष्य
लक्षणा	लक्षक	लक्ष्य (गौण)	गंगा में घोष (कुटी)
व्यंजना	व्यंजक	व्यंग्य (प्रतीयमान)	शाम हो गई

यहाँ पर काव्यशास्त्रीय ढंग से इनका विस्तृत वर्णन, भेदों-उपभेदों की चर्चा, अभीष्ट नहीं है। यहाँ पर केवल इनका सारांश दिया जा रहा है।

अभिधा—यह मुख्य वृत्ति या शक्ति है। अभिधा से बताया जाने वाला अर्थ मुख्य होता है। यह शब्द का लौकिक और व्यावहारिक अर्थ है। 'गाय दूध देती है', 'घोड़ा दौड़ता है', 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है' में गाय, घोड़ा, मनुष्य का लोक-प्रचलित अर्थ लिया जाता है। इसमें गाय आदि शब्दों को वाचक, गाय (पशु) आदि अर्थों को वाच्य और यह अर्थ बताने वाली शक्ति को 'अभिधा' कहते हैं।

लक्षणा—लक्षणा में तीन बातें होती हैं—१. मुख्य अर्थ में बाधा, २. मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का लेना, ३. रूढ़ि या प्रयोजन कारण। 'गंगायां घोषः' (गंगा में कुटी)। गंगा जल की धारा को कहते हैं। जल की धारा में कुटी नहीं हो सकती, अतः गंगा के किनारे कुटी अर्थ होता है। 'देवदत्त गधा है', 'मोहन पशु है' में आदमी को गधा या पशु कहा है।

आदमी गधा नहीं हो सकता है, अतः अर्थ होता है कि वह आदमी गधा पशु के तुल्य मूर्ख और विवेकहीन है। इसमें गंगा आदि शब्द लक्षक हैं, गंगातीर आदि अर्थ लक्ष्य हैं तथा बोधकशक्ति 'लक्षणा' है।

व्यंजना—व्यंजना में व्यंग्य अर्थ मुख्य होता है। इसको प्रतीयमान अर्थ या ध्वनि कहते हैं। यह वाच्य अर्थ और लक्ष्य अर्थ से आगे की कोटि है। व्यंग्य अर्थ असंख्य प्रकार का हो सकता है। 'गंगायां घोषः' (गंगा में कुटी) में शीतलता, पवित्रता आदि अर्थ व्यंग्य अर्थ है। 'शाम हो गई' के सैकड़ों अर्थ हैं। शाम होते ही जिसको जो काम करना है, वह करे। इसी प्रकार 'सबेरा हो गया', 'दीवाली आ गई', 'होली आ गई' के सैकड़ों अर्थ निकलते हैं। 'दीवाली', 'होली' कहते ही बच्चों के लिए मनोरंजन, मिठाई खाना, रंग डालना आदि सैकड़ों अर्थ आ जाते हैं। इनमें 'गंगा' आदि शब्दों को व्यंजक, पवित्रता आदि अर्थों को व्यंग्य और शब्दशक्ति को व्यंजना कहते हैं।

८.११. एकार्थक और नानार्थक शब्द

शब्द दो प्रकार के होते हैं—१. एकार्थक, २. नानार्थक।

१. एकार्थक शब्द—एकार्थक शब्दों का एक ही मुख्य अर्थ होता है। जैसे—पुस्तक, नदी, वृक्ष आदि। एकार्थक शब्द भी विभिन्न कारणों से विभिन्न अर्थों का बोध कराते हैं। जैसे—'शाम हो गई'।

एकार्थक और पर्यायवाची शब्द (Synonyms)—पर्यायवाचक शब्दों को Synonyms (सीनोनीम्स) कहा जाता है। Syn (सीन) = सदृश, समान + onym (ओनीम) = नाम या अर्थ, अतः समानार्थक या एकार्थक। विभिन्न विचार-धाराओं के कारण एक ही वस्तु के अनेक नाम पड़ जाते हैं। प्रारम्भ में इनमें भावात्मक अन्तर रहता है। बाद में वह भेद विस्मृत हो जाने से पर्याय के रूप में इनका प्रयोग होता है। जैसे—राजा, नृप, भूपति, भूप, भूभृत् आदि। पर्यायवाची शब्द दो प्रकार के हैं—१. पूर्ण पर्याय (पूर्णतया एकार्थक), २. अपूर्ण पर्याय (समानार्थक)।

(क) पूर्ण पर्याय—पूर्ण पर्याय वे शब्द हैं, जो पूर्णतया एकार्थक हैं। इनमें एक के स्थान पर दूसरे शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। जैसे—राजा-नृप-भूप; धरा-पृथ्वी-अवनि।

(ख) अपूर्ण पर्याय—अपूर्ण पर्याय वे शब्द हैं, जो अर्थ की दृष्टि से समानार्थक हैं; परन्तु प्रयोग की दृष्टि से इनमें भेद है। प्रत्येक स्थान पर एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। इनमें तीन प्रकार का अन्तर होता है—**१. शैली-मूलक भेद**—शैली की दृष्टि से भेद। जैसे—आज्ञा-इजाजत, प्रसन्नता-खुशी, दया-रहम, कृपालु-रहीम, शुद्ध-पाक, अशुद्ध-नापाक। **२. विचारमूलक भेद**—विचार और भावना की दृष्टि से भेद। जैसे—ईश्वर-अल्लाह-गॉड, रानी-बेगम-क्वीन, फूल-गुल, मन्दिर-मस्जिद-चर्च, प्रार्थना-नमाज-प्रेयर, वैद्य-हकीम-डॉक्टर, विद्यालय-मकतब-स्कूल, देखना-घूरना, लेना-हरण। **३. प्रयोगमूलक भेद**—कुछ शब्द समानार्थक होने पर भी एक के स्थान पर

दूसरा नहीं आ सकता है। जैसे—'जलपान' के स्थान पर 'वारिपान', 'यज्ञवेदि' के स्थान पर 'यज्ञ-चबूतरा', 'नीर-क्षीर-विवेक' के स्थान पर 'जल-दुग्ध-विवेक' का प्रयोग नहीं हो सकता है।

२. नानार्थक शब्द—कुछ शब्द एक से अधिक अर्थों का बोध कराते हैं, उन्हें नानार्थक या अनेकार्थक कहते हैं। एक शब्द के अनेक अर्थ कैसे हुए, यह विवाद का विषय है। सामान्यतया क्रिया के अर्थ की समानता के आधार पर, गुण-साम्य, सादृश्य, संसर्ग आदि के आधार पर शब्द नानार्थक होते हैं। जैसे—कर—हाथ, किरण, टैक्स; शृंग—सींग, चोटी; नग—वृक्ष, पर्वत आदि।

भर्तृहरि ने सुन्दर विचार प्रस्तुत किया है कि समानार्थक और नानार्थक शब्दों का कहाँ पर क्या अर्थ लिया जाएगा, इसका निर्णय प्रयोक्ता के आधार पर होगा। प्रयोक्ता जहाँ जिस अर्थ में उनका प्रयोग करना चाहता है, वही अर्थ वहाँ अभिधेय है।

बहुष्वेकाभिधानेषु, सर्वेष्वेकार्थकारिषु ।
यत् प्रयोक्ताऽभिसंधत्ते, शब्दस्तत्रावतिष्ठते ॥ (वाक्य० २-४०२)

८.१२. एकार्थक शब्दों का अर्थनिर्णय

एकार्थक शब्दों के भी प्रकरण, प्रसंग आदि के अनुसार विभिन्न अर्थ होते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में 'आर्थी व्यंजना' के प्रसंग में इसका विवेचन किया है। विश्वनाथ ने जिसे 'आर्थी व्यंजना' कहा है, वह भाषाविज्ञान के अनुसार 'अर्थ-परिवर्तन' है। विश्वनाथ ने एकार्थक शब्दों के अर्थ-निर्णय के लिए १० साधन बताए हैं। वे हैं—१. वक्ता, २. बोद्धा (श्रोता), ३. वाक्य, ४. वाच्य (वक्तव्य), ५. अन्यसंनिधि (अन्य की उपस्थिति), ६. प्रकरण, ७. देश, ८. काल, ९. काकु (व्यंग्य), १०. चेष्टा आदि।

वक्तृ-बोद्धव्य-वाक्यानामन्यसंनिधि-वाच्ययोः ।
प्रस्ताव-देश-कालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च ।
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत् साऽर्थसंभवा ॥

(साहित्यदर्पण, परि० २-१६, १७)

१. वक्ता—वक्ता के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है। जैसे—'शाम हो गई' से भक्त 'पूजा का समय', खिलाड़ी 'खेल समाप्त करो', सिनेमा-प्रेमी 'सिनेमा का समय' आदि अर्थ लेते हैं। प्रेमी प्रिया से—'रानी, क्यों रूठी हो?' में रानी का अर्थ प्रिया है।

२. बोद्धा (श्रोता)—श्रोता कौन है, किससे बात कही जा रही है, तदनुसार अर्थभेद हो जाता है। पत्नी पति से—'राजा, फिर कब मिलोगे?' राजा का अर्थ 'पति' है। अन्योक्तियों के पद्य प्रायः इसी प्रकार के होते हैं। बिहारी का दोहा 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु०' नव-विवाहिता पत्नी पर आसक्त राजा जयसिंह के लिए चेतावनी है।

३. वाक्य-प्रयोग—वाक्य में प्रयोग से शब्द का अर्थ भिन्न हो जाता है। 'अपि कुशलम्?' (आप सकुशल तो हैं?) 'अपि' का अर्थ 'भी' होता है, यहाँ प्रश्नार्थक है।

'आपने खा लिया है न!' यहाँ 'न' निषेधार्थक न होकर विध्यर्थक है। यह 'न' वस्तुतः संस्कृत का 'नु' अव्यय है। इसका अब भी पंजाबी, भोजपुरी आदि में प्रयोग है। पंजाबी— 'त्वां नु कि दसों?' (तुमसे क्या कहें?), भोजपुरी—'रउवां खइली हँ नु' (आपने खा लिया है?)।

४. वाच्य (वक्तव्य)—'क्या कहा जा रहा है', 'वक्ता का क्या अभिप्रेत है' तदनुसार अर्थभेद हो जाता है। 'अच्छा हुआ पापी चला गया' यहाँ 'चला गया' का अर्थ 'मर गया' है।

५. अन्यसंनिधि—अन्य व्यक्ति की उपस्थिति से भी अर्थभेद हो जाता है। शाकुन्तल में—'चक्रवाकवधुके, आमन्त्रयस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनी' (अंक ३) (चकवी, अपने साथी से विदाई लो, रात आ गई)। नेपथ्य से शकुन्तला को संकेत दिया गया है कि 'रात्रि (गौतमी) आ गई है, चकवी (शकुन्तला) साथी (दुष्यन्त) से अलग हो जाओ'। रात्रि का अर्थ गौतमी है, चकवी शकुन्तला है, चकवा दुष्यन्त है। नए आगन्तुक से बात छिपानी होती है तो कहते हैं—'अच्छा, चलो'। 'अच्छा' का अर्थ है 'बात यहीं समाप्त करो'।

६. प्रकरण—प्रकरण या प्रसंग से अर्थभेद हो जाता है। 'ओग्डेन' एवं 'रिचार्ड्स' ने पाश्चात्य देशों में सर्वप्रथम प्रकरण (Context) की ओर भाषाशास्त्रियों का ध्यान आकृष्ट किया। यह उनकी अपूर्व उपलब्धि मानी जाती है। 'सूर्योदय हो गया' के प्रकरणानुसार सैकड़ों अर्थ होंगे। 'बच्चो, उठो', 'संध्या करो', 'स्नान करो', 'खेत पर जाओ' आदि। यास्क ने निरुक्त में स्पष्ट कहा है कि 'प्रकरण के अनुसार ही मन्त्र का अर्थ करना चाहिए'।

७-८. देश और काल—देश और काल के अनुसार शब्द के अर्थ में भेद होता है। वाक्य 'कब और कहाँ' बोला जा रहा है, तदनुसार अर्थ होगा। 'पुलिस आ गई', 'गोली चल गई' आदि वाक्यों के देश और काल के अनुसार अलग-अलग अनेक अर्थ होंगे।

९. काकु (व्यंग्य)—काकु का अर्थ है वक्रोक्ति या ध्वनिभेद। काकु से अर्थ में अन्तर हो जाता है। 'आपने अच्छा पत्र भेजा!' अर्थात् 'आपसे पत्र भेजने को कहा था, पर आपने पत्र नहीं भेजा'। 'आप बड़े भद्र पुरुष हैं' अर्थात् बहुत दुष्ट व्यक्ति हैं। काकु या व्यंग्य से उल्टा अर्थ निकलता है।

१०. चेष्टा—संकेत (इशारा) या आंगिक अभिनय से अभिप्राय व्यक्त किया जाता है। 'सेठ का इतना बड़ा पेट', 'तीन इंच का आदमी' यहाँ इशारे से पेट की विशालता, आदमी का नाटापन व्यक्त किया जाता है। यहाँ 'तीन इंच' का अर्थ 'तीन इंच' नहीं है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भाषा का एक-एक शब्द अनेक या असंख्य अर्थों का बोधक हो सकता है। 'हाँ' से 'नहीं' का अर्थ और 'नहीं' से 'हाँ' का अर्थ तक लिया जा सकता है। यह देखते हुए कह सकते हैं कि संस्कृत का यह सुभाषित सत्य है कि **'सर्वे सर्वार्थवाचकाः'** (सभी शब्द सभी अर्थों का बोध करा सकते हैं)।

८.१३. नानार्थक शब्दों का अर्थनिर्णय

भर्तृहरि ने नानार्थक या अनेकार्थक शब्दों के अर्थ-निर्णय के १४ साधन बताए हैं—

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

(वाक्यपदीय २-३१७, ३१८)

१. संयोग—जिससे संयोग या सम्बन्ध प्रसिद्ध हो, उसके आधार पर नानार्थक का अर्थनिर्णय होता है। 'राम' शब्द के तीन अर्थ हैं—रामचन्द्र, परशुराम, बलराम। राम का धनुष, परशुराम का परशु (कुल्हाड़ी), बलराम का हल प्रसिद्ध है। केवल 'राम' कहने से सन्देह होगा। अतः 'धनुर्धरः रामः' (धनुषधारी राम) कहने से 'रामचन्द्र' अर्थ लिया जाएगा। 'परशुधरः रामः' 'परशुराम' होंगे और 'हलधरः रामः' कहने से 'बलराम' ही लिए जाएँगे। इसी प्रकार 'सशंखचक्रः हरिः' में हरि का अर्थ 'विष्णु' होगा।

२. वियोग—प्रसिद्ध वस्तु-सम्बन्ध का अभाव दिखाना 'वियोग' है। इससे भी अर्थनिर्णय होता है। राम का सीता से सम्बन्ध प्रसिद्ध है, अतः 'सीतावियुक्तः रामः' (सीता से वियुक्त राम) कहने पर 'रामचन्द्र' ही अर्थ लिया जाएगा। 'अवत्सा गौः' (बछड़े से हीन गाय) कहने पर 'गो' से 'गाय' अर्थ ही लिया जाएगा। 'गो' शब्द के अनेक अर्थ हैं—गाय, पृथ्वी, किरण आदि। 'सशंखचक्रः हरिः' कहने पर हरि का 'विष्णु' अर्थ ही होगा।

३. साहचर्य—साहचर्य का अर्थ है 'साथ रहना'। जिनको साथ रहना प्रसिद्ध है, वही लिया जाएगा। 'रामलक्ष्मणौ' कहने पर साहचर्य के कारण राम का अर्थ 'रामचन्द्र' ही लिया जाएगा। भीम और अर्जुन के कई अर्थ हैं—भीम—कुन्तीपुत्र, भयंकर आदि, अर्जुन—कुन्तीपुत्र, वृक्षविशेष। 'भीमार्जुनौ' (भीम, अर्जुन) कहने पर दोनों कुन्तीपुत्र भीम और अर्जुन लिए जाएँगे। इसी प्रकार 'कृष्णार्जुनौ' में श्रीकृष्ण और पार्थ अर्जुन।

४. विरोध—जिनका विरोध प्रसिद्ध है, वही अर्थ लिया जाएगा। रामचन्द्र और रावण का विरोध प्रसिद्ध है, इसलिए 'राम-रावणौ' (राम-रावण) में राम से 'रामचन्द्र' अर्थ होगा। 'कर्णार्जुनौ' (कर्ण-अर्जुन) में कर्ण से राधापुत्र कर्ण और अर्जुन से पार्थ अर्जुन। कर्ण का 'कान' अर्थ नहीं लिया जाएगा।

५. अर्थ (प्रयोजन)—जिससे अर्थ या प्रयोजन सिद्ध हो, वह अर्थ लिया जाएगा। जैसे—गो का अर्थ गाय, पृथ्वी, किरण आदि हैं। 'दुग्धाय गां श्रय' (दूध के लिए गो का आश्रय लो) में दूध गाय से मिलेगा, अतः गो का अर्थ 'गाय' होगा। 'कृषये गां श्रय' (कृषि के लिए गो का आश्रय लो) में गो से 'पृथिवी' अर्थ होगा।

६. प्रकरण (प्रसंग)—प्रकरण या प्रसंग से अर्थनिर्णय होगा। संस्कृत के नाटकों में प्रायः यह वाक्य आता है—'यथा देव आज्ञापयति' (जैसी आपकी आज्ञा) में 'देव' का अर्थ 'राजा' है, देवता नहीं। 'मधु' के अनेक अर्थ हैं—वसन्त, शहद, शराब। प्रसंगानुसार

अर्थ होगा—'मधुमत्तः कोकिलः' (मधु-मत्त कोयल) में मधु का अर्थ 'वसन्त' होगा। 'मधु से सितोपलादि लेना' में मधु 'शहद' होगा।

७. लिंग (चिह्न)—यहाँ लिंग का अर्थ पुंलिंग या स्त्रीलिंग नहीं है। लिंग का अर्थ प्रसिद्ध 'चिह्न' है, जिससे उसे पहचाना जाता है। मानस का अर्थ—मन और मानसरोवर है। 'मानस में काम-भावना जगी' में मानस से 'मन' लिया जाएगा और 'मानस में हंस' में मानसरोवर। पयोधर के अर्थ हैं—बादल, स्तन। 'व्योम्नि पयोधराः' (आकाश में पयोधर) में पयोधर 'बादल' होगा और 'वक्षसि पयोधरौ' (छाती पर पयोधर) में 'स्तन'।

८. अन्य शब्द की संनिधि (समीपता)—समीपस्थ पदों या शब्दों की सहायता से अर्थनिर्णय होता है। जैसे—'राणा-शिवा' में अन्य पदों की सहायता से 'राणा प्रताप और शिवाजी' अर्थ होगा। 'मोती-जवाहर' में 'मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल नेहरू', 'गाँधी-पटेल' में 'महात्मा गाँधी और सरदार पटेल' अर्थ होगा। 'लाल-बाल-पाल' से लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक और विपिनचन्द्र पाल।

९. सामर्थ्य—जिसमें उस कार्य को करने की सामर्थ्य होगी, वह अर्थ लिया जाएगा। हरि के अर्थ हैं—विष्णु, बन्दर, सूर्य आदि। 'बिन हरि-भजन न दोष नसाहीं' (हरि-भजन बिना दोष नष्ट नहीं होते) में हरि से 'ईश्वर' या विष्णु अर्थ होगा। उसमें ही दोष नष्ट करने की शक्ति है।

१०. औचित्य—औचित्य के आधार पर अर्थ-निर्णय होता है। द्विज का अर्थ है—ब्राह्मण, दाँत, पक्षी। औचित्य के आधार पर 'द्विजाः पठन्ति' (द्विज पढ़ते हैं) में द्विज से 'ब्राह्मण', 'द्विजैः खाद्यते' (द्विजों से खाया जाया है) में द्विज से 'दाँत' और 'द्विजाः उड्डीयन्ते' (द्विज उड़ते हैं) में द्विज से 'पक्षी' अर्थ लिया जाएगा।

११. देश—देश या स्थान की विशेषता के आधार पर अर्थनिर्णय होता है। केदार के अर्थ हैं—क्यारी, केदारनाथ। 'केदारे गांधिसरोवरः' (केदार में गाँधी-सरोवर) में केदार का अर्थ 'केदारनाथ' होगा। 'बदर्यां वसुधारा-प्रपातः' (बदरी में वसुधारा-प्रपात) में बदरी का अर्थ 'बदरीनाथ' होगा, 'बेर' नहीं। ये दोनों चीजें केदारनाथ और बदरीनाथ में ही हैं।

१२. काल—समय के आधार पर अर्थ-निर्णय होता है। 'प्रातः हरिरुदेति' (प्रातः हरि उदय होता है) में प्रातःकाल के कारण हरि 'सूर्य' लिया जाएगा। 'निदाघे हरिः तपति' (गर्मी में हरि तपता है) में हरि 'सूर्य' होगा। 'मधौ कोकिलः कूजति' (मधु में कोयल बोलती है) में मधु 'वसन्त ऋतु' अर्थ होगा।

१३. व्यक्ति (पुंलिंग, स्त्रीलिंग)—लिंग-भेद से अर्थभेद हो जाता है। जैसे—दुर्गः (किला)-दुर्गा (पार्वती), कालः (समय, यम)-काली (दुर्गा), मित्रः (सूर्य)-मित्रम् (मित्र)। इसी प्रकार पापः (पापी)-पापम् (पाप), शिवः (शिव)-शिवा (गीदड़ी), कृष्णः (कृष्ण, काला)-कृष्णा (द्रौपदी), कपिलः (कपिलमुनि या पीला)-कपिला (पीली गाय), मुग्धः (मूर्ख)-मुग्धा (सुन्दरी)।

१४. स्वर—उदात्त आदि स्वरों के भेद से अर्थभेद हो जाता है। जैसे—'इन्द्रशत्रुः' में तत्पुरुष और बहुव्रीहि समास के कारण स्वरभेद से अर्थभेद हो गया। हिन्दी आदि में स्वर-भेद या ध्वनि-भेद (सुर-भेद) से अर्थभेद हो जाता है। 'आप आ गए' के स्वरभेद करके बोलने से प्रसन्नता, विस्मय, रोष आदि भाव व्यक्त होते हैं। काकु (स्वरभेद, व्यंग्य) के कारण 'न गमिष्यामि' (नहीं जाऊँगा) का अर्थ हो जाता है—'अवश्य जाऊँगा'।

वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज का कथन है कि ये साधन केवल दिशा-निर्देश के लिए हैं। इनके अतिरिक्त भी अन्य साधन होते हैं। जैसे—ष-स का भेद, न-ण का भेद, आंगिक अभिनय, मुख-विकार, नेत्र-विकार, हस्त-संकेत आदि।

८.१४. अर्थपरिवर्तन (अर्थविकास) की दिशाएँ

संसार की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं। भाषा भी परिवर्तनशील है। जिस प्रकार ध्वनियों में परिवर्तन होता है, उसी प्रकार प्रत्येक भाषा के शब्दों के अर्थों में भी परिवर्तन होता रहता है। इस अर्थ-परिवर्तन को विकास-सिद्धान्त की दृष्टि से 'अर्थविकास' भी कहा जाता है। यह अर्थ-परिवर्तन तीन प्रकार का होता है—१. कहीं पर अर्थ का विस्तार होता है, २. कहीं पर अर्थ में संकोच होता है, ३. कहीं पर पुराने अर्थ के स्थान पर नया अर्थ आ जाता है। इन्हें ये नाम दिए गए हैं—

(१) अर्थविस्तार (Expansion of Meaning)
(२) अर्थसंकोच (Contraction of Meaning)
(३) अर्थादेश (Transference of Meaning)

इन तीनों के जो उदाहरण मिलते हैं, उन पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कुछ स्थानों पर अर्थ अपने मूल अर्थ से उत्कृष्ट हो गया है और कहीं पर वह अपने मूल अर्थ से निकृष्ट, अपकृष्ट या घटिया हो गया है। इस दृष्टि से भी इनको दो भागों में रखा जाता है। ये उपर्युक्त तीनों भेदों में आते हैं; परन्तु सुविधा के लिए इन पर अलग भी विचार किया जाता है। ये भेद हैं—

(क) अर्थोत्कर्ष (Elevation of Meaning)
(ख) अर्थापकर्ष (Deterioration of Meaning)

(१) अर्थविस्तार

कुछ शब्द मूल रूप में किसी विशेष या संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होते थे। बाद में उनके अर्थ में विस्तार हो गया। जैसे—

१. कुशल—कुशल शब्द का अर्थ था—कुशान् लाति (कुशों को लाना या लेना)। कुश का अग्रभाग तीक्ष्ण होता है, उससे हाथ में छेद होने या कटने का भय रहता था। अतः कुश लाना चतुरता का सूचक था। अतएव तीक्ष्ण बुद्धि को 'कुशाग्रबुद्धि' कहा जाता है। यह शब्द धीरे-धीरे 'कुश लाना' अर्थ को छोड़कर 'चतुरता' और 'निपुणता' का

अर्थ देने लगा। इस प्रकार इसके अर्थ में विस्तार हो गया। 'वह संगीत में कुशल है,' वह शास्त्रों में कुशल है, वह खेलने में कुशल है, आदि।

२. प्रवीण—'प्रवीण' का अर्थ था—प्रकृष्टो वीणायाम् (वीणावादन में श्रेष्ठ या निपुण)। यह शब्द वीणा-वादन की निपुणता को छोड़कर केवल 'निपुण' या दक्ष (चतुर) अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। इसमें भी अर्थविस्तार हुआ है। जैसे—यह कृषिकर्म में प्रवीण है, यह साहित्य या दर्शन में प्रवीण है, यह कला में प्रवीण है, आदि।

३. तैल—सबसे पहले 'तिल' का तेल (द्रव) निकला था। उसके आधार पर तैल (तेल) नाम पड़ा। इसका अर्थ-विस्तार हुआ और अब यह तेल या द्रवमात्र के लिए प्रयुक्त होने लगा है। सरसों का तेल, मूँगफली का तेल, बादाम का तेल आदि। यहाँ तक कि मिट्टी का तेल भी तेल में है। तिल के तेल के लिए 'तिलतैलम्' कहना पड़ा।

४. गोशाला, गोष्ठ—गायों के रहने के स्थान को गोशाला या गोष्ठ कहते थे। उसमें बैल, भैंस, बकरी आदि भी बँधते हैं, फिर भी गोशाला नाम है। इस प्रकार गोशाला का अर्थ बढ़ा। इसी प्रकार गोष्ठ (गोठ) का भी अर्थ बढ़ा। गोष्ठ से गोष्ठी बना है—उसमें केवल बैठना अर्थ रह गया है। गोष्ठी में पशु के स्थान पर छात्र, अध्यापक, मनुष्य, विद्वान् सभी बैठते हैं। गोष्ठ शब्द इतना प्रचलित हुआ कि इसमें गो (गाय) का अर्थ जाता रहा और गो-गोष्ठम् (गाय-शाला), अविगोष्ठम् (भेड़-शाला), अजा-गोष्ठम् (बकरी-शाला) कहना पड़ा।

५. महाराज—यह राजा या महाराजा के लिए था, परन्तु इतना अर्थविस्तार हुआ कि किसी भी भद्र पुरुष को 'महाराज' कह सकते हैं। 'महाराज' रसोइया के अर्थ में बहुत प्रसिद्ध है।

६. गवेषणा—प्रारम्भ में 'गाय चाहना' अर्थ में था। फिर यह 'गाय ढूँढ़ना' अर्थ में आया। अब इसमें से गाय अर्थ हटकर केवल ढूँढ़ना, खोज करना, अर्थ रह गया है। अब शोधकार्य के अर्थ में इसका प्रयोग होता है।

इसी प्रकार मषी या स्याही (काली स्याही) का अर्थ विस्तृत होने से सभी प्रकार की स्याही को 'स्याही' कहते हैं। 'अधर' नीचे के ओठ के लिए था। अब दोनों ओठों के लिए हो गया। इसी प्रकार बैल, पशु, गधा, उल्लू आदि शब्दों का अर्थ विस्तृत हुआ और ये 'मूर्ख' का भी अर्थ बताने लगे।

(२) अर्थसंकोच

अर्थविस्तार के विपरीत कुछ शब्दों के अर्थों में संकोच हुआ है। उनका विस्तृत अर्थ संकुचित या सीमित हो गया है। यास्क ने निरुक्त में वस्तुओं के नामकरण पर विचार करते हुए—गो, अश्व, पृथ्वी आदि के उदाहरण देकर बताया है कि इनका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ बहुत विस्तृत है, परन्तु ये किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। 'गच्छतीति गौः' चलने वाले को 'गो' (गाय) कहते हैं। मनुष्य भी चलता है, उसे गो (गाय) नहीं कह सकते। 'अश्नुते अध्वानम् इति अश्वः' सड़क पर चलने वाले को **'अश्व'** (घोड़ा)

कहते हैं। सभी सड़क पर चलने वालों को 'अश्व' (घोड़ा) नहीं कह सकते। 'प्रथनात् पृथ्वी' फैली होने के कारण '**पृथ्वी**' (भूमि) नाम पड़ा। फैली हुई चादर, तम्बू, शामियाना को पृथ्वी नहीं कहेंगे। 'मनुष्यः मननात्' मनन या चिन्तन करने वाले को '**मनुष्य**' कहते हैं। मनुष्य जातिवाचक नाम हो गया, अतः चिन्तक और मूर्ख सभी मनुष्य हैं। इससे ज्ञात होता है कि नामकरण का आधार तात्कालिक कोई गुण या तत्त्व होता है। बाद में वह शब्द किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाता है। उसका व्युत्पत्ति के आधार पर सर्वत्र प्रयोग नहीं कर सकते हैं। अतएव आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में कहा है कि 'शब्दों की व्युत्पत्ति का आधार दूसरा है और प्रयोग का आधार दूसरा'। लोक-व्यवहार के आधार पर ही प्रयोग होता है, व्युत्पत्ति के आधार पर नहीं। इसको ही 'अर्थसंकोच' कहते हैं।

'अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्ति-निमित्तम्, अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्'।

(सा० दर्पण परि० २)

इसके सैकड़ों उदाहरण हैं। सभी वस्तु-नाम अर्थसंकोच के उदाहरण हैं। व्युत्पत्ति के आधार पर उनका व्यापक अर्थ है, परन्तु वस्तु-नाम होने पर वे उस अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। जैसे—**(१) जगत्, संसार, संसृति (संसार)**—इनके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हैं—गतिशील, संसरणशील। परन्तु ये शब्द 'संसार' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। **(२) वारिज, अम्बुज, सरसिज, सरोज, पंकज, नीरज**—इनका शाब्दिक अर्थ है—जल, तालाब, या कीचड़ में होने वाला। परन्तु ये शब्द 'कमल' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। मछली, काई, कीड़े आदि को नहीं कह सकते। **(३) जलद, तोयद, अम्बुद, वारिवाह (बादल)** का अर्थ है—जल देने वाला, जल धारण करने वाला। ये 'बादल' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं, **(४) वारिधि, नीरधि, अम्बुधि, तोयधि (समुद्र)** का अर्थ है—जल धारण करने वाला। ये शब्द 'समुद्र' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। बाल्टी, कंडाल, हौज को वारिधि नहीं कह सकते। **(५) सर्प**—रेंगने वाला। यह 'साँप' अर्थ में रूढ़ हो गया है। रेंगने वाले केंचुए आदि को सर्प नहीं कहेंगे। **(६) पर्वत**—पर्व (गाँठ) वाला। 'पहाड़' अर्थ में रूढ़ हो गया है। पर्व वाले गन्ने को पर्वत नहीं कहेंगे। **(७) तटस्थ, मध्यस्थ, उदासीन**—किनारे पर खड़ा, बीच में खड़ा, ऊपर बैठा हुआ, ये शाब्दिक अर्थ हैं। परन्तु इनका प्रयोग 'निष्पक्ष' के अर्थ में होता है। **(८) मन्दिर** का अर्थ भवन था। यह देवमन्दिर अर्थ में प्रसिद्ध हो गया है। **(९) मृग**—पशु-मात्र के लिए था। अब केवल 'हिरन' अर्थ रह गया है। अंग्रेजी का Deer भी पशु-मात्र का वाचक था, अब 'हिरन' अर्थ रह गया है। **(१०) सभ्य**—सभा में बैठने वाला। अब सुसंस्कृत, शिष्ट के लिए है। **(११) श्राद्ध**—श्रद्धायुक्त कर्म। अब मृतक श्राद्ध में ही प्रचलित है। **(१२) तर्पण**—तृप्त करना। यह भी मृतकों के लिए रह गया है। **(१३) अनुकूल, प्रतिकूल**—किनारे के इधर, किनारे के उधर। इसमें से कूल (किनारे) का अर्थ हट गया। अब केवल 'हितैषी' और 'विरोधी' अर्थ रह गए। **(१४) वेदना**—सुख और दुःख दोनों के अनुभव के लिए था। अब केवल 'दुःख' अर्थ रह गया है। **(१५) घृणा**—दया और घृणा दोनों अर्थों में था। अब केवल 'घृणा' अर्थ है, 'दया' नहीं।

प्रो० मिशेल ब्रेआल का यह कथन ठीक है कि राष्ट्र या जाति जितनी अधिक विकसित होगी, उसकी भाषा में 'अर्थसंकोच' के उदाहरण उतने ही अधिक मिलेंगे। इसका अभिप्राय यह है कि संस्कृति और सभ्यता के विकास से सामान्य शब्द विशेष अर्थों में प्रयुक्त होने लगते हैं। अतः 'अर्थसंकोच' हो जाता है। 'अर्थसंकोच' के कुछ कारण ये हैं—

(क) समास—समास से अर्थ-संकोच हो जाता है। कृष्णसर्पः (साँप की एक जाति), राजपुरुषः (राजकीय कर्मचारी), मनसिजः, मनोजः (कामदेव), चतुर्मुखः (ब्रह्मा), दशाननः (रावण), पीताम्बरः (कृष्ण), नीलाम्बरः (बलराम), शितिवासाः (बलराम), गजवदन (गणेश), पुरारिः (शिव)। पश्यतोहरः (सुनार, देखते-देखते चुराने वाला)।

(ख) उपसर्ग—उपसर्ग लगाने से अर्थ संकुचित हो जाता है। जैसे—योग, संयोग, वियोग, उपयोग, आयोग, नियोग, प्रयोग। गम—आगम, निगम, सुगम, दुर्गम, संगम, उद्गम। कार—प्रकार, आकार, विकार, संस्कार, प्रतिकार। हार—आहार, विहार, प्रहार, संहार। चार—प्रचार, आचार, विचार, संचार।

(ग) प्रत्यय—प्रत्यय लगाने से अर्थ-संकोच होता है। मन्-मति, मनन, मत, मान, मानक। युज्—योग, योजना, आयोजन, प्रयोजन। कृ—कार, कारक, करण, कृति, कर्तव्य, कर्म। भुज्—भोग, भोजन, भोजक। व्यंज्—व्यक्ति, व्यंजन, व्यंजना, व्यक्त। भज्—भाग, भजन, भक्ति।

(घ) विशेषण—विशेषण लगाने से अर्थ-संकोच हो जाता है। जन—दुर्जन, सज्जन। आचार—दुराचार, सदाचार, कदाचार (कुत्सित आचरण)। कमल—नील-कमल, श्वेत कमल, रक्त कमल। पुरुष—भद्र पुरुष, दुष्ट पुरुष, नीच पुरुष।

(ङ) नामकरण—किसी वस्तु का नाम रख देने से अर्थसंकोच हो जाता है। मानव, दानव, सुर, असुर, देव, गन्धर्व, अप्सरा आदि। कृष्ण, कृष्णा, गौरी, नकुल, भीम, युधिष्ठिर, राम, लक्ष्मण, अशोक, बुद्ध आदि। गंगा, यमुना, हिमालय, नर्मदा, विन्ध्य, हिन्द महासागर, प्रशान्त महासागर।

(च) पारिभाषिकता—शब्दों का पारिभाषिक अर्थों में प्रयोग। भाषाविज्ञान—स्वन, स्वनिम, ध्वनि, ध्वनिग्राम। काव्यशास्त्र—रस, लक्षणा, व्यंजना। व्याकरण—गुण, वृद्धि, आगम, आदेश, धातु, प्रत्यय।

(३) अर्थादेश

अर्थादेश का अर्थ है, एक अर्थ के स्थान पर दूसरे अर्थ का आ जाना। आदेश का अर्थ है—एक को हटाकर दूसरे का आना। अर्थादेश में शब्द का प्राचीन अर्थ लुप्त हो जाता है और नया अर्थ आ जाता है। जैसे—**(१) असुर**—मूल अर्थ असु + र (प्राणशक्तिसंपन्न) 'देवता' था। बाद में सुर (देवता) का उल्टा अ + सुर (राक्षस) अर्थ हो गया। **(२) वर**—मूल अर्थ 'श्रेष्ठ' था। अब केवल 'दूल्हा' अर्थ रह गया है। **(३) सह्**—वेद में सह् धातु का अर्थ 'जीतना' था। अब 'सहन करना' अर्थ रह गया है। **(४) मौन**—मूल अर्थ 'मुनि-कर्म' या मुनियों का आचरण था। अब 'चुप रहना' अर्थ रह गया

है। (५) **देवानां प्रियः**—देवों का प्रिय। अशोक की उपाधि थी। बौद्धों से द्वेष के कारण ब्राह्मणों ने 'देवानां प्रियः' का अर्थ 'मूर्ख' कर दिया। (६) **बौद्ध-बुद्धू**—बौद्ध धर्मावलम्बी को बौद्ध कहते थे। उसके अपभ्रंश रूप 'बुद्धू' का अर्थ 'मूर्ख' हो गया। (७) **पाषण्ड**—अशोक के समय में एक संप्रदाय था। इन्हें दान दिया जाता था। इसके रूपान्तर 'पाखण्ड' का अर्थ 'ढोंग, दिखावा' रह गया है। (८) **आकाशवाणी**—देवताओं की वाणी लिए था। अब All India Radio के लिए प्रयुक्त होता है। (६) **साहस**—साहस का प्राचीन अर्थ चोरी, डकैती आदि था। अब इसका 'उत्साहपूर्ण कार्य' अर्थ में प्रयोग होता है। (१०) **खाद्य-खाद**—खाद्य शब्द 'भक्ष्य' (खाने योग्य वस्तु) के लिए था। उसका रूपान्तर 'खाद' केवल कृषि के लिए उर्वरक है। (११) **भद्र-भद्दा**—भद्र का अर्थ था 'सुशील, विनीत, उच्च'। इसके विकसित रूप 'भद्दा' का अर्थ 'गन्दा, बुरा' हो गया है। (१२) **मुग्ध**—मूल अर्थ था 'मूर्ख'। इसका अर्थ हो गया है—'मोहित होना' सौन्दर्य पर मुग्ध होना। (१३) **वाटिका-बाड़ी**—संस्कृत में वाटिका का अर्थ था—बगीचा। बंगला में यह 'बाड़ी' (घर) हो गया है। (१४) **कर्पट-कपड़ा**—कर्पट का प्राचीन अर्थ था—फटा वस्त्र। इसका विकसित रूप 'कपड़ा' है। यह अच्छे कपड़े के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

(४) अर्थोत्कर्ष

अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि अर्थविकास की जो तीन दिशाएँ बताई गई हैं, उनमें कुछ शब्दों में अर्थपरिवर्तन से अर्थ में उत्कर्ष आया है और कुछ में अर्थ में अपकर्ष (निकृष्टता)। जिन शब्दों में अथोत्कर्ष हुआ है, उनके कुछ उदाहरण ये हैं—(१) **मुग्ध**—मूर्ख अर्थ में था, अब 'मोहित होना' अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता है। (२) **साहस-साहसी**—साहस—डाका डालना, चोरी, व्यभिचार आदि अर्थ में था, अब यह 'साहस'—उत्साहयुक्त कार्य और 'साहसी'—उत्साही अर्थ में प्रयुक्त होने से अर्थोत्कर्ष हुआ है (३) **कर्पट-कपड़ा**—'कर्पट' फटे-चीथड़े के लिए था, अब 'कपड़ा' अच्छे वस्त्र के अर्थ में आता है। (४) **फिरंगी**—पुर्तगाली डाकू के लिए था, अब 'यूरोपियन' के लिए है। (५) **गोष्ठ-गोष्ठी**—गोष्ठ गोशाला के लिए था, उससे बना 'गोष्ठी' सभ्य-समाज की सभा के लिए है। (६) **गवेषणा**—गाय ढूँढ़ना अर्थ था, अब 'अनुसंधान' अर्थ हो गया है। (७) **सभ्य**—सभा में बैठने वाले के लिए था, अब 'सुसंस्कृत' के लिए है।

(५) अर्थापकर्ष

इसी प्रकार अर्थपरिवर्तन से कुछ शब्दों के अर्थों में अपकर्ष (हीनता, निकृष्टता) आया है। जैसे—(१) **असुर**—ऋग्वेद में देव-वाचक था, संस्कृत में 'राक्षस' हो गया। (२) **जुगुप्सा**—पालन करना, छिपाना अर्थ था, अब 'घृणा' अर्थ रह गया। (३) **शौच**—पवित्र कार्य के लिए था (शुचि > शौच), अब 'मल-त्याग' अर्थ हो गया। (४)

देवानां प्रिय:—देवों का प्रिय, अशोक राजा अर्थ था, अब 'मूर्ख' अर्थ रह गया। (५) **घृणा**—संस्कृत में घृणा का 'दया' अर्थ भी था, अब केवल 'घृणा' अर्थ रह गया। (६) **महाराज**—बड़े राजा के लिए था, अब 'रसोइया' रह गया। (७) **भद्र-भद्दा**—भद्र 'सुशील' के अर्थ में था। उसका विकसित रूप 'भद्दा' 'गंदा-बुरा' अर्थ रह गया। (८) **चतुर्वेदी-चौबे**—चतुर्वेदी 'चारों वेदों के ज्ञाता' के लिए था, उसका विकसित रूप 'चौबे' केवल 'अधिक खाने वाला' अर्थ में रह गया। (९) **हरिजन-शिल्पकार**—हरिजन 'भक्त' के अर्थ में था, शिल्पकार—शिल्पी के अर्थ में था, अब दोनों शब्द 'शूद्र या अछूत' के अर्थ में हैं। (१०) **लिंग**—'चिह्न' अर्थ था, अब 'इन्द्रिय-विशेष' के लिए हो गया है। (११) **उद्धार-उधार**—उद्धार 'उद्धार करना', 'उधार' (उधार लेना) रह गया है। (१२) **मधुर**—मधुर (मीठा) भोजपुरी में 'माहुर' (विष) हो गया। (१३) **वज्रवटुक**—'पूर्ण ब्रह्मचारी' से 'बजरबट्टू' (महामूर्ख) हो गया। (१४) **आबदस्त**—नमाज पढ़ने से पूर्व हस्त-शुद्धि के लिए था, अब मलत्याग के बाद 'जल छूने' के लिए है। (१५) **कामशास्त्र, कोकशास्त्र**—काम-सम्बन्धी शास्त्र थे, अब 'सेक्स-साहित्य' के लिए हैं।

८.१५. अर्थ-परिवर्तन के कारण

अर्थ या शब्दार्थ यद्यपि काल्पनिक एवं सांकेतिक हैं, परन्तु अर्थबोध का साक्षात् सम्बन्ध मन से है। मानव मन गतिशील, चंचल, भावुक, संवेदनशील एवं नवीनता का प्रेमी है। अत: विभिन्न परिस्थितियों में मानव मन की स्थिति एक-सी नहीं होती है। यही कारण है कि राग-द्वेष, क्रोध, घृणा, आवेश आदि में उच्चरित शब्दों के अर्थों में अन्तर होता है। यह अर्थ-परिवर्तन प्रारम्भ में व्यक्तिगत होता है, परन्तु बाद में समाज के द्वारा स्वीकृत होने पर भाषा में ग्रहण कर लिया जाता है और भाषा का अंग बन जाता है। इस प्रकार **अर्थ-परिवर्तन की समस्त प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक है।**

मन की स्थितियों का भौतिक विश्लेषण नहीं किया जा सकता है, अत: अर्थ-परिवर्तन के कारणों की भी इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती है। कभी-कभी अर्थ-परिवर्तन में एक के साथ दूसरा कारण भी सम्बद्ध होता है, अत: दोनों कारणों में उस उदाहरण को प्रस्तुत किया जाता है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों—आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि ने अर्थभेद या अर्थपरिवर्तन के कारण रूप में लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का सूक्ष्मतम विवेचन किया है। आगे दिए गए प्राय: सभी कारण लक्षणा और व्यंजना शक्तियों के भेदों में अन्तर्निहित हो जाते हैं। अन्य भाषा-प्रभाव आदि कारण उनके विचाराधीन नहीं थे। स्पष्टता के लिए काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक नाम न देकर भाषाशास्त्रीय कारण प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

पाश्चात्य विद्वानों में प्रो० टकर एवं मिशेल ब्रेआल ने इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। डॉ० तारापोरवाला ने अपनी पुस्तक 'Elements of the Science of Language' में प्रो० टकर के अनुसार अर्थपरिवर्तन के १२ कारण माने हैं। अन्य

अनुसंधानों को भी समन्वित करते हुए अर्थ-परिवर्तन के २४ कारण माने जाते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

(१) **लाक्षणिक-प्रयोग** (Metaphor)—भावों और अनुभूतियों की सरल, सुन्दर एवं कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए लक्षणा शक्ति का आश्रय लिया जाता है। इससे भाषा में रोचकता एवं मधुरता आ जाती है। इसके लिए अनेक प्रकार अपनाए जाते हैं, जैसे—

(क) **सादृश्य-मूलक वर्णन**—निर्जीव में भी मानवीय अंगों का वर्णन। नारियल की **आँख**, आरी के **दाँत**, सुराही की **गर्दन**, घड़े का **मुँह**, पर्वत की **चोटी**, चारपाई के **पैर**, छन्द के **चरण** या **पाद**, मकान की **पीठ** (छत), गुफा का **पेट**।

(ख) **गौण-प्रयोग**—गुण-साम्य के आधार पर प्रयोग—सुन्दर कल्पना। कटु अनुभव, मधुर लय, मीठी मुस्कान, कटु सत्य, सरस साहित्य, नीरस भाषण, चटपटी बात आदि।

(ग) **गुणसाम्य-मूलक प्रयोग**—गुणों की समानता के आधार पर ऐसे प्रयोग होते हैं। राम सिंह है। गुणग्राही को हंस, डरपोक को गीदड़, मूर्ख को पशु या उल्लू, गन्दे को सूअर, महामूर्ख को गधा, खुशामदी को कुत्ता, भोले-भोले को गाय (गौ), कपटी एवं अपकारी को साँप (आस्तीन का साँप), दुर्जन को बिच्छू आदि।

(घ) **कृतियों के लिए लेखक का नाम**—शिशुपालवध महाकाव्य को 'माघ' माघ पढ़ रहा हूँ। 'कालिदास, अश्वघोष, भारवि या भवभूति पर शोध कार्य कर रहा हूँ', में कालिदास आदि से उनकी कृतियों का अभिप्राय है। 'आजकल सूर, तुलसी, प्रसाद, पन्त पर अनेक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं' में भी उनकी कृतियों से अभिप्राय है।

(२) **परिवेश-भेद (वातावरण में परिवर्तन)**—परिवेश या वातावरण में अन्तर हो जाने के कारण शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवेश-भेद अनेक प्रकार का हो सकता है—

(क) **भौगोलिक परिवेश-भेद**—भौगोलिक परिवेश में भेद के कारण शब्दों के अर्थ में अन्तर हो जाता है। वेद में '**उष्ट्र**' शब्द '**भैंसा**' के अर्थ में है। बाद में उष्ट्र का प्रयोग 'ऊँट' के अर्थ में होने लगा। इसका कारण आर्यों का भौगोलिक स्थान-परिवर्तन ज्ञात होता है। Corn (**कार्न**) शब्द के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अर्थ हैं—इंग्लैंड में 'गेहूँ', स्कॉटलैंड में 'बाजरा', अमेरिका में 'मक्का'। इसका एक मनोरंजक उदाहरण दिया जाता है कि गत युद्ध के समय अंग्रेजों ने अमेरिका से कार्न (गेहूँ) मँगाया था। अमेरिका वालों ने अपने अर्थ के अनुसार कार्न (मक्का) उन्हें भेज दिया। बाद में जाँच होने पर इसका यह भेद खुला। हिन्दी में '**खोता**', '**खोती**' समय नष्ट करने के लिए क्रियाशब्द हैं—समय खोता है, समय खोती है, परन्तु पंजाब में खोता (गधा), खोती (गधी) अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। 'भाइयो, वृथा समय क्यों खोते हो' भजन का संक्षिप्त रूप 'भाइयो क्यों तुम खोते हो, बहनो, क्यों तुम खोती हो' कहने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

इस प्रकार पश्चिमी उत्तर प्रदेश में '**लाला**' का अर्थ '**वैश्य**' है, पूर्वी उत्तर प्रदेश में 'कायस्थ'। पश्चिमी उ० प्र० में '**चावल**' चावल अन्न और भात दोनों के लिए, पूर्वी उ० प्र०

में चावल (अन्न) और भात (पका भात) में अन्तर है। उ० प्र० में '**ठाकुर**' का अर्थ 'क्षत्रिय' है, बिहार में 'नाई' और पश्चिम बंगाल में 'रसोइया'।

(ख) सामाजिक परिवेश-भेद—समाज में परिवेश के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है। अंग्रेजी के Mother (मदर), Sister (सिस्टर), Father (फादर), Brother (ब्रदर) आदि शब्द विभिन्न सामाजिक वातावरण में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। परिवार में ये माता, बहिन, पिता, भाई अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। अस्पताल में 'मदर' मैट्रन के लिए और 'सिस्टर' नर्स के लिए, रोमन कैथोलिक चर्च में 'फादर' पादरी (पुरोहित) के लिए, 'ब्रदर' सहयोगी पादरी के लिए। संस्कृत और हिन्दी में पितृवर्य: (पिताजी), मातृवर्या (माताजी) केवल पिता-माता के लिए ही नहीं, अपितु आदरणीय चाचा-चाची, पिता-माता के तुल्य पूज्य कोई भी व्यक्ति अर्थ हो सकता है। हिन्दी में इसी प्रकार 'भाई' शब्द साथी, मित्र, हितैषी, दुकानदार, नौकर आदि का बोधक है। 'बहिन' शब्द बहिन, बहिन की आयु की कन्याएँ, सहेलियाँ आदि का बोधक है।

सामाजिक परिवेश के कारण ही एकार्थक होने पर भी हिन्दू परमात्मा को 'ईश्वर', ईसाई 'गॉड (God)' और मुसलमान 'अल्लाह' कहेगा। इसी प्रकार विद्यालय-स्कूल-मकतब, संध्या-प्रेयर (Prayer)-नमाज, जलपान-ब्रेकफास्ट (Breakfast)-नाश्ता, राजा-किंग (King)-बादशाह, रानी-क्वीन (Queen)-बेगम आदि शब्दों में अन्तर हो जाता है।

(ग) धार्मिक परिवेश-भेद—धार्मिक परम्पराओं आदि के भेद के कारण शब्दों के अर्थों में अन्तर हो जाता है। प्राचीन परम्परा के अनुसार दो वेद जानने वाले को '**द्विवेदी**', तीन वेद जानने वाले को '**त्रिवेदी**' या 'त्रिपाठी', चार वेद जानने वाले को '**चतुर्वेदी**', शुक्ल-यजुर्वेद-ज्ञ को '**शुक्ल**', कृष्ण-यजुर्वेद-ज्ञ को '**मिश्र**' आदि कहते थे। परन्तु ये शब्द अब ब्राह्मणों की जाति-विशेष के वाचक रह गए हैं। '**यजमान**' यज्ञं करने वाला न होकर कोई भी '**जजमान**' हो सकता है। '**उपाध्याय**' अध्यापक न होकर कोई भी जन्मना उपाध्याय हो सकता है। '**दक्षिणा**' दक्षिण दिशा में बैठकर यजमान द्वारा दिया गया धन या दान होता है, अब यह केवल दान-दक्षिणा (कुछ भी धनादि-दान) रह गया है।

(घ) राजनीतिक परिवेश-भेद—राजनीतिक परिस्थितियों में अन्तर हो जाने के कारण शब्दों के अर्थों में बहुत परिवर्तन हो जाता है। उनमें मूल भावना नष्ट हो जाती है और व्यापक अर्थ में उन शब्दों का प्रयोग होने लगता है। जैसे—पारिवारिक गृह-कलह के लिए भी '**महाभारत**', दुराग्रह-पूर्ण कार्य के लिए भी '**सत्याग्रह**', हठ-युक्त आन्दोलन के लिए भी '**क्रान्ति**', झगड़े में मरने वाले को भी '**शहीद**', दुष्टहृदय को भी '**महाशय**' (विशाल हृदय) आदि। इसी प्रकार स्वार्थी को भी '**देशभक्त**', राष्ट्र को पीछे ले जाने वाले को भी '**नेता**' कहा जाता है।

(ङ) भौतिक परिवेश-भेद—भौतिक साधनों में परिवर्तन होने के कारण वस्तुओं के नामों में भी परिवर्तन हो जाता है। नई वस्तुओं के निर्माण या आविष्कार के साथ यह समस्या आती है कि उनका क्या नाम रखा जाए? इसके लिए सरल उपाय यही

अपनाया जाता है कि कोई पुराना शब्द जो उसके तुल्य वस्तु का बोधक हो, उसे उस अर्थ में प्रयोग किया जाए। पीने के लिए प्रयुक्त पात्र का प्राचीन नाम कमण्डलु (लोटा) आदि ज्ञात है, परन्तु गिलास जैसे बर्तन का नाम अज्ञात है। अंग्रेजी Glass **(ग्लास)** शब्द काँच के लिए है। अंग्रेजी में शीशा या दर्पण को Glass या Looking Glass (ग्लास, लुकिंग ग्लास) कहते हैं। पहले गिलास काँच का बना, अतः उसे ग्लास (गिलास) कहा गया। परन्तु अब अर्थ-विस्तार होने से धातु या प्लास्टिक आदि के बने पात्र को भी गिलास कहा जाता है। Pen **(पेन)** शब्द का भी ऐसा ही इतिहास है। पक्षी के पंख को 'पेन' कहते हैं। पहले कलम पक्षी के पंख से बनती थी, अतः उसे 'पेन' कहा गया। अब पेन, फाउन्टेन पेन, डॉट पेन आदि किसी भी धातु से बने हो सकते हैं। यही 'शीशा' (दर्पण) का इतिहास है। पहले शीशा धातु-निर्मित होता था। अब शीशा (दर्पण) काँच (शीशा) से निर्मित होता है, अतः उसे शीशा कहा जाता है।

(३) **व्यंग्य प्रयोग** (Irony)—इसको काव्यशास्त्र के अनुसार विपरीत लक्षणा कहते हैं। किसी पर आक्षेप करने या व्यंग्य करने में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जो उससे सर्वथा उल्टा अर्थ बताते हैं। जैसे—मूर्ख को **बृहस्पति**, झूठे को **युधिष्ठिर**, कृपण को **कर्ण**, डरपोक को **सिंह**, आचारहीन को **धर्मात्मा**, लम्पट को **ब्रह्मचारी**, कुलक्षणा को **सती**, अनाड़ी को **पंडित-पुंगव (इससे ही पोंगा शब्द बना है)**, दुर्जन को कृपानिधान, आदि। 'आँख का अन्धा नाम नैनसुख', 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा', आदि मुहावरे भी व्यंग्य-मूलक हैं। अपकारी का उपकारी के रूप में वर्णन करते हुए संस्कृत का प्रसिद्ध श्लोक है—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते, सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे, सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥

अर्थ सर्वथा भिन्न है—तुमने मेरा अपकार किया है, तुम शीघ्र मरो।

(४) **श्रवण-सुखदता** (Euphemism)—इसको अशुभ-परिहार, अमंगल-वारण, सुश्राव्यता भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसे यूफेमिज़्म कहते हैं। यूफेमिज़्म दो ग्रीक शब्दों—Eu (एउ) = सुन्दर, Phemos (फेमोस) = ध्वनि या कथन के संयोग से बना है। इसका अर्थ है—सुन्दर ध्वनि, कर्ण-सुखद या श्रवण-सुखद ध्वनि। अशुभ, अमंगलसूचक, घृणित और व्रीडाजनक शब्द सुनने में अप्रिय होते हैं, अतः उन अर्थों के लिए शुभ एवं सुन्दर शब्दों का प्रयोग सभ्यता तथा शिष्टता का सूचक माना जाता है। इसके कई भेद हो सकते हैं—१. अशुभ या अमंगल, २. व्रीडा (लज्जा), ३. जुगुप्सा (घृणित, अश्लील), ४. अन्धविश्वास-मूलक, ५. हीन-कार्य आदि।

(क) अशुभ-परिहार—अशुभ कार्यों एवं घटनाओं के लिए शुभ नाम दिए जाते हैं। 'मृत्यु' के लिए—पंचत्व, देहावसान, स्वर्गवास, वैकुण्ठलाभ आदि। 'लाश' के लिए—शव, मिट्टी आदि। वैधव्य के लिए—चूड़ी फूटना, सिन्दूर धुलना आदि। दीपक बुझाने को—दीपक बढ़ाना, दुकान बन्द करने को—दुकान बढ़ाना आदि। अन्धे को—सूरदास, प्रज्ञाचक्षु कहना भी अशुभ-परिहार है।

(ख) व्रीडा—लज्जाजनक शब्दों का अप्रयोग। इसमें मल-मूत्र-त्याग, नग्नता, यौन-कार्य आदि आते हैं। मलत्याग के लिए—शौच (पवित्रता), टट्टी (टाटी की ओट में बैठना), मैदान जाना, दिशा जाना, पाखाना (पैर रखने का स्थान)। मूत्रत्याग के लिए—लघुशंका, स्तन के लिए—छाती।

(ग) जुगुप्सा—जुगुप्सा शब्द गुप् धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'रक्षा करना'। जैसे—गोप्ता, गुप्त, गोपनीय। रक्षा-योग्य वस्तु छिपाकर रखी जाती है, इसलिए जुगुप्सा का अर्थ 'छिपाने योग्य' हुआ। धीरे-धीरे जुगुप्सा शब्द का प्रयोग घृणा अर्थ में होने लगा, क्योंकि घृणित वस्तुएँ भी छिपाने योग्य होती हैं। घृणास्पद वस्तुओं और बातों का प्रयोग अशिष्ट समझा जाता है। अतएव 'पीब पड़ना', 'राल टपकना', 'कीड़े पड़ना', 'खून से लथपथ' जैसे प्रयोग वर्ज्य माने जाते हैं। यौन अंग, यौन भावना के लिए शिष्ट शब्दों का प्रयोग किया जाता है। मैथुन के लिए रतिकर्म आदि। इसी प्रकार नग्न के लिए दिगम्बर, दिग्वासस् आदि।

(घ) अन्धविश्वास—अन्धविश्वास के कारण पति, पत्नी, ज्येष्ठ पुत्र, गुरु, अतिकृपण आदि का नाम लेना वर्जित माना जाता है। मनुस्मृति में स्पष्ट उल्लेख है—

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च ।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्य-कलत्रयोः ॥

अन्धविश्वास है कि अतिकृपण के प्रातः दर्शन से दिनभर भोजन नहीं मिलता। उक्त कारणों से पति के लिए—'अमुक के पिता', 'अमुक के बाबू' आदि, पत्नी के लिए 'अमुक की माँ', 'अमुक की महतारी' आदि कहा जाता है। अन्धविश्वास के कारण ही घातक बीमारियों के लिए शुभ नाम रखे गये हैं। जैसे—चेचक को शीतला, माता, महारानी; हैजे को 'पेट चलना'। घातक जीवों को अच्छे नाम—सर्प को कीड़ा, कीरा, रसरी आदि।

(ङ) हीन-कार्य—हीन या निकृष्ट काम करने वालों को अतएव अच्छे नाम दिए जाते हैं। जैसे—भंगी को जमादार, मेहतर (संस्कृत महत्तर)। चोर को तस्कर (तत् + कर, वह अनुचित काम करने वाला)। न्यूयार्क आदि में मोटा काम करने वाले अफ्रीकी हबशी Black Man (काला आदमी) कहाना पसन्द करते हैं, परन्तु नीग्रो (जंगली) कहने पर मारने को तैयार हो जाते हैं।

(५) शिष्टाचार एवं विनम्रता—शिष्टाचार एवं विनम्रता मनुष्य की कुलीनता का सूचक है। इसमें अहंभाव का परित्याग है। अतएव अपने इष्टदेव, पूज्य, राजा आदि का बहुत बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया जाता है और अपने को अत्यन्त तुच्छ। अतएव भक्त अपने को 'दीन', 'पतित', 'पापी', 'खल', 'कुमति' आदि कहता है, तथा परमात्मा को 'दीनबन्धु', 'पतित-पावन', 'पतित-उधारनहार', 'अशरण-शरण', 'पालनहार' आदि कहता है। इसीलिए गीतों में ये पद मिलते हैं—'मैं मूरख खल कामी', 'तुमको मैं कुमति', 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' आदि। राजा को—अवनिपति, राजाधिराज, जहाँपनाह, गरीब-परवर, अन्नदाता, माई-बाप, आलम-पनाह, पृथ्वीनाथ, जगत्पालक

आदि। नौकर अपने आपको—चरणसेवक, गुलाम, अकिंचन, नाचीज, अनुचर, किंकर, सेवक आदि। इसी प्रकार शिष्टतावश आइए बैठिए के स्थान पर 'पधारिए'; 'आसन को अलंकृत कीजिए'; 'कहिए' के लिए आज्ञा दीजिए, 'फरमाइए'। भोजपुरी में 'आप' के लिए 'राउर' (सं० राजकुल्य, राजकुलीन) शब्द है।

(६) वैयक्तिक ज्ञानभेद—प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान का स्तर भिन्न होता है। शिक्षित, अशिक्षित, दार्शनिक, वैज्ञानिक, भाषाशास्त्री आदि के ज्ञान का स्तर पृथक् होता है। प्रत्येक विषय का विशेषज्ञ उस विषय के पारिभाषिक शब्दों का अर्थ सूक्ष्मता से समझता है, अन्य व्यक्ति उस शब्द का सामान्य अर्थ लेते हैं। इसीलिए शब्दों के अर्थ-ज्ञान में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, जीव, प्रकृति, माया, स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य, हिंसा, अहिंसा, क्रान्ति, आक्सीजन, हाइड्रोजन, आणविक अस्त्र, ध्वनिविज्ञान, ध्वनियन्त्र आदि शब्दों का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार समझता है। प्रत्येक शब्द एक 'रत्न' है, जिसका असली मूल्य विशेषज्ञ या जौहरी ही जान सकता है, जनसाधारण के लिए वह एक चमकीला पत्थर है।

(७) भावात्मक बल—इसमें ही भावावेश और भावुकता का भी संग्रह हो जाता है। भावात्मक बल देने से शब्दों के अर्थों में अन्तर आ जाता है। सरसता, मनमोहकता आदि का बोध कराने के लिए मिठाइयों के बंगाली नाम—रसगोल (रसगुल्ला), सीताप्रिय, मोहनप्रिय, सन्देश आदि। भावोद्बोधन के लिए—कद्दू को सीताफल, तोरई को रामतरोई। पवित्रता-बोधन के लिए 'प्रयाग' शब्द—कर्णप्रयाग, देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, विष्णुप्रयाग। शुचित्व के लिए 'गंगा' शब्द—रामगंगा, विष्णुगंगा, लक्ष्मणगंगा आदि। अतिशय के लिए 'प्रचण्ड' आदि शब्द—प्रचण्ड उत्साह, भीषण गर्मी, भयंकर शीतलता, प्रचण्ड मूर्ख, प्रचण्ड प्रताप आदि।

भावात्मक बल के कारण कुछ शब्दों का अर्थ सर्वथा बदल जाता है। जैसे—राम-राम! हरे-हरे! (घृणा-सूचक)। प्रेमातिशय में बच्चे को—शैतान, मूर्ख, नालायक, कमबख्त, बेहूदा, नादान, गधा आदि शब्द केवल प्रेम-सूचक हैं। इसी प्रकार पति को राजा, पत्नी को रानी, पिता को भाई या भैया, पुत्र को बाबू कहना भी प्रेमाधिक्य का सूचक है।

(८) सामान्य के लिए विशेष—कभी-कभी सामान्य के लिए विशेष का प्रयोग प्रचलित हो जाता है। किसी विशिष्ट अर्थ को बताने वाला शब्द सामान्य रूप से उस वर्ग का बोध कराता है। जैसे—**'तैल'** शब्द तिल के तेल के लिए था। परन्तु अब यह सभी प्रकार के तेल के लिए प्रयुक्त होता है। सरसों का तेल, नारियल का तेल आदि। तिल के तेल के लिए तिल-तैलम् कहा जाएगा। अर्थविस्तार से मिट्टी का तेल भी इसी में आता है। **गोष्ठ, गोशाला** गायों के आश्रय के लिए थे, पर उसमें अन्य पशु भी बँधते हैं। उसे भैंसशाला नहीं कहेंगे। गोष्ठ से **गोष्ठी** बना है, गोष्ठी में अब गाय की जगह मनुष्य और विद्वान् बैठते हैं। **शाक** (सूखा साग) और **सब्जी** (सब्ज-हरा, या ताजा साग) में अन्तर था, पर अब सब्जी में दोनों प्रकार के साग आते हैं। **मषी** और **स्याही** शब्द काले के बोधक हैं, अतः काली स्याही के लिए थे। परन्तु अब ये शब्द सभी प्रकार की स्याही के

लिए हो गए हैं—नीली स्याही, हरी स्याही, लाल स्याही, काली स्याही। '**पैसा**' शब्द धन-वैभव का सूचक हो गया है। 'ये पैसे-वाले हैं' में पैसा से पैसा ही नहीं, रुपया-नोट आदि सभी प्रकार का धन अभिप्रेत है।

कुछ जाति-वाचक शब्द एक ही लिंग में प्रयुक्त होते हैं और पुंलिंग-स्त्रीलिंग (नर-मादा) दोनों का बोध कराते हैं। पुंलिंग का प्रयोग दोनों लिंगों के लिए—तोता, मैना, कौआ, कोकिल, बाज, बारहसिंगा, चीता, गीदड़ आदि। केवल स्त्रीलिंग शब्द दोनों लिंगों के लिए—चींटी, लोमड़ी, छिपकली, भेड़ आदि। इसी प्रकार छात्र, अध्यापक, वकील, डॉक्टर, मजदूर, प्रोफेसर आदि शब्द दोनों लिंगों के लिए प्रयुक्त होते हैं। विधान (Law) का नियम है 'He includes she' अर्थात् पुंलिंग में स्त्रीलिंग का भी समावेश है। 'जलपान' और 'टी पार्टी' में केवल जल या चाय नहीं है। इसमें पूरा लघु-भोजन समाविष्ट है।

(९) शब्दार्थ की अनिश्चितता—भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिनका अर्थ पूर्णतया स्पष्ट और निश्चित नहीं होता है। इस कोटि में मुख्य रूप से अमूर्त भावों के बोधक शब्द हैं। इसके कुछ उदाहरण वैयक्तिक ज्ञानभेद (६) में मिलेंगे। दोनों में अन्तर यह है कि उसमें व्यक्ति के ज्ञान पर बल है। वहाँ व्यक्तिगत ज्ञानभेद से अर्थभेद है। यहाँ शब्द का अर्थ अमूर्त होने से अस्पष्ट है। जैसे—पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, न्याय, प्रेम, श्रद्धा, दया, अनुकम्पा, घृणा, शुश्रूषा, आसक्ति, अनुरक्ति, विरक्ति, भक्ति, उत्थान-पतन, आरोह-अवरोह आदि। इनका ठीक यही अर्थ है, यह बताना असंभव है। परिस्थिति, काल, देश आदि के भेद से इनके अर्थों में बहुत अन्तर हो जाता है। कैसा स्वर्ग?, कैसा नरक? है भी या नहीं? यह बताना असंभव है। इसी प्रकार अन्य शब्दों के अर्थ हैं।

(१०) अज्ञान और भ्रान्ति—अज्ञान या भ्रान्त धारणा के कारण बहुत से शब्दों का अशुद्ध प्रयोग होने लगता है। बाद में वे शब्द भाषा में चल पड़ते हैं। वेद में असुर (असु + र, प्राणशक्ति-सम्पन्न) शब्द देव-वाचक था। संस्कृत में 'सुर' शब्द देव-अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और अ + सुर (देव-भिन्न) अर्थ लेकर असुर का प्रयोग राक्षस के लिए होने लगा। अज्ञान के कारण ही अभि + ज्ञ (विद्वान्) में 'अ' को निषेधार्थक मानकर कुछ लोग विज्ञ के तुल्य भिज्ञ (विद्वान्) और अ + भिज्ञ (मूर्ख) प्रयोग करते हैं। अनुगृहीत के स्थान पर अनुग्रह के आधार पर 'अनुग्रहीत' प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार विद्वत्ता के लिए विद्वानता, महत्ता के लिए महानता, अज्ञानमूलक प्रयोग हैं। लोकभाषा में बूढ़ा के लिए बुढ़ापा, फजूल के लिए बेफजूल आदि प्रयोग अज्ञानसूचक हैं।

(११) एक तत्त्व की प्रधानता—कभी-कभी एक विशेषता या एक तत्त्व की प्रधानता के आधार पर किसी वस्तु का नाम पड़ जाता है, जैसे—सुन्दर वर्ण (रंग) के कारण सुवर्ण (सोना), सफेदी के आधार पर 'चाँदी' (चन्द्र > चाँद, चाँदनी), गौर वर्ण के कारण गौरी (पार्वती, हिन्दी-गोरी), कृष्णा (काली, रात्रि)। इसी प्रकार पुलिस के लिए 'लाल पगड़ी', कांग्रेसी के लिए 'सफेद टोपी', कम्युनिस्ट के लिए 'लाल झंडा', ख़ान अब्दुल गफ्फार खाँ की स्वयंसेवी संस्था के लिए 'लाल कुर्ती' शब्द चल पड़े हैं।

(१२) गौण अर्थ की मुख्यता—साहचर्य आदि कारणों से गौण अर्थ का मुख्य अर्थ में प्रयोग होने लगता है। संस्कृत में देश के आधार पर देशज व्यक्ति और राजा का अर्थ होता है—अङ्गाः, बङ्गाः, कलिङ्गाः (अंग, बंग, कलिंग के व्यक्ति या राजा)। 'पंजाब बहादुर है' में पंजाब पंजाबी के लिए है। यमन देश के आधार पर 'यवन' (मुसलमान), असीरिया देश के आधार पर 'असुर' नाम चले। इसी प्रकार सिन्धु देश में होने से सैन्धव (सेंधा नमक), सुलेमान पर्वत पर होने से सुलेमानी नमक, सांभर झील से उत्पन्न होने से 'सांभर नमक' नाम पड़े। कश्मीर में होने से केसर को 'काश्मीर', चीन से सम्बद्ध होने से 'चीनी', 'चीनी मिट्टी', 'चीनिया बादाम' (मूँगफली) नाम पड़े। तम्बाकू सर्वप्रथम सूरत बन्दरगाह पर उतरा, अतः उसका 'सुर्ती' नाम पड़ा।

(१३) एक शब्द के विभिन्न रूप—भाषाओं में विकास के कारण एक शब्द के अनेक रूप प्रचलित हो जाते हैं। तत्सम शब्द प्रायः प्राचीन मूल अर्थ को बताता है। तद्भव शब्द उससे सम्बद्ध निकृष्ट अर्थ या अन्य अर्थ को बताता है। जैसे—कर्म (कर्तव्य), काम (काम-धंधा), क्षीर (दूध), खीर (खीर), स्तन (स्त्री का), थन (पशु आदि का), श्रेष्ठ-सेठ (साहूकार), साधु (सज्जन), साहु (वैश्य), पत्र-पत्ता-पत्ती-पत्रा (पंचांग), पत्री (चिट्ठी), खाद्य (भोज्य-पदार्थ), खाद (उर्वरक), अन्नाद्य (भोज्य अन्न), अनाज; स्थान-थान (देवी या पशु का), थाना (पुलिस का)। कुछ शब्दों के तद्भव रूप विकृत या निकृष्ट अर्थ का बोध कराते हैं। जैसे—ब्राह्मण (शिक्षित), बाम्हन (अशिक्षित), चतुर्वेदी (वेदज्ञ), चौबे (जाति से), त्रिवेदी (तिवारी), द्विवेदी (दूबे), शुक्ल (यजुर्वेदी), सुकुल (जाति से), उपाध्याय—ओझा, झा (जाति से)।

(१४) समास, उपसर्ग, लिंग-भेद—समास-युक्त और असमस्त शब्दों के अर्थों में अन्तर होता है—कृष्णसर्पः (सर्प-विशेष)—काला सर्प (कोई भी साँप), राजपुरुषः (राजकीय कर्मचारी)—राज्ञः पुरुषः (राजा का कोई भी आदमी)। इसी प्रकार महात्मा—महान् आत्मा, महापुरुष—महान् पुरुष, नीलकमल (कमल का भेद)—नीला कमल में अन्तर है। समास में शब्दों को आगे-पीछे करने से अर्थ बदल जाता है। जैसे—

पति-गृह (ससुराल)—गृहपति (गृहस्वामी), पण्डितराज (पण्डितों में श्रेष्ठ)—राजपण्डित (राजा का पण्डित), कविराज (वैद्य)—राजकवि (राजा का कवि)। इसी प्रकार राजवैद्य-वैद्यराज, धनपति-पतिधन, ग्रामपति-पतिग्राम आदि।

संस्कृत में उपसर्ग लगाने से शब्दों के अर्थों में महान् अन्तर हो जाता है। हार-आहार-विहार-प्रहार-उपहार-संहार, योग-वियोग-संयोग-प्रयोग-अनुयोग, कार-आकार-विकार-प्रकार-संस्कार, धान-परिधान-विधान-निधान-अनुसंधान, ज्ञान-विज्ञान-प्रज्ञान, दान-आदान-प्रदान-अनुदान आदि।

लिंग-भेद से अर्थभेद हो जाता है। काला-काली (दुर्गा), शिव-शिवा (गीदड़ी), कृष्ण-कृष्णा (द्रौपदी), शैल (पर्वत)-शैला (पार्वती), गौर-गौरी (पार्वती), चण्ड-चण्डी (देवी), दक्षिण-दक्षिणा (दान) आदि।

(१५) बल का अपसरण (Shifting of Emphasis)—शब्द में किसी ध्वनि

से बल या बलाधान को हटा देने से वह ध्वनि निर्बल हो जाती है और अन्त में उसका लोप भी हो जाता है। इससे मुख्य अर्थ में अन्तर हो जाता है। उपाध्याय > ओझा > झा में बल-अपसारण से उपाध्याय का झा रह गया और गुरु अर्थ के स्थान पर कान-झाड़ने वाला या कान-फूँकने वाला अर्थ रह गया। गोस्वामी से गोसाईं में केवल साधु या मान्य अर्थ रह गया। पुंगव (बैल, फिर श्रेष्ठ अर्थ) > पोंगा (गँवार पंडित)। इसी प्रकार युयुत्सु (लड़ने का इच्छुक) से जुजुत्सु (जापानी कुश्ती), वज्रवटुः (घोर ब्रह्मचारी) > बजरबट्टू (महामूर्ख) आदि।

(१६) कालभेद—कालभेद से शब्दों के अर्थों में अन्तर होता जाता है। विकास-क्रम के अनुसार सभी भाषाओं में शब्दों के अर्थों में अन्तर होता गया है। वैदिक संस्कृत---संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी के प्राचीन और नवीन रूपों की तुलना से यह स्पष्ट होता है। वेद में सह् धातु 'जीतना' अर्थ में थी, अब सहन करना अर्थ रह गया है। 'मृग' सिंह-वाचक था, अब हिरन-वाचक है। गवेषणा (गाय की खोज) का 'शोधकार्य या खोज' अर्थ रह गया है। श्रेष्ठ > सेठ, साधु > साहु, महाराज > महाराज (रसोइया), महत्तर > मेहतर (भंगी), महाजन (बनिया) आदि कालभेद से अर्थभेद के उदाहरण हैं।

(१७) अन्य भाषाओं के शब्द—अन्य भाषाओं से जो शब्द किसी भाषा में लिए जाते हैं, उनके मूल अर्थ और नये अर्थ में अन्तर हो जाता है। फारसी में 'मुर्ग' का अर्थ 'पक्षी' है। हिन्दी में उसका अर्थ 'मुर्गा' पक्षी रह गया है। लार्ड से लाट-लाटसाहब-लाटसाहबी आदि शब्द केवल शान-शौकत का बोध कराते हैं। 'दीनार' शब्द (Denarius = डीनेरियस) रोम से आया। इसका अर्थ 'चाँदी या सुवर्ण का सिक्का' था। भारत में यह सोने के सिक्के (अशर्फी) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। संस्कृत का 'बुद्ध' (गौतम बुद्ध) फारसी में बुत (मूर्ति) हो गया। इससे वे हिन्दुओं को बुतपरस्त (मूर्तिपूजक) कहते हैं। संस्कृत के अर्वन् (घोड़ा) से 'अरब' देश का नाम पड़ा। संस्कृत का 'असुरमेधा' (दिव्य बुद्धि) शब्द अवेस्ता में 'अहुरमज्दा' (पारसियों का इष्टदेव) बना। संस्कृत का 'नास्ति नाभूत्' (न है, न था) से फारसी 'नेस्त नाबूद' (सर्व-नाश) हो गया। संस्कृत 'वाटिका' (बगीचा) बंगला में 'बाड़ी' (घर) हो गया। संस्कृत 'कादम्बरी' (बाण की कृति) मराठी में 'कादम्बरी' (उपन्यास) हो गया। इसी प्रकार संस्कृत 'नील' (नीला) हिन्दी में 'नील' (कपड़े में लगाने का नीला पदार्थ) और गुजराती में 'लीलो' (हरा रंग) हो गया। संस्कृत 'मृग' (पशु) फारसी में 'मुर्ग' (पक्षी) हो गया। वैदिक 'जनि' (स्त्री) अंग्रेजी में Queen (क्वीन, रानी) हो गया। अन्य भाषाओं के शब्दों को लेने में प्रायः कुछ ध्वनि-परिवर्तन भी हो जाता है।

(१८) अन्य भाषा-प्रभाव—सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कारण अन्य भाषाओं का प्रभाव दूसरी भाषाओं पर पड़ता है। बंगला, पंजाबी, मराठी आदि का प्रभाव संस्कृत एवं हिन्दी की शब्दावली पर पड़ा है। अब कतिपय शब्द प्राचीन अर्थों में प्रयुक्त न होकर नये अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। बंगला के प्रभाव से हिन्दी में 'उपन्यास' (Novel) शब्द चला। 'प्रबन्ध', 'निबन्ध' शब्द लेख (Essay) अर्थ में थे। अब थीसिस (Thesis) के

अर्थ में भी चल पड़े हैं। समारोह (चढ़ना) का 'शुभ आयोजन' अर्थ हो गया। समाचार (शुभ आचरण) का वार्ता (News) अर्थ हो गया। पंजाबी और हरियाणी के प्रभाव से हिन्दी में 'काटना' के अर्थ में 'लड़ना' का प्रयोग भी होता है। 'मच्छर काट रहे हैं' को 'मच्छर लड़ रहे हैं'। भोजपुरी में 'मच्छर लग रहे हैं' कहते हैं।

(१९) संक्षेप (संक्षिप्तता)—प्रयत्नलाघव मानव की प्रवृत्ति है। अतएव वह थोड़े शब्दों से अधिक अर्थ प्रकट करना चाहता है। फलस्वरूप शब्द के एक अंश से पूरे शब्द का अर्थ लिया जाता है। जैसे—नामों में एक अंश—रामचन्द्र को 'राम', कृष्णचन्द्र को 'कृष्ण', वेदव्यास को 'व्यास'। शिलालेखों और ताम्रपत्रों में 'बहुलपक्ष-दिवस' को ब० दि० (कृष्णपक्ष का दिन), शुक्लपक्षदिवस को शु० दि० लिखा जाता था। इससे ही हिन्दी 'बदी' 'सुदी' शब्द चले हैं। 'संयुक्त विधायक दल' को 'संविद', 'भारतीय क्रान्तिदल' को 'भाक्रांद या BKD'। इसी प्रकार 'मोटर कार' को 'कार', 'रेलवे ट्रेन' को 'रेलगाड़ी या रेल', डाक ले जाने वाली 'मेल ट्रेन' को 'मेल या डाक'। इसी प्रकार अँग्रेजी के शब्दों में भी संक्षेप मिलता है—ऑटो-रिक्शा को 'आटो', बाइसिकिल (बाइ-दो, साइकिल-पहिए) को 'बाइक', 'माइक्रोफोन' को 'माइक', 'नेक-टाई' को 'टाई' आदि।

(२०) सादृश्य (Analogy)—सादृश्य के कारण शब्दों के अर्थों में अन्तर हो जाता है। 'प्रश्रय' (प्रेम, 'प्रणयपश्रयौ समौ' अमर०) का 'आश्रय' अर्थ में प्रयोग, अनुक्रोश (दया) का 'आक्रोश' (क्रोध, क्षोभ) अर्थ में प्रयोग, उत्क्रान्ति (मृत्यु, उछाल) का 'क्रान्ति' अर्थ में प्रयोग मिलता है। इसका कारण सादृश्य है।

(२१) पुनरावृत्ति—अज्ञान आदि के कारण एक ही अर्थ के लिए दो-दो शब्द चल पड़ते हैं। जैसे—'हिमालय' के लिए 'हिमाचल पर्वत', 'विन्ध्याचल' के लिए 'विन्ध्याचल पर्वत' (अचल का अर्थ भी पर्वत है)। 'मलय' ('मलय' का अर्थ पर्वत है) के लिए 'मलय गिरि'। इसी प्रकार 'सज्जन' (जन = पुरुष) के लिए 'सज्जन-पुरुष', 'दुर्जन' के लिए 'दुर्जन पुरुष' प्रयोग है। पुर्तगाली में 'पाव' रोटी को कहते हैं, इसके लिए 'पावरोटी' (डबल रोटी) बोला जाता है।

(२२) प्रयोगाधिक्य—कुछ शब्द बहुत अधिक प्रयोग के कारण अपना मूल महत्त्व-सूचक अर्थ खो देते हैं। जैसे—श्रीमान् (श्री-युक्त), श्रीयुत (श्री-संपन्न), महाजन (महान् व्यक्ति), महोदय (उन्नत व्यक्ति), महाशय (विशाल हृदयवाले), महात्मा (महान् आत्मा), साधु-साहु (सज्जन), बाबू (भद्र पुरुष), चौधरी (ठाकुर) आदि शब्द अत्यन्त व्यवहार के कारण अपना महत्त्व खो चुके हैं। इनका प्रयोग सर्व-साधारण के लिए होने लगा है। इसी प्रकार 'बहुत', 'अधिक', 'अतिशय', 'अत्यन्त', 'उत्तम' आदि शब्द भी घिसकर खोटे हो गए हैं।

(२३) जातीय मनोभाव—जातीय या राष्ट्रीय दुर्भावना के कारण अच्छे शब्दों का बुरे अर्थों में प्रयोग होने लगता है। फारसी में 'हिन्दू' का अर्थ नीच, गुलाम, अपवित्र, काफिर है। 'बुद्ध' का 'बुद्धू' (मूर्ख), 'लुंचितकेश' (मुंडित सिर, जैन) का 'लुच्चा' (अधम, नीच) ऐसे ही शब्द हैं। आर्यसमाजी जूते को 'कुरान शरीफ' और शौचालय को

'पाकिस्तान' कहते सुने गए हैं। इसी प्रकार मुसलमान हिन्दुओं को 'काफिर', शौचालय को 'मन्दिर' कहते पाए गए हैं।

(२४) साहचर्य—साहचर्य के कारण शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। सिन्धु नदी के साहचर्य से 'सिन्धु' (प्रान्त का नाम)। स् को फारसी में ह् होने से सिन्धु का ही 'हिन्दु' बना है। यह जातिवाचक हो गया। साहचर्य के कारण ही अंग, बंग, कलिंग, महाराष्ट्र, कम्बोज, पंचाल, द्रविड़ आदि शब्द देश के साथ ही देशज व्यक्ति के भी बोधक हैं।

८.१६. अर्थिम, अर्थतत्त्व (Semanteme)

अर्थिम को अर्थतत्त्व भी कहते हैं। इसको अंग्रेजी में Semanteme (सीमेन्टीम) या Sememe (सेमीम) कहते हैं। **'सार्थक सूक्ष्मतम इकाई को अर्थिम कहते हैं'**। अर्थिम या अर्थतत्त्व का वर्णन पद-विज्ञान में 'पदिम' (Morpheme) के प्रसंग में दिया जा चुका है।

अर्थिम और रूपिम—रचना की दृष्टि से रूपिम (रूपग्राम) को दो भागों में बाँटा गया है—(१) मुक्त रूपिम या मुक्त रूपग्राम (Free Morpheme)—घर, पुस्तक, नगर आदि, (२) बद्ध रूपिम या बद्ध रूपग्राम (Bound Morpheme)—से, ने, को, ता, ती, गा, गी आदि। इसी को अर्थ की दृष्टि से कहेंगे—**(१) मुक्त अर्थिम** (Free Semanteme)—पुस्तक, घर, नगर, आदि, **(२) बद्ध अर्थिम** (Bound Semanteme)—प्रत्यय-सुप् (सु, औ आदि), तिङ् (ति, तः आदि), कृत् प्रत्यय (तृ, त, ति आदि), तद्धित प्रत्यय (त्व, ता, मत्, वत्, अ आदि), स्त्रीप्रत्यय (आ, ई आदि)। शुद्ध प्रातिपदिक, अंग, धातु या प्रकृति, जो स्वतन्त्ररूप से प्रयोग में आ सकते हैं, वे मुक्त अर्थिम या मुक्त अर्थतत्त्व या अर्थग्राम (Free Semanteme) हैं। जैसे—राम, कृष्ण, उठ, बैठ, धन आदि। प्रत्यय आदि, जो शब्द या धातु से मिलकर ही प्रयुक्त होते हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं, वे बद्ध अर्थिम (Bound Semanteme) हैं।

अर्थ की दृष्टि से अंग (धातु, प्रातिपदिक, Stem, Root) को दो भागों में बाँटा गया है—**(१) अर्थतत्त्व, अर्थदर्शी रूपग्राम** (Semanteme) और **(२) सम्बन्धतत्त्व या सम्बन्धदर्शी रूपग्राम** (Functional morpheme)। इसको ही अर्थ की दृष्टि से कहेंगे—**(१) अर्थिम या अर्थतत्त्व** (Semanteme)—राम, हरि, मनुष्य, पशु, पठ्, लिख्, पढ़, लिख आदि। **(२) सम्बन्धदर्शी या बद्ध अर्थिम** (Bound Semanteme या Functional Semanteme)—प्रातिपदिक और धातुओं के अन्त में लगने वाले सभी प्रकार के प्रत्यय, जिनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जैसे—सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित, स्त्रीप्रत्यय आदि।

८.१७. अर्थिम और रूपिम में सम्बन्ध

अर्थिम (Semanteme) और रूपिम (Morpheme) में क्या सम्बन्ध है? अर्थिम और रूपिम एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। रूपिम शब्दतत्त्व है और अर्थिम अर्थतत्त्व।

दोनों अन्यान्याश्रित हैं। सार्थक शब्द के बिना अर्थ नहीं रह सकता है और न अर्थ के बिना सार्थक शब्द। रचना, पद-निर्माण या पद-विज्ञान की दृष्टि से वह Morpheme (रूपिम, रूपग्राम) है और अर्थ की दृष्टि से वह Semanteme (अर्थिम, अर्थग्राम, अर्थतत्त्व) है। प्रातिपदिक, धातु, प्रकृति या अंग आधारतत्त्व हैं, जैसे—वृक्ष आदि। अतः इन्हें अर्थतत्त्व, अर्थिम (Semanteme) कहा जाता है। प्रत्यय आदि संयोजक या सम्बन्धतत्त्व हैं, इन्हें रचना की दृष्टि से Functional Morpheme (सम्बन्धदर्शी रूपिम) कहा जाएगा और अर्थ की दृष्टि से Functional Semanteme (सम्बन्धदर्शी अर्थिम)।

अध्याय ६

भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण

(Morphological Classification of Languages)

अध्याय ९

भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण

(Morphological Classification of Languages)

परिवाराऽऽकृतेर्भिन्नाः, विश्वभाषा द्विधा मताः ।
द्विधा चाऽऽकृतिमूलास्ताः, योगाऽयोग-प्रभेदतः ॥ १ ॥
अयोगो भेद एकस्तु, त्रिधा योगात्मको मतः ।
श्लिष्टाऽश्लिष्ट-प्रश्लिष्टाश्च,प्रकृति-प्रत्ययात्मकाः ॥ २ ॥

(कपिलस्य)

(१) विश्व की भाषाओं के दो प्रकार के वर्गीकरण हैं—आकृतिमूलक और पारिवारिक। आकृतिमूलक वर्गीकरण के दो भेद हैं—योगात्मक और अयोगात्मक। (२) अयोगात्मक भेद एक ही प्रकार का है। योगात्मक के तीन भेद हैं—श्लिष्ट (Inflecting), अश्लिष्ट (Agglutinating), प्रश्लिष्ट (Incorporating)। योगात्मक भाषाएँ प्रकृति और प्रत्यय के संयोग से बनी हुई होती हैं।

९.१. विश्व की भाषाएँ

विश्व में कितनी भाषाएँ बोली जाती हैं, यह प्रायः अनुमान का विषय है। कुछ विद्वानों ने गणना करके इनकी संख्या २७९६ बताई है। इस संख्या को आनुमानिक रूप से ३००० (तीन सहस्र) माना जा सकता है। इसमें विश्व की सभी भाषाओं और बोलियों का संग्रह है। वास्तविकता यह है कि विश्व की भाषाओं और बोलियों की संख्या निश्चयात्मक रूप से बताना प्रायः असंभव है, क्योंकि संसार में आज तक ऐसा कोई विद्वान् या भाषाशास्त्री उत्पन्न नहीं हुआ है, जो विश्व की सभी भाषाओं की रूपरेखा भी जानता हो। उनमें विशेषज्ञता, भेद-उपभेद का ज्ञान, तो और भी दुर्लभ है। विश्व के बहुत योग्य भाषाशास्त्रियों को भी अधिक से अधिक ८-१० भाषाओं का विशेष ज्ञान होता है।

९.२. विश्वभाषाओं के वर्गीकरण का आधार

वर्गीकरण से विषय का सूक्ष्मता से ज्ञान होता है और उसके समझने में सरलता होती है। भाषाविज्ञान में विश्वभाषाओं के दो प्रकार से वर्गीकरण किए गए हैं—

१. आकृतिमूलक वर्गीकरण (Morphological Classification)

२. पारिवारिक वर्गीकरण (Genealogical Classification)

१. आकृतिमूलक वर्गीकरण—आकृतिमूलक वर्गीकरण का आधार है—पदों और वाक्यों की रचना। पद किस प्रकार बनते हैं और वाक्यों की रचना किस प्रकार होती है, इस आधार पर किए जाने वाले वर्गीकरण को आकृतिमूलक कहते हैं। Morph (मार्फ-पद), Morphology (मार्फोलॉजी-पदरचना) पर आश्रित होने से इसे Morphological classification (पदरचनात्मक वर्गीकरण) कहते हैं। इस वर्गीकरण को Syntax (सिन्टैक्स-वाक्यरचना) के आधार पर होने से Syntactical (वाक्य-रचनात्मक) और Type (टाइप-रूप) के आधार पर होने से Typical (टिपिकल-रूपात्मक) भी कहते हैं।

जिन भाषाओं में आकृति (आकार, पदरचना और वाक्यरचना) की दृष्टि से समानता होती है, उन्हें एक वर्ग में रखा जाता है। आकृति-मूलक वर्गीकरण में रचना-तत्त्व की मुख्यता रहती है। इसमें शब्द के बाह्यरूप पर ध्यान दिया जाता है।

२. पारिवारिक वर्गीकरण—पारिवारिक वर्गीकरण में रचनातत्त्व के साथ ही अर्थतत्त्व पर भी ध्यान दिया जाता है। जिन भाषाओं में रचना-साम्य के साथ ही अर्थ-तत्त्व की दृष्टि से भी समानता होती है, उन्हें एक पारिवारिक वर्ग में रखा जाता है।

दोनों वर्गीकरण में मुख्य अन्तर यह है कि आकृतिमूलक में शब्दतत्त्व और रचना-तत्त्व मुख्य हैं। इसमें अर्थ पर ध्यान नहीं दिया जाता। पारिवारिक में रचना-तत्त्व के साथ ही अर्थ-साम्य या अर्थतत्त्व पर ध्यान रखना अनिवार्य है। इस प्रकार दोनों का भेद है—

(क) आकृतिमूलक वर्गीकरण—शब्द-प्रधान, रचनातत्त्व मुख्य।

(ख) पारिवारिक वर्गीकरण—अर्थ-प्रधान, रचना-तत्त्व + अर्थतत्त्व।

पारिवारिक वर्गीकरण को वंशानुक्रम पर आधारित होने से Genealogical (वंशानुक्रमिक) (Genea = वंश) और भूगोल एवं इतिहास पर निर्भर होने से Historical (ऐतिहासिक) कहते हैं। एक परिवार एक भौगोलिक क्षेत्र में फैला होता है।

इस वर्गीकरण का श्रेय प्रो० श्लेगल (F. Schlegel) को है। उन्होंने सर्वप्रथम भाषाओं को दो वर्गों में बाँटा था। प्रो० बोप (F. Bopp) ने तीन वर्ग किए। ग्रिम (Grimm) और श्लाइशर (Schleicher) ने भी तीन वर्गों को प्रकारान्तर से माना। पॉट (A. F. Pott) ने इनके चार वर्ग बनाए। वास्तविक रूप में भाषाओं के २ वर्ग बनते हैं—१. अयोगात्मक, २. योगात्मक। योगात्मक के ३ भेद होने से ४ वर्ग होते हैं।

९.३. आकृतिमूलक वर्गीकरण

इसको निम्नलिखित वंशवृक्ष के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—
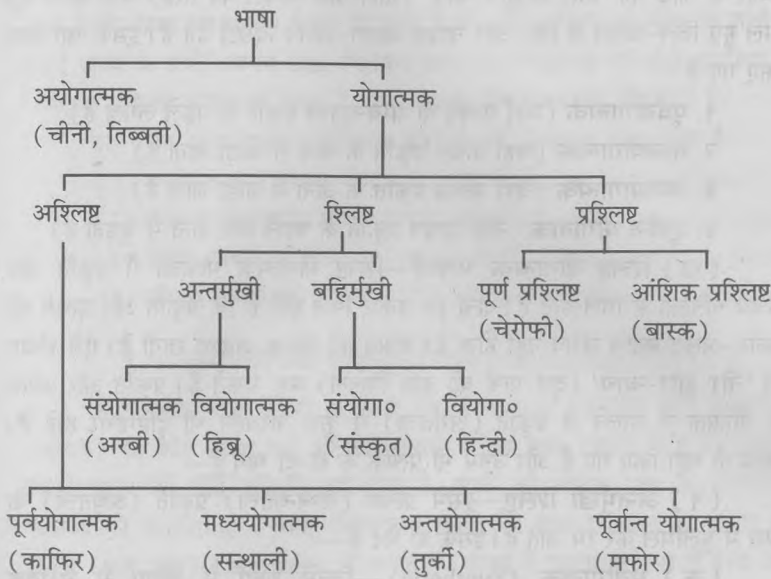
९.४. आकृतिमूलक वर्गीकरण का स्पष्टीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण को मुख्यत: दो वर्गों में बाँटा जाता है—
१. अयोगात्मक, २. योगात्मक।

१. अयोगात्मक भाषाएँ (Isolating or Root Languages)—अयोगात्मक उन भाषाओं को कहते हैं, जिनमें प्रकृति और प्रत्यय या अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का संयोग नहीं होता है। प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र होता है। प्रत्येक शब्द की स्वतन्त्र या अलग सत्ता होने से इसे Isolating (पृथक्-पृथक्) कहते हैं। इसमें प्रत्येक शब्द प्रकृति या मूल के तुल्य होता है, अत: इसे Root (धातु, मूल) Language कहते हैं। इन भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय जैसी चीज नहीं होती।

२. योगात्मक भाषाएँ (Agglutinative Languages)—योगात्मक भाषाएँ उनको कहते हैं, जिनमें प्रकृति और प्रत्यय या अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का संयोग रहता है। प्रकृति (अर्थतत्त्व) और प्रत्यय (सम्बन्धतत्त्व) का संयोग विभिन्न प्रकार से हो सकता है, अत: योगात्मक भाषाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है—

(क) अश्लिष्ट (प्रत्यय-प्रधान) भाषाएँ (Agglutinative languages)
(ख) श्लिष्ट (विभक्ति-प्रधान) भाषाएँ (Inflectional languages)
(ग) प्रश्लिष्ट (समास-प्रधान) भाषाएँ (Incorporative languages)

(क) अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ—अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय इस प्रकार जुड़ा हुआ होता है कि दोनों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस प्रकार के जोड़ को 'तिल-तण्डुल-न्याय' (तिल और चावल की तरह) कह सकते हैं। मिले हुए तिल-चावल में तिल और चावल अलग-अलग दिखाई देते हैं। इसके चार भाग किए गए हैं—

१. **पूर्वयोगात्मक** (जहाँ प्रत्यय या सम्बन्धतत्त्व प्रकृति से पहले लगता है)

२. **मध्ययोगात्मक** (जहाँ प्रत्यय प्रकृति के बीच में जोड़ा जाता है)

३. **अन्तयोगात्मक** (जहाँ प्रत्यय प्रकृति के अन्त में जोड़ा जाता है)

४. **पूर्वान्त योगात्मक** (जहाँ प्रत्यय प्रकृति के पहले और अन्त में जुड़ता है)

(ख) श्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ—श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय घनिष्ठता से मिले होते हैं। दोनों इस प्रकार मिले होते हैं कि प्रकृति और प्रत्यय को अलग-अलग बताना संभव नहीं होता है। प्रत्यय की झलक अवश्य रहती है। ऐसे संयोग को **'नीर-क्षीर-न्याय'** (दूध-पानी की तरह मिलना) कह सकते हैं। प्रकृति और प्रत्यय के घनिष्ठता से मिलने से प्रकृति (अर्थतत्त्व) में कुछ परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होते हैं। इसके दो भाग किए गए हैं और उनमें भी प्रत्येक के दो-दो भाग हैं—

(१) अन्तर्मुखी श्लिष्ट—इसमें प्रत्यय (सम्बन्धतत्त्व) प्रकृति (अर्थतत्त्व) के बीच में घुलमिल कर रम जाते हैं। इसके दो भेद हैं—

(क) संयोगात्मक (Synthetic)—जिनमें शब्दों में अलग से सहायक सम्बन्धतत्त्व लगाने की आवश्यकता नहीं होती है। **(ख) वियोगात्मक** (Analytic)—जिनमें शब्दों में अलग से सहायक सम्बन्धतत्त्व लगाए जाते हैं।

(२) बहिर्मुखी श्लिष्ट—इसमें प्रत्यय (सम्बन्धतत्त्व) प्रकृति (अर्थतत्त्व) के बाद में या अन्त में लगते हैं। भारोपीय भाषाएँ संस्कृत आदि इसी कोटि में आती हैं। इसके भी दो भेद हैं—

(क) संयोगात्मक—जिसमें सम्बन्धतत्त्व प्रकृति (अर्थतत्त्व) के साथ जुड़ा होता है। जैसे—संस्कृत के सुप्, तिङ् आदि।

(ख) वियोगात्मक—जिसमें सम्बन्धतत्त्व प्रकृति से अलग लगाया जाता है। जैसे—हिन्दी आदि में कारक-चिह्न, सहायक क्रिया आदि।

(ग) प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ—प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में प्रकृति अर्थतत्त्व और प्रत्यय (सम्बन्धतत्त्व) इतने अधिक घनिष्ठ रूप में मिले होते हैं कि दोनों को न अलग पहचाना जा सकता है और न दोनों को एक-दूसरे से अलग ही किया जा सकता है। इस संयोग को 'दधि-घृत-न्याय' (दही में घी की तरह मिले हुए) कह सकते हैं। इसके दो भेद किए गए हैं—

(१) पूर्ण प्रश्लिष्ट योगात्मक—इसमें अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का इतना अधिक घनिष्ठ मेल हो जाता है कि पूरे वाक्य का प्रायः एक शब्द बन जाता है। वह एक शब्द पूरे वाक्य का अर्थ देता है। इसमें आने वाले शब्दों का कुछ-कुछ अंश लेकर एक

ऐसा शब्द बना दिया जाता है, जिसमें सभी शब्दों का थोड़ा प्रतिनिधित्व रहता है। यह शब्द वाक्य के तुल्य व्यवहृत होता है। इसे 'पूर्ण समास-प्रधान' भी कहते हैं।

(२) आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक—इसमें सर्वनाम और क्रिया इस प्रकार मिल जाती है कि क्रिया का स्वरूप नगण्य हो जाता है और वह सर्वनाम की पूरक हो जाती है। इसमें वाक्य के सभी अवयव संज्ञा, विशेषण आदि भी सम्मिलित नहीं होते, इसलिए इसे 'आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक' कहते हैं। इसे 'अंशतः समास-प्रधान' भी कहते हैं।

इस प्रकार आकृतिमूलक वर्गीकरण को चार वर्गों में प्रस्तुत किया जाता है—

(१) अयोगात्मक (स्वतन्त्र शब्दात्मक) भाषाएँ (Isolating languages)

(२) अश्लिष्ट योगात्मक (प्रत्यय-प्रधान) भाषाएँ (Agglutinative languages)

(३) श्लिष्ट योगात्मक (विभक्ति-प्रधान) भाषाएँ (Inflectional languages)

(४) प्रश्लिष्ट योगात्मक (समास-प्रधान) भाषाएँ (Incorporative languages)

९.५. अयोगात्मक भाषाएँ (Isolating Languages)

अयोगात्मक भाषा उसको कहते हैं, जिसमें अर्थतत्त्व (प्रकृति) और सम्बन्धतत्त्व (प्रत्यय) का कोई संयोग नहीं होता है। इसमें प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र होता है। शब्दों में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता है। शब्दों की स्वतन्त्र सत्ता के कारण ऐसी भाषाओं को Isolating (पृथक्, निरवयव) कहते हैं। शब्द-स्वातन्त्र्य के कारण इन्हें Root (धातु, मूल) Languages भी कहते हैं। वाक्य में प्रयुक्त होने पर ये शब्द अपने मूल रूप में बने रहते हैं। 'अयोग' का अर्थ है—अ-नहीं, योग-मिलना, जुड़ना, अर्थात् जिस भाषा में प्रकृति-प्रत्यय आदि का कोई मेल न हो। ये भाषाएँ 'स्थान-प्रधान' हैं। भाषा में कर्ता, क्रिया, कर्म आदि का स्थान निश्चित होता है। एक ही शब्द स्थान-भेद से कर्ता, क्रिया या कर्म हो सकता है। इसको Positional (स्थान-प्रधान), Inorganic (निरवयव) भी कहा जाता है।

(क) अयोगात्मक वर्ग की भाषाएँ—

इस वर्ग की मुख्य प्रतिनिधि भाषा 'चीनी' है। इसके अतिरिक्त स्यामी, तिब्बती, बर्मी, अनामी, सूडानी (अफ्रीका के सूडान देश की भाषा) आदि भाषाएँ इस वर्ग में हैं।

(ख) अयोगात्मक भाषाओं की विशेषताएँ—

(१) इन भाषाओं का व्याकरण नहीं होता।

(२) 'शब्दक्रम' या 'पदक्रम' का विशेष महत्त्व होता है।

(३) स्वर (सुर, Tone, लहजा) के भेद से अर्थ-भेद हो जाता है।

(४) निपात (Particle, सम्बन्धसूचक अव्यय) से भी शब्द-रचना और वाक्य-रचना में सहायता ली जाती है।

(५) शब्दों में परिवर्तन नहीं होता। सम्बन्धतत्त्व लगने पर अन्तर नहीं आता।

(६) सम्बन्धतत्त्व का बोध सम्बन्धतत्त्व-बोधक शब्दों को लगाकर या स्थान-विशेष पर रखकर कराया जाता है।

(ग) अयोगात्मक भाषाओं की निजी विशेषताएँ—

(१) चीनी भाषा—स्थान और स्वर-प्रधान।

(२) सूडानी—स्थान-प्रधान

(३) अनामी—स्वर-प्रधान।

(४) बर्मी, स्यामी, तिब्बती—निपात-प्रधान।

(घ) शब्द-निर्माण एवं वाक्य-रचना—

शब्द + सम्बन्धतत्त्व लगाकर वचन, कारक आदि बताए जाते हैं। धातु + भूतकाल आदि के सूचक सम्बन्धतत्त्व लगाकर भूतकाल आदि अर्थ बताया जाता है। वाक्य में सामान्य पद-क्रम है—कर्ता, क्रिया, कर्म। विशेषण कर्ता से पूर्व लगते हैं। विशेषण कर्ता के बाद रखने पर विधेय (Predicate) का काम करते हैं। जैसे—वो (Wo, मैं), नी (Ni, तू), था (Ta, वह), ति (Ti, षष्ठी, सम्बन्ध-कारक), मेन (Men, बहुवचन)।

वो (मैं),	वो-मेन (हम),	वो-ति (मेरा),	वो-मेन-ति (हमारा)
नी (तू),	नी-मेन (तुम),	नी-ति (तेरा),	नी-मेन-ति (तुम्हारा)
था (वह),	था-मेन (वे),	था-ति (उसका),	था-मेन-ति (उनका)

इङ्-को-जेन (भारतीय व्यक्ति, इङ्-इण्डिया, को-देश, जेन-आदमी)

मे-को-जेन (अमेरिकन, मे-अमेरिका, को-देश, जेन-आदमी)

श्येन शेंग कुई शिंग = श्रीमन्, आपका क्या शुभ नाम है? (श्येन शेंग = श्रीमन्, कुई = शुभ, शिंग = नाम, वंशनाम)

वो शिंग ली = मेरा नाम ली है। (वो-मैं)

चिंग त्सो, चिंग त्सो = कृपया पधारिए। (चिंग = कृपया, त्सो = बैठना)

ली श्येन शेंग हाओ या = श्रीमन् ली, आप कैसे हैं? (हाओ या = कुशल तो हैं, कैसे हैं।)

ली श्येन शेंग लाई ला = श्रीमान् ली, आ गए। (लाई = आना, ला = भूतकाल)

(ङ) स्थानभेद से अर्थ-भेद—

१. ता-जेन	(बड़ा आदमी; ता-बड़ा, जेन-आदमी)
जेन-ता	(आदमी बड़ा है)
२. वो-ता-नी	(मैं मारता हूँ तुझे; वो-मैं, ता-मारना, नी-तू)
नी-ता-वो	(तू मारता है मुझे)

हिन्दी, अंग्रेजी में प्रश्नवाचक पहले लगता है, परन्तु चीनी में प्रश्नवाचक अन्त में लगता है।

वाङ् श्येन शेंग त्साई ज्या मा = क्या श्रीमान् वाङ् घर पर हैं?

(श्येन शेंग = श्रीमान्, त्साई = हैं, रह रहे हैं, ज्या-घर, मा-क्या)

९.६. अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ (Agglutinative Languages)

अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं को Agglutinative languages कहते हैं। यह

शब्द लैटिन के Gluten (ग्लुटेन, चूना), Glutinare (ग्लुटिनेयर, चूने से जोड़ना या चिपकाना) शब्द से बना है। इस शब्द से इस प्रकार की भाषाओं की स्थिति का ज्ञान होता है। जैसे—चूने से ईंटों को जोड़ा जाता है और ईंटें साफ दिखाई पड़ती हैं, उसी प्रकार अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में अर्थतत्त्व (प्रकृति) और सम्बन्धतत्त्व (प्रत्यय) इस प्रकार जुड़े रहते हैं कि इनको स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस प्रकार के जोड़ (योग) को पूर्णतया न जुड़े होने से 'अश्लिष्ट' और जुड़े होने के कारण 'योगात्मक' कहा जाता है। इस जोड़ को 'तिल-तण्डुल-न्याय' (तिल-चावल के तुल्य) कहा जा सकता है। जैसे—संस्कृत और हिन्दी में—मृदुता—मृदु + ता, मनुष्यत्व—मनुष्य + त्व, सर्वत्र—सर्व + त्र, तूने—तू + ने, होगा—हो + गा, जाऊँगा—जा + ऊँ + गा।

तुर्की (Turkish) भाषा इस वर्ग की प्रतिनिधि भाषा है। शब्द और प्रत्यय को ईंटों की तरह जमाते चले जाइये। कर्म, करण आदि के बोधक प्रत्यय एकवचन और बहुवचन में एक ही होते हैं। बहुवचन सूचित करने के लिए अलग शब्द हैं। कहीं-कहीं पर प्रत्यय लगने पर प्रकृति (अर्थतत्त्व) में कुछ ध्वनि-परिवर्तन भी होता है, पर वह नगण्य है। जैसे—Ev (एव, घर), Ler (लेर, बहुवचन-सूचक) के रूप—

	एकवचन		**बहुवचन**	
कर्ता—Ev		(एव्, घर)	Ev-ler	(एव्-लेर्)
कर्म—Ev-i		(एव्-इ, घर को)	Ev-ler-i	(एव्-लेर्-इ)
संप्रदान—Ev-e		(एव्-ए, घर के लिए)	Ev-ler-e	(एव्-लेर्-ए)
अपादान—Ev-den		(एव्-डेन, घर से)	Ev-ler-den	(एव्-लेर्-डेन)
सम्बन्ध—Ev-in		(एव्-इन, घर का)	Ev-ler-in	(एव्-लेर्-इन)
अधिकरण—Ev-de		(एव्-डे, घर में)	Ev-ler-de	(एव्-लेर्-डे)

विभक्तियों का क्रम स्मरण रखने के लिए—'x, इ, ए, डेन, इन, डे' सूत्र याद कर लेना पर्याप्त है। बहुवचन में ler (लेर) लगेगा। यहाँ एव् में ए है, इसलिए ler (लेर) में e (ए) लगा। यदि शब्द में a (आ) होगा तो बहुवचन में lar (लार) में a लगेगा। कुछ अन्य उदाहरण ये हैं—

El—(एल्, हाथ), El-im (एल्-इम, मेरा हाथ)

El-im-de (एल्-इम्-डे, मेरे साथ में)

इस प्रकार की भाषाएँ हंगेरियन (Hungarian) और फिनिश (Finish) भी हैं।

अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में प्रत्यय या सम्बन्धतत्त्व कहीं अर्थतत्त्व (प्रकृति) से पहले लगता है, कहीं मध्य में, कहीं अन्त में और कहीं आगे-पीछे दोनों ओर। इसी आधार पर इनके चार भाग किए गए हैं—पूर्वयोगात्मक, मध्ययोगात्मक, अन्तयोगात्मक, पूर्वान्तयोगात्मक। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) पूर्व-योगात्मक (Prefix-agglutinative)—इसमें सम्बन्धतत्त्व या प्रत्यय शब्द से पूर्व लगता है। बांटू परिवार की काफिर और जुलू भाषाओं में इसके उदाहरण मिलते हैं—काफिर भाषा में—ति (हम), नि (वे, उन), कु (संप्रदान का

चिह्न)। 'कु' पहले लगेगा—

कु-ति = हमको, कु + नि = उनको

जुलू भाषा में—'न्तु' (आदमी)। सम्बन्धतत्त्व-उमु (एकवचन), अब (बहुवचन) पहले लगेंगे।

उमु + न्तु = एक आदमी, अब + न्तु = बहुत आदमी

जैसे अंग्रेजी में कहते हैं—To me—मुझको, With me—मेरे साथ, For him—उसके लिए।

(ख) मध्य-योगात्मक (Infix-agglutinative)—इसमें सम्बन्धतत्त्व शब्द के बीच में जुड़ता है। ऐसी भाषाएँ भारत में मुंडा-परिवार की 'सन्थाली' तथा हिन्द महासागर से अफ्रीका तक फैले हुए द्वीपों की भाषाएँ हैं। ये प्रायः दो अक्षरों वाली हैं। प्रत्यय या सम्बन्धतत्त्व दोनों अक्षरों के बीच में लगता है। जैसे—सन्थाली भाषा में—मंझि (मुखिया)। प (बहुवचन-चिह्न), बीच में जुड़ेगा।

मंझि = मुखिया मंपझि = मुखिये

इसी प्रकार—दल (मारना), प (परस्पर) बीच में लगेगा।

दल = मारना, दपल = एक-दूसरे को मारना।

(ग) अन्त-योगात्मक (Suffix-agglutinative)—इसमें सम्बन्धतत्त्व (प्रत्यय) अन्त में जुड़ते हैं। ऊपर तुर्की भाषा के दिए गए उदाहरण इसके ही उदाहरण हैं। भारत की द्रविड़ परिवार की तेलुगु, तमिल, कन्नड़ और मलयालम भाषाओं में भी कारक-चिह्न अन्त में जुड़ते हैं। कन्नड़ में 'सेवक' शब्द के रूप निम्न प्रकार से चलेंगे। एक० में प्रत्यय में 'न' है, बहु० में न के स्थान पर 'र'।

कारक	**एकवचन**	**बहुवचन**
कर्ता	सेवक-नु	सेवक-रु
कर्म	सेवक-नन्नु	सेवक-रन्नु
करण	सेवक-निंद	सेवक-रिंद
संप्रदान	सेवक-निगे	सेवक-रिगे
सम्बन्ध	सेवक-न	सेवक-र
अधिकरण	सेवक-नल्लि	सेवक-रल्लि

तेलगु आदि में 'वृक्ष' वाचक 'गुर्रम' और 'मर' के रूप एक० में।

कारक	**तेलुगु**	**तमिल**	**मलयालम**	**कन्नड़**
कर्ता	गुर्रम्	मरम्	मरम्	मरम्
कर्म	गुर्रम् उनु	मर त्ते	मर त्त	मरमम्
संप्रदान	गुर्रम् उनकु	मर त्तिर्कु	मर त्तिन्नु	मर के
सम्बन्ध	गुर्रम् उ	मर त्तिन	मर त्तिन्द्रे	मर दा

(घ) पूर्वान्त योगात्मक (Prefix-suffix-agglutinative)—इस वर्ग की भाषाओं में सम्बन्ध-तत्त्व शब्द के पहले और बाद में दोनों ओर लगता है। जैसे—फ्रेंच में

निषेधार्थक Ne¨pas (न¨पा) निषेध्य के पहले और बाद में लगता है। जैसे—Donnez-m'-en(दोने माँ, मुझे कुछ दो), निषेधार्थक—Ne m'en donnez pas (न माँ दोने पा, मुझे कुछ मत दो)। न्यूगिनी की 'मफोर' भाषा में इसके उदाहरण मिलते हैं।

म्नफ = सुनना, ज = मैं, उ = तू, तुझे। ज-म्नफ-उ = मैं सुनता हूँ तुझे (मैं तेरी बात सुनता हूँ)। इसमें ज (मैं) पहले जुड़ा और उ (तुझे) अन्त में जुड़ा।

९.७. शिलष्ट योगात्मक भाषाएँ (Inflectional Languages)

शिलष्ट-योगात्मक भाषाओं में अर्थतत्त्व (प्रकृति) और सम्बन्धतत्त्व (प्रत्यय) घनिष्ठता से मिले होते हैं। दोनों को स्पष्ट रूप से अलग-अलग देखा जा सकता है। अर्थतत्त्व में प्रत्यय के मिलने से कुछ विकार भी आ जाता है, परन्तु प्रत्यय को पहचाना जा सकता है। यह संयोग 'नीर-क्षीर-न्याय' (दूध-पानी-संयोग) कहा जा सकता है। अर्थतत्त्व में कुछ विकार के उदाहरण हैं—कृ + अन = करण, कृ + तव्य = कर्तव्य, भूत + इक = भौतिक, वेद + इक = वैदिक। अरबी में 'स-ल-म' से सलाम, सलीम, इस्लाम, मुस्लिम आदि। इन भाषाओं में Inflection (शब्द-रूप, धातुरूप) की प्रधानता होती है, अतः इन्हें Inflectional (विभक्ति-प्रधान) भाषाएँ कहते हैं।

इस वर्ग में भारोपीय भाषाएँ, सेमेटिक (सामी) और हैमेटिक (हामी) भाषाएँ आती हैं। इस वर्ग की भाषाएँ संसार में सबसे अधिक उन्नत हैं। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, रूसी, अवेस्ता, अंग्रेजी, हिन्दी आदि सभी इसी वर्ग में आती है।

इस वर्ग की भाषाओं के दो भेद किए जाते हैं—(क) अन्तर्मुखी, (ख) बहिर्मुखी। इन दोनों के भी दो भेद किए जाते हैं—१. संयोगात्मक, २. वियोगात्मक।

अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी विभाजन पर बहुत मतभेद है। अन्तर्मुखी में अरबी और बहिर्मुखी में संस्कृत प्रतिनिधि भाषा हैं। संस्कृत में भी शब्दों के अन्दर परिवर्तन होता है, जैसे—दैविक, नैतिक, पपाठ, जगाम, ममार आदि, अतः कुछ विद्वान् इस विभाजन को उचित नहीं समझते हैं। यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो अरबी और संस्कृत के शब्द-निर्माण में कुछ मौलिक अन्तर है। अरबी में क्रिया के बीच में सम्बन्ध-तत्त्वों को जोड़ा जाता है, संस्कृत में सम्बन्ध-तत्त्वों को अन्त में जोड़ा जाता है। सम्बन्ध-तत्त्वों के कारण संस्कृत में स्वर-परिवर्तन (गुण, वृद्धि आदि) होते हैं, परन्तु ये अरबी के तुल्य जोड़े नहीं जाते हैं। सम्बन्धतत्त्व सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित प्रत्यय आदि अन्त में ही जुड़ते हैं। अतः दोनों भाषाओं की प्रकृति में अन्तर होने के कारण तथा सुविधा के लिए ये भेद व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी हैं।

(क) अन्तर्मुखी शिलष्ट (Internal Inflectional)—इस वर्ग की भाषाओं में अर्थतत्त्व के बीच में सम्बन्धतत्त्व जुड़ते हैं। ये सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व में दूध-पानी की तरह घुलमिल जाते हैं। इनसे विभिन्न अर्थों का बोध होता है। सेमेटिक और हैमेटिक परिवार की भाषाएँ इस वर्ग में आती हैं। अरबी इस वर्ग की प्रतिनिधि भाषा है। अरबी भाषा में धातुएँ प्रायः तीन व्यंजनों वाली होती हैं। सम्बन्धतत्त्व प्रायः स्वर के रूप में होते

हैं। कुछ स्थानों पर वर्ण (म, मु, य आदि) भी लगते हैं। उदाहरण के लिए अरबी की KTB (क त ब, लिखना) धातु दी जा रही है---

(१) 'क-त-ब' से किताब (लिखी गई पुस्तक), कुतुब (पुस्तकें), कातिब (लिखने वाला), मकतब (स्कूल, लिखना सिखाने का स्थान), मकातिब (स्कूल का बहु०), कुतुबा (लेख), मकतूब (लिखित), मकतूबात (लिखित का बहुवचन), किताबत (लिखना)।

कुछ अन्य उदाहरण ये हैं—

(२) 'क-त-ल' (मारना)—कत्ल (मारना), कातिल (मारने वाला), कातिला (मारने वाली), मकतल (मारने की जगह), किताल (युद्ध), मकतूल (मरने वाला), कतील (जिसे मारा गया)।

(३) 'स-ल-म' (मानना, सिर झुकाना)—सलीम (साफ दिल, अच्छा), सलाम (प्रणाम), मुस्लिम (मानने वाला, आस्तिक), इस्लाम (मान लेना, आस्तिकता), मुसल्लम (माना हुआ), सालिम (पूरा)।

(४) 'स-ज-द' (पूजा करना)—मसजिद (पूजास्थान), सजदा (पूजा करना), साजिद (पूजक), साजिदा (पूजा करनेवाली), सज्जादा (पूजा का आसन)।

(५) 'म-ल-क'—मालिक (स्वामी)—मुल्क (देश), मलिका (रानी), मिल्कियत (स्वमित्व), इम्लाक (सम्पत्ति)।

(६) 'ज़-ल-म'—ज़ालिम (अत्याचारी)—ज़ुल्म (अत्याचार), मज़लूम (जिस पर अत्याचार किया जाए)।

(७) 'त-ल-ब' (चाहना)—तालिब (इच्छुक), तालिबा (इच्छुक, छात्रा), तलबा (विद्यार्थी, बहु०), तलब (ढूँढ़ना), मुतल्लब (अर्थ)।

इसके दो भेद किए हैं—

(१) संयोगात्मक (Synthetic)—इसका उदाहरण अरबी भाषा है। इसमें शब्दों में अलग से सहायक सम्बन्धतत्त्व (बहुवचन आदि) लगाने की आवश्यकता नहीं होती है।

(२) वियोगात्मक (Analytic)—इसका उदाहरण 'हिब्रू' भाषा है। इसमें शब्दों के बाद सम्बन्धतत्त्व (बहुवचन आदि) अलग से लगाए जाते हैं।

(ख) बहिर्मुखी श्लिष्ट (External Inflectional)—इस वर्ग की भाषाओं में प्रत्यय (सम्बन्धतत्त्व) प्रकृति (अर्थतत्त्व) के बाद में या अन्त में जुड़ते हैं। सम्बन्धतत्त्व के जुड़ने पर अर्थतत्त्व में कुछ परिवर्तन (गुण, वृद्धि, दीर्घ, संप्रसारण आदि) भी होते हैं। प्रत्यय बाहर जुड़ने के कारण इसे External (बाह्य) Inflectional (प्रत्यय या विभक्ति-युक्त) कहते हैं। भारोपीय परिवार की संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता, अंग्रेजी, हिन्दी आदि भाषाएँ इसी वर्ग में आती हैं।

इसके भी दो भेद किए जाते हैं—

(१) संयोगात्मक (Synthetic)—संयोगात्मक भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व (प्रकृति, शब्द या धातु) के बाद में लगते हैं और प्रकृति + प्रत्यय = शब्दरूप,

धातुरूप बनते हैं। सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व के साथ घुलमिल जाता है। सम्बन्धतत्त्व के रूप में उपसर्ग, निपात आदि (सम्, प्र, आविस्, तिरस्, अन्तर् आदि) प्रकृति के पूर्व आते हैं। प्रकृति से पूर्व लगना भी बाह्य ही है। इसकी प्रतिनिधि भाषा संस्कृत है। ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता, रूसी भी संयोगात्मक हैं। जैसे—

(१) गम् से गच्छति (गच्छ् + अ + ति, वह जाता है)। इसमें अ + ति सम्बन्धतत्त्व (प्रत्यय) के द्वारा इतने अर्थ बताए जाते हैं—वर्तमान काल, अन्य पुरुष, एकवचन, पुं० स्त्री० या नपुं० कोई भी लिंग।

(२) बालकम्—बालक + अम् (बालक को)। 'अम्' प्रत्यय से ये अर्थ निकलते हैं—कर्मकारक, एकवचन।

(३) अनुभवति—अनु + भू + अति (वह अनुभव करता है)। इसमें उपसर्ग पहले लगा है।

संयोगात्मक होने से अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व मिश्रितरूप में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—कृ (करना) के कुछ रूप—

करोति (करता है), कुरु (करो), चकार (किया), अकार्षीत् (किया), कारयति (करवाता है), चिकीर्षति (करना चाहता है), चरीकर्ति (बार-बार करता है)।

(२) वियोगात्मक (Analytic)—वियोगात्मक भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व अलग से लगाया जाता है। हिन्दी, अंग्रेजी आदि वियोगात्मक हो गई हैं। संस्कृत संयोगात्मक थी, हिन्दी वियोगात्मक हो गई है। लैटिन संयोगात्मक थी, उससे विकसित फ्रेंच वियोगात्मक है। यही अंग्रेजी की स्थिति है। संस्कृत में कारकचिह्न (सुप्) और कालचिह्न (तिङ्) शब्द या धातु के साथ जुड़े होते थे। हिन्दी में कारकचिह्न (को, ने, से, का, पर आदि) और काल-चिह्न (ता है, था, थे, गा, गी, आदि) अलग रहते हैं। बालकम् = बालक को, पठति = पढ़ रहा है, पठिष्यति = पढ़ेगा, अपठत् = पढ़ रहा था। हिन्दी में इन स्थानों पर कारकों के लिए परसर्ग और कालों के लिए सहायक क्रियाएँ प्रयुक्त होती हैं।

हिन्दी के तुल्य अन्य भारतीय भाषाएँ बंगला, मराठी, गुजराती आदि भी वियोगात्मक हो गई हैं। अंग्रेजी, फ्रेंच वियोगात्मक हो गई हैं।

९.८. प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ (Incorporative Languages)

प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ उन्हें कहते हैं, जिनमें अर्थतत्त्व (प्रकृति) और सम्बन्धतत्त्व (प्रत्यय) इस प्रकार जुड़े हुए होते हैं कि उनको अलग-अलग करना या अलग-अलग समझाना संभव नहीं है। इसलिए इनको प्रश्लिष्ट (प्र + प्रकर्षेण, अत्यधिक, श्लिष्ट-मिली हुई, चिपकी हुई) भाषाएँ कहा जाता है। इस संयोग को **'दधि-घृत-न्याय'** (दही-घी के तुल्य मिश्रित) कहा जा सकता है। समन्वयात्मक होने के कारण इन्हें Incorporative (In-अन्दर, corporative-समन्वयात्मक) भाषाएँ कहा गया है। इसका स्वरूप संस्कृत के इन उदाहरणों से समझा जा सकता है—

१. आर्जव (सरलता)—ऋजु + अ = आर्जव।

२. सौवर (स्वर-सम्बन्धी)—स्वर + अ = सौवर।

३. चिकीर्षति (वह करना चाहता है)—कृ (करना) + स (इच्छा करना) + ति (प्र० १)

४. दित्सति (वह देना चाहता है)—दा (देना) + स (इच्छा करना) + ति (प्र० १)

जैसे इन उदाहरणों में प्रकृति-प्रत्यय स्पष्ट देखना-समझना संभव नहीं है, इसी प्रकार प्रश्लिष्ट भाषाओं में प्रत्येक शब्द का कुछ अंश लेकर उसको एक शब्द (= एक वाक्य) का रूप दे दिया जाता है। इसको भी दो भागों में विभक्त किया गया है—(क) पूर्ण प्रश्लिष्ट, (ख) आंशिक प्रश्लिष्ट।

(क) पूर्ण प्रश्लिष्ट (Completely Incorporative)—इसमें अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व के पूर्ण प्रश्लेष (मेल) से पूरा वाक्य एक शब्द के रूप में प्रयुक्त होता है। इसमें प्रत्येक शब्द का कुछ अंश ले लिया जाता है और कुछ अंश छोड़ दिया जाता है। इसको '**पूर्ण समासात्मक**' भी कह सकते हैं। समस्त पद के तुल्य सारा वाक्य एक शब्द हो जाता है। दक्षिण अमेरिका की '**चेरोकी**' भाषा में ऐसे उदाहरण मिलते हैं— 'नाधोलिनिन' (लाओ नाव हमारे लिए, हमारे पास नाव लाओ)

नातेन = लाओ (क्रिया), अमोखोल = नाव (संज्ञा)

निन = हम (सर्वनाम, हमारे लिए)

(ख) आंशिक प्रश्लिष्ट (Partly Incorporative)—इनमें सर्वनाम और क्रियाओं का पूर्ण मिश्रण होता है। क्रिया का स्वरूप नगण्य हो जाता है। इसको 'अंशतः समासात्मक' कह सकते हैं। इसमें केवल सर्वनाम और क्रिया का मिश्रण होता है। इसमें पूर्ण प्रश्लिष्ट के तुल्य संज्ञा, विशेषण आदि का भी मिश्रण नहीं होता है। पेरोनीज पर्वत के पश्चिमी भाग में बोली जाने वाली '**बास्क**' भाषा में इसके उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

१. हकार्त—मैं ले जाता हूँ तुझे (मैं तुझे ले जाता हूँ)

२. नकार्सु—तू ले जाता है मुझे (तू मुझे ले जाता है)

३. दकार्किओत—मैं ले जाता हूँ इसे उसतक (मैं इसे उसतक ले जाता हूँ)

९.९. आकृति की दृष्टि से संस्कृत और हिन्दी

आकृतिमूलकता की दृष्टि से विचार करते हुए ऊपर उल्लेख किया गया है कि 'संस्कृत' भाषा श्लिष्ट योगात्मक (बहिर्मुखी) (Synthetic Inflectional) है। भाषाओं की मूल प्रकृति संयोगात्मक या योगात्मक (Synthetic) थी। प्रकृति-प्रत्यय के समन्वित रूप से अर्थ का बोध कराया जाता था। यह प्रवृत्ति हमें संस्कृत के साथ ही ग्रीक, लैटिन आदि में भी मिलती है। विकास-क्रम का नियम है—विकिरण (विस्तार, विश्लेषण, विभाजन)। इसी नियम के कारण संयोगात्मक भाषाएँ वियोगात्मकता की ओर अग्रसर हुईं। अर्थबोध में सरलता लाने के लिए सम्बन्धतत्त्व को स्वतन्त्र रूप दिया गया। इससे संयोगात्मक (Synthetic) भाषाएँ वियोगात्मक (Analytic) हो गईं। संस्कृत के कारक-चिह्न हिन्दी में वियोगात्मक होकर परसर्ग (को, ने, से आदि) हो गये। काल आदि

के चिह्न सहायक क्रिया (है, हो, रहा, था, गा आदि) के रूप में प्रयुक्त होने लगे। इसी प्रकार अंग्रेजी भी श्लिष्ट वियोगात्मक (Analytic Inflectional) हो गई है। लैटिन से विकसित फ्रेंच में भी वियोगात्मकता पाई जाती है।

कुछ भाषाशास्त्रियों ने तर्क प्रस्तुत किया है कि भाषाएँ योगात्मक से वियोगात्मक होती हैं और वियोगात्मक से योगात्मक। यह कालचक्र चलता रहता है। भाषाओं के इतिहास पर दृष्टिपात न करने पर ऐसा कहा जा सकता है। वास्तविकता यह है कि संयोगात्मक से भाषाएँ वियोगात्मक होती हैं। वियोगात्मक से संयोगात्मक नहीं। विकास में विश्लेषण ही होगा, संश्लेषण नहीं। संयुक्त परिवार बिखर कर फिर एक होंगे। यह कल्पना करना निरर्थक एवं असार है कि बिखरे परिवार कभी फिर संयुक्त परिवार होंगे। इसी प्रकार भाषाएँ वियोगात्मक से संयोगात्मक होंगी, यह कल्पना केवल बुद्धिभ्रम है।

९.१०. आकृतिमूलक वर्गीकरण की उपयोगिता

आकृतिमूलक वर्गीकरण को भाषाशास्त्रियों ने प्रारम्भ में बहुत महत्त्व दिया, परन्तु अब इसका महत्त्व कम होता जा रहा है। इसकी उपयोगिता है—

१. विश्वभाषाओं के स्वरूप का ज्ञान। उनका विशिष्ट वर्गीकरण।

२. विश्वभाषाओं की रचना का सरल और सुस्पष्ट ज्ञान।

३. सम्बन्ध-तत्त्वों की प्रकृति (स्वभाव) का ज्ञान। उसके योगात्मक रूप का ज्ञान।

४. विभिन्न भाषाओं के व्याकरण का ज्ञान।

५. विभिन्न भाषाओं के व्याकरण में साम्य और वैषम्य का अध्ययन।

६. विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन।

९.११. आकृतिमूलक वर्गीकरण की समीक्षा

भाषाशास्त्रियों ने आकृतिमूलक वर्गीकरण की कड़ी आलोचना की है। उन्होंने ये न्यूनताएँ बताई हैं—

१. विश्व की भाषाओं को केवल ४ भागों में बाँटना युक्तिसंगत नहीं है। इसमें कुछ असंबद्ध भाषाओं को भी एक कोटि या वर्ग में रखा है। जैसे—संस्कृत और द्रविण भाषाएँ। ये सर्वथा असंबद्ध हैं। विभिन्न परिवारों की हैं।

२. इस वर्गीकरण की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है।

३. कोई भाषा किसी वर्ग का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करती है। अन्य वर्गों के भी लक्षण उसमें मिलते हैं। संस्कृत में अश्लिष्ट, श्लिष्ट, प्रश्लिष्ट सभी के गुण मिलते हैं। जैसे—मधुरता, करोति, चिकीर्षति, आर्जव, वरीवर्ति आदि।

४. विश्व की भाषाओं का अभी तक पूर्ण अध्ययन ही नहीं हुआ है, अतः यह वर्गीकरण अपूर्ण है।

५. हजारों भाषाओं को ४ बिरादरी से बैठा देना, कहाँ तक उचित है? कुछ तो एक-दूसरे के पास भी नहीं फटकतीं। रूपभेद, अर्थभेद आदि सभी भेद उनमें हैं।

❋

अध्याय १०

भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण

(Genealogical Classification of Languages)

१. विश्व–भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण
२. पारिवारिक वर्गीकरण का स्वरूप
३. पारिवारिक वर्गीकरण के आधार
४. भारोपीय परिवार का महत्त्व
५. भारोपीय परिवार के विभिन्न नाम
६. भारोपीय भाषा का उद्गम स्थान
७. मूल भारोपीय ध्वनियाँ
८. मूल भारोपीय भाषा की विशेषताएँ
९. भारोपीय परिवार की शाखाएँ
(क) केन्टुम् और शतम् वर्ग
(ख) केन्टुम् और शतम् वर्ग
(भारोपीय परिवार–विभाजन)
१०. भारोपीय परिवार की विशेषताएँ
११. भारोपीय भाषाओं का परिचय
(१) भारत–ईरानी भाषाएँ
(२) बाल्टो–स्लाविक भाषाएँ
(३) आर्मीनी
(४) अल्बानी
(५) ग्रीक
(६) केल्टिक
(७) जर्मानिक
(८) इटालिक
(९) हिटाइट
(१०) तोखारी

१२. द्राविड़ परिवार
१३. बुरुशस्की परिवार
१४. काकेशी परिवार
१५. यूराल–अल्ताई परिवार
१६. चीनी–परिवार
१७. जापानी–कोरियाई परिवार
१८. अत्युत्तरी (हाइपरबोरी) परिवार
१९. बास्क परिवार
२०. सामी–हामी परिवार
२१. सूडानी परिवार
२२. बान्तू परिवार
२३. होतेन्तोत–बुशमैनी परिवार
२४. मलय–पोलिनेशियाई परिवार
२५. पापुई परिवार
२६. आस्ट्रेलियन परिवार
२७. दक्षिण–पूर्व एशियाई परिवार
२८. अमरीकी परिवार

अध्याय १०

भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण
(Genealogical Classification of Languages)

पारिवारिक-भेदास्तु, अष्टादश-मिता मताः ।
यूरेशियायां द्रविडो भारोपीयश्च काकशः ॥१॥
बुरुशस्की च यूराल-अल्ताई-बास्क-चीनकाः ।
अत्युत्तरी च जापानी, सामी-हामी तथैव च ॥२॥
अफ्रीका-देशजाः प्रोक्ताः, सूडानी, होत-बुश्मनी ।
बान्तू सामी च हामी च, चतुर्धैता विभाजिताः ॥३॥
प्रशान्ते मलयी चैव, पापुय्यास्ट्रेलियन् तथा ।
एशियन् दक्षिणा-पूर्वा, चतुर्धैता विभाजिताः ॥४॥
अमेरिकायामम्रीकी, सहस्रात्मा प्रसर्पति ।
महाद्वीप-गता भेदाः, समासेनाऽत्र कीर्तिताः ॥५॥ (कपिलस्य)

[(१) विश्व-भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण के अनुसार १८ भेद माने गए हैं। **यूरेशिया (यूरोप-एशिया) खंड में**—१. द्राविड, २. भारोपीय (भारत-यूरोपीय), ३. काकेशी, (२)—४. बुरुशस्की, ५. यूराल-अल्ताई, ६. बास्क, ७. चीनी, ८. अत्युत्तरी (हाइपरबोरी), ९. जापानी-कोरियाई, १०. सामी-हामी (सेमेटिक, हैमेटिक), ये १० परिवार हैं। **(३) अफ्रीका-खंड में**—११. सूडानी, १२. होतेन्तोत-बुशमैनी, १३. बान्तू (सामी और हामी भी), ये ३ परिवार हैं। **(४) प्रशान्त महासागरीय खंड में**—१४. मलय-बहुद्वीपीय, १५. पापुई, १६. आस्ट्रेलियन, १७. दक्षिण-पूर्व एशियन, ये ४ परिवार हैं। **(५) अमेरिका खंड में**—१८. अमेरिकी परिवार हैं। इसमें एक हजार भाषाएँ हैं। इस प्रकार महाद्वीप-भेद से संक्षेप में भाषा-परिवारों का वर्णन किया गया है।]

१०.१. विश्व-भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण

विश्व की भाषाओं के परिवारों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। जर्मन विद्वान् विल्हेल्म फॉन हुम्बोल्ट (Wilhelm Von Humboldt) ने इनकी संख्या १३ मानी है। फ्रीड्रिश म्यूलर (Friedrich Muller) आदि विद्वान् इनकी संख्या १०० के लगभग मानते हैं। भारतीय विद्वान् इनकी संख्या १० से १८ तक मानते हैं। निर्विवाद रूप से स्वीकृत प्रमुख १८ भाषा-परिवारों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है :—

(क) यूरेशिया (यूरोप-एशिया) भूखण्ड

(१) भारोपीय (भारत-यूरोपीय) परिवार (Indo-European Family)
(२) द्राविड़ परिवार (Dravidian Family)
(३) बुरुशस्की परिवार (Burushaski Family)
(४) काकेशी परिवार (Caucasian Family)
(५) यूराल-अल्ताई परिवार (Ural-Altai Family)
(६) चीनी परिवार (Chinese Family)
(७) जापानी-कोरियाई परिवार (Japanese-Korean Family)
(८) अत्युत्तरी (हाइपरबोरी) परिवार (Hyperborean Family)
(९) बास्क परिवार (Basqu Family)
(१०) सामी-हामी परिवार (Semitic-Hamitic Family)
(यह अफ्रीका महाद्वीप में भी आता है)

(ख) अफ्रीका भूखण्ड

(११) सूडानी परिवार (Sudan Family)
(१२) बान्तू परिवार (Bantu Family)
(१३) होतेन्तोत-बुशमैनी परिवार (Hottentot-Bushman Family)

(ग) प्रशान्त महासागरीय भूखण्ड

(१४) मलय-पोलिनेशियाई परिवार (Malay-Polynasian Family)
(१५) पापुई परिवार (Papuan Family)
(१६) आस्ट्रेलियन परिवार (Australian Family)
(१७) दक्षिण-पूर्व एशियाई परिवार (Austro-Asiatic Family)

(घ) अमेरिका भूखण्ड

(१८) अमेरिकी परिवार (American Family)

१०.२. पारिवारिक वर्गीकरण का स्वरूप

आकृतिमूलक और पारिवारिक वर्गीकरण में अन्तर—आकृतिमूलक और पारिवारिक वर्गीकरण में मुख्य अन्तर यह है कि आकृतिमूलक वर्गीकरण में केवल रचना-तत्त्व या आकृति को आधार माना जाता है। शब्द और वाक्य किस प्रकार बनते हैं, इसके आधार पर ही आकृतिमूलक वर्गीकरण किया जाता है। इसमें अर्थतत्त्व पर ध्यान नहीं दिया जाता है। पारिवारिक वर्गीकरण में रचना-तत्त्व के साथ ही अर्थतत्त्व का भी पूरा ध्यान रखा जाता है। इस प्रकार पारिवारिक वर्गीकरण में अर्थतत्त्व + संबन्धतत्त्व (रचनातत्त्व या रूपतत्त्व) दोनों पर ध्यान रखा जाता है।

पारिवारिक वर्गीकरण को ऐतिहासिक वर्गीकरण (Historical Classification) भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि इस वर्गीकरण में भाषा के इतिहास को भी आधार बनाया जाता है। किस भाषा से कौन सी भाषा या विभाषा का जन्म हुआ? इस आधार पर एक भाषा से उत्पन्न सभी भाषाएँ और विभाषाएँ एक परिवार में रखी जाएँगी।

वर्गीकरण	आधार
१. आकृतिमूलक	आकृति या रचनातत्त्व
२. पारिवारिक (ऐतिहासिक)	अर्थतत्त्व + रचनातत्त्व (सम्बन्धतत्त्व)

भाषा-परिवार—मानव-जाति का इतिहास बताता है कि मानव-जाति अपने मूल पुरुष की कल्पना करती है। आर्य एवं हिन्दू अपना मूल पुरुष 'मनु' को मानते हैं, ईसाई और मुसलमान 'आदम' को। इसी आधार पर मनुष्य को 'मानव' और 'आदमी' कहा जाता है। आगे चलकर इनसे विविध वंश या परिवार बनते हैं। एक वंश में उत्पन्न होने वाले सवंशीय, सगोत्र या सजातीय होते हैं। यही स्थिति भाषा की भी है। एक वंश से उत्पन्न भाषाओं को एक परिवार में रखा जाता है। एक परिवार के आधार पर वंश में माता-पुत्री, बहिन आदि नाम दिए जाते हैं। भाषा में इस प्रकार का जन्म नहीं होता है। एक भाषा से दूसरी भाषा या विभाषा विकसित होती है। लाक्षणिक, गौण या आलंकारिक रूप में इस भाषा को पूर्ववर्ती भाषा की पुत्री कहते हैं। दो समकक्ष या समानान्तर विकसित विभाषाओं को बहिन कहते हैं। ये प्रयोग लाक्षणिक हैं।

१०.३. पारिवारिक वर्गीकरण के आधार

पारिवारिक वर्गीकरण के मुख्यतया चार आधार हैं—

१. स्थान-सामीप्य (स्थान या क्षेत्र की समीपता),

२. शब्द-साम्य (शब्दावली की समानता, शब्द-अर्थ की समानता),

३. व्याकरण-साम्य (पद-रचना और वाक्य-रचना में समानता),

४. ध्वनि-साम्य (प्रयुक्त ध्वनियों में समानता या एकरूपता)।

१. स्थान-सामीप्य—सामान्यतया एक परिवार की भाषाएँ स्थानीय दृष्टि से समीप होती हैं। स्थानीय समीपता के आधार पर विभिन्न भाषाओं को एक परिवार में रखने की संभावना दृढ़ होती है। जैसे—स्थानीय समीपता के आधार पर भारतीय आर्यभाषाओं हिन्दी, बिहारी, बंगला, पंजाबी, राजस्थानी आदि आती हैं। परन्तु स्थान-सामीप्य पारिवारिक एकता का दृढ़ आधार नहीं है। कुछ भाषाएँ दूरस्थ होकर भी एक परिवार में आती हैं और कुछ समीपस्थ होकर भी भिन्न परिवार की भाषाएँ होती हैं। जैसे—दूरस्थ होकर भी अवेस्ता, जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी भारोपीय परिवार में होने से संस्कृत और हिन्दी के परिवार की भाषाएँ हैं। इसके विपरीत अरबी-फारसी, मराठी-तेलुगु, मराठी-कन्नड़ आदि स्थान-सामीप्य होने पर भी भिन्न-भिन्न परिवारों की भाषाएँ हैं।

स्थान-सामीप्य पारिवारिक एकता का संकेतक या द्योतक है। यह निर्णायक तत्त्व नहीं है।

२. शब्द-साम्य—शब्द-साम्य में विभिन्न भाषाओं में शब्दकोष या शब्दावली की समानता ग्रहण की जाती है। शब्द-साम्य में केवल शब्द की आकृति ही नहीं, अपितु उसका अर्थ भी समन्वित है। यदि दो या अधिक भाषाओं में वे ही शब्द उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होते हैं तो पारिवारिक एकता की संभावना पुष्ट होती है। इस आधार पर उनका परीक्षण अग्रसर होता है।

शब्द-साम्य के लिए निम्नलिखित तथ्यों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक भाषा में कुछ आधारभूत या मूल शब्द-कोष होता है। इसमें बहुत कम परिवर्तन होता है। इसमें विशेष उल्लेखनीय हैं—(१) सम्बन्धी-वाचक शब्द (माता, पिता, भाई, बहन आदि), (२) संख्यावाचक शब्द (एक, दो, तीन आदि), (३) सर्वनाम-शब्द (मैं, हम, तू, वह, वे आदि), (४) सामान्य क्रिया-शब्द (जाना, आना, खाना, पीना आदि), (५) शरीरांग-नाम (हस्त, मुख, पाद, दन्त आदि)। यदि इन आधारभूत शब्दों में शब्दार्थ-साम्य मिलता है तो विभिन्न भाषाओं के एक परिवार से संबद्ध होने की संभावना को पुष्ट आधार मिलता है।

संस्कृत, फारसी, ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी आदि के शब्दों में इस प्रकार की बहुमूल्य समानता दृष्टिगोचर होती है, अतः इन्हें एक भारोपीय परिवार में रखा जाता है। जैसे—

संस्कृत	**फारसी**	**ग्रीक**	**लैटिन**	**जर्मन**	**अंग्रेजी**	**हिन्दी**
पितृ	पिदर	Pater	Pater	Vater	Father	पिता
भ्रातृ	बिरादर	Phrater	Frater	Bruder	Brother	भाई
सप्त	हफ्त	Hepta	Septem	Sieben	Seven	सात

इन उदाहरणों से इन भाषाओं की पारिवारिक एकता की झाँकी मिलती है।

शब्द-साम्य में अपेक्षित सतर्कता—शब्द-साम्य के आधार पर विचार करते समय निम्नलिखित तीन सावधानियाँ अपेक्षित हैं। इन पर ध्यान न देने से भ्रम और भूल हो सकती है। ये हैं :—

(क) उधार शब्दावली—अन्य भाषाओं से उधार लिए शब्दों के आधार पर पारिवारिक एकता नहीं मानी जा सकती हैं। जैसे—'चाय' (चा) शब्द चीनी भाषा का है। यह हिन्दी, तुर्की (Chay), रूसी (Chai) आदि अनेक भाषाओं में सामान्य परिवर्तन के साथ प्रचलित है। इसके आधार पर पारिवारिक एकता मानना अशुद्ध होगा। अरबी के सैकड़ों शब्द तुर्की और हिन्दी भाषा में हैं। इस आधार पर इन्हें एक परिवार का नहीं माना जा सकता है।

(ख) आकस्मिक साम्य—विभिन्न परिवारों से संबद्ध कुछ शब्दों में आकस्मिक शब्द और अर्थ का साम्य मिलता है। इसके आधार पर वे एक परिवार के शब्द नहीं माने जाएँगे। जैसे—(१) संस्कृत 'जाल्मः' (निर्दय, अत्याचारी) और अरबी 'ज़ालिम'

(जुल्म या अत्याचार करने वाला)। (२) अंग्रेजी—Near (नीयर, समीप), भोजपुरी—नियर (समीप, निकट)। (३) संस्कृत—'सूप' (दाल), अंग्रेजी—Soup (सूप, सब्जी का रस)। (४) जर्मन—Mann (मान, मनुष्य), कोरियाई शब्द 'मान' (मनुष्य)। इनमें आकस्मिक साम्य है।

(ग) ध्वन्यनुकरण-मूलक शब्द—ध्वन्यनुकरण के आधार पर बने शब्दों में प्रायः शब्दार्थ-साम्य मिलता है। इसके आधार पर परिवार की एकता नहीं मानी जा सकती है। जैसे—बिल्ली के लिए हिन्दी 'म्याऊँ' और चीनी 'म्याऊँ' (बिल्ली) शब्द एकार्थक हैं।

३. व्याकरण-साम्य—व्याकरण-साम्य में मुख्य रूप से पद-रचना और वाक्य-रचना में समानता आती है। यह सबसे पुष्ट और प्रामाणिक आधार है। यदि दो भाषाओं में शब्द-निर्माण और वाक्य-निर्माण में समानता है तथा सम्बन्ध-तत्त्वों की समानता है तो उन्हें एक परिवार की भाषा माना जाएगा। प्रत्येक भाषा की पद-रचना और वाक्य-रचना की शैली स्वतंत्र होती है। उसमें बहुत कम परिवर्तन होता है।

व्याकरण-साम्य में विवेच्य भाषाओं की क्रियाओं और सर्वनामों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। दूसरी भाषाओं से क्रिया-शब्द, धातु और सर्वनाम बहुत कम मात्रा में लिये जाते हैं। पद एवं वाक्य-रचना की समानता में इन बातों पर ध्यान दिया जाता है—(१) धातु और प्रत्यय के मिलने का स्वरूप। (२) प्रत्यय आदि, मध्य या अन्त में किस प्रकार लगते हैं। (३) वाक्य की रचना का प्रकार समान है या नहीं।

४. ध्वनि-साम्य—दो भाषाओं में प्रयुक्त होने वाली ध्वनियों में समानता होने पर उन्हें एक परिवार की भाषा माना जाता है। यह आधार पूर्णतया निर्णायक नहीं है। एक भाषा की ध्वनियों में भी विकास-क्रम के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। उदाहरणार्थ—(१) संस्कृत के ऋ, ऐ, औ, ष, ज्ञ आदि का मूल रूप में उच्चारण आज नहीं है। (२) भारोपीय फारसी, रूसी, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी आदि भाषाओं में ज़ ध्वनि है, परन्तु संस्कृत में नहीं है। (३) संस्कृत में टवर्ग ध्वनि है, पर यह अन्य भारोपीय भाषाओं में नहीं है। (४) संस्कृत में ड़, ढ़ ध्वनियाँ नहीं हैं, पर संस्कृत से विकसित हिन्दी में ये ध्वनियाँ हैं। (५) विदेशी शब्दों के साथ विदेशी ध्वनियाँ भी आ जाती हैं। जैसे—क़, ख़, ग़, ज़ आदि। (६) विदेशी शब्दों को आत्मसात् करने में उनकी मूल ध्वनि में परिवर्तन भी कर दिया जाता है। क़, ग़, ज़ आदि को केवल क, ग, ज भी लिखा जाता है। लेन्टर्न का लालटेन हो गया है।

इससे ज्ञात होता है कि ध्वनि-साम्य भाषाओं की पारिवारिक एकता का अत्यन्त पुष्ट आधार नहीं है। उपर्युक्त चारों आधारों में व्याकरण-साम्य सर्वोत्तम आधार है। अन्य तीनों आधार एकत्व-निर्णय में सहयोगी हैं।

पारिवारिक वर्गीकरण की कतिपय न्यूनताएँ

विश्व की भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण अभी तक सुपुष्ट आधार पर नहीं हो सका है, इसलिए अभी तक विश्व के भाषा-परिवारों की संख्या निश्चित नहीं हो सकी

है। कोई १० भाषा-परिवार मानता है, कोई १००। पारिवारिक वर्गीकरण की प्रमुख कठिनाइयाँ ये हैं :—

१. प्रामाणिक सामग्री की न्यूनता। कुछ भाषाएँ लुप्त हो गई हैं। कुछ भाषाओं का लिखित साहित्य अप्राप्य है।

२. भाषाओं में समकालिकता का अभाव। सुमेरियन भाषा का समय ४ हजार वर्ष ई० पू० माना जाता है, सेमिटिक का २८०० ई० पू०, भारोपीय का २ हजार ई० पू०, चीनी का १५०० ई० पू०, द्राविड़ का ५०० ई० पू०। सहस्रों वर्षों के अन्तर वाली भाषाओं की तुलना से प्रामाणिक निर्णय नहीं निकाला जा सकता है। कालभेद से अनेक भेद-उपभेद हुए होंगे।

३. विश्व की सभी भाषाओं का पूर्ण अध्ययन नहीं हुआ है। सैकड़ों भाषाओं के केवल नाम एवं उनकी रूपरेखा ही ज्ञात है।

अतः विश्व-भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण को अभी तक निश्चित एवं निर्णीत नहीं माना जा सकता है।

पारिवारिक वर्गीकरण की उपयोगिता

पारिवारिक वर्गीकरण की कुछ व्यावहारिक उपयोगिताएँ हैं—

१. सांस्कृतिक एकता—एक परिवार से संबद्ध भाषाभाषियों में सांस्कृतिक एकता का उदय होता है। भारोपीय एवं आर्य-परिवार भारत और यूरोप दोनों में अपने आर्यत्व का बीज बोता है।

२. तुलनात्मक अध्ययन—एक परिवार से संबद्ध भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन गंभीरता से हो पाता है। शब्दों और अर्थों में कब और कैसे अन्तर हुए, इसका इतिहास ज्ञात होता है।

३. विश्वभाषाओं का संक्षिप्त ज्ञान—पारिवारिक वर्गीकरण के द्वारा विश्व की प्रमुख सभी भाषाओं के विषय में प्रत्येक भाषाशास्त्रीय अध्येता को संक्षिप्त किन्तु मौलिक तथ्यात्मक जानकारी हो जाती है।

४. मूल-भाषा का अन्वेषण—विभिन्न भाषाओं के अध्ययन से प्रत्येक परिवार की मूलभाषा के अन्वेषण का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार के प्रयत्न के फलस्वरूप 'मूल भारोपीय भाषा' की कल्पना की गई है। मूल भारोपीय ध्वनियों का भी इसी आधार पर अनुमान किया गया है।

५. विश्व-बन्धुत्व की भावना—विश्व के प्रत्येक भाषा-परिवार का अन्य भाषा-परिवारों से प्रत्यक्ष या परोक्ष संपर्क रहा है। इससे अनेकत्व में भी एकत्व की अनुभूति होती है। यह एकत्व की अनुभूति विश्व-बन्धुत्व की भावना को जन्म देती है। यही कारण है कि भाषाशास्त्री संकीर्णता, अनुदारता, एकांगिता, असन्तुलन आदि दोषों से प्रायः मुक्त रहता है।

१०.४. भारोपीय परिवार का महत्त्व

विश्व के भाषा-परिवारों में भारोपीय परिवार का सबसे अधिक महत्त्व है। इसके

मुख्य कारण ये हैं :—

१. प्रयोगाधिक्य—इस परिवार की भाषाओं के बोलनेवालों की संख्या सबसे अधिक है।

२. भौगोलिक व्यापकता—इस दृष्टि से यह परिवार सर्वोत्कृष्ट है। प्रायः सारे विश्व में इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं।

३. साहित्यिक उत्कर्ष—विश्व में सबसे उत्कृष्ट और व्यापक साहित्य इस परिवार में है। इसमें कला और विज्ञान के सभी अंगों पर उत्कृष्ट साहित्य है।

४. सांस्कृतिक उत्कर्ष—इस परिवार के भाषाभाषी सभ्यता और संस्कृति में विश्व में सबसे अग्रगण्य हैं।

५. भाषावैज्ञानिक उत्कर्ष—भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र के अभ्युदय का सर्वाधिक श्रेय इसी परिवार को है। संस्कृत, अंग्रेजी, जर्मन और फ्रेंच में सर्वाधिक भाषाशास्त्रीय चिन्तन हुआ है।

६. तुलनात्मक भाषाविज्ञान का जन्मदाता—इस परिवार की विभिन्न भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से ही तुलनात्मक भाषाविज्ञान का जन्म हुआ है।

७. वैज्ञानिक साहित्योत्कर्ष—इस परिवार की अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी आदि भाषाओं में सर्वांगीण उत्कृष्ट वैज्ञानिक साहित्य है। वैज्ञानिक साहित्य के लिए विश्व की सभी भाषाएँ इस परिवार की ऋणी हैं।

८. राजनीतिक उत्कर्ष—इस परिवार के भाषाभाषी विश्व के प्रायः सभी भागों में अपना प्रभुत्त्व स्थापित किये हुए हैं। राजनीतिक कारणों से ही अधिकांश महाद्वीपों में अंग्रेजी, फ्रेंच, स्पेनिश, डच, पुर्तगाली आदि भाषाएँ प्रचलित हैं।

१०.५. भारोपीय परिवार के विभिन्न नाम

भारोपीय परिवार के विभिन्न नाम समय-समय पर सुझाए गए हैं। इनमें विशेष उल्लेखनीय चार मत हैं :—

१. इण्डो-जर्मनिक (Indo-Germanic) **या भारत-जर्मनिक परिवार**—भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में सर्वप्रथम जर्मन विद्वानों ने प्रशंसनीय कार्य किया। उन्होंने एक छोर पर भारतीय भाषाओं और दूसरे छोर पर जर्मन भाषाओं को लेकर यह नाम प्रस्तुत किया। जर्मन विद्वान् आज भी भारोपीय परिवार को इसी नाम से संबोधित करते हैं। इस नाम में अव्याप्ति दोष है—(क) जर्मनी के पश्चिम में केल्टिक परिवार है, यह छूट जाता है। (ख) जर्मनी के दक्षिण में इटालिक या रोमांस परिवार (फ्रेंच, इटालियन, स्पेनिश, पुर्तगाली आदि) है, वह छूट जाता है। इसलिए यह नाम अंग्रेज भाषाशास्त्रियों आदि को स्वीकृत नहीं हुआ। रानीतिक दृष्टि से अंग्रेज जर्मनों के शत्रु रहे हैं, अतः उन्होंने यह नाम स्वीकार नहीं किया।

२. आर्य-परिवार—इस परिवार के बोलनेवाले मूल पुरुष 'आर्य' थे, अतः यह नाम प्रस्तुत किया गया। यह नाम भी स्वीकृत नहीं हुआ। इसके दो कारण थे—(१) इस

भाषा के बोलने वाले सभी आर्य नहीं हैं। (२) भारत-ईरानी परिवार के लिए 'आर्य-परिवार' शब्द अधिक प्रचलित है। इससे भ्रम होना संभव है।

३. **भारोपीय** (Indo-European) **परिवार**—इसको भारत-यूरोपीय परिवार भी कहते हैं। यह नाम सर्वप्रथम फ्रेंच विद्वानों ने दिया। इससे भाषा के भौगोलिक विस्तार का बोध होता है कि यह भारत से यूरोप तक फैली है। इस नाम में भी अतिव्याप्ति-अव्याप्ति दोष हैं—(क) पूरे भारत और यूरोप में ये भाषाएँ नहीं बोली जाती हैं। दक्षिण भारत में द्राविड़ परिवार है। यूरोप में बास्क, काकेशी, यूराल-अल्ताई आदि परिवार भारोपीय से भिन्न हैं। (ख) अमेरिका, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका आदि में भी अंग्रेजी, फ्रेंच आदि बोली जाती हैं। इस प्रकार अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष हैं। वस्तुतः निर्दोष कोई नाम मिलना संभव नहीं है। यह नाम अत्यन्त प्रचलित हो गया है, अतः इसे ही अपनाया जाता है।

४. **भारत-हित्ती** (Indo-Hittite) **परिवार**—१८९३ ई० में ह्यूगो विंकलर को बोगाजकोई स्थान पर कीलाक्षर अभिलेख मिले। इनके अध्ययन से हित्ती या हिटाइट भाषा का पता लगा। प्रो० स्टुर्टवेंट ने सिद्ध किया है कि यह भाषा भारोपीय भाषा की पुत्री न होकर बहिन है। इस आधार पर इस परिवार को 'भारत-हित्ती' नाम दिया गया। यह नाम भी स्वीकृत नहीं हुआ है। इसके दोष हैं—(१) इससे भाषा के विस्तार एवं व्यापकता का पता नहीं चलता है। (२) हित्ती जाति का नाम है। भारत देश-वाचक है, हित्ती जातिवाचक। दोनों का मेल असंगत है। (३) इस नाम में अस्पष्टता है।

प्रचलन के आधार पर भारोपीय नाम ही सर्वोत्तम माना जाता है।

१०.६. भारोपीय भाषा का उद्‌गम स्थान

भारोपीय परिवार की वर्तमान एवं प्राचीन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया कि इन भाषाओं के प्रयोक्ता आदि-पुरुष किसी एक स्थान पर रहते थे। किसी दैवी या भौतिक कारण से वे अपने इस स्थान से बिखरे और एशिया तथा यूरोप के विभिन्न भागों में फैल गए। इस विस्तार का फल यह हुआ कि इनमें कुछ मौलिक शब्द समान रूप से सभी भाषाओं में पूर्ववत्, कुछ विकार के साथ, प्रचलित रहे। इन मौलिक शब्दों में विशेष उल्लेखनीय हैं—सम्बन्धीवाचक शब्द, संख्या-शब्द, सर्वनाम शब्द, कुछ क्रिया-शब्द आदि। संस्कृत, अवेस्ता, ग्रीक, लैटिन आदि की तुलना से यह तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आता है।

सामान्यतया मूल भारोपीय भाषा के बोलनेवालों को 'आर्य' नाम दिया गया है। आर्यों का आदि-देश कहाँ था? यह अत्यन्त विवादास्पद विषय है। इस विषय पर भारत और पाश्चात्त्य देशों के पचासों विद्वानों ने सहस्रों पृष्ठ लिखा है। प्रत्येक ने अपनी जन्मभूमि या स्व-देश को आर्यों का आदि-देश सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसमें राजनीतिक दृष्टिकोण भी प्रविष्ट हो गया, जिसके कारण आर्यों का आदि-देश भारत से बाहर दिखाना अनिवार्य हो गया। इस प्रश्न को इतना उलझा दिया गया है कि आज किसी भी विद्वान् के

लिए सम्भव नहीं है कि वह इस विषय में कोई निर्णायक मत प्रस्तुत कर सके। जिस प्रकार 'भाषा की उत्पत्ति' का विषय आज तक अनिर्णीत है, उसी प्रकार भारोपीय भाषा का 'आदि-देश' अनिर्णीत है। अब इस विषय पर अधिक विचार करना समयापव्यय समझा जाने लगा है। यहाँ केवल संक्षिप्त रूपरेखा दी जा रही है।

आर्यों का आदि-स्थान

(क) भारत देश—इसमें भी विभिन्न मत हैं—(१) स्वामी दयानन्द—त्रिविष्टप (तिब्बत); (२) अविनाशचन्द्रदास—सरस्वती नदी का उद्गम स्थल, हिमालय; (३) डॉ० गंगानाथ झा—ब्रह्मर्षि देश; (४) डी० एस० त्रिवेदी—मुलतान में देविका नदी की घाटी; (५) अन्य—मुलतान (मुलतान=मूलस्थान); (६) एस० डी० कल्ला—कश्मीर या हिमालय। डॉ० सम्पूर्णानन्द आदि भी आर्यों का आदि-देश भारत मानते हैं। इन विद्वानों का आधार वेद, पुराण, प्राचीन धर्मग्रन्थ आदि हैं। इन्होंने भाषाशास्त्रीय निष्कर्षों को आधार नहीं माना है।

(ख) भारतेतर देश—इस विषय में प्रमुख मत ये हैं—(१) प्रो० मैक्समूलर—पामीर का प्लेटो एवं मध्य एशिया; (२) डॉ० लैथम (Latham)—स्कैण्डनेविया; (३) प्रो० सेर्ज़ी (Sergi)—एशिया माइनर; (४) लोकमान्य बालगंगाधर तिलक—उत्तरी ध्रुव के समीप; (५) सर देसाई—बालकन झील के पास (सप्तसिन्धु); (६) डॉ० गाइल्ज़ (Giles)—हंगरी में कारपेथियन पर्वत के समीप; (७) हर्ट—विश्चुला नदी के पास; (८) मच (Much)—पश्चिमी बाल्टिक तट; (९) नेहरिंग (Nehring)—दक्षिणी रूस; (१०) प्रो० श्रेडर (Schroeder)—दक्षिणी रूस में वोल्गा नदी के मुहाने के पास; (११) ब्रान्डेन्स्टाइन (Brandenstein)—यूराल पर्वत के दक्षिण-पूर्व में किरगीज का मैदान।

इनमें से गाइल्ज़, श्रेडर और ब्रान्डेन्स्टाइन के मत को अधिक महत्त्व दिया जाता है। गाइल्ज़ ने भारोपीय भाषाओं के शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर पशु, पक्षियों और वृक्षों आदि का निर्णय किया और उनके आधार पर हंगरी में कारपेथियन, आल्प्स पर्वत आदि के बीच के समशीतोष्ण क्षेत्र को मूल स्थान बताया। ब्रान्डेन्स्टाइन ने प्राचीन शब्दकोष के अतिरिक्त भाषाविज्ञान की शाखा अर्थविज्ञान का भी आश्रय लिया है। इन्होंने भी पशु, पक्षी, वृक्षादि के वाचक शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। इन्होंने यूराल पर्वत के दक्षिण-पूर्व में स्थित किरगीज का मैदान मूल स्थान माना है। अधिकांश पाश्चात्त्य विद्वान् ब्रान्डेन्स्टाइन के मत को अधिक उपयुक्त समझते हैं।

आर्य और भारत—यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो आर्यों का आदि-देश भारत होना प्रायः निश्चित है। इस विषय में कुछ बातें विचारणीय हैं—

(क) त्रिविष्टप (वर्तमान नाम तिब्बत) का उल्लेख आदिस्थल, देवभूमि, इन्द्रपुरी आदि के रूप में प्राचीन संस्कृत-साहित्य में अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। गोपथब्राह्मण, याज्ञवल्क्य स्मृति, महाभारत, रघुवंश आदि में इसका उल्लेख है। विष्टप का अर्थ—भुवन,

लोक है। त्रिविष्टप स्वर्ग का पर्यायवाची है। देवभूमि, तपोभूमि होने से इसे स्वर्ग के तुल्य माना जाता था।

(ख) भूगर्भविज्ञान के अनुसार पृथ्वी पहले जलाप्लावित थी। सर्वप्रथम हिमालय आदि पर्वत निकले। इन पर ही मानव-सृष्टि प्रारम्भ हुई। इस दृष्टि से तिब्बत और पामीर के पठार सर्वोत्तम स्थान ज्ञात होते हैं।

(ग) किसी भी प्राचीन साहित्य में तिब्बत के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान पर आदिमानव की उत्पत्ति का उल्लेख नहीं मिलता है।

(घ) १९५५ ई० तक तिब्बत, कैलास, मानसरोवर आदि भारत के अभिन्न अंग थे। मानव-जाति के आदिपुरुष मनु का स्थान हिमालय पर्वत ही माना जाता है। बाद में गंगा-यमुना एवं सिन्धु आदि पंचनदों के मैदान बने हैं। तिब्बत से नीति और माणा दर्रों के मार्ग से प्राचीन मानवों का गंगा-यमुना के मैदानी भाग में आगमन हुआ होगा। यहीं एक समुदाय पंजाब की ओर गया होगा, जो मुलतान (मूलस्थान) में भी रहा होगा। फिर इसका ही एक भाग पश्चिम की ओर गया होगा, जो ईरानी (फारसी, अवेस्ता) भाषाभाषियों के आदिपुरुष होंगे। यह भी संभव है कि तिब्बत से एक समुदाय पहाड़ी मार्ग से ही रूस की ओर गया हो, जो हित्ती जाति आदि के आदिपुरुष होंगे। यूरोप की भाषाएँ तिब्बत से सीधे रूस और यूरोप में गये लोगों की भाषाओं से उद्‌भूत होंगी, अतएव एक ओर वैदिक-संस्कृत और अवेस्ता में साम्य है, दूसरी ओर यूरोपीय भाषाओं में आधारभूत साम्य है।

(ङ) ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से गंगा-यमुना के मैदान से पश्चिम की ओर आर्यों के विस्तार का संकेत है। इसमें नदियों का क्रम स्पष्टतया पूर्व से पश्चिम की ओर निर्दिष्ट है— गंगा, यमुना, सरस्वती (कुरुक्षेत्र के पास बहनेवाली नदी), शुतुद्री (सतलज), असिक्नी (चन्द्रभागा, चेनाब), वितस्ता (झेलम), सिन्धु (सिन्ध), कुभा (सिन्ध में गिरनेवाली काबुल नदी), गोमती (सिन्ध में गिरनेवाली नदी), क्रुमु (सिन्ध की सहायक नदी) आदि।

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति, शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्‌वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥

(ऋग्वेद १०-७५-५)

त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं०। (ऋग्० १०-७५-६)

(च) विश्व के किसी भी प्रामाणिक प्राचीन इतिहास में आर्यों के बाहर से भारत में आने का उल्लेख नहीं है। यदि इसमें नाममात्र भी सत्यांश होता तो किसी न किसी इतिहास, शिलालेख या अभिलेख में इसका अवश्य उल्लेख होता। वस्तुतः आर्य भारत से ही बाहर गए हैं।

(छ) ब्रान्डेन्स्टाइन ने किरगीज का मैदान, जो प्रस्तावित किया है, वह मूल रूप में मान्य नहीं हो सकता है। भूगर्भविज्ञान और नृवंशविज्ञान निर्विवाद रूप से आदि-मानवों का मूलस्थान पर्वत या पर्वतीय पठारी भाग मानते हैं। इसी पर हिमयुग की कल्पना निर्भर है। मैदानी भाग बहुत बाद में बने हैं, अतः मैदानी भाग के आधार पर कल्पना मान्य नहीं

हो सकती है। जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, यह संभव है कि मूल पुरुष अपने स्थान से हटने पर कुछ गंगा-यमुना के दोआब में आए और कुछ रूस और यूरोप की ओर गए। जो रूस आदि की ओर गए वे, संभव है, यूराल पर्वत के दक्षिण-पूर्व किरगीज के मैदान में भी बसे हों और वहाँ से तितर-बितर हुए हों। जिन पशु, पक्षी, वृक्षों आदि का उल्लेख उन्होंने किया है, वे तिब्बत एवं उसके आस-पास प्राप्य हैं।

१०.७. मूल भारोपीय ध्वनियाँ

मूल भारोपीय भाषा या आदिम भाषा की कल्पना भाषाशास्त्रियों की बुद्धि की उपज है। १९वीं शती ई० के द्वितीय चरण में इसको मूर्त रूप देने का प्रयास प्रारम्भ हुआ था। इस विषय में पाश्चात्त्य विद्वानों ने पर्याप्त श्रम किया है। भारतीय विद्वानों का इस विषय में योगदान नगण्य है। संस्कृत, अवेस्ता, ग्रीक, लैटिन आदि के प्राचीन रूपों के आधार पर मूल भारोपीय भाषा (Primitive Indo-European dialect या संक्षेप में I. E.) की ध्वनियों और शब्दों का निर्माण किया गया। यह भाषा और ये ध्वनियाँ पूर्णतया आनुमानिक एवं काल्पनिक हैं, अतः इन्हें 'विद्वद्वैदग्ध्य' ही समझना चाहिए। इस विषय में कोई अन्तिम निर्णय देना संभव नहीं है।

१. मूल स्वर

(क) ह्रस्व— अ, एॅ, ओॅ

(ख) दीर्घ— आ, ए, ओ

(ग) उदासीन स्वर— [illegible] (ə)

२. संयुक्त स्वर—(अ, ए, ओ, ह्रस्व या दीर्घ + इ, उ, ऋ, लृ, न्, म्)

(क) ह्रस्व—	अइ,	अउ,	अऋ,	अलृ,	अन्	अम्
	एॅइ,	एॅउ,	एॅऋ,	एॅलृ,	एॅन्,	एॅम्
	ओॅइ,	ओॅउ,	ओॅऋ,	ओॅलृ,	ओॅन्,	ओॅम्
(ख) दीर्घ—	आइ,	आउ,	आऋ,	आलृ,	आन्,	आम्
	एइ,	एउ,	एऋ,	एलृ,	एन्,	एम्
	ओइ,	ओउ,	ओऋ,	ओलृ,	ओन्,	ओम्

३. (क) अन्तस्थ (स्वर)—	इ,	उ,	ऋ,	लृ,	न्,	म्
(ख) अन्तस्थ (व्यंजन)—	य्,	व्,	र्	ल्,	न्,	म्

४. व्यंजन—

(क) स्पर्श—१. कवर्ग—	क्,	ख्,	ग्,	घ्	(शुद्ध-कंठ्य)
	क्य्,	ख्य्,	ग्य्,	घ्य्	(कंठ-तालव्य)
	क्व्,	ख्व्,	ग्व्,	घ्व्	(कंठोष्ठ्य)
२. तवर्ग—	त्,	थ्,	द्,	ध्	(दन्त्य)
३. पवर्ग—	प्,	फ्,	ब्,	भ्	(ओष्ठ्य)

(ख) ऊष्म— स् (ज़्)

भारोपीय ध्वनियों के विषय में उल्लेखनीय बातें

१. ह्रस्व मूल स्वर—अ एँ ओँ संस्कृत में प्रायः 'अ' हो जाते हैं। ये ग्रीक में पृथक् मिलते हैं।

२. उदासीन ह्रस्व स्वर उल्टा e (ə) अर्ध-ह्रस्व 'अ' है। इसका उच्चारण अस्पष्ट या अनुच्चारित अँ जैसा होता है। इसको अंग्रेजी में श्वा (Schwa) कहते हैं। संस्कृत और अवेस्ता में यह 'इ' के रूप में मिलता है।

३. संयुक्त स्वर या मिश्र स्वर दो प्रकार के हैं—संयुक्त ह्रस्व स्वर और संयुक्त दीर्घ स्वर। इनमें पहला अंश मूल स्वर होता है और दूसरा अन्तस्थ स्वर। अतः ह्रस्व अ एँ ओँ या आ ए ओ के बाद ये ६ ध्वनियाँ लगती हैं—इ, उ, ऋ, लृ, न्, म्।

४. यह स्मरण रखें कि मूल भारोपीय भाषा में इ, उ, ऋ, लृ को मूल स्वर नहीं माना जाता है। ये अन्तस्थ य्, व्, र्, ल् के आक्षरिक (Syllabic) रूप माने जाते हैं।

५. अन्तःस्थ का अभिप्राय है स्वर और व्यंजन के मध्य में। इनकी स्थिति न पूर्णतया स्वर की है और न व्यंजन की। ये आवश्यकतानुसार कभी स्वर हो जाते हैं, तब इन्हें अन्तःस्थ स्वर कहा जाता है। ये हैं—इ, उ, ऋ, लृ। संस्कृत में इन्हें 'संप्रसारण' कहते हैं। संस्कृत में इनके दोनों रूप मिलते हैं—य् > इ, यजति-इष्ट, व् > उ, वचन-उक्ति आदि। न्, म् भी स्वनन्त (Sonant) एवं आक्षरिक (Syllabic) हैं। संस्कृत में अन्तस्थ स्वर न्, म् के स्थान पर 'अ' मिलता है। अन्तस्थ व्यंजन के रूप में ये य्, व्, र्, ल् आदि हैं, आक्षरिक रूप में इनके दीर्घ रूप ई, ऊ, ॠ भी मिलते हैं। अनुनासिक ध्वनियाँ न्, म् ही थीं।

६. मूल भारोपीय ध्वनियों में कवर्ग तीन प्रकार का मिलता है—

(क) शुद्ध कंठ्य—इसका उच्चारण कंठ से होता था। ये ध्वनियाँ संस्कृत में कवर्ग हैं। **(ख) कंठ-तालव्य**—इनके उच्चारण में कंठ के साथ गौणरूप में थोड़ी तालु की भी सहायता ली जाती थी। इन ध्वनियों से चवर्ग का विकास हुआ। **(ग) कण्ठोष्ठ्य**—इनके उच्चारण में कंठ के साथ ओष्ठ की भी थोड़ी सहायता ली जाती थी। यह ध्वनि संस्कृत में कवर्ग रही है तथा ग्रीक एवं लैटिन में क्व् आदि के रूप में है।

७. टवर्ग ध्वनि मूल भाषा में नहीं थी। चवर्ग भी नहीं था।

८. ऊष्म ध्वनि स् यदि दो स्वरों के मध्य में आती थी तो उसका उच्चारण सघोष ज् होता था।

९. अन्य विशेषताएँ—(१) दो या अधिक मूल स्वर एक साथ नहीं आ सकते थे। (२) दो या अधिक व्यंजन एक साथ आ सकते थे। (३) अन्तस्थ वर्ण स्वर या व्यंजन के रूप में अन्य वर्णों के साथ आ सकते थे। (४) अनुनासिक स्वरों अँ, इँ आदि का अभाव था। (५) संधि नियम विद्यमान थे। (६) 'ह' ध्वनि की सत्ता विवादास्पद है। अधिकांश विद्वान् 'ह' ध्वनि की सत्ता को नहीं मानते हैं। (७) कुछ विद्वान् अनुनासिक ध्वनियों में ङ् को भी मानते हैं।

*१०.८. मूल भारोपीय भाषा की विशेषताएँ (वैदिक संस्कृत)

१. मूल भारोपीय भाषा श्लिष्ट योगात्मक थी।

२. प्रत्ययों का आधिक्य था। अतः रूपों की संख्या अधिक थी।

३. मुख्यतया धातुओं से प्रत्यय जोड़कर शब्द बनते थे।

X ४. प्रारम्भ में उपसर्गों का सम्भवतः अभाव था। उपसर्गों के स्थान पर पूरे शब्दों का प्रयोग होता था। ये शब्द घिसते-घिसते अपना स्वतन्त्र अर्थ खो बैठे और बाद में उपसर्ग रह गए।

५. मूल भाषा में तीन लिंग थे—पुंलिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग।

६. मूल भाषा में तीन वचन थे—एकवचन, द्विवचन, बहुवचन।

७. मूल भाषा में तीन पुरुष थे—प्रथम, मध्यम, उत्तम।

८. क्रिया के फल-भोक्ता के आधार पर दो पद थे—आत्मनेपद, परस्मैपद। फल-भोक्ता स्वयं होने पर आत्मनेपद (आत्मने=अपने लिए), फल-भोक्ता दूसरा होने पर परस्मैपद (परस्मै=दूसरे के लिए)।

९. क्रिया-रूपों में वर्तमान, भूत, भविष्यत् की धारणा थी, परन्तु अवान्तर भेदों का अभाव था। क्रिया-निष्पत्ति में काल-विचार (कार्य कब हुआ) गौण था और निष्पत्ति का प्रकार (पूर्ण या अपूर्ण आदि) मुख्य था।

१०. मध्यसर्ग (Infix) प्रत्ययों का अभाव था।

११. संज्ञा, क्रिया और अव्यय पृथक्-पृथक् थे। सर्वनाम और विशेषण संज्ञा शब्दों के अन्तर्गत थे। अव्ययों में भी रूप-परिवर्तन होता था अर्थात् उनके भी रूप चलते थे।

१२. सर्वनामों के रूपों में विविधता थी।

१३. संज्ञा शब्दों की आठ विभक्तियाँ थीं। संस्कृत में आजकल भी आठ विभक्तियाँ हैं।

१४. समास का प्रयोग होता था। समस्त पदों के बीच की विभक्तियों का लोप हो जाता था। संस्कृत में समास का प्रचार बहुत बढ़ा है। जर्मन भाषा में भी समास की प्रवृत्ति बहुत व्यापक है। हिन्दी और अंग्रेजी में दो या तीन पदों का समास मिलता है।

१५. पदरचना में स्वरभेद से अर्थभेद होता था। देव > दैव (देव-संबन्धी)। ग्रीक में कुछ धातुओं में 'ए' लगने से वर्तमान काल अर्थ होता है और 'ओ' लगने से भूतकाल। अंग्रेजी में—Run (दौड़ता है), Ran (दौड़ा)।

१६. स्वर (सुर, Accent) संगीतात्मक था। उदात्त आदि स्वरों से अर्थभेद होता था। जैसे—वेद में स्वरभेद से अर्थभेद होता है। ग्रीक में भी स्वरों का प्रयोग था। वर्तमान भाषाओं में संगीतात्मक स्वरों के स्थान पर बलाघात (Stress) स्वरों का प्रयोग होने लगा है।

१७. मूलभाषा में अपश्रुति (Ablaut) का प्रयोग था।

१८. धातु को द्वित्व करके बहुत से धातुरूप बनाए जाते थे। जैसे—दृश् (देखना) > ददर्श (देखा), धृ (धारण करना) > दधार (धारण किया), गद् (बोलना) > जगाद (बोला)।

१०.९. भारोपीय परिवार की शाखाएँ

भारोपीय शब्द भारत + यूरोपीय का संक्षिप्त रूप है। यह Indo-European का अनुवाद है। भारोपीय में भारतवर्ष से लेकर यूरोप तक फैली हुई भाषाओं का संग्रह है। इस परिवार की दस शाखाएँ हैं—

भारोपीय-परीवारे, ईरानी-भारती द्वयी[1] ।
बाल्टो-स्लाविकी[2] चैव, आर्मीनी[3] ग्रीक[4] केल्टिकी[5] ॥ १ ॥
जर्मानिकी[6] च तोखारी[7], हित्ती[8] अल्बानिकी[9] तथा ।
इटालिकी[10] च दशमी, शाखाश्चैताः प्रकीर्तिताः ॥ २ ॥ (कपिलस्य)

१. भारत-ईरानी (आर्य)—(क) भारतीय, (ख) ईरानी (Aryan, Indo-Iranian)
२. बाल्टो-स्लाविक—(क) बाल्टिक, (ख) स्लाविक (Balto-Slavic, Letto-Slavic)
३. आर्मीनी (Armenian)
४. अल्बानी (इलीरी) (Albanian, Illyrian)
५. ग्रीक (हेलेनिक) (Greek, Hellenic)
६. केल्टिक (Keltic)
७. जर्मानिक (ट्यूटानिक) (Germanic, Teutonic)
८. इटालिक (Italic)
९. हिटाइट (हित्ती) (Hittite)
१०. तोखारी (Tokharian)

१०.९. (क) केन्टुम् और शतम् (सतम्) वर्ग

भारोपीय परिवार की भाषाओं को ध्वनि के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जाता है—(क) केन्टुम्, (ख) शतम् (सतम्)। इस विभाजन का श्रेय प्रो० अस्कोली (Ascoly) को है। उन्होंने १८७० ई० में यह मत प्रस्तुत किया कि मूल भारोपीय भाषा की कंठ्य (कंठ-तालव्य) ध्वनियाँ कुछ भाषाओं में कंठ्य रह गई हैं और कुछ भाषाओं में वे संघर्षी (Sibilant, ऊष्म, श स ज़) हो गई हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए दो प्रतिनिधि भाषाएँ लैटिन और अवेस्ता ली गईं। उदाहरण के लिए १०० संख्यावाचक शब्द लिया गया। लैटिन में सौ को Centum (केन्टुम्) कहते हैं और अवेस्ता में 'सतम्', संस्कृत में 'शतम्'। सभी भारोपीय भाषाओं को इन दो भागों में विभक्त किया गया। उपर्युक्त १० परिवारों में प्रथम चार परिवार 'शतम्' वर्ग में आते हैं और शेष छः 'केन्टुम्' वर्ग में। अवेस्ता के 'सतम्' के स्थान पर संस्कृत शब्द 'शतम्' का प्रयोग किया जाना उचित है।

'सौ' के लिए मूल भारोपीय भाषा का शब्द Kmtom (क्मतोम्) माना जाता है। इसका विभिन्न भाषाओं में विकास इस प्रकार माना जाता है।

मूल भारोपीय शब्द—Kmtom (क्मतोम्=शतम्)

शतम् (सतम्) वर्ग	केन्टुम् वर्ग
संस्कृत—शतम्	लैटिन—केन्टुम् (Centum)
अवेस्ता—सतम्	ग्रीक—हेकटोन (Hekaton)
फारसी—सद	केल्टिक (आयरिश)—केत् (Cet)
हिन्दी—सौ	तोखारी—कन्ध (Kandh)
रूसी—स्तो (Sto)	गाथिक—हुन्ड (Hund)
लिथुआनियन—स्जिम्तास (Szimtas)	जर्मन—हुन्डर्ट (Hundert)
	फ्रेंच—सं (= सेंट, Cent)
	इटालियन—केन्तो

प्रारम्भ में यह विचार प्रस्तुत किया गया था कि केन्टुम् वर्ग की भाषाएँ पश्चिम में प्रचलित हैं और शतम् वर्ग की भाषाएँ पूर्व में। प्रो० हर्ट ने विश्चुला नदी के पश्चिम में केन्टुम् वर्ग और पूर्व में शतम् वर्ग माना था। बाद में तोखारी और हिटाइट भाषाओं के मिलने पर यह सिद्धान्त निरस्त हो गया, क्योंकि तोखारी और हिटाइट भाषाएँ पूर्वी क्षेत्र में हैं और इनमें केन्टुम् के तुल्य क्-ध्वनि मिलती है, स्-ध्वनि नहीं।

(ख) केन्टुम् और शतम् वर्ग (भारोपीय परिवार–विभाजन)

भारोपीय-परिवार को केन्टुम् और शतम् वर्ग के आधार पर इस प्रकार बाँटा जाता है—

शतम् वर्ग	केन्टुम् वर्ग
१. भारत-ईरानी (आर्य)	५. ग्रीक
२. बाल्टो-स्लाविक	६. केल्टिक
३. आर्मीनी	७. जर्मानिक (टयूटानिक)
४. अल्बानी (इलीरी)	८. इटालिक
	९. हिटाइट
	१०. तोखारी

इसको संक्षेप में इस प्रकार स्मरण किया जा सकता है—

ईरानी-भारती[1] चैव, बाल्टी-सुस्लाविकी[2] तथा ।
आर्मीनी[3] अल्बनी[4] चैताः, शतम्-वर्गे समाश्रिताः ॥ १ ॥
इटालिकी[1] च ग्रीकी[2] च, जर्मानिक्[3] केल्टिकी[4] तथा ।
हित्ती[5] तोखारिकी[6] चैताः, केन्टुम्-वर्गे प्रकीर्तिताः ॥ २ ॥ (कपिलस्य)

१०.१०. भारोपीय परिवार की विशेषताएँ

१. रचना की दृष्टि से यह परिवार श्लिष्ट-योगात्मक (Inflectional) है। इस

परिवार की मूल भाषाएँ संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि संयोगात्मक (Synthetic) थीं, परन्तु इनसे विकसित आधुनिक भाषाएँ हिन्दी, अंग्रेजी आदि वियोगात्मक (Analytic) हो गई हैं। इनमें प्रत्यय का काम परसर्ग आदि से लिया जाता है। जैसे—बालकम् > बालक को, पठति > पढ़ता है। रूसी, लिथुआनी आदि भाषाएँ अब भी विभक्तियुक्त हैं। वर्तमान ईरानी पूर्णतया वियोगात्मक हो गई है। इसका पूरा व्याकरण एक पन्ने पर नोट किया जा सकता है।

२. शब्द-रचना प्रकृति + प्रत्यय या अर्थतत्त्व + सम्बन्धतत्त्व के योग से होती थी। यह संयोग बहिर्मुखी था।

३. अभी तक सिद्ध नहीं हो सका है कि इन प्रत्ययों का स्वतन्त्र कुछ अर्थ था। अंग्रेजी—ly (ली) आदि का स्वतन्त्र अर्थ निकाला गया है, पर शेष संदिग्ध ही हैं। प्रत्यय कभी स्वतन्त्र शब्द थे, यह निष्कर्ष नहीं निकलता है।

४. भारोपीय भाषाओं की धातुएँ प्रायः एकाक्षर थीं।

५. शब्द-निर्मापक प्रत्यय दो प्रकार के थे—(क) **कृत्**, जो सीधे धातु में जोड़े जाते थे। इन्हें Primary Suffixes कहते हैं। जैसे—भू + त = भूत। (ख) **तद्धित**—ये कृत्-प्रत्यय लगाकर बने हुए शब्दों में जुड़ते हैं। जैसे—भूत + इक = भौतिक। इन्हें Secondary Suffixes कहते हैं। शब्द या धातु से पद बनाने के लिए दो प्रकार के प्रत्यय लगते थे—(क) **सुप्** (Case-indicating Suffixes), संज्ञाशब्दों से कारक-चिह्न, (ख) **तिङ्** (Verbal Suffixes) धातुओं से काल आदि बोधक चिह्न। ये पद-निर्मापक प्रत्यय हैं।

६. सम्बन्धतत्त्व के बोधक उपसर्गों का अभाव था। प्रारम्भ में उपसर्ग स्वतन्त्र शब्द थे। उनका क्रिया के साथ और क्रिया से पृथक् भी प्रयोग होता था। बाद में ये उपसर्ग अपना स्वतन्त्र अर्थ खोने के कारण **वाचक** न होकर विभिन्न अर्थों के **द्योतक** (व्यंजक, सूचक) हो गए। इनके कारण धातुओं के अर्थ में परिवर्तन होता है। द्योतक होने पर धातु से पृथक् प्रयुक्त नहीं होते। जैसे—आचार, विचार, संचार, प्रचार आदि। ग्रीक, लैटिन, जर्मन आदि में भी यही प्रवृत्ति है।

७. वाक्य-रचना पदों से होती थी, शब्दों से नहीं। शब्दों से सुप् प्रत्यय (कारक-चिह्न) लगाकर तथा धातुओं से तिङ् प्रत्यय (काल आदि के चिह्न) लगाकर पद बनते थे। पदों का ही वाक्य में प्रयोग होता था।

८. **समास की प्रवृत्ति**—पदों को समस्त कर बृहत् पद बनाने की प्रवृत्ति मूल भारोपीय भाषा में थी। वह भारोपीय परिवार में भी रही। समस्त पदों में बीच की विभक्तियों का लोप हो जाता था। समस्त पद लुप्त विभक्ति का भी अर्थ बताते थे। समस्त पदों का स्वतन्त्र अर्थ होता था। संस्कृत में अलुक्-समासवाले पद भी हैं, जिनमें बीच की विभक्ति का लोप नहीं होता। जैसे—सरसिज, मनसिज, युधिष्ठिर, परस्मैपद, आत्मनेपद आदि। संस्कृत, जर्मन और आयर्लैण्ड की वेल्श भाषा में यह प्रवृत्ति आज भी है। संस्कृत में सुबन्धु, बाण आदि के गद्य इसके उदाहरण हैं। वेल्श भाषा में एंग्लसी-द्वीप के एक गाँव के समासयुक्त नाम में ५८ वर्ण हैं।

९. **अपश्रुति** (Vowel-gradation)—मूल भारोपीय भाषा में उदात्त स्वर के कारण स्वरभेद (गुण, वृद्धि, दीर्घ) होता था। भारोपीय भाषाओं में मूल प्रत्ययों का लोप हो गया और स्वर-परिवर्तन से ही अर्थ-परिवर्तन का काम लिया जाने लगा। जैसे—अंग्रेजी की बली धातुओं में—Drink-Drank-Drunk; Ring-Rang-Rung आदि। संस्कृत में देव > दैव, विधि > वैध, कुमार > कौमार।

१०. **प्रत्ययों का आधिक्य**—भारोपीय भाषा में प्रत्ययों की अधिकता है। मूल भाषा से पृथक् होकर अनेक भाषाएँ विकसित हुईं। अनेक मूल प्रत्यय इस संक्रमण काल में नष्ट हो गए। उनके स्थान पर नये-नये सम्बन्धों को बताने के लिए नये प्रत्यय बनाये गए। अतः प्रत्ययों की संख्या बहुत अधिक हो गई।

भारोपीय परिवार की विशेषताओं को संक्षेप में इस प्रकार स्मरण किया जा सकता है—

> **भारोपीय-परीवार-वैशिष्ट्यं दशकं मतम् ।**
> **श्लिष्टयोगात्मकत्वं तु[१], प्रकृति-प्रत्ययात्मता[२]** ॥१॥
> **एकाक्षरत्वं धातूनां[३], सुप्-तिङौ कृच्च तद्धिताः[४]** ।
> **स्वातन्त्र्यमुपसर्गाणां[५], पदमूला च वाक्यता[६]** ॥२॥
> **प्रत्ययार्थानभिव्यक्तिः[७], समासाभिरुचिस्तथा[८]** ।
> **अपश्रुतेः प्रयोगश्च[९], प्रत्ययाधिक्यमेव च[१०]** ॥३॥ (कपिलस्य)

१०.११. (१) भारोपीय भाषाओं का परिचय

(१) भारत-ईरानी (आर्य) भाषाएँ

इस शाखा की भाषाओं का परिचय एवं विवरण अध्याय ११ में प्रस्तुत किया गया है।

(२) बाल्टो-स्लाविक भाषाएँ (लेट्टो-स्लाविक)

बाल्टो-स्लाविक को लेट्टो-स्लाविक भी कहते हैं। इस उपपरिवार की दो शाखाएँ हैं—बाल्टिक (या लेट्टिक) और स्लाविक। इन शाखाओं में ये भाषाएँ हैं—

(क) बाल्टिक—प्रशियन, लिथुआनियन, लेट्टिक।

(ख) स्लाविक—(१) पूर्वी—महारूसी, श्वेतरूसी, लघुरूसी (रूथेनी)।
(२) पश्चिमी—जेक, पोलिश, स्लोवाकी।
(३) दक्षिणी—बल्गेरी, सर्बो-क्रोटी।

(क) बाल्टिक (Baltic)—

बाल्टिक सागर के तट पर बोली जाने वाली भाषाओं को बाल्टिक कहते हैं। इसमें तीन भाषाएँ हैं—प्राचीन प्रशियन, लिथुआनियन और लेट्टिक। **(१) प्राचीन प्रशियन**—यह प्रशा की भाषा थी। १७वीं शताब्दी ई० में लुप्त हो गई। जर्मन-प्रशियन कोशग्रन्थों से इसका पता चलता है। इसके बोलने वाले अब जर्मन बोलते हैं। **(२) लिथुआनियन**—यह लिथुआनिया प्रदेश की भाषा है। प्रथम महायुद्ध के बाद यह स्वतन्त्र हुआ और अब

सोवियत (रूसी) राष्ट्रसंघ में है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह भाषा बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें भारोपीय भाषा के प्राचीनतम रूप प्राप्त होते हैं। इसकी तुलना चतुर्थ शताब्दी ई० की गाथी भाषा के रूपों से कर सकते हैं। इसकी मुख्य विशेषताएँ ये हैं—(१) भाषा में प्राचीन संगीतात्मक सुर (Musical accent), जो कि वैदिक संस्कृत एवं ग्रीक भाषा की विशेषता थी। (२) द्विवचन के रूप। इसका साहित्य १६वीं शताब्दी ई० से मिलता है। **(३) लेट्टिक**—यह लेटविया राज्य की भाषा है। यह अब रूस का अंग है। इसका साहित्य भी १६वीं शताब्दी ई० से मिलता है। यह लिथुआनियन से अधिक विकसित है।

(ख) स्लाविक (Slavic)—

इस वर्ग की भाषाओं की मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

१. ये संस्कृत के तुल्य श्लिष्ट योगात्मक हैं। शब्दरूप, धातुरूप संस्कृत के तुल्य चलते हैं।

२. भाषाओं में बलाघात का प्रयोग भी होता है। बलाघात से अर्थभेद होता है।

१. पूर्वी स्लाविक—इसमें तीन भाषाएँ आती हैं—महारूसी, श्वेतरूसी और लघुरूसी (रूथेनी)।

(क) महारूसी (Great Russian)—इसको 'रूसी' भी कहते हैं। यह रूस (सोवियत संघ) की राष्ट्रभाषा और राजभाषा है। इसमें ही शिक्षा, प्रशासन आदि कार्य होते हैं। रूस ने विगत तीन दशकों में आशातीत वैज्ञानिक और प्राविधिक (तकनीकी) उन्नति की है। इसका साहित्य ११वीं शती ई० से मिलता है। यह रूस के प्रमुख नगर मास्को से फैली है और अब संसार की प्रमुख भाषाओं में है। रूसी भाषा का विकास १८वीं सदी से प्रारम्भ हुआ है। यह तभी से राष्ट्रभाषा और राजभाषा है। इसमें उच्च कोटि के लेखक हुए हैं, जैसे—तुर्गनेव, टाल्सटॉय, गोर्की आदि। इसके बोलनेवालों की संख्या १० करोड़ से अधिक है। यह एक प्रभावशाली भाषा है।

(ख) श्वेतरूसी (White Russian)—श्वेत-रूसी रूस के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। साहित्यिक दृष्टि से इसका महत्त्व नहीं है।

(ग) लघुरूसी (Little Russian)—इसको रूथेनियन (रूथेनी) भी कहते हैं। यह रूस के दक्षिणी भाग (यूक्रेन) में बोली जाती है। यह हंगरी तक फैली हुई है। इसका भी साहित्य नगण्य है।

२. पश्चिमी स्लाविक—इसमें तीन भाषाएँ आती हैं—जेक, पोलिश और स्लोवाकी।

(क) जेक (Czech)—यह जेकोस्लोवाकिया की भाषा है। यह मुख्यतया बोहेमिया में बोली जाती है, अतः इसे बोहेमियन भी कहते हैं। इसका साहित्य १३वीं सदी से मिलता है। गत शताब्दी से इसकी विशेष प्रगति हुई है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ८०-९० लाख है। **(ख) पोलिश** (Polish)—यह पोलैंड की भाषा है। इसका प्राचीनतम साहित्य १२९० ई० से मिलता है। इस भाषा को नष्ट करने के अनेक प्रयत्न हुए, परन्तु यह भाषा-प्रेम के कारण जीवित रही। गत शताब्दी से इसकी विशेष उन्नति हुई

है और आशा है शीघ्र ही यह विश्व की महान् भाषाओं में स्थान प्राप्त करेगी। इसके बोलनेवालों की संख्या २ करोड़ के लगभग है। **(ग) स्लोवाकी** (Slovakian)—यह जेक की ही विभाषा है। इसकी कोई मुख्य विशेषता नहीं है।

३. दक्षिणी स्लाविक—इसमें दो भाषाएँ मुख्य हैं—बल्गेरी और सर्बो-क्रोटी।

(क) बल्गेरी (Bulgarian)—यह बल्गेरिया की भाषा है। इसका प्राचीन रूप 'चर्च स्लाविक' या 'प्राचीन बल्गेरी' तुलनात्मक व्याकरण के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें ६वीं सदी से लेकर १२वीं सदी तक बाइबिल आदि का अनुवाद तथा धर्मग्रन्थ सिरिल और मेथोडियस नामक बिशपों ने लिखा है। चर्च स्लाविक संस्कृत और ग्रीक के बहुत निकट है। इसमें तीनों वचन हैं। वर्तमान रूसी लिपि का निर्माण **सिरिल** (Cyril) ने ही किया था, अतः उसे **सिरिलिक** कहते हैं। वर्तमान बल्गेरी वियोगात्मक हो गई है। इसमें बहुत से शब्द तुर्की, ग्रीक, रूमानी और अल्बानी के आ गए हैं। **(ख) सर्बो-क्रोटी** (Serbo-Croatian)—यह यूगोस्लाविया की भाषाओं का समूह है। यह स्लाविक भाषाओं में महत्त्वपूर्ण है। इसका प्राचीन साहित्य १२वीं सदी से मिलता है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग १ करोड़ है।

(३) आर्मीनी (आर्मीनियन, Armenian)

यह आर्मीनिया की भाषा है। इसकी सीमा ईरान से मिली हुई है, अतः इसमें दो हजार से अधिक शब्द ईरानी भाषा के आ गए हैं। ४२८ ई० तक ईरान का युवराज ही यहाँ शासन करता था। शिक्षा, कला, शासन-कार्य आदि में अधिकांश फारसी शब्द ही प्रयुक्त होते हैं।[1] इसलिए इसे पहले आर्य परिवार की ईरानी शाखा में रखने का प्रस्ताव था, परन्तु बाद में विशेष अध्ययन के पश्चात् इसे स्वतन्त्र भाषा माना गया। यह श्लिष्ट योगात्मक भाषा है तथा इसकी ध्वनियाँ ईरानी से भिन्न हैं। यह आर्य परिवार और बाल्टो-स्लाविक भाषाओं के मध्य संयोजक कड़ी मानी जाती है। इसका स्वरूप ग्रीक और भारत-ईरानी के बीच का है।

इसके बोलने वालों की संख्या ५० लाख के लगभग है। आधुनिक आर्मीनी की स्तम्बूल बोली कुस्तुन्तुनिया और कालासागर के किनारे के भाग में बोली जाती है। आर्मीनी में ईसाई साहित्य अधिकांश में है। यह ११वीं सदी से प्रारम्भ होता है। इसमें वान (Van) से प्राप्त कीलाक्षर अभिलेख (Cuneiform Inscriptions) ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। जिस प्रकार भारत में पुरोहित संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं, इसी प्रकार आर्मीनिया के पुरोहित प्राचीन आर्मीनी का ही प्रयोग करते हैं। आर्मीनी के वर्तमान समय में दो रूप हैं—

१. स्तम्बूल—यह यूरोप वाले भाग में बोली जाती है। **२. अरारट**—यह एशिया वाले क्षेत्र में बोली जाती है।

(४) अल्बानी (इलीरी) (Albanian, Illyrian)

अल्बानी भाषा प्राचीन इलीरी भाषा का ही वर्तमान अवशिष्ट रूप है। इलीरी का

1. *Encyclopaedia Britannica.* Vol. I. 'Armenian Language'.

पहले विस्तृत क्षेत्र में प्रचार था। पहले इसे अलग भाषा नहीं माना जाता था, परन्तु ध्वनि-समूह और गठन के आधार पर इसे स्वतन्त्र भाषा माना गया है। इस पर ग्रीक, तुर्की और स्लाविक भाषाओं का बहुत प्रभाव पड़ा है। इसमें कुछ प्राचीन अभिलेख मिलते हैं। यह एड्रियाटिक सागर के पूर्वी पहाड़ी प्रदेश की भाषा है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग १५ लाख है। इसमें प्राचीन साहित्य का अभाव है। १७वीं सदी से साहित्य का विकास हुआ है। १६वीं सदी का बाइबिल का अनुवाद मिलता है।

(५) ग्रीक (हेलेनिक) (Greek, Hellenic)

इसका क्षेत्र ग्रीस, दक्षिणी अल्बानिया और यूगोस्लाविया, बल्गेरिया-टर्की-साइप्रस का कुछ भाग है। इसमें प्राचीन काल में बहुत सी बोलियाँ थीं, जिनमें एट्टिक (Attic) और डोरिक (Doric) मुख्य थीं। इसमें सबसे पुराने ग्रन्थ होमर के दो महाकाव्य हैं—इलियड (Iliad) और ओडिसी (Odyssey)। इनका समय १००० ई० पू० माना जाता है। इनमें उक्त दोनों बोलियों का मिश्रण है। दोनों बोलियों में मुख्य अन्तर यह रहा है कि मूल भारोपीय भाषा की आ (a) ध्वनि एट्टिक में ए (e) हो गई है और डोरिक में आ (a) ही रही। जैसे—I. E. Mater (सं० मातर्) > एट्टिक Meter, डोरिक-Mater। ग्रीस में सामान्य रूप से प्रचलित जन-भाषा को 'कोइने' (Koine) कहते थे। साहित्यिक ग्रीक का आधार एट्टिक भाषा थी। यही ग्रीस की जनभाषा थी।

संस्कृत और ग्रीक में समानताएँ—वैदिक संस्कृत और ग्रीक की तुलना करने पर बहुत-सी समानताएँ दिखाई पड़ती हैं :—

(१) संस्कृत और ग्रीक में मूल भारोपीय ध्वनियाँ सुरक्षित हैं। मूल भारोपीय व्यंजन संस्कृत में अधिक प्रामाणिक रूप में सुरक्षित हैं और ग्रीक में स्वर। मूल भाषा में मिश्रित स्वरों की संख्या अधिक थी।

(२) दोनों में संगीतात्मक स्वर (Pitch Accent) है।

(३) संज्ञा और सर्वनाम शब्दों के रूप संस्कृत में अधिक व्यापक हैं। ग्रीक में कारक के कुछ अवशेष ही मिलते हैं।

(४) संस्कृत और ग्रीक दोनों में अव्ययों (उपसर्ग एवं क्रियाविशेषण) की बहुलता है। वैसे दोनों में अव्यय शब्द पृथक्-पृथक् हैं।

(५) दोनों में द्विवचन मिलता है।

(६) दोनों के क्रियारूपों में भी समानता है—

(क) दोनों में परस्मैपद और आत्मनेपद हैं। ग्रीक में इनको क्रमशः Active Voice और Passive Voice कहते हैं। (ख) संस्कृत में क्रियारूपों में गणों के रूप तथा णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त आदि प्रक्रियाओं के रूप ग्रीक से अधिक हैं। (ग) ग्रीक में निष्ठा-रूप (भूतकालिक कृत् प्रत्यय), तुम् अर्थ वाले प्रत्यय, क्त्वा-अर्थ वाले प्रत्यय तथा धातुज कृदन्त शब्द संस्कृत से अधिक हैं।

(७) दोनों में समास की सुविधा है। समास में संस्कृत आगे निकल गई है। ग्रीक

में भी ३-४ पंक्ति वाले लम्बे समास कहीं-कहीं मिल जाते हैं।

यूरोपीय सभ्यता का स्रोत ग्रीक भाषा है। इससे ही यूरोपीय साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि का विकास हुआ है। ग्रीक वर्णमाला से ही यूरोप की सभी लिपियों का विकास हुआ है। प्राचीन और नवीन ग्रीक में बहुत कम भेद हैं। ग्रीक के नवीन छात्र भी थोड़े से परिश्रम से होमर के महाकाव्य समझ लेते हैं। ग्रीक के विकास के चार युग हैं—(१) होमर युग, (२) साहित्यिक युग, (३) संक्रमण युग, (४) वर्तमान युग। ग्रीक का वर्तमान साहित्यिक युग १८०० ई० से प्रारम्भ होता है।

(६) केल्टिक (Keltic)

लगभग २ हजार वर्ष पहले (२८० ई० पू० के लगभग) यह भाषा यूरोप के बहुत बड़े भूभाग में बोली जाती थी। यह पूर्व में एशिया माइनर (वर्तमान तुर्की) तक फैली हुई थी। अब यह यूरोप के पश्चिमी भाग में ही सीमित रह गई है। फ्रांस के पश्चिमोत्तर भाग तथा ग्रेट ब्रिटेन (स्कॉटलैंड, आयरलैंड, वेल्स) में बोली जाती है।

इसके २ मुख्य वर्ग हैं—(१) क-वर्ग, (२) प-वर्ग। कुछ भाषाओं में मूल भारोपीय प-ध्वनि 'प' रहती है और कुछ में 'क' हो जाती है। जैसे—पेंक्व (सं० पञ्च) > वेल्श में पम्प (Pump) और आयरिश में कोइक (Coic) हो जाता है। क-वर्ग (गेलिक) में—आयरिश मुख्य है। प-वर्ग (ब्रिटानिक) में—वेल्श (Welsh) और ब्रिटन (Breton) मुख्य हैं।

आयरलैण्ड में अंग्रेजों के प्रभुत्व के साथ अंग्रेजी की प्रधानता थी। जब देश स्वतंत्र हुआ, तब से आयरिश (Irish) भाषा का प्रचार हो गया है। वर्तमान आयरिश का प्रचार १७वीं सदी के प्रारम्भ से हुआ है। वेल्श का साहित्य ८वीं सदी से मिलता है। इसके गौरव का समय १००० से १३०० ई० था। ब्रिटन फ्रांस के पश्चिमोत्तर भाग में बोली जाती है।

इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं—(१) भाषाविज्ञान की दृष्टि से भाषा की अस्पष्टता और क्लिष्टता। (२) वाक्य-रचना जटिल।

केल्टिक और इटालिक भाषाओं में पर्याप्त साम्य है। जैसे—(१) ओकारान्त पुं० और नपुं० शब्दों से षष्ठी (सम्बन्धकारक) में 'ई' प्रत्यय। (२) 'शन' (tion) प्रत्यय लगाकर क्रियार्थक संज्ञारूप। (३) कर्मवाच्य की बनावट प्राय: समान है।

(७) जर्मानिक या ट्यूटॉनिक (Germanic, Teutonic)

इसका क्षेत्रीय विभाजन इस प्रकार है—

पूर्वी क्षेत्र—　गाथिक (Gothic)

उत्तरी क्षेत्र—　आइसलैण्डिक (आइसलैण्ड में)
　नार्वेजियन (नार्वे में)
　डेनिश (डेन्मार्क में)
　स्वीडिश (स्वीडन में)

पश्चिमी क्षेत्र— अंग्रेजी (English) (इंग्लैण्ड में)
उच्च जर्मन (High German) (दक्षिणी जर्मनी में)
निम्न जर्मन (Low German) (उत्तरी जर्मनी में)
डच (Dutch) (हालैण्ड में)
फ्लेमिश (Flemish) (बेल्जियम में)

यह भारोपीय परिवार की सबसे अधिक विस्तृत भूभाग में बोली जाने वाली भाषा है। इसकी एक शाखा अंग्रेजी विश्व में सबसे अधिक फैली हुई है। उपनिवेशवाद के कारण यह विश्व में चारों ओर फैली हुई है। यह विश्वभाषा का रूप ले सकती है। जर्मन और डच भाषा का साहित्य भी उच्च कोटि का है।

साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में अंग्रेजी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। दर्शन, विज्ञान और भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जर्मन भाषा का स्थान अंग्रेजी से उच्च एवं महत्त्वपूर्ण है।

जर्मानिक-ट्यूटॉनिक—जर्मन और टयूटन नाम के आधार पर इस शाखा को जर्गानिक या जर्मनिक कहते हैं। 'जर्मनी' शब्द का प्रयोग केल्टो ने ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में 'पड़ोसी' के अर्थ में किया था। 'टयूटन' शब्द से जर्मन, इंग्लिश् आदि सभी जातियों का बोध होता है, अतः इस शाखा को 'टयूटानिक' भी कहते हैं।

संक्षिप्त परिचय—१. गाथिक—यह जर्पानिक शाखा की सबसे प्राचीन भाषा है। इसका सबसे प्राचीन ग्रन्थ बिशप वुल्फिलास (Bishop Wulfilas, ३११-३८१ ई०) लिखित 'गाथिक बाइबिल' है। इसके वाक्यविन्यास पर ग्रीक का प्रभाव है। यह भाषा संयोगात्मक है। इसमें द्विवचन है। यह संस्कृत के बहुत समीप है।

२. अंग्रेजी—एंग्ल (Angle) जाति के कारण भाषा का नाम इंग्लिश् (English) पड़ा। इसका काल-विभाजन है—(क) आदिकाल-११०० से १३५० ई०, (ख) मध्यकाल-१४५० ई० तक, (ग) आधुनिक काल-१४५० ई० के बाद। लन्दन के आसपास की भाषा राजभाषा हुई।

३. निम्न जर्मन—यह जर्मनी के उत्तरी क्षेत्र निम्न भूभाग में बोली जाती है। भूमि की निचाई के कारण निम्न नाम है, निम्नवर्ग की भाषा के आधार पर नहीं। इसका साक्षात् सम्बन्ध अंग्रेजी से है। ग्रिम द्वारा प्रसारित 'ग्रिम नियम' 'प्रथम ध्वनि-परिवर्तन', जो कि ईसा से पूर्व हुआ था, निम्न जर्मन और अंग्रेजी दोनों पर लागू होता है। 'द्वितीय वर्ण परिवर्तन', जो सातवीं सदी ई० में हुआ, केवल निम्न और उच्च जर्मन पर लागू होता है। 'ग्रिम नियम' से संस्कृत और अंग्रेजी के ध्वनि-परिवर्तन का ज्ञान होता है।

४. उच्च जर्मन—यह जर्मनी के दक्षिणी पहाड़ी भाग में बोली जाती है। भू-भाग की ऊँचाई के कारण इसे उच्च (High) कहते हैं, उच्च वर्ग की भाषा के आधार पर नहीं। इसका साहित्य ८वीं सदी से मिलता है। आधुनिक जर्मन का प्रारम्भ लूथर की 'जर्मन बाइबिल' से माना जाता है। यह संयोगात्मक भाषा है, साहित्य समृद्ध है। इसमें प्राचीन शब्द और ध्वनियाँ मिलती हैं। इसमें नए शब्द-निर्माण की अपूर्व क्षमता है। इसमें अंग्रेजी, फ्रेंच आदि से शब्द उधार लिए गए हैं, पर उन्हें जर्मन रूप दे दिया गया है। इसमें

समासयुक्त पद बनाने की विशेष सुविधा है।

सामान्य विशेषताएँ—(१) ये भाषाएँ मूल रूप में संयोगात्मक थीं। बाद में वियोगात्मक हो गईं। जर्मन भाषा भी वियोगात्मक है।

(२) जर्मन भाषाओं में ध्वनि-परिवर्तन हुआ है। 'ग्रिम नियम' उल्लेखनीय है।

(३) इनमें बलाघात स्वर का प्रयोग होता है। स्वीडिश भाषा में अभी तक संगीतात्मक स्वर है।

(४) धातुएँ सबल और निर्बल दो भागों में विभक्त हैं। सबल में भूतकाल के रूप में धातु के अन्दर ही स्वर-परिवर्तन हो जाता है। जैसे—Sing > Sang, Come > Came, Dig > Dug आदि। निर्बल में धातु के अन्त में भूतकाल में—ed लगता है। Walk > Walked, Learn > Learned।

(८) इटालिक या रोमान्स (Italic, Romance)

इटालिक या रोमान्स वर्ग का क्षेत्रीय विभाजन इस प्रकार है—

(क) इटालियन (Italian)—इटली, सिसिली, कोर्सिका में।

(ख) फ्रेंच (French, फ्रांसीसी)—फ्रांस में।

(ग) स्पेनिश (Spanish, स्पेनी)—स्पेन में।

(घ) रूमानियन (Roumanian, रूमानी)—रूमानिया में।

(ङ) पुर्तगाली (Portuguese, पोर्चुगीज़)—पुर्तगाल में।

रोमान्स वर्ग की भाषाओं का विकास लैटिन से हुआ है। लैटिन मूलतः रोम और उसके समीपवर्ती जिले की भाषा थी। इसका सबसे पुराना साहित्य छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक का मिलता है। रोमन-साम्राज्य के विस्तार के साथ इसका विस्तार हुआ और उसके पतन के साथ इसका पतन भी हुआ। इससे निकली भाषाएँ अपने स्थानों पर स्वतन्त्र रूप से विकसित हुईं। यह रोमन कैथोलिक संप्रदाय की आज भी धार्मिक भाषा है, जैसे संस्कृत आर्यों की। इसमें ग्रीक के तुल्य रूपों की बहुलता नहीं है, पर प्राचीन सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिलती है। 'रोमान्स' शब्द लैटिन Romanicé (रोमानिके) से निकला है, जिसका अर्थ है—'रोमन या रोम-निवासियों का'। रोम-निवासी अठखेलियों और प्रेम-प्रसंगों के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं, अतः 'रोमान्स' शब्द प्रेमलीलाओं आदि के लिए बहुत प्रचलित हो गया है।

लैटिन से ही फ्रेंच, इटालियन, स्पेनिश, रूमानियन और पुर्तगाली का विकास हुआ है। इनमें रचनात्मक की अपेक्षा ध्वन्यात्मक भेद अधिक है। फ्रेंच में ध्वन्यात्मक भेद सबसे अधिक है। इसमें लिखित और उच्चरित रूप में बहुत अन्तर हो जाता है। अन्तिम व्यंजन ध्वनियों का प्रायः उच्चारण नहीं होता है। फ्रेंच भाषा साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त उन्नत है। यह २०वीं सदी के पूर्वार्ध तक यूरोप की साहित्यिक, सांस्कृतिक और कूटनीतिक भाषा मानी जाती थी। यह आज भी फ्रांस के अतिरिक्त जेनेवा, कंनाडा आदि में जनभाषा के रूप में व्यवहृत होती है। इसका प्राचीनतम अभिलेख ८४२ ई० का मिलता है।

इटालियन इटली की राजभाषा है। स्पेनिश स्पेन की भाषा है। रूमानियन रूमानिया में बोली जाती है। पुर्तगाली पुर्तगाल की भाषा है। इटालियन का साहित्य बहुत समृद्ध है। स्पेनिश और पुर्तगाली में भी अच्छा साहित्य है। ये भाषाएँ अपने उपनिवेशों में भी बोली जाती हैं। जैसे—कनाडा में फ्रेंच, मैक्सिको में स्पेनिश, दक्षिणी अमेरिका में स्पेनिश और पुर्तगाली। लैटिन से उत्पन्न भाषाओं के प्रयोग के कारण दक्षिणी अमेरिका को 'लैटिन अमेरिका' कहा जाता है।

मुख्य विशेषताएँ—(१) लैटिन श्लिष्ट योगात्मक भाषा थी। उससे विकसित भाषाएँ योगात्मक से अयोगात्मक हो गई हैं।

(२) लैटिन में संस्कृत के तुल्य विभक्तियाँ थीं, परन्तु इन भाषाओं में विभक्तियों का कार्य उपसर्गों और निपातों से लिया जाता है।

(३) लैटिन में तीन लिंग थे। इनमें केवल दो लिंग हैं—पुंलिंग, स्त्रीलिंग। लैटिन के नपुं० शब्द इनमें पुं० या स्त्री० में आते हैं।

(४) इनमें दो वचन ही हैं—एकवचन, बहुवचन।

(५) क्रियारूपों में भेद हो गया है। लैटिन की अपेक्षा इनके क्रियारूपों में अधिक जटिलता आ गई है। कालों और रूपों में बहुलता हो गई है।

(६) इन सभी में वाक्यरचना में एकरूपता है। शब्द-भंडार में भी प्राय: समानता है।

(७) इन सभी में आर्टिकिल (Le, La आदि अंग्रेजी The के तुल्य) का प्रयोग होता है। फ्रेंच में पुं० के पूर्व Le, स्त्री० के पूर्व La, बहु० Les आदि।

(८) लैटिन में संस्कृत के तुल्य विभक्तियाँ होने से पदक्रम में अन्तर होने पर अर्थभेद नहीं होता था। अयोगात्मक हो जाने से इनमें पदक्रम का महत्त्व है। पदक्रम में भेद से अर्थभेद हो जाता है।

× (६) हिटाइट (हिट्टाइट, हित्ती, Hittite)

ह्यूगो विंकलर (Hugo Winckler) को १८९३ ई० में टर्की के बोगाज़कोई (Boghaz Kuei, अंकारा से ९० मील पूर्व) से कुछ कीलाक्षर अभिलेख (Cuneiform Inscriptions) मिले थे। १९०५ से १९०७ ई० तक पुनः इस खुदाई में हज़ारों अभिलेख मिले। इनके अध्ययन से हिटाइट भाषा का ज्ञान हुआ। हिटाइट साम्राज्य १९०० ई० पू० से १६५० ई० पू० तक था। ये अभिलेख उससे संबद्ध हैं, अतः इनका समय २००० ई० पू० के लगभग माना जाता है। विश्व में सबसे प्राचीन ये ही अभिलेख माने जाते हैं। इसके बारे में प्रारम्भ में बहुत विवाद था कि यह सेमिटिक़ परिवार की भाषा है या भारोपीय परिवार की। प्रो० ह्राज़्नी (Hrozney) ने १९१७ ई० में अपने ग्रन्थ में सिद्ध किया कि यह भारोपीय परिवार की ही भाषा है। यह भी सिद्ध हुआ कि हिटाइट और तोखारी भाषाएँ यद्यपि शतम्-वर्ग के क्षेत्र में हैं, तथापि ये केन्टुम् वर्ग की भाषाएँ हैं। प्रो० स्टुर्टवेंट (E. H. Sturtevant) ने इसे भारोपीय परिवार की पुत्री न मानकर बहिन माना है और भारोपीय परिवार को 'भारत-हित्ती' परिवार कहना अधिक उपयुक्त माना है।

मुख्य विशेषताएँ—(१) हिटाइट में संज्ञाओं, विशेषणों और सर्वनामों के केवल दो ही लिंग हैं—पुंलिंग और नपुंसक लिंग। स्त्रीलिंग नहीं है।

(२) हिटाइट में ६ कारक हैं। अधिकरण (सप्तमी) नहीं है।

(३) सर्वनाम भारोपीय सर्वनामों से बहुत मिलते हैं, विशेषतः लैटिन से।

जैसे—

हिटाइट	लैटिन	संस्कृत	अर्थ
उक (उग)	एगो	अहम्	मैं
क्विस, क्विद्	क्विस्, क्विद्	चिद्	कौन
क्विस्क्वि	क्विस्क्वम्	कश्चिद्	कोई
क्विसा	क्विस्क	कस्कः	कोई भी

(४) क्रियारूप सरल हैं। दो काल हैं—वर्तमान और भूत। दो वृत्तियाँ (Mood) हैं—निश्चयार्थ और आज्ञार्थ। णिच् और यङ् दो प्रक्रियाएँ हैं। अदादिगण के तुल्य विकरण-रहित धातुरूप बहुत हैं। जैसे—या (बनाना) के रूप। संस्कृत के समकक्ष रूप तुलना के लिए कोष्ठ में दिए हैं।

वर्तमान	(लट्)	भूत	(लङ्)	आज्ञा अर्थ	(लोट्)
येजि	(याति)	येत्	(अयात्)	यातु	(यातु)
येसि	(यासि)	येर्	(अयुः)	येन्तु	(यान्तु)
यामि	(यामि)	यातेन	(अयात)	या	(याहि)

(५) क्रिया और संज्ञा में द्विरुक्ति का प्रयोग है।

(६) वचन तीन हैं। द्विवचन का प्रयोग कम है।

(७) योगात्मकता के साथ ही अयोगात्मकता के भी लक्षण मिलते हैं। निपात, सहायक क्रियाएँ आदि हैं।

(८) सुबन्त और तिङन्त की विभक्तियों में समानता है।

(९) वैदिक देवों के नाम कुछ अन्तर से मिलते हैं। जैसे—मरुतश् (सं० मरुतः), सुरियश् (सूर्यः), इन्दर (इन्द्रः), उरुवन (वरुणः)।

(१०) संज्ञा शब्दों में भी समानता है। जैसे—लमन् (सं० नामन्), केमन्ज (सं० हेमन्त)।

(१०) तोखारी (Tokharian)

फ्रेंच और जर्मन विद्वानों ने २०वीं सदी के प्रारम्भ में मध्य एशिया के तुर्फान प्रदेश भारतीय लिपि (ब्राह्मी और खरोष्ठी) में लिखे अनेक ग्रन्थ और पत्र प्राप्त किए। इनके अध्ययन के पश्चात् प्रो० सीग (Sieg) ने यह निष्कर्ष निकाला कि यह भारोपीय परिवार में केन्टुम् वर्ग की भाषा है।

इसके बोलने वाले 'तोखर' लोग थे। महाभारत में इन्हें 'तुषाराः' कहा है। ग्रीक में इन्हें तोखराई कहा गया है। तोखरों का राज्य मध्य एशिया में द्वितीय शताब्दी ई० पू० से

७वीं सदी ई० तक था। इसे हूणों ने नष्ट किया था।

मुख्य विशेषताएँ—(१) मूल भारोपीय स्वर सरल हो गए हैं। दीर्घ आदि मात्राएँ उपेक्षित हैं। व्यंजनों की संख्या कम है। भारोपीय व्यंजनों में से क-त-प ही अवशिष्ट हैं।

(२) कारक ६ हैं। प्रधान कारक तीन हैं—कर्ता, कर्म और सम्बन्ध। एकवचन में भारोपीय रूपों से साम्य है। बहुवचन में कर्ता और कर्म में साम्य है।

(३) तोखारी में द्विवचन है। यह हिटाइट में नहीं है।

(४) संख्याएँ भारोपीय ही हैं। सौ के लिए 'कन्ध' शब्द है, अतः केन्टुम् वर्ग में है।

(५) सर्वनाम भारोपीय परिवार के तुल्य हैं।

(६) संधि-नियम कुछ संस्कृत जैसे हैं।

(७) क्रियारूप हिटाइट की अपेक्षा जटिल हैं। शतृ-प्रत्ययान्त रूप भी मिलते हैं।

१०.१२. (२) द्राविड परिवार

इसकी प्रमुख भाषाएँ और क्षेत्र ये हैं—

१. तमिल (मद्रास में)

२. तेलुगु (आन्ध्र प्रदेश में)

३. कन्नड़ (मैसूर में)

४. मलयालम (केरल में)

इसी परिवार में गोंडी (मध्य प्रदेश, बुन्देलखण्ड), कुरुख या ओराओं (बिहार, उड़ीसा), ब्राहुई (बलूचिस्तान) भाषाएँ भी हैं।

संक्षिप्त परिचय—(१) तमिल—यह तमिलनाडु और श्रीलंका में बोली जाती है। तृतीय शताब्दी ई० पू० से इसका साहित्य मिलता है। यह अत्यन्त समृद्ध भाषा है। इसमें उच्चकोटि का साहित्य मिलता है। **(२) तेलुगु**—आन्ध्रप्रदेश की भाषा है। आंध्र जाति का नाम ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत और अशोक के अभिलेखों में मिलता है। इसके बोलने वालों की संख्या ३ करोड़ के लगभग है। इसमें संस्कृत शब्द बहुत समाविष्ट हैं। ११वीं सदी से इसका साहित्य मिलता है। इसमें भी तमिल के तुल्य उच्चकोटि का साहित्य है। भाषा में माधुर्य है। तेलुगु-भाषी बहुत वीर और सभ्य रहे हैं। हिन्दी में 'तिलंगा' शब्द सैनिक का वाचक है। **(३) कन्नड़**—मैसूर राज्य की भाषा है। लिपि तेलुगु से और भाषा तमिल से मिलती-जुलती है। पद्य की भाषा में कृत्रिमता है। इसमें भी उच्च साहित्य है। **(४) मलयालम**—केरल की भाषा है। संस्कृत शब्दों की बहुलता है। यह तमिल की पुत्री या एक शाखा है। इसमें १३वीं सदी से उच्चकोटि का साहित्य मिलता है। द्राविड़ भाषा-भाषियों की संख्या ८ करोड़ के लगभग है।

मुख्य विशेषताएँ—(१) इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक है।

(२) इनमें ए-ऍ, ओ-ओ॑ ह्रस्व और दीर्घ दोनों हैं।

(३) इनमें यूराल-अल्ताई परिवार के तुल्य स्वर-अनुरूपता है।

(४) इनमें अन्तिम व्यंजन के बाद अतिलघु अ जोड़ा जाता है।

(५) संज्ञाओं का विभाग विवेकी-अविवेकी या उच्च जातीय-निम्न जातीय के आधार पर होता है।

(६) दो वचन और तीन लिंग हैं। लिंग-भेद का आधार प्राणित्व-अप्राणित्व है। लिंग-बोध के लिए 'पुरुष' या 'स्त्री' वाचक शब्द जोड़े जाते हैं।

(७) संज्ञा के अनुसार विशेषणों के रूप नहीं चलते हैं।

(८) विभक्तियों का काम परसर्गों या प्रत्ययों से लिया जाता है।

(९) क्रिया में कृदन्त रूपों की अधिकता है। कर्मवाच्य नहीं होता।

(१०) 'निषेधात्मक वाच्य' भी होता है। इसमें लुङ् लकार होता है।

(११) मूर्धन्य (टवर्ग) ध्वनियों की प्रधानता है।

१०.१३. (३) बुरुशस्की (खजुना) परिवार

इसका क्षेत्र भारत का उत्तर-पश्चिमी छोर है। कुछ विद्वान् इसे मुंडा और द्राविड़ परिवार से सम्बद्ध मानते हैं। इसका क्षेत्र भारत-ईरानी, तुर्की और तिब्बती परिवार से घिरा है। यह अन्य किसी भाषा-परिवार में नहीं आ पाती है। यह किसी समय भारत का महत्त्वपूर्ण भाषा-परिवार था।

यह सर्वनाम-प्रधान भाषा है। इसमें सम्मानित पुरुष, स्त्री और समकक्ष व्यक्तियों के लिए पृथक्-पृथक् सम्बोधन हैं। अंडमान की **अंडमनी भाषा** का भी एक स्वतंत्र परिवार माना जाता है। इसको भी किसी अन्य परिवार में सम्मिलित नहीं कर सकते हैं।

१०.१४. (४) काकेशी परिवार

इसका क्षेत्र काकेशस पर्वत का समीपस्थ भाग है। यह क्षेत्र काला सागर और कैस्पियन समुद्र के मध्य में है। इसकी प्रमुख भाषाएँ हैं—(१) **उत्तरी वर्ग**—कबर्डिन, सर्कासियन, चेचेनिश, लेगियन। (२) **दक्षिणी वर्ग**—जार्जियन, मिंग्रेलियन, लासिश, स्वानियन।

मुख्य विशेषताएँ—(१) ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। इनमें प्रश्लिष्ट योगात्मक के भी कुछ लक्षण मिलते हैं। कुछ रूपों में धातु तक का पता नहीं चलता है।

(२) शब्दरूप पूर्वसर्ग और प्रत्यय के योग से बनते हैं।

(३) उत्तरी काकेशी में स्वर कम और व्यंजन अधिक हैं।

(४) कारकों की संख्या बहुत अधिक है। 'अवर' आदि बोलियों में ३० कारक हैं।

(५) कुछ बोलियों (चेचेनिश आदि) में ६ लिंग हैं।

(६) सर्वनाम और क्रिया का भी योग हो जाता है।

(७) क्रिया-रूप जटिल हैं।

१०.१५. (५) यूराल-अल्ताई परिवार

क्षेत्र—यह परिवार उत्तर में उत्तरी महासागर से लेकर दक्षिण में भूमध्य सागर तक, पश्चिम में अटलांटिक महासागर से रूस में ओखोटस्क सागर तक। इसमें हंगरी,

टर्की, फिनलैंड आदि सभी आते हैं। क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से भारोपीय परिवार के बाद इसका ही नम्बर आता है।

प्रमुख भाषाएँ—

(क) यूराल वर्ग— १. फिनो-उग्री (फिनलैण्ड, हंगरी, नार्वे में)
२. समोयद (साइबेरिया में)

(ख) अल्ताई वर्ग— १. तुर्की (टर्की में)
२. मंगोली (मंगोलिया में)
३. मंचुई (मंचूरिया में)

संक्षिप्त परिचय—यूराल और अल्ताई परिवार में ध्वनियाँ और शब्द-समूह पृथक् हैं, अतः इन्हें दो परिवार भी माना जाता है। व्याकरण की दृष्टि से इनमें समानता है, अतः एक परिवार मानना उपयुक्त है। **फिनी** को **सुओमी** (Finnish, Suomi) भी कहते हैं। यह फिनलैण्ड और उत्तरी रूस में श्वेत सागर तक फैली है। इसमें १३वीं सदी तक का प्राचीन साहित्य है। यह उच्चकोटि की साहित्यिक भाषा है। इसमें 'कलेवल' (Kaleval) राष्ट्रीय महाकाव्य है। **उग्री** (Ugric) हंगरी की भाषा है। इसकी मग्यार शाखा में अच्छा साहित्य है। **समोयद** (Samoyed) में कोई विशेष साहित्य नहीं है। यह साइबेरिया की बोली है। अल्ताई परिवार में **तुर्की भाषा** (Turkish) विशेष महत्त्व की है। इसकी अश्लिष्ट योगात्मकता प्रसिद्ध है। इस पर अरबी और फारसी का बहुत प्रभाव था। २०वीं सदी में 'मुस्तफा कमाल-पाशा' ने तुर्की से अरबी शब्द छाँट-छाँटकर निकाल दिए। अरबी को हटाकर रोमन लिपि स्वीकार की। इस क्रांति के फलस्वरूप अरबी के शब्दों के स्थान पर तुर्की शब्द रखे गए। मंगोली (Mangol) मंगोलिया में और मंचुई (Manchu) मंचूरिया में बोली जाती है। इनमें विशेष साहित्य नहीं है।

मुख्य विशेषताएँ—(१) दोनों परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। धातु या शब्द में प्रत्यय जुड़ते जाते हैं। धातु में परिवर्तन नहीं होता।

(२) शब्दों के बाद सम्बन्धवाचक सर्वनाम प्रत्यय के रूप में जोड़े जाते हैं।

(३) **स्वर-साम्य** इनकी मुख्य विशेषता है। धातु या शब्द में जो स्वर होगा, तदनुसार प्रत्यय में भी a, e (अ, ए आदि) हो जाएगा। जैसे—बहुवचन-सूचक प्रत्यय—ler, lar। एव (घर) > एवलेर। अत् (घोड़ा) > अत्-लर। यज् > यज्-मक् (लिखना), सेव् > सेव्-मेक् (प्यार करना)।

१०.१६. (६) चीनी–परिवार

क्षेत्र—इसका क्षेत्र है—सम्पूर्ण चीन, बर्मा, स्याम, तिब्बत।

प्रमुख भाषाएँ— १. चीनी (पूरे चीन में)
२. थाई या स्यामी (स्याम या थाइलैण्ड में)
३. ब्रह्मी या बर्मी (ब्रह्मा या बर्मा में)

४. तिब्बती (तिब्बत में)

५. अनामी (कम्बोडिया, कोचीन, चीन, टोंकिन में)

संक्षिप्त परिचय—इस परिवार को 'तिब्बत-चीनी परिवार' और 'एकाक्षर परिवार' भी कहते हैं। बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से भारोपीय परिवार के बाद चीनी परिवार ही सबसे बड़ा है। यह परिवार चीन, स्याम, बर्मा, तिब्बत आदि में फैला हुआ है। इसके बोलने वालों की संख्या १ अरब से अधिक है। **(१) चीनी**—इसका सांस्कृतिक इतिहास ५ हजार वर्ष पुराना है। इसमें लगभग ४ हजार वर्ष पूर्व (ईसा पूर्व २००० वर्ष) से साहित्य मिलता है। इसके इतिहास-ग्रन्थों को 'शुकिंग' कहते हैं। विश्वविख्यात दार्शनिक 'कनफूसियस' ने छठी शताब्दी ई० पू० में इन ग्रन्थों का संपादन किया था। इसमें ४ हजार वर्ष से उच्चकोटि के साहित्य का क्रम आज तक चल रहा है। इसके लिखित और उच्चरित रूपों में पर्याप्त अन्तर है। इसमें शब्द-संख्या ४२ हजार के लगभग है। साधारणतया ४ हजार शब्द प्रयोग में आते हैं। यह चित्र-लिपि में लिखी जाती है। इसके लिखने की विशेषता है कि यह ऊपर से नीचे की ओर और दाएँ से बाएँ उर्दू आदि के तुल्य लिखी जाती है। इसमें १ लकीर से लेकर १७ लकीर (Strokes) वाले शब्द हैं। २१४ प्रकार के आधार-शब्द (Radicals) हैं। 'सूथिल' (Soothill) ने इसी आधार पर चीनी-कोष बनाया है। सर थामस वाडे (Sir Thomas Wade) ने चीनी को रोमन लिपि में लिखने की पद्धति निकाली है। नामों को ध्वन्यनुकरण या अनुवाद के द्वारा लिखा जाता है। 'शर्मा' को 'श मा', 'अश्वघोष' को अश्व = घोड़ा, घोष = ध्वनि, अतः 'अश्वघोष' नाम को चीनी में 'घोड़े की आवाज' लिखेंगे। चीनी भाषा की प्राचीन चित्र-लिपि आज भी प्रायः वही है। उच्चारण में भेद होता रहा है। उत्तरी और दक्षिणी चीनी के उच्चारण में भेद है, अतः उत्तरी चीनी-भाषी व्यक्ति दक्षिणी चीनी की भाषा और दक्षिणी उत्तरी चीनी की भाषा नहीं समझ पाते। चीनी भाषा को ४ युगों में बाँटा गया है—**(क) आर्ष युग**—३ हजार ई० पू० से छठी शताब्दी ई० पू० तक, **(ख) प्राचीन युग**—छठी शताब्दी ई० पू० से १०वीं सदी ई० तक, **(ग) मध्य युग**—१०वीं सदी ई० से १३वीं सदी ई० तक, **(घ) आधुनिक युग**—१३वीं सदी ई० से अब तक।

(२) थाई—इसको स्यामी भी कहते हैं। यह थाइलैंड की भाषा है। बर्मा और आसाम के कुछ भागों में बोली जाती है। **(३) ब्रह्मी या बर्मी**—बर्मा की भाषा है। बर्मी लिपि ब्राह्मी की पुत्री है। **(४) तिब्बती**—इसको भोट भाषा भी कहते हैं। इस पर भारत का भी बहुत प्रभाव है। **(५) अनामी**—यह कम्बोडिया, कोचीन, चीन, टोंकिन की भाषा है। लिपि चीनी है। चीनी शब्द भी अधिक हैं। अब रोमन में भी लिखी जाती है।

मुख्य विशेषताएँ—(१) एकाक्षर शब्द हैं। प्रत्येक शब्द एक अक्षर (Syllable) का होता है।

(२) स्थान-प्रधान भाषाएँ हैं। पद-क्रम से अर्थनिर्णय होता है।

(३) सुर या तान (Tone) के भेद से एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं।

(४) अर्थ की स्पष्टता के लिए प्रायः दो शब्दों को जोड़ देते हैं। जैसे—फू (पिता), मू (माता), चिन (सम्बन्धी), अतः फू-चिन (पिता), मू-चिन (माँ)।

(५) व्याकरण का पूर्णतया अभाव है।

(६) दो प्रकार के शब्द होते हैं—**१. पूर्ण शब्द**—अर्थतत्त्वबोधक, **२. रिक्त शब्द**—सम्बन्धतत्त्व-बोधक। एक ही शब्द अर्थभेद से दोनों प्रकार का हो सकता है।

(७) अनुनासिक ध्वनियों की बहुलता। ङ, ञ ध्वनियाँ बहुत अधिक मात्रा में प्रयुक्त होती हैं।

(८) चीनी में ४ सुर हैं—(१) निम्न, (२) निम्न-मध्य, (३) निम्न-उच्च, (४) उच्च।

१०.१७. (७) जापानी–कोरियाई परिवार

क्षेत्र—जापान और कोरिया।

प्रमुख भाषाएँ—(१) जापानी (जापान में) (Japanese)
(२) कोरियाई (कोरिया में) (Korean)

संक्षिप्त परिचय—(१) जापानी—यह जापान की भाषा है। साहित्य और अभिव्यक्ति की दृष्टि से संसार की सर्वोच्च भाषाओं में है। लिपि चीनी से संबद्ध है। बोलने वालों की संख्या ६ करोड़ है। इसमें ८वीं सदी ई० तक पुराना साहित्य है। १९वीं सदी में टोकियो राजधानी बनी, तब से इसका महत्त्व बढ़ा है। जापानी की नवीन लिपि बनाने का श्रेय एक संस्कृतज्ञ को है, अत: जापानी वर्णमाला को 'अ इ उ ए ओ' कहते हैं। जापानी के लिखित और मौखिक रूप में पर्याप्त अन्तर है। दोनों को एक करने का प्रयत्न चल रहा है। **(२) कोरियाई**—यह कोरिया की भाषा है। बोलने वालों की संख्या लगभग २ करोड़ है। इसमें चीनी शब्दों की अधिकता है। १५वीं सदी तक चीनी लिपि थी, अब इसकी अपनी लिपि है। यह संस्कृत (देवनागरी) पर आश्रित है, अत: लिपि ब्राह्मी की पुत्री मानी जाती है।

इसको किसी वर्ग में रखने पर पर्याप्त मतभेद है। कोई दोनों को स्वतन्त्र मानते हैं, कोई इसे यूराल-अल्ताई परिवार में रखने के पक्ष में हैं, कोई मलय-पोलिनेशियाई परिवार में।

मुख्य विशेषताएँ—(१) ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।

(२) शब्द अनेकाक्षर हैं। चीनी के तुल्य एकाक्षर नहीं।

(३) ध्वनि-समूह सरल है। संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग बहुत कम है।

(४) परसर्गों के द्वारा सम्बन्धतत्त्व का काम लिया जाता है। जैसे—ने = द्वारा। नो = का। नि = में। उए = पर।

(५) बहुवचन बनाने के लिए पुनरुक्ति की जाती है। यामा = पहाड़, यामा-यामा = कई पहाड़।

(६) शब्द के सभी अक्षरों पर सामान्यतया समान बल दिया जाता है।

(७) व्याकरणिक लिंग का अभाव है। स्त्री० या पुं० वाचक शब्द पहले रखकर लिंग-बोध कराया जाता है। जैसे—इनु (कुत्ता), ओ (पुं०), मे (स्त्री०), अत: ओ-इनु (कुत्ता), मे-इनु (कुतिया)।

(८) 'वचन' की धारणा अस्पष्ट है। को (बच्चा), दोमो (बहु०), को दोमो (कई बच्चे, एक बच्चा भी)।

(९) 'पुरुष' की धारणा भी अस्पष्ट है। मैं, हम, तुम आदि का प्रयोग नहीं होता। 'दोको ए इकिमासु का' (कहाँ जाता है? मैं, तू, वह, कोई भी)।

(१०) जापानी क्रिया में पुरुषभेद से रूपभेद नहीं होता। सभी पुरुषों में रूप एक ही रहेगा। मैं, तू आदि नहीं लगते। प्रश्नवाचक 'का' लगाने से प्रश्नबोधक हो जाता है।

१०.१८. (८) अत्युत्तरी (हाइपरबोरी) परिवार

क्षेत्र—साइबेरिया का उत्तर-पूर्वी प्रदेश।

प्रमुख भाषाएँ— (१) युकगिर (आर्कटिक महासागर के किनारे, उत्तर-पश्चिम में)
(२) कमचटका (या इटेल्मिश, कमचटका में)
(३) चुकची (उत्तर-पूर्वी छोर में)
(४) ऐनू (जापान के उत्तर में सखालिन द्वीपों में)

संक्षिप्त परिचय—ये भाषाएँ एशिया के उत्तर-पूर्वी छोर में बोली जाती हैं। अत्यन्त उत्तर में होने से इन्हें 'अत्युत्तरी' कहते हैं, इन्हें 'पैलियो-एशियाटिक' (पुरा-एशियाई) भी कहते हैं। 'हाइपर-बोरी' का अर्थ है—हाइपर = अत्यन्त, बोरी = उत्तरी। यह किसी भाषा का नाम नहीं है, भौगोलिक नाम है। इन भाषाओं का विशेष अध्ययन नहीं हुआ है।

मुख्य विशेषताएँ—(१) सम्बन्धसूचक कारक-चिह्न अन्त में जुड़ते हैं। जैसे—ऐनू में, कोत त्सि—आदमी का घर।

(२) सहायक क्रियाओं से काल का निर्णय होता है। जैसे—ऐनू में, कु (मैं), किक (मारना), निसा (भूतकाल)—कु किक (मैं मारता हूँ), कु किक निसा (मैंने मारा)।

(३) संख्याएँ दशमिक या विंशतिक प्रणाली से बनती हैं। जैसे—ऐनू में, रे-कशिम-वन (३ + १० = १३), इन-होत्ने (४ X २० = ८०)।

१०.१९. (९) बास्क परिवार

क्षेत्र—फ्रांस और स्पेन की सीमा पर पेरिनीज पर्वत के पश्चिमी भाग में।

प्रमुख भाषाएँ—इसमें आठ बोलियाँ हैं।

संक्षिप्त परिचय—यह चारों ओर आर्यभाषाओं से घिरी हुई अनार्य भाषा है। इसके बोलने वाले लगभग २ लाख लोग हैं।

मुख्य विशेषताएँ—(१) बास्क अश्लिष्ट अन्त-योगात्मक भाषा है। क्रियारूप प्रश्लिष्ट हैं।

(२) आर्टिकिल बाद में लगता है। जल्दी (घोड़ा), जल्दी अ (वह घोड़ा)।

(३) सर्वनाम सेमिटिक-हैमिटिक परिवार से मिलते-जुलते हैं।

(४) क्रियारूपों में बहुत जटिलता है। कर्तृवाच्य नहीं है, कर्मवाच्य ही है।

(५) वाक्यविन्यास सरल है। क्रिया अन्त में आती है। ग्रे इसके वाक्य-विन्यास को जटिल मानते हैं।[1]

---

1. L. H. Gray, *Foundations of Language*, p. 377.

(६) क्रिया-रूपों में लिंग-व्यवस्था मिलती है। संबोधित व्यक्ति के अनुसार क्रिया का लिंग होता है। जैसे—

एज्तकित् = मैं इसे नहीं जानता।

एज्तकि-अ-त् = मैं इसे नहीं जानता। हे पुरुष!

एज्तकि-न-त् = मैं इसे नहीं जानता। हे स्त्री!

इसी प्रकार आदरणीय एवं बच्चे आदि के लिए पृथक् प्रयोग हैं।

(७) इसमें क्रिया और सर्वनाम मिले होते हैं। जैसे—दकार्किओत = मैं इसको उसके पास ले जाता हूँ।

(८) कर्ता के स्थान के आधार पर वर्तमान और भूतकाल का निर्णय होता है। कर्ता अन्त में होगा तो वर्तमान काल। कर्ता आदि में होता तो भूतकाल। गु, गि (हम)। जैसे—दकि-गु (हम इसे जानते हैं), गि-नकि (हम इसे जानते थे)।

(९) समास हो सकते हैं। एक या अधिक मध्यगत वर्ण लुप्त हो जाते हैं। जैसे—ओदेइ (बादल) + ओत्स् (आवाज) = ओदोत्स (गर्जन)।

(१०) शब्दकोष बहुत सीमित है। अमूर्त भावों के लिए शब्द नहीं है। अरब (आदमी की बहिन), अहिज्प (औरत की बहिन) शब्द हैं, पर बहिन के लिए स्वतंत्र कोई शब्द नहीं है।

१०.२०. (१०) सामी–हामी परिवार (Semitic Hamitic Family)

क्षेत्र—(क) सामी—(एशिया में) अरब, इराक, फिलिस्तीन, सीरिया (अफ्रीका में, मिश्र, इथियोपिया, तुनिसिया, अल्जीरिया, मोरक्को।

(ख) हामी—(अफ्रीका में) लीबिया, सोमालीलैण्ड, इथियोपिया।

प्रमुख भाषाएँ—(क) सामी—अक्कदियन, कनानित, अरमाइक, अरबी, एबीसीनियन।

(ख) हामी—लीबियन, मेरोइटिक, एथियोपिक (कुशीत), मिश्री।

संक्षिप्त परिचय—उद्भव—बाइबिल की एक कथा के अनुसार हजरत नौह के दो पुत्र थे—सेम और हेम। ज्येष्ठ पुत्र सेम अरब, असीरिया और सीरिया आदि के निवासियों के आदि-पुरुष थे। दूसरे पुत्र हेम अफ्रीका के मिश्री, इथियोपियन आदि लोगों के आदि-पुरुष थे। इन दोनों भाइयों के नाम पर इन दोनों भाषा-परिवारों का नाम सामी (सेमिटिक) और हामी (हैमिटिक) पड़ा है। **(१) सामी**—इस परिवार की भाषाएँ दक्षिण-पश्चिमी एशिया में फैली हुई हैं। इस परिवार की मुख्य भाषा अरबी एशिया के अतिरिक्त अफ्रीका के उत्तरी भाग में फैली हुई है। मोरक्को से लेकर स्वेज तक इसका ही आधिपत्य है। मोरक्को और अल्जीरिया की राजभाषा अरबी ही है। **(२) हामी**—यह उत्तरी अफ्रीका के लीबिया, सोमालीलैण्ड और इथियोपिया प्रदेशों में फैली हुई है। इस भाषा के बोलने वाले अफ्रीका के दक्षिणी और मध्य भाग में भी फैले हुए हैं। प्राचीन मिश्री भाषा में ३ हजार वर्ष पुराना साहित्य और प्राचीन अभिलेख मिलते हैं। प्राचीन मिश्री

ने सामी और हामी के बीच पुल का काम किया है।

कुछ विद्वान् सामी-हामी को एक परिवार मानते हैं, कुछ दो पृथक् परिवार। दोनों में कुछ भेद होते हुए भी समानताएँ अधिक हैं, अतः एक परिवार मानना उचित है।

(क) सामी-हामी परिवार की समानताएँ[1]—(१) दोनों श्लिष्ट योगात्मक और अन्तर्मुखी हैं। इनमें सम्बन्धतत्त्व अधिकतर धातु के अन्दर ही स्वरों के परिवर्तन से सूचित किए जाते हैं। आदि, मध्य, अन्त में भी प्रत्यय लगते हैं।

(२) क्रियापदों में क्रिया की पूर्णता-अपूर्णता का महत्त्व है, काल-सम्बन्धी सूक्ष्मता पर ध्यान गौण है। क्रिया 'कब हुई' पर बल न होकर 'पूरी हुई या नहीं हुई' पर बल अधिक है।

(३) दोनों में बहुवचन-सूचक प्रत्ययों का आधार एक ही है।

(४) दोनों में स्त्रीलिंग-बोधक प्रत्यय 'त्' है।

(५) दोनों में लिंग-भेद स्त्री-पुरुष पर आधारित न होकर अन्य कारणों पर निर्भर है।

(६) दोनों में सर्वनाम-शब्दों का आधार निश्चित रूप से एक है।

(ख) सामी-हामी परिवार की विषमताएँ—(१) सामी परिवार में धातुएँ ३ व्यंजनों वाली हैं, हामी में नहीं।

(२) सामी में धातु के अन्दर स्वर-परिवर्तन से रूपभेद और अर्थ-भेद होता है, हामी में ऐसा नहीं है।

(ग) सामी (सेमिटिक) परिवार की मुख्य विशेषताएँ—(१) धातुएँ (अर्थतत्त्व, माद्दा, Root) प्रायः ३ व्यंजनों वाली हैं। जैसे—क्त्ब्, क्त्ल्, स्ज्द्, स्ल्म्।

(२) अन्तर्योग (Internal flexion)। धातुओं के बीच में स्वर जोड़कर शब्द बनाए जाते हैं। जैसे—क् त् ब् > किताब, कुतुब, कातिब। स् ल् म् > सलीम, इस्लाम, मुस्लिम।

(३) आदियोग और अन्तर्योग। अन्तर्योग या मध्ययोग के अतिरिक्त कुछ अन्य अर्थों को प्रकट करने के लिए आदि और अन्त में भी प्रत्यय जोड़े जाते हैं। जैसे—क्त्ब् > मक्तब (स्कूल), मक्तूब (लिखा हुआ, पत्र)। स् ल् म् > मुसल्लम (माना हुआ), सलामती (सुरक्षा), मुस्लिमा (मुस्लिम स्त्री)। ज ल म > मुज़लिमाना (अत्याचारपूर्ण)।

(४) व्याकरणिक लिंग। भारोपीय परिवार के तुल्य ही इन दोनों में भी शब्दों का लिंग व्याकरण पर निर्भर है। स्त्रीलिंग-प्रत्यय 'त्' है।

(५) तीन कारक हैं—कर्ता, कर्म, सम्बन्ध। इनसे अन्य कारकों का भी काम लिया जाता है।

(६) सम्बन्ध-वाचक प्रत्ययों का योग। सम्बन्ध-वाचक सर्वनाम शब्द के अन्त में ही जोड़ दिए जाते हैं। कतब्-इ (मेरी किताब)। हिब्रू में, एल्-इ (मेरे भगवान्)। इ = मेरा।

(७) सामी में समास का अभाव है। 'टकर' ने समास के उदाहरण कुछ व्यक्ति-

---

1. Dr. De Lacy O' Leary, *Comparative Grammar of the Semitic Languages*, pp. 1-23.

नाम दिये हैं। जैसे—बेन-जमिन (= सं० यमिन-पुत्रः, बेन = पुत्र), बेथ-शेमेश (= सं० सूर्य-भवनम्, बेथ = भवन, शेमेश = सूर्य)।

(८) प्राचीन सामी संयोगात्मक थी। कारक आदि के प्रत्यय जुड़े होते थे। अब वियोगात्मक हो गई है। कारक-चिह्न का काम निपात करते हैं। ये स्वतन्त्र रहते हैं। वियोगात्मक में वर्तमान हिब्रू मुख्य है।

(९) सामी भाषाओं में परस्पर भेद बहुत कम है। यह भेद बोली-भेद के तुल्य है। सभी सामी भाषाओं में 'व्यंजन' अर्थ-तत्त्व हैं, 'स्वर' सम्बन्ध-तत्त्व।

(१०) ध्वनिविकास के कारण कुछ धातुएँ २ व्यंजन वाली हो गई हैं। इनकी संख्या बहुत कम है। इन्हें अपवाद ही समझें।

(घ) हामी (हैमिटिक) परिवार की मुख्य विशेषताएँ—(१) पद-रचना में सम्बन्धतत्त्व का योग अनेक प्रकार से होता है। यह आदि और अन्त दोनों जगह लगता है। संज्ञा शब्दों में प्रत्यय प्रायः अन्त में लगते हैं और क्रियारूपों में आदि-अन्त दोनों स्थानों पर। इसमें प्रेरणार्थक, पुनः पुनः अर्थवाले और आत्मनेपद के समकक्ष भी रूप हैं। सोमाली भाषा में द्वित्व से पुनः पुनः अर्थ का बोध होता है। जैसे—लब (मोड़ना), लब-लब (बार-बार मोड़ना)। कभी कुछ स्वरभेद भी हो जाता है। जैसे—गल (जाना), गेलि (अन्दर रखना)।

(२) क्रिया-पद क्रिया की पूर्णता या अपूर्णता बताते हैं, काल के सूक्ष्म भेद नहीं। सहायक क्रियाएँ काल का सूक्ष्म बोध कराती हैं।

(३) लिंग का निर्णय पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर नहीं होता है। यह सबलता-निर्बलता, बड़ा-छोटा आदि पर निर्भर है। जैसे—

पुंलिंग (सबल या बड़ा)	**स्त्रीलिंग (निर्बल या छोटा)**
तलवार। शिला। हाथी।	चाकू। पत्थर। खरगोश

इसी आधार पर तलवार (पुं०), चाकू (स्त्री०); हाथी (पुं०), खरगोश (स्त्री०) है। दूसरा प्रकार है—आदि अक्षर कंठ्य (पुं०), आदि अक्षर दन्त्य (स्त्री०)। गल्ल भाषा में—कंक (तेरा, पुं०), तंते (तेरी, स्त्री०)। इसी तरह नगरी (अच्छा, पुं०), तगरी (अच्छी, स्त्री०) में आदि-व्यंजन के भेद से पुं० और स्त्री० है।

(४) वचन का बोध कई प्रकार से कराया जाता है। 'नम' भाषा में द्विवचन भी है। बहुवचन भी दो प्रकार का है—१. केवल बहुवचन, २. समूहात्मक। रूप भी अलग हैं। जैसे—लिसा (आँसू), लिस् (आँसू, बहु०), लिसने (आँसू की धारा)। बिला (पतिंगा, एक०), बिल् (पतिंगे), बिल्ले (पतिंगों का समूह)।

(५) वचन-भेद से लिंगभेद। यह इस परिवार की विलक्षणता है। सोमाली भाषा में बहुवचन होते ही पुं० शब्द स्त्री० हो जाएगा और स्त्रीलिंग शब्द पुंलिंग। इस नियम को **ध्रुवीकरण नियम** (Law of Polarity) कहते हैं। जैसे—

एकवचन	**बहुवचन**
होयो-दि (माता, स्त्री०)	होयिन-कि (माताएँ, पुं०)
लिबह्-हि (शेर, पुं०)	लिबह-ह्यो-दि (कई शेर, स्त्री०)

(ङ) सामी और भारोपीय में अन्तर—

सामी	भारोपीय
१. धातुएँ ३ व्यंजन वाली हैं।	१. ऐसी धातुएँ नहीं हैं।
२. धातुओं के अन्दर प्रत्यय।	२. धातुओं के अन्त में प्रत्यय।
३. समास का अभाव।	३. समास है।
४. आदि-प्रत्यय से प्रेरणार्थक आदि।	४. अन्त में प्रत्यय से णिजन्त आदि।

१०.२१. (११) सूडानी (सूडान) परिवार

क्षेत्र—अफ्रीका में भूमध्य रेखा के उत्तर में पश्चिम से पूर्व तक। इसके उत्तर में हामी परिवार है और दक्षिण में बान्तू परिवार।

प्रमुख भाषाएँ—१. वुले (Wule), २. मन-फू (Man-fu), ३. कनूरी (Kanuri), ४. नीलोटिक (Nilotic), ५. बन्तूइड (Bantuid), ६. हौसा (Hausa)। कुल भाषाएँ ४३५ हैं।

मुख्य विशेषताएँ—(१) सूडानी भाषाएँ चीनी भाषा के तुल्य अयोगात्मक हैं।

(२) धातुएँ एकाक्षर हैं। विभक्तियाँ सर्वथा नहीं हैं। चीनी भाषा के तुल्य दो-दो शब्दों को जोड़कर अर्थ स्पष्ट किया जाता है।

(३) अर्थभेद करने के लिए 'सुर' और 'तान' का उपयोग होता है।

(४) लिंग का अभाव है। 'पुरुष' 'स्त्री' बोधक शब्द लगाकर लिंग-बोध कराया जाता है। अन्यपुरुष (वह, वे) का केवल एक लिंग है।

(५) बहुवचन का भाव स्पष्ट नहीं है। बहुवचन बनाने के कुछ उपाय ये हैं—(क) शब्द के बाद बहुत्वसूचक शब्द जोड़ देना। जैसे—वे, उनको, लोग आदि के समानार्थक शब्द। (ख) ह्रस्व स्वर को दीर्घ करना। ह्रस्व—ओं को दीर्घ-ओ। रोंर (जंगल), रोर (कई जंगल)।

(६) सूडानी में उपसर्ग और निपात नहीं हैं, अतः वाक्य-रचना बहुत सीधी सरल होती है। लंबे अर्थों को छोटे वाक्यों में तोड़ देते हैं। जैसे—'उसने उसको छड़ी से मारा' को कहेंगे—'उसने छड़ी ली' 'उसको मारा'।

(७) इस परिवार में कुछ विशेष प्रकार के शब्द हैं, इन्हें कई नाम दिए गए हैं—शब्द-चित्र, ध्वन्यात्मक, वर्णनात्मक क्रिया-विशेषण। जैसे—हिन्दी में खटखट, पटपट, भड़भड़, तड़तड़ आदि। ये शब्द क्रियाविशेषण या विशेषण होते हैं। जैसे—'जो' (चलना) के बाद ये शब्द रखने पर ये विभिन्न अर्थ होंगे—

क-क (सीधा), त्य-त्य (जल्दी), त्यो-त्यो (लम्बी चाल से), सी-सी (छोटे कदम रखकर)। जो क-क (सीधे चलना)।

१०.२२. (१२) बान्तू (बान्टू) परिवार

क्षेत्र—दक्षिणी अफ्रीका का अधिकांश भाग एवं जंजीबार द्वीप। इसके दक्षिण-पश्चिम में होतेन्तोत-बुशमैनी है और उत्तर में सूडान परिवार।

प्रमुख भाषाएँ—(इसमें १५० भाषाएँ हैं)।

१. पूर्वी वर्ग—जुलू, काफिर, स्वाहिली।

२. मध्य वर्ग—सेसुतो।

३. पश्चिमी वर्ग—हेरेरो, कांगो।

संक्षिप्त परिचय—बा-न्तू शब्द का अर्थ है—मनुष्य। (न्तू-आदमी, बा-बहुवचनसूचक प्रत्यय)। इस परिवार की प्रायः सभी भाषाओं में 'मनुष्य' के लिए 'बान्तू' शब्द है। इस परिवार की सबसे महत्त्वपूर्ण भाषा जंजीबार की 'स्वाहिली' है। यह अफ्रीका के पूर्वी तट की जनभाषा है। यह पहले अरबी में लिखी जाती थी, अब रोमन लिपि में लिखी जाती है।

मुख्य विशेषताएँ—(१) बान्तू भाषाएँ अश्लिष्ट पूर्व-योगात्मक हैं।

(२) उपसर्ग जोड़कर पद बनते हैं। जैसे—बान्तू-बा (बहु०), न्तू (आदमी)। प्रत्यय शब्द से पहले लगते हैं।

(३) लिंग-विचार का अभाव है। 'वह' (पुं०, स्त्री०) के लिए शब्द नहीं है।

(४) कोमलता एवं मधुरता के लिए प्रसिद्ध है।

(५) ध्वनि-अनुरूपता मुख्य गुण है। एक० में उम्, उ आदि, बहु० में अब, ओ आदि लगते हैं। तदनुसार आगे के शब्दों में ध्वनि-साम्य होता है। जैसे—

उमुन्तु बेतु ओमुच्ले-(आदमी हमारा सुन्दर लगता है)।

अबन्तु बेतु अबच्ले-(आदमी हमारे सुन्दर लगते हैं)।

(६) स्वर-भेद से अर्थभेद होता है। जैसे—होफिनेल्ला (बाँधना), होफिनोल्ला (खोलना)।

(७) सभी शब्द स्वरान्त होते हैं। संयुक्त व्यंजनों का अभाव है। न्तु जैसे संयुक्त व्यंजन हैं, नासिक्य + व्यंजन।

(८) इसकी दक्षिणपूर्वी भाषाओं में क्लिक ध्वनियाँ भी मिलती हैं।

१०.२३. (१३) होतेन्तोत-बुशमैनी (खोइम) परिवार

क्षेत्र—दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका, ओरेंज नदी से नगामी झील तक।

प्रमुख भाषाएँ—बुशमैन (सान), होतेन्तोत (नामा), दमारा, सन्दवे।

संक्षिप्त परिचय—होतेन्तोत और बुशमैन जातियाँ अफ्रीका की मूल निवासी मानी जाती हैं। बुशमैन अपने आपको 'खोइम' (मनुष्य) कहते हैं, अतः यह 'खोइम' परिवार भी कहा जाता है। इन भाषाओं ने बान्तू और सूडान परिवार को भी प्रभावित किया है। जुलू पर भी इनका प्रभाव है।

मुख्य विशेषताएँ—(१) **'क्लिक'** या अन्तःस्फोटात्मक ध्वनियाँ इस परिवार की प्रमुख विशेषता है। इसमें बोलने में श्वास बाहर न छोड़कर अन्दर खींचा जाता है। इन ध्वनियों को 'क्लिक' (अन्तःस्फोट वाली) ध्वनियाँ कहा जाता है। क्लिक ध्वनियों के ५ भेद हैं—दन्त्य, मूर्धन्य, पार्श्विक, तालव्य और ओष्ठ्य।

(२) लिंग-विचार पुरुषत्व या स्त्रीत्व पर निर्भर न होकर चेतन एवं अचेतन,

सजीव-निर्जीव, पर निर्भर है।

(३) बहुवचन बनाने के ५०-६० प्रकार हैं। जिनमें द्वित्व (द्विरुक्ति) करना भी एक प्रकार है।

(४) होतेन्तोत में शब्द प्रायः एकाक्षर हैं।

(५) होतेन्तोत में तीन वचन (एक०, द्वि०, बहु०) हैं।

(६) होतेन्तोत में उत्तम-पुरुष द्विवचन, बहु० के दो-दो रूप होते हैं—

(क) वक्ता-सहित, (ख) वक्ता-रहित।

१०.२४. (१४) मलय-पोलिनेशियाई परिवार

क्षेत्र—पश्चिम में अफ्रीका के मेडागास्कर द्वीप से लेकर पूर्व में ईस्टर द्वीप तक, उत्तर में फारमोसा से लेकर दक्षिण में न्यूजीलैंड तक। इसमें सुमात्रा, जावा, बोर्नियो आदि द्वीप सम्मिलित हैं।

प्रमुख भाषाएँ—(क) इण्डोनेशियाई[1] (हिन्द-द्वीपीय या मलायन)—मलय (मलाया, सुमात्रा में), जावी (जावा में), सुन्दियन (जावा के एक भाग में), दयक (बोर्नियो में), फारमोसी (फारमोसा में), मलगसी (या होवा, मेडागास्कर में), तगल (फिलिपीन में)।

(ख) मेलानेशियाई (कृष्णद्वीपीय)—फिजीयन (फिजी द्वीप में)।

(ग) मिक्रोनेशियाई (लघुद्वीपीय)—मिक्रोनेशियन (कैरोलिन, मार्शल, गिलबर्ट आदि-आदि द्वीपों में)।

(घ) पोलिनेशियाई (बहुद्वीपीय)—मओरी (न्यूजीलैंड में), हवाइयन (हवाई द्वीप में), टोंगन (टोंगा द्वीप में), समोअन (समोआ द्वीप में)।

संक्षिप्त परिचय—इस परिवार को मलय-बहुद्वीप के आधार पर मलय-बहुद्वीपीय या 'मलय-पोलिनेशियन' और दक्षिणी द्वीपसमूह के आधार पर 'आस्ट्रोनेशियन' (Austro-दक्षिण, Nesos-द्वीप) भी कहते हैं। इसमें सारे पूर्वी और दक्षिणी द्वीप आ जाते हैं। ये सैकड़ों छोटे-छोटे द्वीप हैं। सुमात्रा और मेडागास्कर ३ हजार मील की दूरी पर हैं, परन्तु दोनों की भाषाओं में घनिष्ठ साम्य है। दोनों एक परिवार की भाषा हैं। इसका उत्तर भूगर्भविज्ञान के अनुसार दिया जाता है कि किसी समय सुमात्रा से मेडागास्कर तक स्थल था, जो जल-प्लावन में डूब गया। छोटे-छोटे द्वीप रह गए।

जावा-सुमात्रा आदि कभी भारत के उपनिवेश थे। यहाँ संस्कृत भाषा का प्रभुत्व था। यहाँ की भाषा का नाम 'कवि' (कवियों या विद्वानों की भाषा) है। इसमें ८०० ई० तक का प्राचीन साहित्य मिलता है। यहाँ के साहित्य और संस्कृति पर संस्कृत, मुख्यतया

---

१. ये नाम ग्रीक शब्दों से बने हैं। जैसे—१. इण्डोनेशियन-Indo (भारत) + Nesos (द्वीप) (हिन्द-द्वीपी)। २. मेलानेशियन-Melas (मेलास, काला) + Nesos (नेसोस, द्वीप) (कृष्णद्वीपी)। ३. मिक्रोनेशियन-Mikros (मिक्रोस, लघु, छोटा) + Nesos (द्वीप) (लघुद्वीपी)। ४. पोलिनेशियन-Polys (पोलिस, बहु, अनेक) + Nesos (द्वीप) (बहुद्वीपी)।

रामायण, का प्रभाव है। इस पर फारसी, अरबी, डच आदि भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है। अरबी और संस्कृत के मिले शब्द मिलते हैं—जवाहर-मनिकम (रत्न), शपथ-मंग-मंग (शाप)। जावा में व्यक्तियों, नगरों आदि के नाम संस्कृत-निष्ठ हैं। जैसे—सोकर्नो (सुकर्ण), सुहार्तो (सुहृत्), सूरादिपुर (सुराधिपुर), ब्रोमो (ब्रह्मा > बर्मा), जोग्यकर्त (अयोध्याकृत), बोएदिदर्म (बुद्धि-धर्म), जसविदग्द (यशोविदग्ध), अरिय-सुतीर्त (आर्य-सुतीर्थ), सूर्यो-प्रनत (सूर्य-प्रणत), सस्त्रोविर्य (शस्त्र-वीर्य)।

जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों में ५वीं सदी ई० तक के शिलालेख मिलते हैं। १५वीं सदी तक यहाँ संस्कृत का विशेष प्रचार था। १५२० ई० से मुसलमानों ने अधिकार किया और संस्कृत छिन्न-भिन्न हो गई। वहाँ बड़े-बड़े संस्कृत-शिक्षा के केन्द्र थे। कम्बोज (कम्बोडिया) में तंत्र-विद्या एवं संस्कृत का अध्ययन होता था।

मुख्य विशेषताएँ—(१) प्रायः सभी भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।

(२) धातुएँ प्रायः दो अक्षरों वाली हैं।

(३) स्वर बलाघात-युक्त हैं। प्रथम स्वर पर बलाघात होता है।

(४) संज्ञाओं के लिंग, विभक्ति, वचन नहीं हैं। आदि, मध्य या अन्त में वर्ण जोड़कर पद बनाए जाते हैं। जैसे—तगल भाषा में, सुलत् (लेख), सुनुलत् (लिखना), सुंगमुलत् (लिखा)।

(५) वचन न होने से बहुवचन का काम द्विरुक्ति (द्वित्व) से लिया जाता है। मलय में रज (राजा) > रज-रज (कई राजा), टोंगन में-नुई (बड़ा) > नुई-नुई (बहुत बड़ा)।

(६) क्रियारूप धातु के मध्य में प्रत्यय जोड़कर बनाए जाते हैं। आदि-योग, अन्त-योग भी मिलता है। जैसे—सुलत् > सुंगमुलत् (लिखा)। सकर्मक, अकर्मक, कर्मवाच्य, प्रेरणार्थक, भृशार्थक (यङ्) रूप मिलते हैं।

(७) संयोगात्मक से वियोगात्मक हो रही हैं।

१०.२५. (१५) पापुई परिवार

क्षेत्र—मलाया और पोलिनेशिया के मध्य न्यूगिनी, सोलोमन द्वीप-समूह आदि।

मुख्य विशेषताएँ—(१) ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।

(२) पद-रचना उपसर्ग और प्रत्यय के योग से होती है। जैसे—न्यूगिनी की मफोर भाषा में, म्नफ़ (सुनना) > ज-म्नफ़ (मैं सुनता हूँ), व-म्नफ़ (तू सुनता है), इ-म्नफ़ (वह सुनता है), सी-म्नफ़ (वे सुनते हैं)। कर्म को जोड़ना—ज-म्नफ़-अऊ (मैं तेरी बात सुनता हूँ)। बहुवचन 'सी' लगाकर—स्नून (आदमी) > स्नून-सी (कई आदमी)।

१०.२६. (१६) आस्ट्रेलियन परिवार

क्षेत्र—संपूर्ण आस्ट्रेलिया महाद्वीप तथा तस्मानिया।

प्रमुख भाषाएँ— मैक्वारी (मैक्वारी झील के पास)।

कामिलरोई (मैक्वारी झील के पास)।

संक्षिप्त परिचय—ये भाषाएँ आस्ट्रेलिया के मूल-निवासियों द्वारा बोली जाती थीं। इस परिवार की भाषाएँ १०० के लगभग मानी जाती थीं। यूरोपीय उपनिवेश के कारण ये भाषाएँ नष्ट होती जा रही हैं। १६३६ में इनके बोलने वाले ७६ हजार थे। अब ये प्रायः समाप्त हो रहे हैं।

मुख्य विशेषताएँ—(१) ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।

(२) प्रत्यय अन्त में जोड़े जाते हैं।

(३) संख्यावाचक शब्द १, २, ३ हैं। इन्हीं को जोड़कर बड़ी संख्याएँ बनाई जाती हैं।

(४) उत्तमपुरुष द्विवचन और बहुवचन के दो-दो रूप होते हैं—१. स्व-ग्राही, २. स्व-वर्जी। एक में वक्ता का भी संग्रह होगा, दूसरे में नहीं।

(५) कुछ भाषाओं में 'मैं' के लिए पुं० में दूसरा शब्द है, स्त्री० में दूसरा।

(६) क्रियारूपों में पर्याप्त जटिलता है। वर्तमान, भूत, भविष्य के अनेक भेद हैं।

१०.२७. (१७) दक्षिण-पूर्व एशियाई (आस्ट्रो-एशियाटिक) परिवार

क्षेत्र—पश्चिम में भारत का उत्तरी पहाड़ी भाग तथा मध्यप्रदेश और उड़ीसा का कुछ भाग। पूर्व में अन्नाम, श्याम, कम्बोडिया। दक्षिण में निकोबार द्वीप।

प्रमुख भाषाएँ— (१) पश्चिम में—मुण्डा (कोल)
(२) मध्य में—मोन-ख्मेर (Mon-khmer)
(३) पूर्व में—अनामी, मुआङ् (Annam, Muong)
(४) दक्षिण में—निकोबार

संक्षिप्त परिचय—१. मुण्डा—मुण्डा का अर्थ है—मुखिया, जमींदार। मैक्समूलर ने यह नाम दिया था। इसको 'कोल' भी कहते हैं। संस्कृत में कोल का अर्थ—'सुअर' है, अतः यह नाम त्याज्य हो गया है। भारतीयों के एक वर्ग को सुअर कहना अशिष्ट है। **२. मुण्डा के दो वर्ग—(१) उत्तरी**—इसमें कनावरी, शबर आदि भाषाएँ हैं। यह हिमालय की तराई में शिमला से बिहार तक बोली जाती है। **(२) दक्षिणी**—इसमें संथाली, मुण्डारी, भूमिज आदि भाषाएँ हैं। **संथाली** पूर्वी बिहार और पश्चिमी बंगाल में फैली है। **मुण्डारी** छोटानागपुर, उड़ीसा, मध्यप्रदेश और मद्रास में फैली है। संथाली-मुण्डारी आदि का सामान्य नाम **'खेरबारी'** है।

भारतीय भाषाओं पर प्रभाव—मुण्डा भाषाओं का प्रभाव भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि पर पड़ा है। जैसे—(१) भोजपुरी आदि में क्रियारूपों की बहुलता और जटिलता। (२) उत्तम पुरुष (हम) के दो रूप—श्रोता-सहित, श्रोता-रहित। जैसे—'हम हाट जाएँगे' (हम लोग, तुम नहीं), 'अपन हाट जाएँगे' (हम भी, तुम भी)। 'हम' अर्थ में दो शब्द हैं—हम, अपन। (३) कोड़ी (२० संख्या) में वस्तुओं को गिनना।

मुख्य विशेषताएँ—(१) मुण्डा भाषा ध्वनि की दृष्टि से समृद्ध है। इसमें स्वर और व्यंजन-सघोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण हैं। सभी स्वर, सभी स्पर्श वर्ण (पाँचों वर्ग), अन्तःस्थ, ड़, स, ह हैं। अर्ध व्यंजन क-च-त-प भी मिलते हैं। महाप्राण ध्वनियाँ अधिक हैं।

(२) शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजन नहीं आता।

(३) बलाघात है। दीर्घ स्वर पर प्रायः बलाघात रहता है।

(४) उत्तम-पुरुष सर्वनाम के दो-दो रूप होते हैं—(१) श्रोता-सहित, (२) श्रोता-रहित।

(५) संज्ञा, क्रिया आदि शब्द-विभाग नहीं है। एक ही शब्द प्रकरण और आवश्यकता के अनुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि होता है।

(६) लिंग-बोध मूल शब्द में पुरुष और स्त्रीवाचक शब्द जोड़कर कराया जाता है। आँडिया (नर), एंगा (मादा), कूल (बाघ)। आँडिया कूल (बाघ), एंगा कूल (बाघिन)।

(७) सम्बन्धतत्त्व मध्य या अन्त में लगता है। उपसर्ग भी लगते हैं। द्वित्व का भी प्रयोग होता है। प-बहुवचन-सूचक है, बीच में जुड़ता है। मंझि (मुखिया) > म पं झि (कई मुखिया)। सैन (जाना) > अ-सैन (ले जाना, प्रेरणार्थक)।

(८) तीन वचन हैं। कीन (द्विवचन), को (बहु०)। हाड़ (आदमी), हाड़कीन (२ आदमी), हाड़-को (कई आदमी)।

(९) विभक्तियों का काम परसर्गों से लिया जाता है।

(१०) पुरुष (प्रथम, मध्यम, उत्तम) के अनुसार क्रिया में भेद नहीं होता है। क्रिया के अन्त में अ जोड़ते हैं। दल् (मारना) > दलकेत (मारा)।

(११) गणना विंशतिक (२०) प्रणाली से होती है। कोड़ी (२० वाचक) शब्द मुण्डारी भाषा का है।

१०.२८. (१८) अमरीकी परिवार

क्षेत्र—संपूर्ण उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका।

प्रमुख भाषाएँ—

१. कनाडा एवं संयुक्त राज्य	(१) अथपस्कन (Athapaskan) (कनाडा में)
	(२) अल्गोनकिन (कनाडा, सं० राज्य)
२. मेक्सिको एवं मध्य अमेरिका	(१) अज़तेक (Aztec) (मेक्सिको में)
	(२) मय (Maya) (मध्य अमेरिका में)
३. दक्षिणी अमेरिका	(१) अरवक (Arawak) (उत्तरी भाग में)
	(२) करीब (Carib) (उत्तरी भाग में)
	(३) तुपी गुअर्नी (Tupi Guarni)(मध्य भाग में)
	(४) कुईचुआ (Quichua) (पेरू, चिली में)

संक्षिप्त परिचय—अमरीकी परिवार में लगभग १ हजार भाषाएँ मानी जाती हैं। इसका पूर्ण अध्ययन नहीं हुआ है। कोलम्बस १५वीं सदी के अन्त में भारतवर्ष को ढूँढ़ता वहाँ पहुँचा, अतः वहाँ के मूल निवासियों को 'इण्डियन' कहते हैं। उस समय मूल अमरीकी लोगों की संख्या लगभग ५ करोड़ थी। अब डेढ़ करोड़ रह गई है। दक्षिणी अमेरिका में एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। पुरुष करीब भाषा बोलते हैं और स्त्रियाँ अरवक

भाषा। एक ही परिवार में दो भाषाएँ चलती हैं। कारण यह बताया जाता है कि करीब जाति ने अरवक जाति पर विजय प्राप्त की। उन्होंने अरवक-भाषी पुरुषों को मार दिया और उनकी स्त्रियों को अपने यहाँ रख लिया। अतः स्त्रियाँ अरवक बोलती हैं, पुरुष करीब भाषा। अज़तेक की नहुअत्ल भाषा में और मय भाषा में ही लिपियाँ हैं। ईसाइयों ने कुंईचुआ और गुअर्नी को ईसाई धर्म-प्रचार का माध्यम बनाया था।

मुख्य विशेषताएँ—(१) भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक हैं।

(२) भाषाएँ वाक्यात्मक हैं। पूरे वाक्य के लिए एक शब्द होता है। इसमें सभी शब्दों का कुछ-कुछ अंश ले लिया जाता है। जैसे—नाधोलिनिन् (हमारे लिए डोंगी लाओ)—नातेन् (लाओ), अमोखोल (नाव, डोंगी), निन् (हमको)।

(३) स्वतन्त्र शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं होता। वाक्यों का ही प्रयोग होता है।

❋

अध्याय ११

आर्य या भारत-ईरानी शाखा

(The Indo-Iranian or Aryan Group)

(ईरानी शाखा)

१. आर्य-परिवार
२. वैदिक संस्कृत और अवेस्ता
३. संस्कृत और अवेस्ता की समानताएँ
४. संस्कृत और अवेस्ता की विषमताएँ
५. ईरानी भाषाएँ
   (क) प्राचीन युग
   (ख) मध्य युग
   (ग) आधुनिक युग
   (घ) दरद भाषाएँ

अध्याय ११

आर्य या भारत-ईरानी शाखा

११.१. आर्य–परिवार

नामकरण—भारोपीय परिवार की भाषाओं की तुलना से यह स्पष्ट होता है कि यह परिवार प्रारम्भ से ही दो भागों में विभक्त होता है—केन्टुम् और शतम् (सतम्) वर्ग। केन्टुम् वर्ग में अधिकांश यूरोपीय भाषाएँ आती हैं और शतम् या सतम् वर्ग में मुख्य रूप से संस्कृत और अवेस्ता भाषाएँ। संस्कृत और अवेस्ता में इतनी अधिक समानता है कि इनको एक पृथक् शाखा माना गया है। इसको भारत-ईरानी या हिन्द-ईरानी शाखा कहते हैं। ईरान शब्द 'आर्याणाम्' का अपभ्रंश रूप है, जैसे—ब्राह्मणानाम् का 'बंभनान', आभीराणाम् का 'हरियाणा'। भारत और ईरान के कारण इसे 'भारत-ईरानी' और आर्य-परिवार के कारण 'आर्य शाखा' कहा जाता है।

महत्त्व—विश्व-भाषा-परिवारों में भारोपीय भाषा-परिवार का सबसे अधिक महत्त्व है। भारोपीय परिवार में भी 'आर्य-परिवार' या आर्य-शाखा का सर्वाधिक महत्त्व है। इसके प्रमुख कारण हैं—

१. प्राचीनतम साहित्य—विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' अपने शुद्ध एवं प्राचीनतम रूप में संस्कृत में उपलब्ध है। समस्त वैदिक साहित्य इसी शाखा में प्राप्य है। पाश्चात्य विद्वान् ऋग्वेद का समय ३ हजार ई० पू० से २ हजार ई० पू० के मध्य मानते हैं। अधिकांश भारतीय विद्वान् वैदिक काल का प्रारम्भ ४ हजार ई० पू० के लगभग मानते हैं। वैदिक साहित्य का समय ४ हजार ई० पू० से १ हजार ई० पू० के मध्य माना जाता है। इतना प्राचीन साहित्य किसी भाषा में नहीं है।

२. अवेस्ता—पारसियों का धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' (७०० ई० पू० के लगभग) इसी शाखा में प्राप्य है। यह वैदिक काल का समकक्ष है।

३. भाषा-विज्ञान का जन्मदाता—यूरोप में संस्कृत और अवेस्ता के तुलनात्मक अध्ययन ने ही 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' को जन्म दिया है। संस्कृत भाषाशास्त्र की जननी है।

४. प्राचीन वर्णमाला एवं ध्वनियाँ—मूल भारोपीय भाषा की प्राचीन ध्वनियों के निर्धारण में संस्कृत और अवेस्ता का असाधारण योगदान है।

५. प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता—विश्व की प्राचीनतम संस्कृति और सभ्यता का सर्वांगीण इतिहास संस्कृत और अवेस्ता भाषा के साहित्य से प्राप्त होता है।

६. भाषाशास्त्रीय देन—भाषाशास्त्र को ध्वनि-विज्ञान (शिक्षा), पद-विज्ञान

(व्याकरण) और अर्थविज्ञान (निरुक्त) का मौलिक आधार संस्कृत से ही प्राप्त होता है।

आर्यशाखा—जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि मूल भारोपीय भाषा-भाषियों की दो शाखाएँ हुईं। एक शाखा भारत और ईरान में पहुँची और दूसरी रूस और यूरोप में। भारत में प्रचलित शाखा को भारतीय या हिन्द शाखा कहा जाता है तथा ईरान में प्रचलित शाखा को ईरानी।

जिस प्रकार भारतीय आर्यभाषा को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है—प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक, उसी प्रकार ईरानी के भी तीन वर्ग मिलते हैं। भारोपीय और ईरानी भाषाओं का विकास प्राय: समानान्तर हुआ है।

११.२. वैदिक–संस्कृत और अवेस्ता

भारत की प्राचीनतम भाषा संस्कृत है। इसका भी प्राचीनतम रूप वैदिक संस्कृत में मिलता है। ईरान की प्राचीन भाषा 'अवेस्ता' है। ईरानियों के धर्मग्रन्थ का नाम 'अवेस्ता' है। इनकी भाषा को भी 'अवेस्ता' ही कहते हैं। 'अवेस्ता' संस्कृत 'अवस्था' का अपभ्रंश है, इसका अर्थ है—'व्यवस्थित, परिनिष्ठित रूप'। अत: 'अवेस्ता' शब्द 'धर्मग्रन्थ' का वाचक है। जेन्द (Zend) शब्द 'छन्दस्' का अपभ्रंश है। इसका अर्थ है—टीका, व्याख्या। अवेस्ता की टीका को जेन्द कहते हैं। यह पहलवी भाषा में है। टीका-सहित धर्मग्रन्थ को 'जेन्दावेस्ता' (Zend-Avesta) कहते हैं। भूल से या प्रचलन के आधार पर 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थ को 'जेन्दावेस्ता' भी कहते हैं। 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थ की भाषा, शब्दावली, रचना, छन्दोयोजना और भावावलि वैदिक मन्त्रों से बहुत अधिक मिलती है। संस्कृत और अवेस्ता के ध्वनि-नियमों को जाननेवाला कोई भी संस्कृतज्ञ वेद के मन्त्र को अवेस्ता में और अवेस्ता की गाथाओं को वैदिक मन्त्र के रूप में परिवर्तित कर सकता है। जैसे—डॉ० हाउग[1] द्वारा उद्धृत अवेस्ता का यस्न ३१, गाथा ८ का संस्कृत रूपान्तर और अर्थ—

अवेस्ता	संस्कृत	अर्थ
Vispa drukhsh janaite	विश्वो दुरक्षो जिन्वति	सभी दुरात्मा भागते हैं।
Vispa drukhsh nashaiti	विश्वो दुरक्षो नश्यति	सभी दुरात्मा नष्ट होते हैं।
yatha hanoti aisham Vacham	यदा श्रृणोति एतां वाचम्	जब इस बात को सुनते हैं।

११.३. संस्कृत और अवेस्ता की समानताएँ

१. मूल भारोपीय भाषा के मूल ह्रस्व स्वर ă, ĕ, ŏ (अॅ, एॅ, ओॅ) के स्थान पर 'अ' और दीर्घ मूलस्वर—अ, ए, ओ के स्थान पर 'आ'।

1. Dr. Martin Haug : *Essays on the Sacred Language*, Writing and Religion of the Parsis, p. 196.

भारोपीय	ग्रीक	लैटिन	संस्कृत	अवेस्ता
Ekuos	—	Equus	अश्वः	अस्पो
Nebhos	Nephos	Nebula	नभः	नबो
Apo	Apo	—	अप	अप
yag	Hazomai	—	यज्	यज़्

२. भारोपीय उदासीन स्वर अ॑ को इ।

भारो०	ग्री०	लै०	सं०	अवे०
पते	Pater	Pater	पिता	पिता

३. भारोपीय र् (ऋ) और ल् (लृ) में अभेद। (रलयोरभेदः)। दोनों में र् को ल् और ल् को र्।

भारो०	ग्री०	लै०	सं०	अवे०
Ulquos	Lucos	Lupus	वृकः	वहर्को (ल् > र्)
Runc	Orusso	Runcare	लुञ्चामि	- (र् > ल्)

४. इ, उ, र्, क् के बाद भारोपीय स् को अवेस्ता में 'श्' और संस्कृत में 'ष्'।

ग्रीक	लै०	सं०	अवे०
Histemi	Sisto	तिष्ठामि	हिश्तइति

५. भारोपीय कवर्ग (कंठ-तालव्य-क्य्, ख्य् आदि) भारत-ईरानी में क्रमशः श्, श्ह्, ज्, ज्ह हुए। बाद में संस्कृत में श्, ज्, ह् हुए और ईरानी में स्, ज्, ज्ह्।

६. भारोपीय कवर्ग (कंठोष्ठ्य-क्व्, ख्व् आदि) क्, ख्, ग्, घ् हुए। यदि इनके बाद इ, ए स्वर थे तो ये चवर्ग च् छ् ज् झ् हुए।

७. अजन्त शब्दों में षष्ठी बहु० में 'नाम्' प्रत्यय।

८. लोट् लकार प्रथम पुरुष एक० में 'तु' प्रत्यय।

शब्दरूप, धातुरूप आदि की समानताएँ[1]

१. अवेस्ता में संस्कृत के तुल्य ही शब्दरूप चलते हैं। अवेस्ता में भी ८ कारक (कर्ता, कर्म आदि), तीन वचन और तीन लिंग हैं। कारक-चिह्न भी प्रायः समान हैं। जैसे—एक० और बहु० के कारक चिह्न—

	प्रथमा	द्वि०	तृ०	च०	पं०	ष०	स०
संस्कृत	स्-अः,	अम्-अः,	आ-भिः,	ए-भ्यः,	अत्-भ्यः,	स्य-आम्,	इ-सु
अवेस्ता	स्-ओ,	म्-आ,	आ-बिश्,	ए-ब्यो,	अत्-ब्यो,	ह्य-आम्,	इ-शु

कारकों के प्रयोग भी प्रायः समान हैं।

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखें—(क) P. D. Gune—*An Introduction to Comparative Philology*, pp. 118-130; (ख) Taraporewala—*Elements of the Science of Language*, pp. 307-318; (ग) Ganga Prasad—*The Fountain-head of Religion*, pp. 92-104.

२. अवेस्ता में भी संस्कृत के तुल्य विशेषणों के रूप विशेष्य के तुल्य चलते हैं।

३. अवेस्ता में भी संस्कृत के तुल्य संख्याएँ और संख्येय (प्रथम आदि) शब्द मिलते-जुलते हैं। संस्कृत—एकः, द्वौ, त्रयः, चत्वारः, पंच आदि। अवेस्ता—अएव, द्वा, त्रि, चथ्वर, पंच, श्वश्, हस, अश्ट, नव, आदि। विसति (२०), त्रिसत् (३०)। फतम (प्रथम), बित्य (द्वितीय), थ्रित्य (तृतीय), तुइर्य (तुर्य, चतुर्थ)।

४. सर्वनाम शब्दों में भी अधिकांश में साम्य है। युष्मद्, अस्मद् के तुल्य रूप मिलते हैं। अज़म् (अहम्), मा (माम्), मत् (मत्), मे (मे)। तूम (त्वम्), थ्वम् (त्वाम्), थ्वत् (त्वत्), तव (तव)।

५. अवेस्ता में वाच्य, काल, वृत्ति (Mood), लेट् लकार का प्रयोग आदि वैदिक संस्कृत के तुल्य हैं। तुमुन्, ल्यप् (य) वाले रूप भी हैं। इनके प्रयोग में भी समानता है। परस्मैपद और आत्मनेपद वाले तिङ् प्रत्यय भी हैं। जैसे—परस्मैपद-ति, हि, मि (सं० ति, सि, मि)।

६. अवेस्ता में भी संस्कृत के तुल्य १० गण हैं। इसमें भी विकरण (अ, य, अय आदि) और अविकरण (शप्-लोप आदि) भेद हैं। शप्, श्यन्, श्नु, श्नम्, श्ना आदि के तुल्य अ, य, अय, नु, न्, ना, उ आदि विकरण हैं। लोट्, विधिलिङ् आदि के अतिरिक्त लेट् (वैदिक लकार) के भी रूप मिलते हैं।

७. अवेस्ता में लिट् (परोक्षभूत) में द्वित्व वाले रूप मिलते हैं। ददार (सं० दधार)। लुङ् (Aorist) में संस्कृत के तुल्य स्-युक्त, स्-रहित आदि अनेक भेद मिलते हैं। अवेस्ता में लङ्, लुङ् में धातु से पूर्व अ (अडागम) प्रायः नहीं मिलता है। जैसे—दात् (सं० अधात्), दामा (सं० अधाम)।

८. अवेस्ता में लृट् (भविष्यत्) में संस्कृत के तुल्य 'स्य' का 'ह्य' (hya) विकरण मिलता है। भविष्यत् का शतृ प्रत्ययान्त रूप भी मिलता है। जैसे—फ्रवह्श्य (सं० प्रवक्ष्यामि), बूश्यन्त् (सं० भविष्यन्त्)।

९. अवेस्ता में संस्कृत के तुल्य कर्मवाच्य (Passive), णिजन्त (Causative), सन्नन्त (Desiderative), यङन्त (Freqentative), नामधातु आदि हैं।

१०. अवेस्ता में संस्कृत के तुल्य शतृ, त-इत-न, ल्यप् (य), तुमुन् अर्थ वाले वैदिक प्रत्यय-तुम, ध्यै, तयै, असे आदि भी मिलते हैं।

११. वैदिक मन्त्रों और अवेस्ता की गाथाओं की छन्दोरचना में बहुत अधिक साम्य है। डॉ० हाउग और पादरी मिल्स ने छन्दोरचना में इस साम्य की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया है।[1] अवेस्ता में गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् आदि छन्द मिलते हैं। यस्न ४४-३ उशतवइति गाथा त्रिष्टुप् छन्द में है। इसमें ११ वर्ण वाले ५ पाद हैं। स्पेन्तमेन्यु गाथा पूर्णतया त्रिष्टुप् छन्द में है। इसमें ११ वर्ण वाले ४ पाद हैं। इसी प्रकार यस्न ३१-८ गायत्री छन्द (८ वर्ण x ३ पाद=२४ वर्ण) में है। यहाँ विशेष उल्लेखनीय है कि यजुर्वेद और

1. Dr. Haug's Essay, p. 143.
Rev. Mills—*Zend Avesta*, Part III, Preface, p. 36.

अथर्ववेद में छन्दों के आसुरी भेद मिलते हैं। जैसे---गायत्री आसुरी, उष्णिक् आसुरी, पंक्ति आसुरी आदि। गायत्री आसुरी में २ पाद, १५ वर्ण; उष्णिक् आसुरी में २ पाद, १४ वर्ण; पंक्ति आसुरी में ११ वर्ण वाले ५ पाद। ये सभी छन्द अवेस्ता की गाथाओं में मिलते हैं। छन्दों में वर्णों और पादों की न्यूनता या अधिकता के आधार पर इन्हें आसुरी (असुरों का) नाम दिया गया है।

(इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृत और अवेस्ता एक ही भाषा के दो पृथक् विकसित रूप हैं। अवेस्ता वैदिक संस्कृत के बहुत समीप है।)

११.४. संस्कृत और अवेस्ता की विषमताएँ

संस्कृत और अवेस्ता भाषाओं में अनेक विषमताएँ भी हैं, जिसके कारण इन्हें अलग-अलग रखा गया है। ये हैं---सं० = संस्कृत, अ० = अवेस्ता।

१. **मात्राभेद**---दोनों में स्वरमात्राओं में भेद मिलता है। सं० अथ > अ० अथा, सं० ऋतुम् > रतूम्।

२. **उदासीन स्वर**---संस्कृत के अ और आ के स्थान पर अवेस्ता में उदासीन स्वर ə मिलता है। सं० सन्ति > hənti (हन्ति)।

३. संस्कृत ए को अवेस्ता में अए (ae)। वेद > Vaeda (वएदा)।

४. संस्कृत ओ को अ० में अओ (ao)। होता > Zaota (ज़ओता)।

५. सं० ऐ और औ को अ० में अइ (ai), अउ (au)। देवैः > daevais' (दएवइश), गौः > Gaus' (गउश्)।

६. अवेस्ता में स्वरों का बाहुल्य है। अवेस्ता में ८ स्वर हैं, जिनके स्थान पर संस्कृत में केवल अ, आ ये २ स्वर मिलते हैं।

७. अवेस्ता में स्वर-समुदाय का प्रयोग अधिक है। संस्कृत ए, ओ, ऐ, औ के स्थान पर क्रमशः अए, अओ, आइ, आउ मिलते हैं।

८. सं० ऋ के स्थान पर अर्, र् या अ मिलता है। कृणोति > करनओति।

९. अपिनिहिति (Epenthesis) अवेस्ता की मुख्य विशेषता है। इसमें शब्द के आदि या मध्य में इ (i) या उ (u) लग जाता है। भवति > Bavaiti (बवइति)। सं० रिणक्ति > irinaxti (इरिनख्ति)।

१०. सं० क्, त्, प् को क्रमशः संघर्षी ख्, थ्, फ् हो जाते हैं। क्रतुः > ख्रतुश्, सत्य > हइथ्यो, स्वप्नम् > हुअफ्नम्। स्वाप > ख्वाब (फा०)।

११. सं० घ्, ध्, भ् को ग्, द्, ब् हो जाते हैं। जंघा > जंगा, धारयत् > दारयत्, भूमि > बूमि।

१२. सं० स् को ह। सिन्धु > हिन्दु, असुर > अहुर, सोम > होम, सप्त > हप्त, सप्ताह > हफ्ता (फा०)।

१३. सं० ह को ज़् (Z)। हृदय > ज़रदय, हस्त > ज़स्त (फारसी दस्त)।

१४. सं० श्व को स्प। विश्व > विस्प, अश्व > अस्प।

१५. अवेस्ता में चवर्ग में से केवल च्, ज् हैं।

१६. अवेस्ता में टवर्ग सर्वथा नहीं है।

१७. अवेस्ता में नासिक्य ध्वनियाँ ङ्, न्, म् हैं। ञ्, ण् नहीं हैं।

१८. अवेस्ता में ल् सर्वथा नहीं है। इसके स्थान पर र् है।

१९. कवर्ग आदि वर्गों के चतुर्थ वर्ण अवेस्ता में नहीं हैं।

२०. अवेस्ता में अन्तिम स्वरों को दीर्घ हो जाता है। असुर > अहुरा, असि > अही। संस्कृत के एकाक्षर निपातों को दीर्घ हो जाता है। नु > नू, प्र > फ्रा। अन्तिम म् से पूर्ववर्ती संस्कृत के इ, उ को दीर्घ हो जाता है। पतिम् > पइतीम्।

११.५. ईरानी भाषाएँ

जिस प्रकार भारतीय आर्यभाषाओं को कालक्रम की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जाता है—प्राचीन युग, मध्य युग और आधुनिक युग, उसी प्रकार ईरानी भाषाओं को भी इन्हीं तीन वर्गों में बाँटा जाता है। इसकी रूपरेखा इस प्रकार है---
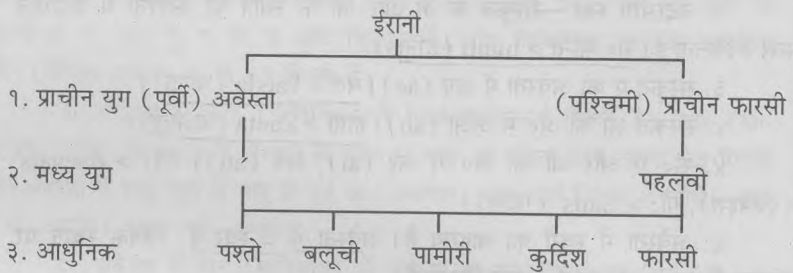
(क) प्राचीन युग

ईरान का प्राचीन साहित्य काफी समृद्ध था। उसका बहुत थोड़ा साहित्य आज उपलब्ध है। दो बार इस साहित्य को समूल नष्ट करने का प्रयत्न किया गया। ३३१ ई० पू० में महान् सिकन्दर ने इसे नष्ट किया। जो कुछ साहित्य बचा था, उसे ससानियन राजाओं ने सँभाल कर रखा, परन्तु 'खलीफा अल-मुतवक्किल' (८४७-८६१ ई०) और उसके वंशजों ने इसे पुनः नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। जो कुछ साहित्य बचा है, वह 'अवेस्ता' में संगृहीत है।

प्राचीन ईरानी की दो प्रमुख भाषाएँ थीं—**(१) पूर्वी ईरानी**—इसको 'अवेस्ता' कहते हैं। यह पारसियों के धर्मग्रन्थों की भाषा है। पारसियों के धर्मग्रन्थों को भी 'अवेस्ता' कहते हैं और उनकी भाषा को भी। जिस प्रकार संस्कृत में 'छन्दस्' के दोनों अर्थ हैं—(१) वेद, (२) वैदिक भाषा, उसी प्रकार 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थ और धर्मग्रन्थों की भाषा दोनों के लिए है। अवेस्ता की जो टीका हुई है, उसे ज़ेन्द (zend, संस्कृत छन्दस्) कहते हैं। ज़ेन्द का अर्थ 'टीका' है। अवेस्ता संस्कृत 'अवस्था' का अपभ्रंश रूप है। इसका अर्थ

है—अवस्था, व्यवस्था, व्यवस्थित रूप में संगृहीत धर्मग्रन्थ। 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थों को 'ज़ेन्दावेस्ता' कहना अशुद्ध है, परन्तु प्रचलन के आधार पर ऐसा कहा जाता है। अवेस्ता का समय ७०० ई० पू० माना जाता है।

(२) पश्चिमी ईरानी—इसको 'प्राचीन फारसी' कहते हैं। इसमें अकीमिनियन साम्राज्य के संस्थापक कुरुश (Kurush, ५५८-५३० ई० पू०) के अभिलेख मिलते हैं। इसके पश्चात् दारा प्रथम (Darius I, ५२२-४८६ ई० पू०) के बेहिस्तून शिलालेख मिलते हैं। ये अत्यन्त प्रसिद्ध एवं आज तक सुरक्षित हैं। इनसे प्राचीन फारसी के स्वरूप का ज्ञान होता है। दारा प्रथम के राज्यकाल में प्राचीन फारसी राजभाषा थी। प्राचीनता में यह अवेस्ता के कुछ बाद की है। यह अवेस्ता से काफी मिलती है। प्राचीन फारसी की वर्णमाला अवेस्ता से सरल है और यह संस्कृत के अधिक निकट है। सं० 'यदि' प्रा० फा० में 'यदो' है और अवेस्ता में 'येज़ो'।

(ख) मध्य युग

प्राचीन फारसी को हख़्मानी (अकीमिनियन) फारसी भी कहते हैं। इसका ही विकसित रूप मध्ययुगीन 'फारसी' या 'पहलवी' है। इसका प्राचीनतम रूप तृतीय शती ई० पू० के कुछ सिक्कों में प्राप्त होता है। पहलवी का प्राचीनतम शिलालेख अर्दशिर् (२२६-२४१ ई०पू०) के राज्यकाल का है। बीच के चार सौ वर्षों का कोई लेख नहीं मिलता है। पहलवी का साहित्य तृतीय शती ई० से मिलता है। पहलवी के दो रूप हैं---
१. हुज्वारेश, २. पारसी या पाज़न्द।

१. हुज्वारेश—इसमें सेमिटिक शब्दावली अधिक है। इसका वाक्यविन्यास सेमिटिक से प्रभावित है और लिपि भी सेमिटिक है। यह ससानियन राजवंश (२२६ ई०-६५२ ई०) की भाषा थी। इसमें अवेस्ता का अनुवाद हुआ है। ससानी काल में प्रयत्न हुआ था कि सामी शब्दों को हटाकर आर्य शब्द पहलवी में रखे जाएँ। इस दिशा में काफी सफलता भी मिली थी। हुज्वारेश नाम अधिक समय तक नहीं चल पाया।

२. पारसी या पाज़न्द—यह पहलवी का परिष्कृत रूप था। इसकी वर्णमाला सुस्पष्ट थी। एक ध्वनि के लिए एक चिह्न रखा गया। इस नवीन वर्णमाला का प्रयोग पहलवी में प्रचलित हुआ। इसमें आर्य शब्दावली का प्रयोग विशेष रूप से हुआ और सामी शब्दों का बहिष्कार किया गया। इसे 'पारसी' या पाज़न्द कहते हैं। पूर्वी ईरान में इसका प्रचार था। भारत में आने वाले पारसियों की यही भाषा थी। अतएव पाज़न्द भाषा ने गुजराती को बहुत प्रभावित किया है।

(ग) आधुनिक युग

जिस प्रकार संस्कृत से हिन्दी का विकास हुआ है, उसी प्रकार प्राचीन फारसी से आधुनिक फारसी का विकास हुआ है। आधुनिक फारसी वियोगात्मक हो गई है। यह ईरान की राष्ट्रभाषा है। इसका प्रारम्भिक ग्रन्थ महाकवि फिरदौसी (९४०-१०२० ई०) का 'शाहनामा'

है। यह राष्ट्रीय महाकाव्य है। इसमें अरबी शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं है। वर्तमान फारसी में अरबी शब्दों का बाहुल्य है। अब फारसी में ७० प्रतिशत तक अरबी शब्द मिलते हैं।

आधुनिक फारसी अरबी लिपि में लिखी जाती है। इसका साहित्य समृद्ध है। जिस प्रकार तुर्की ने अरबी शब्दों का बहिष्कार करके अपनी भाषा के शब्द रखे हैं, उसी प्रकार ईरानी में भी अरबी शब्दों के बहिष्कार की लहर चली है। अरबी शब्दों के स्थान पर आर्य-परिवार के शब्द बढ़ रहे हैं।

आधुनिक फारसी की अनेक बोलियाँ हैं। इनमें मुख्य हैं—१. पश्तो, २. बलूची, ३. पामीरी, ४. कुर्दिश।

१. पश्तो—यह अफ़गानिस्तान की भाषा है। इसे अफगानी भी कहते हैं। इस पर भारतीय ध्वनि, वाक्य-रचना और बलाघात आदि का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह भारतीय और ईरानी के मध्य की भाषा है। कुछ विद्वान् पश्तो को अवेस्ता से विकसित मानते हैं। पश्तो का ही एक रूप '**पख्तो**' है। यह पश्चिमोत्तर अफगानिस्तान में बोली जाती है। इन दोनों में उच्चारण का भेद ही मुख्य है।

२. बलूची—यह बिलोचिस्तान की भाषा है। यह आधुनिक फारसी के समीप है। व्याकरण और साहित्य की दृष्टि से बहुत पिछड़ी हुई है। साहित्य में केवल ग्राम-कथा और वीरगाथा-गीत हैं। यह अभी तक कुछ संयोगात्मक है। इसमें संघर्षी वर्ण प्रायः स्पर्श हो गए हैं।

३. पामीरी—पामीरी भाषाएँ पामीर के पठार की घाटियों में फैली हुई हैं। चित्राल और हिन्दुकुश पर्वत में पामीरी भाषा की वारवी और यिदघाह बोलियाँ प्रचलित हैं। इन बोलियों पर ईरानी का पर्याप्त प्रभाव है।

४. कुर्दिश—इसको कुर्दी भी कहते हैं। यह वर्तमान फारसी के निकट है। यह कुर्दिस्तान की बोली है। इसमें शब्दों के रूप छोटे हो गए हैं। जैसे—फारसी बिरादर > बेरा, सिपेद (सफेद) > स्पी। कुर्दिस्तान में राष्ट्रीय जागरण हुआ है। वहाँ के स्थानीय विद्वान् वैज्ञानिक दृष्टि से भाषा के अध्ययन में लगे हैं। नया कुर्दिश साहित्य तैयार हो रहा है।

(घ) दरद भाषाएँ

दरद भाषाओं का क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के मध्य में है। संस्कृत में कश्मीर के पास के देश के लिए दरद शब्द का प्रयोग मिलता है। रचना की दृष्टि से दरद भाषाएँ पश्तो के तुल्य भारतीय और ईरानी के मध्यगत हैं। पश्तो का झुकाव ईरानी की ओर है और दरद भाषाओं का भारतीय की ओर। प्राचीन समय में दरद भाषाओं को पैशाची प्राकृत कहते थे। दरद वर्ग की **लोवार** भाषा का क्षेत्र दर्दिस्तान और ईरान के मध्य में है। इसकी बोलियों में चित्राली मुख्य है। गिलगिट की घाटी में शीना बोली जाती है।

कश्मीर की भाषा **कश्मीरी** है। गुणे आदि कुछ विद्वान् इसे पैशाची अपभ्रंश से विकसित मानते हैं और भारतीय भाषा मानते हैं। कुछ इसे 'दरद' भाषाओं में रखते हैं। इस पर संस्कृत का काफी प्रभाव है।

*

अध्याय १२

भारतीय आर्यभाषाएँ

१. काल–विभाजन
२. (क) प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ (प्रा० भा० आ०)
३. वैदिक संस्कृत की ध्वनियाँ
४. मूल भारोपीय और वैदिक ध्वनियों में अन्तर
५. वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषताएँ
६. लौकिक संस्कृत या संस्कृत
७. संस्कृत भाषा की विशेषताएँ
८. वैदिक और लौकिक संस्कृत की समानताएँ एवं विषमताएँ
९. (ख) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ (म० भा० आ०)
   (१) प्राचीन प्राकृत या पालि
   (२) पालि की व्युत्पत्ति
   (३) पालि की प्रमुख विशेषताएँ
१०. शिलालेखी प्राकृत
११. मध्यकालीन प्राकृत
   (१) शौरसेनी
   (२) महाराष्ट्री (माहाराष्ट्री)
   (३) मागधी
   (४) अर्धमागधी
   (५) पैशाची
१२. प्राकृत भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ
१३. अपभ्रंश (परकालीन प्राकृत)
१४. (ग) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ (आ० भा० आ०)
१५. आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय
   (१) पश्चिमी हिन्दी   (२) राजस्थानी
   (३) गुजराती   (४) मराठी
   (५) बिहारी   (६) बंगाली
   (७) उड़िया   (८) असमी
   (९) पूर्वी हिन्दी   (१०) लहँदा
   (११) सिन्धी   (१२) पंजाबी
   (१३) पहाड़ी

अध्याय १२

भारतीय आर्यभाषाएँ

१२.१. काल–विभाजन

भारतीय आर्यभाषाओं को काल की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जाता है—

(क) प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ (प्रा० भा० आ०)—२५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक।

(ख) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ (म० भा० आ०)—५०० ई० पू० से १००० ई० तक।

(ग) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ (आ० भा० आ०)—१००० ई० से वर्तमान समय तक।

१२.२. (क) प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ (प्रा० भा० आ०)

प्राचीन आर्यभाषा का स्वरूप ऋग्वेद से प्राप्त होता है। सामान्यतया प्रा० भा० आ० का काल १५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक माना जाता है, परन्तु भारतीय और पाश्चात्त्य विद्वान् ऋग्वेद का समय २५०० ई० पू० से बाद का नहीं मानते हैं, अतः काल-विभाजन में प्रा० भा० आ० का प्रारम्भ २५०० ई० पू० से माना जाता है।

प्रा० भा० आ० विकासक्रम के अनुसार दो भागों में विभक्त है—(१) वैदिक संस्कृत, (२) लौकिक संस्कृत।

वैदिक संस्कृत—वैदिक संस्कृत को 'वैदिक', 'वैदिकी', 'छन्दस्', 'छान्दस' भी कहा जाता है। इसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में मिलता है। पाश्चात्त्य भाषाशास्त्रियों ने भाषिक तुलना के आधार पर ऋग्वेद के २ से ९ मंडलों को अधिक प्राचीन तथा १ और १० मंडलों को अपेक्षाकृत परवर्ती माना है। अन्य वेदों का समय इसके बाद का माना है। वैदिक काल की समाप्ति ५०० ई० पू० में मानी गई है।

ऋग्वेद छन्दोबद्ध है, अतः उसे 'छन्दस्' कहा जाता है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में गद्य अंश भी है, इससे प्राचीन गद्य का स्वरूप ज्ञात होता है। ब्राह्मण ग्रन्थ भी गद्य में हैं, इनसे प्रचलित भाषा का स्वरूप ज्ञात होता है।

वैदिक संस्कृत किसी समय जनभाषा थी। यह मुख्यरूप से साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यों के लिए प्रयुक्त होती थी। अतः समस्त प्राचीनतम संस्कृत वाङ्मय वैदिक संस्कृत में मिलता है। इसके साथ ही लोकभाषाएँ भी प्रचलित रही होंगी, उनसे संस्कृत के

विभिन्न रूप प्रचलित हुए। पाणिनि आदि ने इनको 'प्राचाम्' (पूर्वी), उदीचाम् (उत्तरी) आदि कहकर स्पष्ट किया है। संस्कृत के इन विभिन्न रूपों से विभिन्न प्राकृतों और अपभ्रंशों का विकास हुआ और अन्त में हिन्दी आदि प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ।

१२.३. वैदिक संस्कृत की ध्वनियाँ

स्वरूप	स्थान	ध्वनियाँ	योग
१. मूलस्वर	—	अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ	९
२. संयुक्त स्वर	—	ए, ओ, ऐ, औ	४
३. स्पर्श	कवर्ग (कंठ्य)	क, ख, ग, घ, ङ	
	चवर्ग (तालव्य)	च, छ, ज, झ, ञ	
	टवर्ग (मूर्धन्य)	ट, ठ, ड, ळ, ढ, ळ्ह, ण	
	तवर्ग (दन्त्य)	त, थ, द, ध, न	
	पवर्ग (ओष्ठ्य)	प, फ, ब, भ, म	२७
४. अन्तस्थ	—	य, र, ल, व	४
५. ऊष्म	संघर्षी	श, ष, स, ह, विसर्ग (:), जिह्वामूलीय (≍), उपध्मानीय (≍)	७
६. अनुनासिक	—	अनुस्वार (ं)	१
			५२

प्रो० एलेन (W. S. Allen) ने इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया है[1]—

व्यंजन			स्वरयंत्र मुखी	कंठ्य	तालव्य	मूर्धन्य	दन्त्य	ओष्ठ्य
स्पर्श	अघोष	अल्पप्राण	-	क	च	ट	त	प
स्पर्श	अघोष	महाप्राण	-	ख	छ	ठ	थ	फ
स्पर्श	घोष	अल्प०	-	ग	ज	ड, ळ	द	ब
स्पर्श	घोष	महा०	-	घ	झ	ढ, ळ्ह	ध	भ
	अनुनासिक	-	-	ङ	ञ	ण	न	म
	अन्तस्थ	-	-	-	य	र	ल	व
	ऊष्म	अघोष	:	≍	श	ष	स	≍
	(संघर्षी)	घोष	ह	-	-	-	-	-
स्वर		ह्रस्व	अ	-	इ	ऋ	लृ	उ
		दीर्घ	आ	-	ई, ए	ॠ	-	ऊ, ओ
		संयुक्त	-	-	ऐ	-	-	औ

विशेष—एलेन ने वैदिक ळ और ळ्ह, अनुस्वार और ओ को छोड़ दिया है।

1. W. S. Allen, *Phonetics in Ancient India*, London, 1953.

उपर्युक्त चार्ट में ऊ के साथ ओ बढ़ाया गया है। व्यंजनों में ळ औ ळ्ह को बढ़ाया है। अनुस्वार शुद्ध नासिक्य है। इसका उच्चारण नाक से होता है। चार्ट में ५२ ध्वनियों का उल्लेख है।

१२.४. मूल भारोपीय और वैदिक ध्वनियों में अन्तर

मूल भारोपीय (मू० भा०) ध्वनियों और वैदिक संस्कृत (वै० सं०) की ध्वनियों में कुछ अन्तर हो गए हैं। वे हैं—

१. मू० भा० के ह्रस्व मूल स्वर अ, एँ, ओँ वै० सं० में 'अ' हो गए हैं।

२. मू० भा० के तीनों मूल दीर्घ स्वर आ, ए, ओ वै० सं० में 'आ' हो गए हैं।

३. मू० भा० अन्तस्थ न्, म् का वै० सं० में लोप हो गया है।

४. मू० भा० में ३ प्रकार का कवर्ग है। वै० सं० में केवल एक प्रकार का है।

५. वै० सं० में चवर्ग और टवर्ग नवीन ध्वनियाँ हैं।

६. मू० भा० ऊष्म स् के साथ ही वै० सं० में श् और ष् नये आ गये हैं।

७. मू० भा० संयुक्त स्वर ह्रस्व और दीर्घ ३६ के स्थान पर केवल चार संयुक्त स्वर—ए, ओ, ऐ, औ शेष रहे।

८. वै० सं० में ळ, ळ्ह ध्वनियाँ ड, ढ के स्थान पर नवीन हैं। इनसे ही हिन्दी में क्रमशः ड़ और ढ़ ध्वनियाँ विकसित हुई हैं।

९. वै० सं० में अनुस्वार के स्थान पर ह्रस्व और दीर्घ ग्वुं-ग्वूं मिलते हैं। ये नासिक्य के साथ कंठ्य भी हैं। अल्प प्रयुक्त होने से इनकी गणना पृथक् नहीं की जाती है।

१२.५. वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषताएँ

१. वैदिक भाषा की पदरचना श्लिष्ट योगात्मक थी।

२. पदरचना में विविधता और अनेकरूपता थी। यह विविधता लौकिक संस्कृत (लौ० सं०) में अत्यन्त कम हो गई। जैसे—वै० सं० प्र० २-देवौ, देवा > सं० देवौ, प्र० ३-देवाः, देवासः > सं० देवाः, तृ० ३-देवैः, देवेभिः > देवैः। लौ० संस्कृत में एक-एक रूप रह गए। अपवाद-नियम भी कम हो गए।

३. धातु-रूपों में लेट् लकार का प्रयोग होता था। सं० में नहीं रहा।

४. धातुरूपों में ये विशेषताएँ भी थीं—(१) विकरण-व्यत्यय, शप् आदि के स्थान पर दूसरे गण का विकरण हो जाता था, (२) पद-व्यत्यय, परस्मै० आत्मने० में परिवर्तन, (३) लङ् आदि में अट् (अ) का अभाव, (४) मः > मसि, (५) द्वित्व का अभाव, ददाति के स्थान पर दाति, (६) अन्तिम स्वर को दीर्घ, चक्र > चक्रा, विद्म > विद्मा।

५. कृत् प्रत्ययों में तुम् के अर्थ में से, असे, अध्यै आदि (तुमर्थे सेसेनसे०, अ० ३-४-९) १५ प्रत्यय थे। संस्कृत में 'तुम्' ही शेष रहा है।

६. वेद में संगीतात्मक स्वर (Accent) की मुख्यता थी। सं० में बलाघातात्मक स्वर हो गया।

७. वेद में उपसर्ग धातु से पृथक् भी प्रयुक्त होते थे, संस्कृत में नहीं। जैसे—अभिगृणीहि को अभि⋯गृणीहि।

अभि यज्ञं गृणीहि नः। (ऋग्० १-१५-३)

८. वै० सं० में लौ० सं० के तुल्य तीन लिंग और तीन वचन थे, पर लिंग और वचन में परिवर्तन भी हो जाता था। मधुनः को मधोः, मित्राः को मित्रः आदि।

९. वै० सं० में ह्रस्व और दीर्घ के साथ प्लुत का भी प्रयोग प्रचलित था। रायो३ वनिः। वर्ष्यां३ अह। आध्यो३ वृको०।

१०. दो स्वरों के मध्य में ड > ळ और ढ > ळ्ह हो जाता था। ईडे > ईळे, मीढुषे > मीळ्हुषे। संस्कृत में ये दोनों ध्वनियाँ नहीं हैं, हिन्दी में ळ, ळ्ह के विकसित रूप ड़, ढ़ हैं।

११. वै० सं० में 'लृ' स्वर का प्रयोग प्रचलित था।

१२. सन्धि-नियमों में पर्याप्त शिथिलता थी। प्रगृह वाले स्थल पर भी संधि मिलती है, रोदसी + इमे > रोदसीमे। पूर्वरूप आदि संधियों का अभाव भी मिलता है। उपप्रयन्तो अध्वरम्। नो अव्यात्। शतधारो अयम्।

१३. वै० सं० में मध्य स्वरागम (Anaptyxis) या स्वरभक्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे—पृथ्वी > पृथिवी, स्वर्ण > सुवर्ण, स्वर् > सुवर्, दर्शत > दरशत।

लौकिक संस्कृत में शब्दरूपों, धातुरूपों एवं प्रत्ययों की विविधता कम हो गई और काल, पुरुष, वचन, लिंग आदि के ऐच्छिक परिवर्तन प्रायः समाप्त हो गए।

१२.६. लौकिक संस्कृत या संस्कृत

लौकिक संस्कृत को प्रायः 'संस्कृत' ही कहा जाता है। संस्कृत का सबसे प्राचीन एवं आदि-काव्य वाल्मीकि रामायण ५०० ई० पू० का है। महाभारत, पुराण, काव्य, नाटक आदि ग्रन्थ ५०० ई० पू० से आज तक अविच्छिन्न रूप से अपना गौरव स्थापित किए हुए हैं। यास्क, कात्यायन, पतंजलि आदि के लेखों से सिद्ध है कि ईसा पूर्व तक संस्कृत लोक-व्यवहार की भाषा थी।[1]

संस्कृत साहित्य आर्य-जाति का प्राण है। संस्कृत में ही समस्त प्राचीन ज्ञान, विज्ञान, कला, पुराण, काव्य, नाटक आदि हैं। संस्कृत ने न केवल भारतीय भाषाओं को अनुप्राणित किया है, अपितु विश्व-भाषाओं, मुख्यतया भारोपीय भाषाओं को भी प्रभावित किया है।

संस्कृत भाषा की ध्वनियाँ

अध्याय ४.१३. में संस्कृत ध्वनियों का उल्लेख किया गया है। संस्कृत ध्वनियों के विषय में विशेष उल्लेखनीय बातें ये हैं—

१. वै० सं० में ५२ ध्वनियाँ थीं। संस्कृत में ४८ ध्वनियाँ रह गई हैं। संस्कृत में वै०

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखें—लेखककृत 'संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास', पृष्ठ ४ से १०।

सं० की ४ ध्वनियाँ प्रायः लुप्त हो गई हैं। ये हैं---ळ, ळ्ह, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के स्थान पर विसर्ग (:) का ही प्रयोग होता है।

२. वैदिक ह्रस्व और दीर्घ ग्वुं ध्वनि संस्कृत में नहीं रही।

३. भाषाशास्त्रियों ने नासिक्य ५ ध्वनियों में से केवल तीन---ण्, न्, म्---को नासिक्य स्वनिम (Nasal Phoneme) माना है, और ङ् ञ् को न् का स्वनांग (Allophone)। संस्कृत में प्राङ्, दध्यङ् आदि रूप हैं, अतः ङ् को स्वनिम मानना आवश्यक है।

४. संस्कृत में ऌ स्वर का प्रयोग केवल क्लृप् धातु में ही मिलता है।

५. भाषाशास्त्री ऋ, ॠ, ऌ को स्वतन्त्र स्वर नहीं मानते, अपितु इनको र् और ल् का स्वनन्त (आक्षरिक) रूप मानते हैं।

६. उच्चारण की दृष्टि से ए, ओ, ऐ, औ का उच्चारण संयुक्त स्वरों के तुल्य न होकर मूल-स्वर के तुल्य होने लगा।

७. वै० सं० में अनुस्वार शुद्ध नासिक्य ध्वनि था। संस्कृत में इसके दो रूप हो गए हैं—अनुस्वार, अनुनासिक। अनुस्वार (ं) की स्वतंत्र सत्ता है। यह नासिक्य ध्वनि है। अनुनासिक (ँ) अस्वतन्त्र है। पूर्ववर्ती स्वर से मिलकर इसका अनुनासिक उच्चारण होता है।

१२.७. संस्कृत भाषा की विशेषताएँ

वैदिक संस्कृत का ही विकसित रूप लौकिक संस्कृत है। वैदिक संस्कृत में जो विविधता और अनेकरूपता पाई जाती थी, वह संस्कृत में न्यून हो गई। पाणिनि के व्याकरण का प्रभाव बहुत बढ़ गया। फलस्वरूप पाणिनि-व्याकरण से असिद्ध रूपों का प्रचलन कम हो गया। शब्दरूपादि में संक्षेप और परिष्कार आ गया। अपवाद-नियमों की संख्या कम हो गई। कुछ विशेषताएँ ये हैं---

१. शब्दरूपों और धातुरूपों में वैकल्पिक रूपों की न्यूनता हो गई।

२. सन्धि-नियमों की अनिवार्यता हो गई।

३. लेट् लकार का अभाव हो गया।

४. भाषा में उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग समाप्त हो गया।

५. कृत् प्रत्ययों आदि में अनेक प्रत्ययों के स्थान पर एक प्रत्यय होने लगे। तुमर्थक १५ प्रत्ययों से स्थान पर केवल 'तुम्' प्रत्यय है।

६. शब्दकोश में पर्याप्त अन्तर हो गया। प्राचीन ईम्, सीम् जैसे निपात लुप्त हो गए। वेदों में अत्यन्त प्रचलित अवस्यु, विचर्षणि, वीति, ऋक्वन्, उक्थ्य जैसे शब्द समाप्त हो गए। इसी प्रकार के अन्य शब्द हैं---दर्शत (दर्शनीय), दृशीक (सुन्दर), मूर (मूढ़), अमूर (विद्वान्), अक्तु (रात्रि), अमीवा (रोग), रपस् (चोट), ऋदूदर (कृपालु)।

७. वैदिक शब्दों के अर्थ में भी संस्कृत में अन्तर हो गया है। जैसे—पत् (वै० उड़ना, सं० गिरना), सह् (वै० जीतना, सं० सहना), न (वै० नहीं, तुल्य, सं० नहीं), असुर (वै० शक्तिशाली, सं० दैत्य), अराति (वै० कृपण, सं० शत्रु), वध (वै० घातक शस्त्र, सं० हत्या), क्षिति (वै० गृह, सं० पृथ्वी)।

११. लङ्, लुङ् आदि में अट् का आगम अनिवार्य नहीं था।	११. अट् का आगम इन लकारों में आवश्यक है।
१२. तुम्, क्त्वा आदि अर्थों में अनेक प्रत्यय हैं।	१२. तुम्, क्त्वा, ल्यप्, णमुल् आदि थोड़े प्रत्यय शेष रहे।
१३. संधि-नियम ऐच्छिक थे।	१३. संधि-नियम आवश्यक हैं।
१४. उपसर्ग स्वतन्त्र भी थे।	१४. उपसर्ग स्वतंत्र नहीं रहे।
१५. ईम्, सीम्, वै आदि निपात थे।	१५. ये निपात नहीं रहे।
१६. अक्तु, अर्जुनी, श्वेत्या, गातु, ग्मा, ज्मा आदि शब्द थे।	१६. ये वैदिक शब्द लुप्त हो गए।
१७. अच्, अम्, क्षद्, जिन्व्, ध्रज् आदि धातुएँ भी थीं।	१७. ये धातुएँ अप्रयुक्त हो गईं।
१८. पत्, सह् आदि धातुओं तथा न, असुर, अराति आदि शब्दों का अर्थ संस्कृत से भिन्न है।	१८. इनके अर्थों में अन्तर हुआ। (इनके अर्थ पीछे दिए हैं।)
१९. 'तर', 'तम' प्रत्यय संज्ञाशब्दों से भी होते थे। वृत्रतर: आदि।	१९. 'तर', 'तम' प्रत्यय विशेषण शब्दों से ही होते हैं।
२०. छन्दःपूर्ति के लिए स्वरभक्ति का प्रयोग होता था। स्वर् > सुवर्, पृथ्वी > पृथिवी, इन्द्र > इन्दर, दर्शत > दरशत।	२०. स्वरभक्ति का प्रयोग नहीं होता।

१२.९. (ख) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ (म० भा० आ०)

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं को तीन भागों में बाँटा जाता है—

(१) प्राचीन प्राकृत या पालि (५०० ई० पू० से १०० ई० तक)।

(२) मध्यकालीन प्राकृत (१०० ई० से ५०० ई० तक)।

(३) परकालीन प्राकृत या अपभ्रंश (५०० ई० से १००० तक)।

१२.९. (१) प्राचीन प्राकृत या पालि (प्रथम प्राकृत)

प्राचीन प्राकृत में इनका समावेश है—तृतीय शताब्दी ई० पू० से प्रथम शती ई० तक के शिलालेख, पालि बौद्धग्रन्थ—महावंश, जातक आदि, प्राचीन जैनसूत्रों की भाषा, प्रारम्भिक नाटकों की भाषा, जैसे—अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत, जिसके अवशेष मध्य एशिया में पाए गए हैं इसको 'प्रथम प्राकृत' भी कहते हैं।

प्राकृत का अर्थ—प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर तीन मत प्रस्तुत किए गए हैं—

(क) प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से—प्राकृत भाषा के सभी प्राचीन वैयाकरणों

८. स्वरों में लृ का प्रयोग समाप्तप्राय हो गया है। व्यंजनों में ळ, ळ्ह नहीं रहे। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का प्रयोग उठ गया।

९. संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलात्मक स्वर का प्रयोग होने लगा।

१०. उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं रहा।

१२.८. वैदिक और लौकिक संस्कृत की समानताएँ एवं विषमताएँ

(क) समानताएँ

१. दोनों श्लिष्ट योगात्मक हैं।
२. दोनों में प्रायः सभी शब्द धातुज हैं। रूढ शब्दों की संख्या कम है।
३. पद-निर्माण की विधि प्रायः एक ही है। सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित आदि प्रत्यय समान हैं।
४. धातुओं का गणों में विभाजन, णिच्, सन् आदि प्रत्यय समान हैं।
५. समास-विधि दोनों में है।
६. धातुओं और शब्दों के अर्थ प्रायः एक ही हैं।
७. दोनों में ३ लिंग, ३ वचन, ३ पुरुष हैं।
८. वाक्य-रचना शब्दों से नहीं, अपितु पदों से ही होती है।
९. दोनों में वाक्य में पद-क्रम (शब्दों का स्थान) निश्चित नहीं है।
१०. दोनों में संधि-कार्य होते हैं। दोनों में कारक एवं विभक्तियाँ हैं।

(ख) विषमताएँ

वैदिक संस्कृत	लौकिक संस्कृत
१. ध्वनियों में ळ, ळ्ह, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय हैं।	१. ये ध्वनियाँ नहीं रहीं।
२. लृ स्वर का प्रयोग था।	२. लृ स्वर लुप्तप्राय है।
३. उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग था।	३. इनका प्रयोग नहीं रहा।
४. स्वर-प्रयोग संगीतात्मक था।	४. स्वर-प्रयोग बलाघातात्मक है।
५. ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत स्वर थे।	५. प्लुत प्रायः लुप्त हो गया।
६. शब्दरूपों में बहुत विविधता थी।	६. विविधता बहुत कम हो गई।
७. धातुरूपों में बहुत विविधता थी।	७. विविधता प्रायः समाप्त हो गई।
८. लकारों में लेट् लकार था।	८. यह संस्कृत में नहीं रहा।
९. परस्मै० आत्मनेपदों में परिवर्तन होता था।	९. पद-परिवर्तन निर्धारित नियमानुसार ही होता है।
१०. पुरुष, वचन, विकरण, लकार आदि में परिवर्तन होता था।	१०. ये परिवर्तन निषिद्ध हो गए।

ने प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से मानी है। संस्कृत भाषा को ही आधार मानकर उन्होंने ध्वनि-भेद आदि का विवरण दिया है। 'प्रकृति' का अर्थ है—मूलभाषा संस्कृत, उससे उत्पन्न भाषा प्राकृत है। हेमचन्द्र आदि का यही विचार है—

१. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। (हेमचन्द्र)
२. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते। (प्राकृत-सर्वस्व)
३. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्। (प्राकृत-चन्द्रिका)
४. प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता। (षड्भाषाचन्द्रिका)
५. प्राकृतस्य तु स्वमेव संस्कृतं योनिः। (प्राकृत-संजीवनी)

(ख) प्राकृत प्राचीन जनभाषा है—प्राकृत प्राचीन प्रचलित जनभाषा है। 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्'। प्राकृत का ही परिष्कृत रूप संस्कृत भाषा है अर्थात् प्राकृत से संस्कृत निकली है। पाश्चात्त्य विद्वान् इस मत के प्रतिपादक हैं।

(ग) प्राकृत और संस्कृत की स्वतन्त्र परम्परा—कतिपय विद्वानों ने यह मत प्रस्तुत किया है कि न संस्कृत प्राकृत से निकली है और न प्राकृत संस्कृत से। दोनों भाषाओं की स्वतन्त्र परम्पराएँ हैं।

समीक्षा—विचार करने से ज्ञात होता है कि वस्तुतः संस्कृत का ही विकृत रूप प्राकृत है। इस विषय में भ्रम और विवाद का कारण 'संस्कृत' शब्द है। विद्वानों ने 'संस्कृत' शब्द से अभिप्राय लिया है—पाणिनि आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत भाषा। यहाँ पर विद्वानों ने विचार व्यक्त किया है कि पाणिनि आदि द्वारा परिष्कृत संस्कृत भाषा रूढ और नियम-निगडित हो गई, अतः इसमें कोई परिवर्तन-परिवर्धन संभव नहीं था। इसीलिए यह जनभाषा भी नहीं रही, इससे किसी भाषा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यहाँ विद्वान् यह भूल जाते हैं कि ईसा-पूर्व तक संस्कृत जनभाषा और लोक-व्यवहार की भाषा थी। इसके दो रूप थे—(१) साहित्यिक, (२) जनभाषा। साहित्यिक भाषा में परिवर्तन बहुत कम होते थे, परन्तु जनभाषा वाली संस्कृत स्वाभाविक रूप से प्रचलित रही। इसमें ध्वनि-भेद, शब्द-भेद आदि प्रचुर मात्रा में चलते रहे। महाभाष्यकार पतंजलि के कथन से भी यह स्पष्ट होता है—'यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः' (महाभाष्य, आ० १)। यद् वा नः, तद् वा नः (हमें इससे या उससे क्या) के स्थान पर यर्वाणः-तर्वाणः बोलने के कारण इन ऋषियों का नाम ही यर्वाण-तर्वाण हो गया। यज्ञादि में ऐसा अशुद्ध प्रयोग नहीं करते थे। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत का बोलचाल का भी रूप प्रचलित था। जनभाषा में परिनिष्ठता नहीं थी। यही संस्कृत भाषा विकसित होते हुए प्राकृतों के रूप में प्रसिद्ध हुई। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि भाषा में ९० प्रतिशत नए शब्द विद्वानों द्वारा सर्वप्रथम निर्मित या प्रयुक्त होते हैं, इनको जनभाषा में अपनाया जाता है। ५ या १० प्रतिशत देशज शब्द होते हैं। इनको साहित्यिक भाषा में परिष्कृत करके समाविष्ट किया जाता है। इस प्रकार संस्कृत शब्दों का विकृतीकरण या सरलीकरण और विकृत शब्दों का संस्कृतीकरण निरन्तर चलता रहता है।

संस्कृत से केवल पाणिनि-सम्मत भाषा ही नहीं समझना चाहिए। जन-व्यवहृत

भाषा का साहित्यिक रूप 'संस्कृत' कहा गया और बोलचाल की संस्कृत का नाम 'प्राकृत' रहा। इसी आधार पर प्राकृत के सभी वैयाकरणों ने संस्कृत को आधार मानकर ध्वनि-परिवर्तन आदि समझाए हैं।

नाटचशास्त्रकार भरत मुनि (चतुर्थ शती ई० पू०) ने भी यही मत प्रतिपादित किया है कि संस्कृत भाषा के शब्दों का ही विकृत एवं परिवर्तित रूप प्राकृत भाषा है।

एतदेव विपर्यस्तं संस्कार-गुण-वर्जितम् ।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानाऽवस्थाऽन्तरात्मकम् ॥

नाटचशास्त्र (भाषाविधानाध्याय) १७-२

१२.९. (२) पालि की व्युत्पत्ति

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत प्रस्तुत किए गए हैं। प्रमुख मत ये हैं---

१. आचार्य बुद्धघोष (चतुर्थ शती ई०) और आचार्य धम्मपाल (छठी शती ई०) ने 'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के लिए किया है। उससे यह शब्द 'पालि' भाषा के लिए आया।

२. आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'पंक्ति' से पालि की उत्पत्ति इस प्रकार बताई है—पंक्ति > पंति > पत्ति > पल्लि > पालि।

३. भिक्षु सिद्धार्थ ने 'पाठ' से पालि की उत्पत्ति मानी है। पाठ > पाळ > पाळि > पालि।

४. भिक्षु जगदीश काश्यप ने परियाय (= बुद्धोपदेश) शब्द से पालि की उत्पत्ति मानी है। परियाय > पलियाय > पालियाय > पालि।

५. डॉ० मैक्स वेलेसन (जर्मन विद्वान्) ने पाटलि (पाटलिपुत्र) से पालि की उत्पत्ति मानी है। पाटलि > पाडलि > पालि।

६. पल्लि (गाँव) शब्द से पालि। पल्लि > पालि।

७. प्राकृत शब्द से 'पालि'। प्राकृत > पाकट > पाअड > पाअल > पालि।

८. अभिधानप्पदीपिका (पालिभाषा-कोशग्रन्थ) ने पा धातु से पालि शब्द माना है। पा—पालेति रक्खतीति पालि, जो रक्षा करती है या पालन करती है।

९. अमरकोश के टीकाकार भानुजी दीक्षित ने 'पाल रक्षणे' से पालि शब्द माना है। पाल् + इ = पालि।

उक्त मतों की समीक्षा से ज्ञात होता है कि इनमें से कुछ मत केवल बौद्धिक व्यायाम हैं। जैसे---पंक्ति, पाठ, प्राकृत, पाटलि आदि। आचार्य बुद्धघोष और आचार्य धम्मपाल के उल्लेखों से सिद्ध है कि बुद्ध-वचन या बुद्धोपदेश के लिए 'पालि' शब्द चतुर्थ शती ई० में प्रचलित था। पल्लि शब्द से 'पालि' सरलता से बन सकता है, परन्तु इसका पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। भिक्षु जगदीश काश्यप का मत अधिक लोकप्रिय है। परियाय (सं० पर्याय) का बुद्धोपदेश अर्थ में भब्रु शिलालेख में प्रयोग है—धम्म-पलियायानि०। परियाय > पलियाय > पालि शब्द बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के लिए प्रयुक्त होने लगा।

१२.९. (३) पालि की प्रमुख विशेषताएँ

१. पालि में वैदिक संस्कृत (वै० सं०) की ५ स्वर-ध्वनियाँ लुप्त हो गईं—ऋ, ॠ लृ, ऐ, औ।

२. पालि में वै० सं० के ५ व्यंजन लुप्त हो गए—श, ष, विसर्ग (:), जिह्वामूलीय, उपध्मानीय।

३. पालि में दो नए स्वर आ गए—ह्रस्व ऍ, ह्रस्व ऑ।

४. पालि में वै० सं० के दो व्यंजन ळ, ळ्ह भी मिलते हैं।

५. पालि में संस्कृत के ऐ > ए, औ > ओ हो गए हैं।

६. पालि में संयुक्त वर्ण से पूर्ववर्ती दीर्घ को ह्रस्व हो जाता है, यदि दीर्घ स्वर रहेगा तो संयुक्त व्यंजन में से एक का लोप हो जाएगा। जीर्ण > जिण्ण, दीर्घ > दीघ।

७. अघोष वर्ण घोष हो जाता है। क् > ग्—प्रतिकृत्य > पटिगच्च, च् > ज्—स्रुच् > स्रुजा, त् > द्-वितस्ति > विदत्थि।

८. ड, ढ को ळ, ळ्ह। बडवा > बळवा।

९. संधियों में केवल तीन संधियाँ हैं—(१) स्वर संधि, (२) व्यंजन संधि, (३) निग्गहीत (अनुस्वार) संधि। विसर्ग संधि आदि नहीं हैं।

१०. पालि में हलन्त शब्द नहीं हैं। केवल अजन्त ही हैं। हलन्त शब्दों को अकारान्त बना देते हैं या अन्तिम व्यंजन का लोप कर देते हैं। धनवत् > धनवन्त, आत्मन् > अत्त।

११. पालि में द्विवचन नहीं होता है।

१२. पालि में तीनों लिंग हैं।

१३. शब्दरूपों में चतुर्थी और षष्ठी के रूप समान होते हैं।

१४. स्त्री-प्रत्यय सात हैं—आ, ई, इनी, नी, आनी, ऊ, ति। अजा, कुमारी, यक्खिनी, दण्डिनी, मातुलानी, वामोरू, युवति।

१५. पालि में ५०० से अधिक धातुएँ हैं। ९ गण हैं। अदादि और जुहोत्यादि नहीं हैं। क्र्यादि के दो भेद हैं—ना, णा, वाले।

१६. पालि में लेट् लकार वाले भी रूप मिलते हैं—हनासि, दहासि।

१७. पालि में णिच्, सन्, यङ्, नामधातु प्रत्यय वाले रूप मिलते हैं।

१८. पालि में वै० सं० के तुल्य तुम् अर्थ वाले अनेक प्रत्यय मिलते हैं—तुम्, तवे. तये, तुये। जि > जिनितुम्, हा > पहातवे, गण्-गणेतुये।

१९. आत्मनेपद का प्रयोग प्रायः लुप्त हो गया। परस्मैपद शेष रहा।

२०. पालि में टर्नर आदि के अनुसार दोनों प्रकार का स्वराघात था—संगीतात्मक और बलाघातात्मक।

२१. पालि में तद्भव शब्दों का आधिक्य है। तत्सम और देशज शब्द कम हैं।

१२.१०. शिलालेखी प्राकृत

प्राचीन प्राकृत में अशोक के शिलालेखों की प्राकृत भी आती है, अतः इसे

'शिलालेखी प्राकृत' कहते हैं। इसको ही अशोकन प्राकृत, लाट प्राकृत भी कहते हैं।

प्रमुख विशेषताएँ—

१. ध्वनियाँ पालि के तुल्य हैं। पालि में केवल 'स' है, किन्तु शाहबाजगढ़ी और मानसेरा शिलालेखों में श ष स तीनों मिलते हैं।

२. कुछ शिलालेखों में ण्, ञ् नहीं हैं। र् को ल् है। प्र० १ कारक-चिह्न 'ए' है। कुछ में ण्, ञ् हैं। प्र० १ में 'ओ' है।

३. शिलालेखी प्राकृत में दीर्घीकरण, ह्रस्वीकरण, स्वरभक्ति, वर्णलोप, गुण-परिवर्तन, व्यंजन-परिवर्तन, सरलीकरण आदि प्रकार मिलते हैं।

४. हलन्त शब्द प्रायः अकारान्त हो गए हैं। कुछ प्राचीन हलन्त शब्दरूप शेष हैं। मातरि, पितरि, लाजिना, राजो आदि।

५. क्रियारूप प्रायः पालि के तुल्य हैं। आत्मनेपद नहीं है। कर्मवाच्य, णिच्, सन्, तुम्, त्वा, शतृ आदि प्रत्यय हैं।

६. तीन लिंग हैं। द्विवचन नहीं है।

१२.११. (२) मध्यकालीन प्राकृत (द्वितीय प्राकृत)

इसको 'साहित्यिक प्राकृत' भी कहते हैं। इस काल में प्राकृत का विकसित साहित्यिक रूप प्राप्त होता है। इस काल में प्राकृत के प्रान्तीय या भौगोलिक भेद भी हो गए। विभिन्न क्षेत्रों में इसके स्वतन्त्र रूप प्रयुक्त होने लगे। इस समय विस्तृत साहित्य भी लिखा गया।

मुख्य और गौण प्राकृत भाषाएँ—प्राकृत भाषाओं के विषय में सर्वप्रथम भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में विचार किया है। उनके मतानुसार ७ मुख्य प्राकृत हैं और ७ गौण (विभाषा)। मुख्य प्राकृत हैं—मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, सूरसेनी (शौरसेनी), अर्धमागधी, बाह्लीक, दाक्षिणात्य (महाराष्ट्री)। गौण ७ प्राकृतों के नाम हैं—शाबरी, आभीरी, चाण्डाली, सचरी, द्राविड़ी, उद्रजा, वनेचरी।

मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः ॥
शबराभीर-चाण्डाल-सचर-द्रविडोद्रजाः ।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः ॥

(नाट्यशास्त्र १७-४८, ४९)

प्राकृत-व्याकरण के सबसे प्राचीन वैयाकरण वररुचि ने चार प्राकृत मानी हैं—शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, पैशाची। मागधी के दो रूप हो गए हैं—मागधी और अर्धमागधी। इस प्रकार ये पाँच प्राकृत हैं। प्राकृत के अन्य भेदों और उपभेदों का विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं होता है। मुख्य प्राकृतों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

१२.११. (१)-(क) शौरसेनी

इसका क्षेत्र शूरसेन (मथुरा के आस-पास) का प्रदेश था। इसका विकास पालि-कालीन स्थानीय भाषा से हुआ। यह मध्यदेश की भाषा थी। नाटकों में सर्वाधिक प्रयोग

इसी का हुआ है। स्त्रियों आदि का वार्तालाप शौरसेनी प्राकृत में ही होता था। केवल पद्य के लिए महाराष्ट्री थी। शौरसेनी से ही वर्तमान हिन्दी का विकास हुआ है। राजशेखर-कृत कर्पूरमंजरी का समस्त गद्य-भाग शौरसेनी प्राकृत में है। भास, कालिदास आदि के नाटकों में गद्य शौरसेनी में ही है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। यह निम्न एवं मध्यम कोटि के पात्रों तथा स्त्रियों की भाषा थी। इसमें सरलता, सरसता, श्रवण-सुखदता अधिक थी, अतः अधिक लोकप्रिय हुई।

प्रमुख विशेषताएँ—

१. प्रथमा एक० में कारक चिह्न ओ। पुत्रः > पुत्तो।

२. दो स्वरों के मध्यगत संस्कृत के त को द और थ को ध। पृच्छति > पुच्छदि, शत > सद। अथ > अध, कथं > कधं।

३. मध्यगत क, त को क्रमशः ग, द होते हैं। नायकः > णाअगु, अतिथि > अदिधि, कृत > किद। द प्रायः शेष रहता है। जलदः > जलदो।

४. मध्यगत महाप्राण ख, घ, थ, ध, फ, भ को ह हो जाता है। मुख > मुह, मेघ > मेह, वधू > वहू, अभिनव > अहिणव।

५. न को ण हो जाता है। नाथ > णाध, भगिनी > बहिणी।

६. मध्यगत प को व होता है। दीप > दीव, अपि > अवि।

७. क्ष को क्ख, ध्य को झ। इक्षु > इक्खु, मध्य > मज्झ।

८. आत्मनेपद प्रायः समाप्त हो गया है। परस्मैपद ही है।

९. लिट्, लङ्, लुङ्, विधिलिङ् प्रायः समाप्त हो गए।

१०. द्विवचन का अभाव हो गया।

१२.११. (२)–(ख) महाराष्ट्री (माहाराष्ट्री)

यह शुद्ध शब्द माहाराष्ट्री है। इसका मूलस्थान महाराष्ट्र है। इससे ही मराठी भाषा का विकास हुआ है। प्राकृतों में सबसे अधिक साहित्य महाराष्ट्री में है। संस्कृत नाटकों में प्राकृत में पद्यरचना महाराष्ट्री में ही है। महाराष्ट्री प्राकृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—राजा हाल-कृत 'गाहा सत्तसई' (गाथा-सप्तशती), प्रवरसेन-कृत 'रावणवहो' (सेतुबन्धः), वाक्पति-कृत 'गउडवहो' (गौडवधः), जयवल्लभ-कृत 'वज्जालग्ग', हेमचन्द्राचार्य-कृत 'कुमार-पालचरित'। ये सभी काव्यग्रन्थ हैं। कर्पूरमंजरी के पद्य महाराष्ट्री में हैं। भरत मुनि ने दाक्षिणात्य प्राकृत से महाराष्ट्री का ही निर्देश किया है। दण्डी ने काव्यादर्श में महाराष्ट्री को सर्वश्रेष्ठ प्राकृत माना है।

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः (काव्यादर्श १-३४)

अवन्ती और बाह्लीक प्राकृत महाराष्ट्री में ही अन्तर्भूत हैं।

प्रमुख विशेषताएँ—

१. स्वर-बाहुल्य। मध्यगत व्यंजनों के लोप से स्वरों की प्रधानता। अतएव संगीतात्मकता।

२. मध्यगत अल्पप्राण (क, ग, च, ज, त, द) का लोप। लोकः > लोओ, हृदय > हिअअ, प्राकृत > पाउअ, जानाति > जाणाइ।

३. मध्यगत य का सदा लोप होता है। प्रिय > पिअ, वियोग > विओअ।

४. मध्यगत महाप्राण स्पर्शों (ख, घ, थ, ध, फ, भ) को ह। अथ > अह, कथं > कहं, मुख > मुह, लघुक > लहुअ। थ को ह महा० की प्रमुख विशेषता है। शौर० में थ को ध होता है।

५. ऊष्म वर्णों (श, ष, स) को प्रायः ह हो जाता है। दश > दह, धनुष > धणुह, पाषाण > पाहाण, दिवसं > दिअहं।

६. क्ष को च्छ। कुक्षि > कुच्छि, इक्षु > उच्छु।

७. कर्मवाच्य य को इज्ज। पृच्छ्यते > पुच्छिज्जइ।

८. त्वा को ऊण। पृष्ट्वा > पुच्छिऊण।

९. तुम् को उं और क्त (त) को अ। कर्तुम् > काउं, गृहीत > गहिअ।

१०. अनीय को अणिज्ज। करणीय > करणिज्ज।

१२.११. (३)–(ग) मागधी

यह मगध की भाषा थी। इसका साहित्य बहुत कम मिलता है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। कालिदास के नाटकों में तथा शूद्रक के मृच्छकटिक में मागधी का प्रयोग मिलता है। भरत के नाट्यशास्त्र (अ० १७, श्लोक ५०, ५६) के अनुसार यह अन्तःपुर के नौकर, अश्वपालक आदि की भाषा थी। मार्कण्डेय के अनुसार भिक्षु, क्षपणक, राक्षस, चेट आदि मागधी बोलते थे। लंका में पालि को 'मागधी' कहते हैं, क्योंकि पालि मगध से वहाँ गई थी। इसके तीन प्रकार मिलते हैं—शाकारी, चाण्डाली, शाबरी। मागधी से ही भोजपुरी, मैथिली, बंगला, उड़िया, असमी विकसित हुई हैं।

प्रमुख विशेषताएँ—

१. ष्, स् को श। पुत्तस्स > पुत्तश्श, भविष्यति > भविश्शदि।

२. र को ल। पुरुषः > पुलिशे, राज्ञः > लाआणो।

३. ज को य होता है। संस्कृत का य पूर्ववत् रहता है। जानाति > याणदि, जायते > यायदे। यथा > यथा।

४. द्य, र्ज, र्य को य्य होता है। अद्य और आर्य > अय्य, मद्य > मय्य।

५. ण्य, न्य, ज्ञ, ञ्ज को ञ्ञ होता है। पुण्य > पुञ्ञ, अन्य > अञ्ञ, राज्ञः > राञ्ञो, अञ्जलि > अञ्ञलि।

६. मध्यगत च्छ को श्च होता है। गच्छति > गश्चदि।

७. र्थ और स्थ को स्त होता है। अर्थः > अस्ते, उपस्थित > उवस्तिद।

८. ष्क को स्क, ष्ट को स्ट होता है। शुष्क > शुस्क, कष्ट > कस्ट।

९. प्रथमा एक० में विसर्ग को ए होता है। देवः > देवे, एषः > एशे।

१२.११. (४)–(घ) अर्धमागधी

अर्धमागधी का क्षेत्र मागधी और शौरसेनी के मध्य में है। यह प्राचीन कोसल के समीपवर्ती क्षेत्र की भाषा थी। इसमें मागधी के गुण अधिक हैं। साथ ही शौरसेनी के गुण भी हैं, अतः इसे अर्धमागधी कहा जाता है। इसको ऋषिभाषा या आर्यभाषा भी कहते हैं। भगवान् महावीर के सारे धर्मोपदेश इसी भाषा में हैं। इसमें प्रचुर मात्रा में जैन-साहित्य मिलता है। अतः इसका विशेष महत्त्व है। इसमें गद्य और पद्य दोनों प्रकार का साहित्य है। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इसे चेट, राजपुत्र एवं सेठों की भाषा बताया है। (चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठिनां चार्धमागधी, सा० द० ६-१६०) इसका प्राचीनतम प्रयोग अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। मुद्राराक्षस और प्रबोधचन्द्रोदय में अर्धमागधी का प्रयोग हुआ है। इससे पूर्वी हिन्दी का विकास हुआ है।

प्रमुख विशेषताएँ—

१. दन्त्य को मूर्धन्य होता है। स्थित > ठिय।

२. श, ष को स होता है। श्रावक > सावग।

३. य को ज हो जाता है। यौवन > जोव्वण।

४. संयुक्त व्यंजनों में प्रायः स्वरभक्ति के द्वारा विच्छेद होता है। कृष्ण > कसिन, स्नान > सिनान।

५. संधि-स्थलों पर म् लग जाता है। अन्योन्यम् > अन्नमन्नम्, अण्णमण्णम्।

६. स्पर्श का लोप होने पर 'य्' श्रुति। सागर > सायर।

७. संधि-स्थलों पर स्वरभक्ति का प्रयोग होता है। द्व्यहेन > दुयाहेण, स्वाख्यात > सुयक्खाय।

८. गद्य और पद्य में भेद है। गद्य में मागधी के तुल्य प्र० १ में 'ए' और पद्य में शौ० के तुल्य 'ओ' है।

१२.११. (५)–(ङ) पैशाची

पैशाची का क्षेत्र पश्चिमोत्तर भारत एवं अफगानिस्तान का क्षेत्र था। पैशाची को पैशाचिकी, भूतभाषा, भूतभाषित आदि भी कहते थे। महाभारत में कश्मीर के पास रहने वाली 'पिशाच' जाति का उल्लेख है। गुणाढ्य की अतिप्रसिद्ध रचना 'बृहत्कथा' पैशाची प्राकृत में ही थी। इस समय इसका साहित्य नगण्य है। इसका ही विकसित रूप **'लहँदा'** भाषा है। हेमचन्द्र-कृत कुमारपालचरित और काव्यानुशासन में तथा हम्मीरमदमर्दन नाटक में इसका प्रयोग मिलता है। राक्षस, पिशाच, निम्नकोटि के पात्र लोहार आदि इसी का प्रयोग करते थे। ('रक्षःपिशाचनीचेषु पैशाची द्वितयं भवेत्' षड्भाषाचन्द्रिका)

प्रमुख विशेषताएँ—

१. वर्ग के तृतीय को प्रथम वर्ण होता है। नगर > नकर, तडाग > तटाक।

२. वर्ग के चतुर्थ को द्वितीय वर्ण। निर्झर > निच्छर, मेघः > मेखो।

३. पैशाची में पंचम वर्ण केवल 'न' है।

४. र-ल का विपर्यय। कभी र को ल, कभी ल को र। रुद्र > लुद्द, कुमार > कुमाल, रुधिरं > लुधिरं।

५. ज्ञ, न्य, ण्य को ञ्ञ। अन्य > अञ्ञ, पुण्य > पुञ्ञ, प्रज्ञा > पञ्ञा।

६. स्वरभक्ति (मध्य में अ, इ, उ)। कष्टं > कसटं, स्नानं > सिनानं, भार्या > भारिया।

७. ष को श या स। तिष्ठति > चिश्तदि, विषमः > विसमो।

८. मध्यगत व्यंजनों का लोप नहीं होता। मधुरं > मथुरं, गाढं > काठं।

१२.१२. प्राकृत भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ[1]

१. प्राकृत भी संस्कृत के तुल्य श्लिष्ट योगात्मक भाषा है।

२. संस्कृत व्याकरण को सरल बनाया गया है।

३. शब्दरूपों और धातुरूपों की संख्या कम हो गई।

४. शब्दों के रूप केवल तीन या चार प्रकार के ही रह गए।

५. धातुरूप भी प्रायः एक या दो प्रकार से चलने लगे।

६. अस्पष्टता के निवारणार्थ परसर्गों (कारक-चिह्नों आदि) की सृष्टि हुई।

७. भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मक की ओर अग्रसर हुई।

८. शब्दरूप प्रायः अकारान्त के तुल्य चलने लगे और धातुरूप प्रायः भ्वादिगण के तुल्य हो गए।

९. चतुर्थी विभक्ति का अभाव हो गया। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन प्रायः एक हो गए।

१०. लङ्, लिट् और लुङ् लकारों का अभाव हो गया।

११. द्विवचन का अभाव हो गया।

१२. आत्मनेपद का भी अभाव हो गया।

१३. ध्वनि-परिवर्तन मुख्य रूप से हुआ। संयुक्ताक्षरों में प्रायः पर-सवर्ण या पूर्व-सवर्ण हुआ।

१४. कुछ प्राचीन ध्वनियों का अभाव हो गया। स्वरों में—ऋ, ॠ, लृ, ऐ, औ। व्यंजनों में य, श, ष, विसर्ग। मागधी में य, श हैं, स नहीं।

१५. संस्कृत में अप्राप्त दो नए स्वर आ गए—ह्रस्व ऍ और ऑ।

१६. साधारणतया शब्द के अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है।

१७. ह्रस्व स्वर के बाद दो से अधिक और दीर्घ स्वर के बाद एक से अधिक व्यंजन नहीं रहते।

१८. स्वर-सम्बन्धी मुख्य परिवर्तन ये हुए—(क) ऋ को अ, इ या उ हो गया। (ख) ऐ को ए, औ को ओ। (ग) मध्यगत व्यंजन का लोप होने पर पूर्ववर्ती ह्रस्व को दीर्घ स्वर। (घ) अनुदात्त स्वर का लोप। (ङ) संप्रसारण होकर य् को इ, व् को उ।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखें—लेखक-कृत 'संस्कृत व्याकरण', पृष्ठ ४०९ से ४२१।

१९. मध्यगत वर्णों में मुख्य परिवर्तन ये होते हैं---(क) मध्यगत क त प का लोप होता है या उन्हें ग द ब होते हैं। (ख) मध्यगत य का सदा लोप होता है। (ग) मध्यगत महाप्राण वर्णों (ख, घ, थ, ध आदि) को ह हो जाता है। (घ) मध्यगत ट को ड और ठ को ढ होता है। (ङ) प को व होता है। (च) ११ से १८ संख्याओं में द को र होता है। (छ) श ष स को स, मागधी में श।

२०. संयुक्ताक्षरों में मुख्य परिवर्तन ये होते हैं—(क) दो स्पर्श वर्णों में परसवर्ण होता है। (ख) स्पर्श के बाद अनुनासिक को पूर्वसवर्ण होगा। (ग) ज्ञ को ण्ण्। (घ) स्पर्श बाद में होने पर ल् को परसवर्ण, (ङ) क्ष को क्ख या च्छ। (च) त्य > च्च, ध्य > झ। (छ) र् को स्पर्श का सवर्ण।

२१. प्रथमा एकवचन विसर्ग (:) मागधी में 'ए' होता है, अन्यत्र 'ओ'।

२२. धातुओं के अर्थों में काफी अन्तर हुआ है।

२३. संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलाघातात्मक स्वर हो गए हैं।

२४. तद्भव शब्दों की संख्या अधिक है, तत्सम कम।

१२.१३. (३) अपभ्रंश (परकालीन प्राकृत, तृतीय प्राकृत)

'अपभ्रंश' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य व्याडि (पतंजलि से पूर्ववर्ती) और पतंजलि (१५० ई० पू०) ने किया है।[1] तत्पश्चात् भर्तृहरि, भामह, दण्डी आदि ने अपभ्रंश का उल्लेख किया है। अपभ्रंश के सबसे प्राचीन उदाहरण भरत मुनि (४०० ई० पू०) के नाट्यशास्त्र में मिलते हैं। कालिदास के विक्रमोर्वशीय (अंक ४) में अपभ्रंश के कुछ पद्य मिलते हैं। दण्डी (७वीं शती ई०) के समय से इसका प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। अपभ्रंश में विशाल साहित्य है। इसमें प्रमुख रचनाएँ हैं—रविषेणाचार्य-कृत पउमचरिउ, पुष्पदन्त-कृत महापुराण और जसहर-चरिउ (यशोधर-चरित), विद्यापति-कृत 'कीर्तिलता', अद्दहमाण (अब्दुर् रहमान)-कृत 'सन्देश-रासक'। अपभ्रंश को देशभाषा, देसी, अपभ्रष्ट, अवहट्ट भी कहते थे।

मार्कण्डेय ने प्राकृतसर्वस्व में तीन अपभ्रंश माने हैं—नागर, उपनागर, ब्राचड। नागर गुजरात की अपभ्रंश, ब्राचड सिन्ध की, उपनागर दोनों के मध्य की मानी है। स्पष्टतया यह पश्चिमी प्राकृतों का ही विभाजन है। सामान्यतया विद्वानों का मत है कि प्राचीन पाँच प्राकृतों से पाँच अपभ्रंशों का विकास हुआ। इनसे ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ विकसित हुईं। प्राचीन प्राकृत और वर्तमान भारतीय भाषाओं को मिलाने वाली कड़ी अपभ्रंश भाषाएँ हैं।

---

१. (क) शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकारः। (वाक्यपदीय १-१४९ पर)
(ख) एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद् यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। (महाभाष्य, आह्निक १)
(ग) शब्दः संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थ-निवेशिनम्।। (वाक्यपदीय १-१४९)

अपभ्रंश की प्रमुख विशेषताएँ—

१. भाषा श्लिष्ट योगात्मक से वियोगात्मक होने लगी।

२. प्राकृत में प्रयुक्त ध्वनियाँ ही अपभ्रंश में भी थीं।

३. वैदिक संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलाघात स्वर हो गया।

४. सभी स्वरों का अनुनासिक रूप (ऋ को छोड़कर) अपभ्रंश में भी है।

५. अपभ्रंश में शब्दों के अन्त में उ लगाने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई। अंगु, जगु, पुत्तु।

६. दन्त्य व्यंजन मूर्धन्य होने लगे थे।

७. श और ष का प्रायः लोप हो गया।

८. ए को इ, ई भी होते हैं। लेख > लिह, लीह।

९. मध्यगत प्रथम और द्वितीय वर्ण को क्रमशः तृतीय और चतुर्थ वर्ण होते हैं। शपथ > सबध, कथितं > कधिदुं।

१०. कहीं-कहीं मध्यगत म को वँ। भ्रमर > भवँरु।

११. संयुक्ताक्षरों में र् का प्रायः लोप होता है। प्रिय > पिउ, चन्द्र > चन्द।

१२. जहाँ र नहीं है, वहाँ भी र का आगम। व्याकरण > व्रागरण।

१३. प्राकृत के तुल्य समीकरण, लोप, आगम आदि की प्रवृत्ति और बढ़ गई।

१४. संयुक्त व्यंजनों में एक व्यंजन का लोप और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ होता है। कस्य > कासु, तस्य > तासु।

१५. शब्दरूप और धातुरूप बहुत कम हो गए।

१६. विभक्तियों के स्थान पर कारक-चिह्न परसर्ग आने लगे। जैसे—करण—सहुं, तण; संप्रदान—केहि, रेसि; अपादान—होन्त; सम्बन्ध—केर, कर; अधिकरण—मज्झ, महे।

१७. नपुंसक लिंग शब्द समाप्त हो गए।

१८. अकारान्त पुंलिंग शब्दों के तुल्य अधिकांश शब्दरूप चलने लगे।

१९. शब्दरूपों में बहुत संक्षेप हो गया। सभी कारकों के स्थान पर तीन कारक-समूह रह गए—(१) कर्ता-कर्म, संबोधन, (२) करण-अधिकरण, (३) संप्रदान, अपादान, संबन्ध। अतः शब्दरूप में ६ रूप रह गए—३ कारक X २ वचन। संस्कृत में २४ रूप थे, प्राकृत में १२।

२०. द्विवचन का पूर्णतया अभाव है।

२१. धातुरूपों में आत्मनेपद का अभाव है।

२२. धातुरूपों में प्रायः लट्, लोट्, लृट् ही शेष रहे।

२३. स्वार्थ में ये तद्धित प्रत्यय होने लगे—(१) उ, पुनः > पुणु, (२) एं या अ, अवश्यं > अवसें, अवस, (३) आर, तुहार, अम्हार।

२४. द्राविड एवं विदेशी भाषाओं के बहुत शब्द आ गए।

२५. वाक्यों में पद-क्रम निश्चित हो गया। इससे विभक्ति-लोप-जन्य अस्पष्टता कुछ कम हो गई।

१२.१४. (ग) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ (आ० भा० आ०)

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास मध्यकालीन अपभ्रंश भाषाओं से हुआ है। प्राचीन पाँच प्राकृतों से पाँच अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ है। इन पाँच अपभ्रंशों के साथ ही ब्राचड एवं खस दो अपभ्रंशों को और लिया जाता है। ब्राचड (सं० व्राचड या व्राचट) का उल्लेख मार्कण्डेय के प्राकृत-सर्वस्व में अपभ्रंश के २७ भेदों में मिलता है। खस (खश) उत्तरी पहाड़ी भाग की भाषा थी। उसको भी अपभ्रंश में लिया है। इस प्रकार सात अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास माना जाता है।

अपभ्रंश	विकसित आधुनिक भाषाएँ
१. शौरसेनी	(क) पश्चिमी हिन्दी (ख) राजस्थानी (ग) गुजराती
२. महाराष्ट्री	मराठी
३. मागधी	(क) बिहारी, (ख) बंगाली, (ग) उड़िया, (घ) असमी।
४. अर्धमागधी	पूर्वी हिन्दी
५. पैशाची	लहँदा
६. ब्राचड	(क) सिन्धी, (ख) पंजाबी।
७. खस	पहाड़ी

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की प्रमुख विशेषताएँ—

१. आ० भा० आ० संयोगात्मक से पूर्णतया वियोगात्मक हो गईं।

२. प्राकृत और अपभ्रंश में विद्यमान ध्वनियाँ प्रचलित रहीं।

३. ध्वनि-विषयक कुछ विशेषताएँ हुईं—

(क) पंजाबी आदि में उदासीन 'अ' स्वर, अवधी आदि में जपित या अघोष स्वर, गुजराती में मर्मर स्वरों का विकास।

(ख) ऋ का लिखित रूप ऋ, परन्तु उच्चरित रूप रि, दक्षिण में रु।

(ग) ष का उच्चारण श या स।

(घ) ज्ञ का उच्चारण ग्यँ, ज्यँ या द्यं।

(ङ) संयुक्ताक्षरों में ञ्, ण् का उच्चारण अनुस्वार (-ं) के तुल्य।

(च) विदेशी ऑ क़ ख़ ग़ ज़ फ़ ध्वनियाँ भाषाओं में आ गई हैं, पर इनका शुद्ध उच्चारण नहीं होता है।

४. बलाघात स्वर मुख्य हो गया है। वाक्यों में संगीतात्मक स्वर भी है।

५. अन्तिम दीर्घ स्वर पर बलाघात न होने पर दीर्घ को ह्रस्व स्वर।

६. बलाघात-रहित अन्तिम अ का लोप होता है। राम्, नाम्।

७. बलाघात के अभाव में आद्य स्वरों का लोप हो जाता है। अभ्यन्तर > भीतर, उपरि > पर।

८. संयुक्त व्यंजनों में से एक का लोप हो जाता है और क्षतिपूर्त्यर्थ पूर्व ह्रस्व स्वर को दीर्घ। सप्त > सात, अद्य > आज।

९. शब्दों के रूप और कम हो गए। अपभ्रंश में ६ थे, आ० भा० आ० में केवल दो रूप रह गए---१. मूल रूप, २. विकृत रूप।

१०. आ० भा० आ० में केवल गुजराती, मराठी में तीन लिंग हैं, शेष में दो लिंग हैं—पुं०, स्त्री०। दो वचन रह गए हैं---एक०, बहु०।

११. क्रिया में कर्मवाच्य के रूप लुप्त हो गए। लकारों का प्रयोग घट गया। वर्तमान का बोध शतृ-प्रत्यय वाले रूपों के साथ 'होना' सहायक क्रिया जोड़कर होता है। भूतकाल का बोध संस्कृत क्त-प्रत्ययान्त रूपों से बने शब्दों से होता है।

१२. आ० भा० आ० में अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि के हजारों शब्द आ गए हैं। तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है।

१२.१५. आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय

(१) पश्चिमी हिन्दी---इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसकी पाँच प्रमुख बोलियाँ हैं—खड़ी बोली, व्रजभाषा, बाँगरू, कन्नौजी और बुन्देली।

(क) खड़ी बोली—यह उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों—मेरठ, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, देहरादून, बिजनौर, रामपुर आदि की भाषा है। अम्बाला और पटियाला के पूर्वी भाग भी इसी क्षेत्र में आते हैं। यह आजकल 'राजभाषा' है। इसके दो साहित्यिक रूप हैं---हिन्दी और उर्दू। हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है और उर्दू में अरबी-फारसी शब्दों की। हिन्दी की लिपि देवनागरी है और उर्दू की फारसी। कुछ विद्वान् उर्दू को हिन्दी की एक शैली मात्र मानते हैं। राष्ट्रीय भावना की जागृति के कारण इसका प्रचार-प्रसार बहुत बढ़ा है। इस समय हिन्दी में उच्चकोटि का साहित्य बड़ी मात्रा में लिखा जा रहा है।

(ख) व्रजभाषा—यह मथुरा, आगरा, अलीगढ़, धौलपुर की भाषा है। इसके पश्चिमोत्तर भाग में राजस्थानी का और दक्षिणी भाग में बुन्देली का प्रभाव देखा जाता है। इसमें उच्चकोटि का साहित्य विद्यमान है। इसके प्रमुख साहित्यकार हैं—सूर, नन्ददास, मीरा, केशव, बिहारी, देव, भूषण, घनानन्द, रसखान, रहीम आदि। यह सरलता, सरसता एवं कोमलता के लिए विख्यात है।

(ग) बाँगरू—यह दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, जींद और नाभा की बोली है। इसके अन्य नाम हैं—हरियाणी, देसाड़ी, जाटू। इस पर राजस्थानी और पंजाबी का भी प्रभाव दिखाई देता है। यह वस्तुतः खड़ी बोली की एक विभाषा है।

(घ) कन्नौजी—अवधी और व्रज के मध्य इसका क्षेत्र है। इटावा, फर्रूखाबाद, कानपुर, शाहजहाँपुर, हरदोई, पीलीभीत आदि जिलों में यह बोली जाती है। कन्नौजी क्षेत्र के कवि हैं—चिन्तामणि, मतिराम, भूषण आदि। यह व्रजभाषा की विभाषा है।

(ङ) बुन्देली—यह झाँसी, जालौन, हमीरपुर, बाँदा, ग्वालियर, ओरछा, सागर,

दमोह, नरसिंहपुर आदि की बोली है। मिश्रित रूप में यह पन्ना, दतिया आदि क्षेत्रों में भी बोली जाती है। वह भी व्रजभाषा की एक विभाषा है। इसका साहित्य नगण्य है।

(२) राजस्थानी—इसका विकास शौरसेनी के नागर अपभ्रंश से हुआ है। इसका प्रमुख क्षेत्र राजस्थान है। पिंगल के अनुकरण पर राजस्थानी में 'डिंगल' काव्य की रचना हुई है। इसकी लिपि नागरी और महाजनी है। इसकी चार प्रमुख बोलियाँ हैं—मारवाड़ी, जयपुरी, मालवी और मेवाती। **(क) मारवाड़ी**—यह पश्चिमी राजस्थान की बोली है। इसका क्षेत्र है—जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि। पुरानी मारवाड़ी को डिंगल कहते हैं। **(ख) जयपुरी**—यह राजस्थान के पूर्वी भाग में बोली जाती है। इसका क्षेत्र है—जयपुर, कोटा, बूँदी, **(ग) मालवी**—यह राजस्थान के दक्षिण-पूर्वी भाग की भाषा है। इसका केन्द्र इन्दौर है। **(घ) मेवाती**—यह अलवर और हरियाणा में गुड़गाँव जिले के कुछ भागों में बोली जाती है। इस पर व्रजभाषा का प्रभाव है।

(३) गुजराती—शौरसेनी अपभ्रंश के नागर रूप से गुजराती का विकास हुआ है। यह गुजरात प्रान्त की भाषा है। इसका राजस्थानी से बहुत साम्य है। गुजरात का प्राचीन नाम 'लाट' था। यहाँ की भाषा 'लाटी' थी। संस्कृत में 'लाटी' शैली प्रसिद्ध है। यहाँ अरब, पारसी, तुर्क आदि बड़ी संख्या में बाहर से आकर बसे हैं। अतः विदेशी तत्त्व भाषा में अधिक हैं। गुजराती की स्वतन्त्र लिपि है। यह देवनागरी से विकसित हुई है। इसमें उच्चकोटि का साहित्य मिलता है।

(४) मराठी—यह महाराष्ट्री अपभ्रंश से निकली है। यह महाराष्ट्र की भाषा है। इसकी चार बोलियाँ मुख्य हैं—**(क) देशी**—दक्षिणी भाग में बोली जाती है। इसको दक्षिणी भी कहते हैं। **(ख) कोंकणी**—समुद्री किनारे की बोली है। **(ग) नागपुरी**—नागपुर के समीप की बोली है। **(घ) बरारी**—बरार की बोली है। पूना की बोली टकसाली भाषा मानी जाती है। भाषा की दृष्टि से कोंकणी में कन्नड़ शब्द अधिक हैं, बरारी में भीली और तेलुगु के तथा मराठी में फारसी के शब्द अधिक हैं। मराठी का साहित्य समृद्ध एवं उच्चकोटि का है। इसमें मुकुन्दराज, ज्ञानेश्वर, रामदास, तुकाराम, नामदेव आदि की रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें सन्त साहित्य का विशाल भण्डार है। इसकी लिपि देवनागरी है।

(५) बिहारी—यह मागधी अपभ्रंश से निकली है। वस्तुतः बिहारी कोई भाषा नहीं है। यह बिहार प्रान्त में बोली जाने वाली भाषाओं के समूह का नाम है। इसमें प्रमुख भाषाएँ हैं—भोजपुरी, मैथिली और मगही।

(क) भोजपुरी—भोजपुरी का आधार 'भोजपुर' गाँव है। यह शाहाबाद जिले में था। अब शाहाबाद जिले का नाम ही भोजपुर हो गया है। इस भाषा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसमें बिहार और उत्तर प्रदेश के कई जिले हैं। बिहार का पश्चिमी भाग और उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग इसका क्षेत्र है। इसमें प्रमुख जिले हैं—उ० प्र० के वाराणसी, गाजीपुर, बलिया, जौनपुर, मिर्जापुर, गोरखपुर, देवरिया, बस्ती, आजमगढ़ और बिहार के भोजपुर (शाहाबाद), राँची, सारन, चम्पारन आदि। इसका स्वतन्त्र साहित्य नहीं है। कबीर, धर्मदास, भीखा साहब आदि के पदों में भोजपुरी का प्रयोग हुआ है।

(ख) मैथिली—यह मिथिला क्षेत्र की भाषा है। इसका क्षेत्र है—दरभंगा, पूर्णिया, सहरसा और मुजफ्फरपुर का पूर्वी भाग। इसका ही एक भेद (अंगिका) मुंगेर और भागलपुर में बोला जाता है। बिहारी भाषाओं में सबसे अधिक साहित्य मैथिली में है। इसके प्रसिद्ध कवि हैं—विद्यापति, उमापति, हर्षनाथ, लखिमा ठकुरानी, मनबोध झा, चंदा झा आदि। मैथिली में मधुर लोकगीत हैं।

(ग) मगही—यह पटना, गया, हजारीबाग एवं भागलपुर के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसमें उल्लेखनीय साहित्य नहीं है, कुछ लोकगीत हैं।

(६) बंगाली (बँगला)—यह बंगाल प्रान्त की भाषा है। मागधी अपभ्रंश के पूर्वी रूप से इसका विकास हुआ है। इसकी साहित्यिक भाषा को 'साधु भाषा' कहते हैं। इसमें संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है। बंगाली में उच्चारण-सम्बन्धी विशेषता है। इसके लिखित और उच्चारित रूप में भेद होता है। लक्ष्मी: को लोंक्खीं, परमानन्द को पोरमानन्द बोलते हैं। यह साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। इसके प्रमुख साहित्यकार हैं—चंडीदास, कृत्तिवास (रामायण), विजयगुप्त (पद्मपुराण), रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिमचन्द्र, शरत्चन्द्र आदि। बंगला की लिपि अलग है। यह प्राचीन देवनागरी से विकसित है। बंगाली का प्रामाणिक भाषाशास्त्रीय अध्ययन डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने 'बंगाली का उद्‌भव और विकास' ग्रन्थ में किया है।

(७) उड़िया—यह उड़ीसा प्रान्त की भाषा है। इसको ओड्र (उड्र) जाति की भाषा से प्रभावित होने के कारण 'ओड्री' भी कहते हैं। उत्कल जाति की भाषा होने से 'उत्कली' भी कही जाती है। इस पर बंगाली और तेलुगु का अधिक प्रभाव है। संस्कृत भाषा के शब्द प्रचुर मात्रा में हैं। इसमें १५वीं शती के पुरी और भुवनेश्वर के शिलालेख हैं। इसकी लिपि भिन्न है। यह प्राचीन देवनागरी से विकसित हुई है।

(८) असमी—असमी, असमिया, आसामी या असामी असम प्रान्त की भाषा है। इसका बंगला से अधिक साम्य है। इसकी लिपि बंगला के सदृश है, केवल दो-तीन वर्ण भिन्न हैं। इस पर तिब्बती-बर्मी, नागा आदि भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है। इसके प्रसिद्ध कवि हैं—माधवकन्दली, शंकरदेव, माधवराम, सरस्वती आदि।

(९) पूर्वी हिन्दी—यह अर्धमागधी अपभ्रंश से विकसित हुई है। इसकी तीन बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। इनकी लिपि नागरी है। **(क) अवधी**—यह लखनऊ, फैजाबाद, सीतापुर, रायबरेली, गोंडा, बहराइच आदि जिलों में बोली जाती है। कानपुर, इलाहाबाद, मिर्जापुर आदि के भी कुछ भाग अवधी की सीमा में हैं। इसमें जायसी का पद्मावत और तुलसी का रामचरितमानस अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इसमें पर्याप्त समृद्ध साहित्य हैं। डॉ० बाबूराम सक्सेना ने इसका प्रामाणिक भाषाशास्त्रीय अध्ययन 'अवधी का विकास' ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। **(ख) बघेली**—यह बघेलखण्ड की बोली है। इसका केन्द्र रीवाँ है। **(ग) छत्तीसगढ़ी**—इसका विस्तार रायपुर, विलासपुर के जिलों में था। इसमें केवल कुछ लोकगीत मिलते हैं।

(१०) लहँदा (लहँदी)—इसका विकास पैशाची अपभ्रंश से हुआ है। यह

अध्याय १३

भाषाशास्त्र का इतिहास
(History of Linguistic Studies)

(क) भारत में भाषाशास्त्रीय चिन्तन

१. वैदिक काल
   १. वेद, २. ब्राह्मण, ३. शिक्षा, ४. प्रातिशाख्य, ५. निरुक्त
२. पाणिनि एवं पाणिनीय वैयाकरण
   १. पाणिनि, २. कात्यायन, ३. पतंजलि
३. अष्टाध्यायी के व्याख्याकार
४. महाभाष्य के व्याख्याकार
   १. भर्तृहरि, २. कैयट
५. कौमुदी–परंपरा के वैयाकरण
   १. भट्टोजि दीक्षित, २. नागेश भट्ट, ३. वरदराज
६. पाणिनि–भिन्न व्याकरण–सम्प्रदाय
७. प्राकृत–व्याकरण
८. व्याकरणेतर शास्त्रों में भाषा–चिन्तन
९. आधुनिक भाषाशास्त्री
   (क) पाश्चात्त्य भाषाशास्त्री
   (ख) भारतीय भाषाशास्त्री
   (ग) संस्कृत भाषा पर कार्य करने वाले विद्वान्
   (घ) हिन्दी भाषा पर कार्य करने वाले विद्वान्

(ख) यूरोप में भाषाशास्त्रीय चिन्तन

१०. यूरोप में भाषाशास्त्रीय चिन्तन
११. अठारहवीं शती के भाषाशास्त्री
१२. उन्नीसवीं शती के भाषाशास्त्री
१३. बीसवीं शती के भाषाशास्त्री
   (नव्य वैयाकरण युग)
१४. भाषाशास्त्र की वर्तमान प्रवृत्तियाँ

पंजाब के पश्चिमी भाग तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग की भाषा है। पश्चिमोत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में पश्तो बोली जाती है। उससे भेद के लिए इसे हिन्दकी भी कहते हैं। इसके अन्य नाम हैं—जटकी, मुलतानी, डिलाही, उच्ची। लहँदा का अर्थ है—पश्चिमी। इसकी लिपि लंडा है। यह उर्दू और गुरुमुखी में भी लिखी जाती है। इसकी चार मुख्य बोलियाँ हैं—(१) केन्द्रीय बोली, (२) दक्षिणी (मुलतानी), (३) उत्तरपूर्वी (पोठवारी), (४) उत्तरपश्चिमी (धन्नी)। इसमें सिक्खों का वार्ता-साहित्य, जनमसाखी और लोकगीत हैं। इसका क्षेत्र अब पाकिस्तान में चला गया है।

(११) सिन्धी—यह प्राचीन सिन्ध प्रान्त की भाषा थी। भारत-पाक विभाजन के बाद इसके बोलने वाले पंजाब, दिल्ली, मुम्बई आदि में बस गए हैं। इसकी पाँच बोलियाँ हैं—बिचौली, सिरैकी, लाड़ी, थरेली, कच्छी। इनमें बिचौली मुख्य है। यह साहित्यिक भाषा हो गई है। इसकी लिपि लंडा है। यह अरबी और गुरुमुखी लिपि में भी लिखी जाती है। इसमें साहित्य नाममात्र का है। उल्लेखनीय ग्रन्थ 'शाहजी रिसालो' है। ब्राचड अपभ्रंश के तुल्य आदिम त > ट, द > ड होता है। इसमें विदेशी शब्द अधिक हैं।

(१२) पंजाबी—यह पंजाब प्रान्त की भाषा है। इस पर दरद भाषा का प्रभाव है। पंजाबी की एक बोली डोगरी है, जो जम्मू राज्य में बोली जाती है। पंजाबी की लिपि गुरुमुखी है। इससे सिक्खों का साहित्य विशेष रूप से लिखा जा रहा है। इसमें संस्कृत और प्राकृत के शब्द अधिक हैं।

(१३) पहाड़ी—खस अपभ्रंश से इसका विकास हुआ है। कुछ विद्वान् शौरसेनी से ही इसका विकास मानते हैं। यह हिमालय के निचले भाग में बोली जाती है। इसकी लिपि नागरी है। इसके तीन भाषा-वर्ग हैं—(१) पश्चिमी, (२) मध्य, (३) पूर्वी। पश्चिमी पहाड़ी की लगभग ३० बोलियाँ हैं। इनमें उत्तर प्रदेश के जौनसार-बाबर की जौनसारी तथा पश्चिमी पहाड़ी भाग शिमला आदि की शिरमौरी, चंबाली, कुलूई, क्यंथली बोलियाँ मुख्य हैं। मध्य पहाड़ी के दो भाग हैं—(१) गढ़वाल की गढ़वाली, (२) कुमायूँ की कुमायूँनी। कुमायूँनी में थोड़ा साहित्य है। इनका लोक-साहित्य सम्पन्न है। पूर्वी पहाड़ी में नेपाली है। इसको खसकुरा, गोरखाली, पर्वतिया भी कहते हैं। यह नेपाल की राजभाषा है। इसका साहित्य नवीन है। डॉ० टर्नर ने नेपाली पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'नेपाली शब्दकोश' लिखा है।

*

अध्याय १३

भाषाशास्त्र का इतिहास
(History of Linguistic Studies)

(क) भारत में भाषाशास्त्रीय चिन्तन

१३.१. वैदिक काल

मानव का नैसर्गिक गुण है, जिज्ञासा। जिज्ञासा ही मानव के बौद्धिक विकास का कारण है। इस जिज्ञासा के कारण ही प्राचीन भारतीय ऋषियों ने स्थूल तत्त्वों के अतिरिक्त गम्भीर और सूक्ष्म तत्त्वों का भी चिन्तन किया है। ये सूक्ष्म तत्त्व हैं—वाक्तत्त्व, मनस्तत्त्व और प्राण-तत्त्व। इनमें से वाक्तत्त्व और मनस्तत्त्व का भाषाशास्त्र से साक्षात् सम्बन्ध है। वैदिक ऋषियों ने वाक्तत्त्व के विश्लेषण को 'ऋग्', मनस्तत्त्व के विश्लेषण को 'यजुस्' और प्राण-तत्त्व के विश्लेषण को 'साम' नाम दिया।

ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये साम प्राणं प्र पद्ये। (यजु० ३६-१)

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर वाक्तत्त्व का विश्लेषण है। यजुर्वेद में मनस्तत्त्व से सम्बद्ध अनेक स्थल हैं। महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य के प्रारम्भ में भाषाशास्त्र से सम्बद्ध अनेक मन्त्र दिए हैं और उनकी भाषाशास्त्रीय एवं व्याकरणिक व्याख्या की है। प्राचीन ऋषियों ने सभी शास्त्रीय चिन्तनों का केन्द्र वेद को माना है। अतएव वेद के षडंगों की कल्पना की गई। इसके अन्तर्गत शिक्षा, निरुक्त, छन्द, व्याकरण आदि की रचना हुई। इनमें से शिक्षा, निरुक्त और व्याकरण का साक्षात् सम्बन्ध भाषाशास्त्र से है। ये षडंग वैदिक-चिन्तन की विस्तृत व्याख्या हैं। इनके द्वारा प्राचीन भाषाशास्त्रीय चिन्तन की रूपरेखा प्राप्त होती है। परवर्ती वैयाकरणों, साहित्यकारों और दार्शनिकों ने इस भाषाशास्त्रीय चिन्तन और विश्लेषण को अग्रसर किया।

वेदों में भाषाशास्त्रीय उल्लेख—वेदों में अनेक स्थलों पर वाक्तत्त्व, भाषा की उत्पत्ति, व्याकरण, छन्दों का विश्लेषण, वाणी के भेद, मनस्तत्त्व और वाक्तत्त्व का सम्बन्ध, अक्षर, पद, आदि का विवेचन है। उदाहरणार्थ कुछ संकेत नीचे दिए जा रहे हैं—

१. अक्षर-तत्त्व—अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः। (अथर्व० ६-१०-२)

२. भाषा की व्यापकता—सहस्राक्षरा भुवनस्य पंक्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति। (अथर्व० ६-१०-२१)

३. वाक्तत्त्व सर्वोत्कृष्ट है—विराड् वाग्०। (अथर्व० ६-१०-२४)

४. वाक्तत्त्व की व्यापकता—यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्। (ऋग्० १०-११४-८)

५. वाक्तत्त्व की महत्ता[1]—वागाम्भृणी सूक्त। (ऋग्० १०-१२५-१ से ८)
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां। (ऋग्० १०-१२५-३)
अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा। (ऋग्० १०-१२५-८)
६. चतुर्विध वाक्—चत्वारि वाक् परिमिता पदानि। (ऋग्० १-१६४-४५)
७. अक्षरज्ञान का महत्त्व—ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्...यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। (ऋग्० १-१६४-३९)
८. पदज्ञान का महत्त्व—येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः। (ऋग्० १-६२-२)
पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता। (अथर्व० ७-७५-२)
९. चतुर्विध पद-विभाजन—चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा। (ऋग्० ४-५८-३)
१०. व्याकरण का प्रारम्भ—दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
(यजु० १९-७७)
११. भाषा का प्रारम्भ—बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।
(ऋग्० १०-७१-१)
१२. वाक्तत्त्व की सूक्ष्मता—उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्। (ऋग्० १०-७१-४)

इसके अतिरिक्त वेदों में अनेक स्थलों पर विभिन्न शब्दों के निर्वचन और व्युत्पत्तियाँ भी दी गई हैं। उदाहरणार्थ कुछ शब्द ये हैं—यज्ञ—यज् धातु से (ऋग्० १-१६४-५०), वृत्रहन्—वृत्र + हन् (यजु० ३३-९६), नदी—नद् धातु से (अथर्व० ३-१३-१), आपः (जल)—आप् धातु से (अथर्व० ३-१३-२), वार् (जल)—वृ धातु से (अथर्व० ३-१३-३), तीर्थ—तॄ धातु से (अथर्व० १८-४-७)।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भाषाशास्त्रीय उल्लेख—ब्राह्मण युग में भाषाशास्त्रीय अध्ययन में पर्याप्त विकास हुआ है। इस युग में अनेक पारिभाषिक शब्द विकसित हुए, जिनका पाणिनि-व्याकरण में प्रयोग प्राप्त होता है। गोपथ ब्राह्मण में निम्नलिखित पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है—

धातु, प्रातिपादिक, आख्यात, लिंग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय, स्वर, उपसर्ग, निपात, व्याकरण, विकार, मात्रा, वर्ण, अक्षर, पद, संयोग, स्थान, नाद आदि।[2]

मैत्रायणी संहिता में विभक्ति संज्ञा का उल्लेख है और उसकी संख्या ६ बताई गई है।[3] ऐतरेय ब्राह्मण में वाणी के ७ विभाग (विभक्तियों) का वर्णन है।[4]

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखें—लेखक-कृत 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन', भूमिका, पृ० १८ से ५८; 'संस्कृत-व्याकरण', भूमिका, पृष्ठ ९ से १४।
२. **ओंकारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपदिकं, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गं, किं वचनं, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वर उपसर्गो निपातः, किं वै व्याकरणम्, को विकारः, को विकारी, कतिमात्रः, कतिवर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः, कः संयोगः, किं स्थाननादानुप्रदानानुकरणम्०।** (गोपथब्राह्मण पूर्व० १-२४)
३. **तस्मात् षड् विभक्तयः।** (मैत्रायणी संहिता १-७-३)
४. **सप्तधा वै वागवदत्।** (ऐतरेय ब्राह्मण ७-७) **सप्तविभक्तयः इति भट्टभास्करः।**

ब्राह्मण ग्रन्थों में शब्दों के निर्वचन के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ कुछ शब्द ये हैं—प्राण (प्र + नी धातु से), अक्षर (क्षर् धातु), ओम् (अव् या आप् धातु), मनु (मन् धातु), विराट् (वि + रम् या राज् धातु), स्त्री (श्रि धातु), अग्नि (अग्र शब्द से), अंगिरस् (अंग + रस), गायत्री (गै धातु या गय + त्रै धातु), ब्रह्म (भृ धातु), मनुष्य (मन् धातु), इन्द्र (इन्ध् धातु), विष्णु (विश् धातु), सत्यम् (स + ति + अम्), सोम (स्व + म)।[1]

ब्राह्मण ग्रन्थों में निर्वचन आदि की जो शास्त्रीय विधि दी गई थी, उसका ही कुछ विकास आरण्यक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। ऐतरेय आरण्यक में भाषा-सम्बन्धी सामग्री कुछ अधिक प्राप्य है।

वैदिक पदपाठ—वेद-मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए अनेक प्रयत्न किए गए, जिससे उनमें कोई अन्तर न आने पाए। इन उपायों को 'विकृतियाँ' कहते हैं। इनमें मन्त्र के पदों को अनेक प्रकार से घुमाकर उच्चारण किया जाता है। ये विकृतियाँ ८ हैं। इनको आठ प्रकार का पाठ भी कहते हैं। इनके नाम हैं—(१) जटा पाठ, (२) माला, (३) शिखा, (४) रेखा, (५) ध्वज, (६) दण्ड, (७) रथ, (८) घन। इनमें घन-पाठ सबसे कठिन और बड़ा है।[2]

---

१. **प्राणः (प्रणयते)**। (शतपथ ब्राह्मण १२-९-१-१४)
अक्षरम् (अक्षरत्)। (शतपथ ब्रा० ६-१-३-६, जैमिनीय उ० ब्रा० १-२४-१)
ओम् (आपृधातुरवतिरप्येके)। (गोपथ ब्रा० पू० १-२६)
मनुः (अमनुत)। (शतपथ ब्रा० ६-६-१-१९)
विराट् (विरमणाद् विराजनाद् वा)। (देवताध्याय ब्रा० ३-१२)
स्त्री (श्रिया स्त्रियम्)। (गोपथ पू० १-३४)
अग्निः (अग्रम् असृज्यत)। (शत० ब्रा० ६-१-१-११)
अंगिराः (अंगरसोऽभवत्)। (गोपथ ब्रा० पू० १-७)
गायत्री (गयांस्तत्रे) (गायतेः)। (शत० १४-८-१५-७; देवताध्याय ब्रा० ३-२)
ब्रह्म (सर्वाणि नामानि बिभर्ति)। (शत० १४-४-४-१)
मनुष्यः (मनस्यैत्) (नैनं मनुः जहाति)। (तैत्तिरीय ब्रा० २-३-८-३)
इन्द्रः (इन्धं सन्तम्०)। (शत० १४-६-११-२)
विष्णुः (विशतीव०)। (कौषीतकि ब्रा० ८-२)
सत्यम् (एतत् त्र्यक्षरम्०)। (शत० १४-८-६-२)
सोम (स्वा वै म एषेति) (शत० ३-९-४-२२)
विस्तार के भय से ब्राह्मणग्रन्थों का पूर्ण उद्धरण न देकर केवल संबद्ध अंश दिया गया है।

२. विस्तृत विवेचन के लिए देखें—ऋग्वेदसंहिता, सम्पादक—सातवलेकर, परिशिष्ट, पृष्ठ ७९२ से ८०८ तथा लेखक-कृत 'संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास', पृष्ठ २९-३०।

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः ।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः ॥

इन प्रकारों में ५ प्रकार मुख्य थे। (१) **संहिता पाठ**—मन्त्र का शुद्ध रूप में पढ़ना। (२) **पद पाठ**—प्रत्येक पद को पृथक् करके पढ़ना। यदि संहिता पाठ में तीन पदों को कखग कहेंगे यो पद पाठ में क ख ग कहेंगे। (३) **क्रम पाठ**—इसमें पहला और दूसरा लेते हुए चलते हैं। जैसे—कख, खग, गघ। (४) **जटा-पाठ**—इसका रूप होगा—कख, खक, कख, खग, गख, खग। (५) **घनपाठ**—इसका रूप होगा—कख, खक, कखग, गखक, कखग।

इस पद्धति से वेद के प्रत्येक मन्त्र का स्पष्ट ज्ञान होता था। साथ ही उसके उदात्त आदि स्वरों एवं संधियों आदि का बोध होता था। इन विभिन्न पाठों का ही परिणाम था कि हजारों वर्ष बीतने पर भी वेदों में आज तक एक भी अक्षर और मात्रा का अन्तर नहीं हुआ है। यह वैज्ञानिक विधि विश्व की किसी भाषा में देखने को नहीं मिलती है। प्रत्येक पद के ज्ञान से पद-विज्ञान का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है।

वेदों के ६ अंग—वेदों की सुरक्षा तथा उनके तात्त्विक अध्ययन के लिए ६ अंग विकसित हुए। ये हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इनमें से शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त और छन्द का भाषाशास्त्र से साक्षात् सम्बन्ध है। शिक्षा ध्वनि-विज्ञान है। व्याकरण में पद-विज्ञान और वाक्य-विज्ञान का समन्वय है। निरुक्त में शब्दों की व्युत्पत्ति का वर्णन है और छन्द में छन्दों की पाद-व्यवस्था और प्रत्येक पाद में वर्णों और मात्राओं का निर्धारित संख्या का वर्णन होता है। इस प्रकार वेदांग के ये ४ अंग भाषाशास्त्र की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन करते हैं।

शिक्षा—वर्तमान समय में जिसे ध्वनि-विज्ञान कहते हैं, उसके लिए प्राचीन शब्द 'शिक्षा' था। शिक्षा का अर्थ है—स्वरों और व्यंजनों आदि के उच्चारण की शिक्षा देना। सायण ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका (पृष्ठ ४९) में शिक्षा का लक्षण दिया है—'वर्णस्वराद्युच्चारण-प्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा।' शिक्षा में ही उदात्त आदि स्वरों का भी ज्ञान कराया जाता था।

तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षा के ६ अंगों का वर्णन है—वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और संतान।

वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम संतानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः। (तैत्ति० १-२)

इसका विवेचन पाणिनीय-शिक्षा आदि ग्रन्थों में मिलता है। पाणिनीय-शिक्षा के अनुसार इनकी व्याख्या इस प्रकार है—(१) **वर्ण**—अक्षर को ही वर्ण कहते हैं। वैदिक और लौकिक संस्कृत में वर्णों की संख्या ६३ या ६४ मानी गई है। वर्णों का शुद्ध उच्चारण एवं उनका शुद्ध ज्ञान वर्ण-शिक्षा का विषय है। (२) **स्वर**—स्वर तीन हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। इनके उच्चारण का ज्ञान इसका विषय है। पाणिनीय-शिक्षाकार ने निषाद, ऋषभ आदि सात स्वरों का भी उदात्त आदि में विभाजन प्रस्तुत किया है।(३) **मात्रा**—स्वरों के उच्चारण में लगने वाले समय को 'मात्रा' कहते हैं। ये तीन हैं—ह्रस्व (एक मात्रा), दीर्घ (२ मात्रा), प्लुत (३ मात्रा)। (४) **बल**—वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त होने वाले स्थान और प्रयत्न को

'बल' कहते हैं। वर्णों के उच्चारण में श्वास-नली से आने वाली वायु मुख में जहाँ अवरुद्ध होती है, उसको उन वर्णों का स्थान कहा जाता है। वर्णों के उच्चारण में उच्चारण-सम्बन्धी अवयवों को जो प्रयास करना पड़ता है, उसे 'प्रयत्न' कहते हैं। इस दृष्टि से कण्ठ, तालु आदि आठ स्थान हैं। प्रयत्न दो प्रकार के हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। **(५) साम**—साम का अभिप्राय यह है कि सम और सुस्पष्ट विधि से वर्णों का उच्चारण किया जाए। इसका विवेचन करते हुए पाणिनि ने पाणिनीय शिक्षा में उत्तम पाठकों के ६ गुण बताए हैं (श्लोक ३३)। इसी प्रकार अधम पाठकों के ६ दोष बताए हैं (श्लोक ३२)। साथ ही उच्चारण-सम्बन्धी १९ दोषों का भी उल्लेख किया है। उत्तम वक्ता को इन दोषों का परिमार्जन करना चाहिए (श्लोक ३४-३५)। **(६) सन्तान**—पदों के सांनिध्य या संहिता को सन्तान कहते हैं। संहिता में संधि-नियमों का प्रयोग करना। इसके लिए संधि-नियमों का ज्ञान प्राप्त करना।

यद्यपि शिक्षा-ग्रन्थों की संख्या डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार ६५ है, परन्तु आजकल ९ या १० ही शिक्षाग्रन्थ उपलब्ध हैं।

प्रातिशाख्य—प्रातिशाख्य ग्रन्थ वैदिक काल के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक ध्वनि-विज्ञान के ग्रन्थ हैं। ये शिक्षा-ग्रन्थों में प्रतिपादित ध्वनि-विज्ञान का ही विशद विवेचन करते हैं। वेद की विभिन्न शाखाओं से संबद्ध होने के कारण इनको 'प्रातिशाख्य' कहते थे। प्रतिशाखा से प्रातिशाख्य बना है। विभिन्न प्रातिशाख्यों में अपनी-अपनी शाखा से सम्बद्ध ध्वनि-उच्चारण और व्याकरण का विस्तृत विवेचन दिया है। ध्वनि से संबद्ध होने के कारण ये शिक्षा-ग्रन्थ हैं और व्याकरण का प्रारम्भिक रूप प्रस्तुत करने के कारण ये प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थ हैं।

सम्प्रति ६ प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) शौनककृत ऋक्-प्रातिशाख्य, (२) कात्यायनकृत शुक्ल-यजुः-प्रातिशाख्य, (३) तैत्तिरीयसंहिता का तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य, (४) मैत्रायणी-संहिता का मैत्रायणी-प्रातिशाख्य (ये दोनों कृष्णयजुर्वेद के प्रातिशाख्य हैं), (५) सामवेद का पुष्पसूत्र, (६) अथर्ववेद का शौनककृत अथर्व-प्रातिशाख्य।

निरुक्त—निरुक्त का अर्थ है—निर्वचन, अर्थात् शब्दों में प्रकृति और प्रत्यय का विवेचन करना। इस प्रकार निरुक्त निर्वचन-शास्त्र और व्युत्पत्ति-शास्त्र है। व्युत्पत्ति में एक ओर धातु या प्रकृति है, दूसरी ओर प्रत्यय। इसको दूसरे शब्दों में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व कह सकते हैं। पद-विज्ञान के अर्थतत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्वों का प्रारम्भिक विवेचन निरुक्त में मिलता है। निरुक्त की परिभाषा में इसके पाँच प्रतिपाद्य विषय बताए गए हैं—(१) वर्णागम, (२) वर्ण-विपर्यय, (३) वर्ण-विकार, (४) वर्ण-नाश, (५) धातुओं का अर्थ-विस्तार।

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च, द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥

उपर्युक्त ५ विषयों में भाषाविज्ञान के ३ तत्त्वों का समावेश है—ध्वनि-विज्ञान, पद-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान।

संप्रति यास्क-कृत निरुक्त ही इस विषय का प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध है। यास्क

का समय ८०० ई० पू० के लगभग माना जाता है। यास्क से प्राचीन १७ निरुक्तकारों के नाम मिलते हैं, परन्तु उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। निरुक्त के दो खण्ड हैं—निघण्टु और निरुक्त। **निघण्टु**—यह वैदिक शब्दकोश है। इसमें ५ अध्याय हैं। इसके प्रथम ३ अध्यायों में पर्यायवाची शब्द हैं। निरुक्त के प्रथम तीन अध्यायों में इन पर्यायवाची शब्दों की व्याख्या है, अत: इन तीन अध्यायों को 'नैघण्टुक काण्ड' कहते हैं। निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में कठिन और अस्पष्ट वैदिक शब्द दिए हैं। निरुक्त के ४ से ६ अध्यायों में इन शब्दों की व्याख्या और स्पष्टीकरण है, अत: इसे 'नैगम काण्ड' कहते हैं।

निघण्टु के पंचम अध्याय में देवता-वाचक शब्द हैं। इनकी व्याख्या निरुक्त के ७ से १२ अध्याय में है। इसे 'दैवत काण्ड' कहते हैं। इस प्रकार निरुक्त निघण्टु की ही व्याख्या या भाष्य है।

निरुक्त का भाषाशास्त्रीय महत्त्व—

१. यह व्युत्पत्ति-विज्ञान (Etymology) का आदि-ग्रन्थ है। संसार में इससे प्राचीन व्युत्पत्ति-विज्ञान का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है। इसमें १२९८ शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा (The Etymologies of Yaska, १९५३) के अनुसार इनमें ८४९ प्राचीन ढंग की हैं, २२४ वैज्ञानिक और २२५ अस्पष्ट।

२. शब्दों के नामकरण पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है। इसमें यौगिक और रूढ़ शब्दों का विवेचन शास्त्रीय ढंग से किया गया है।

३. सर्वप्रथम पदविभाजन (Parts of Speech) प्रस्तुत किया है। पद के ४ प्रकार बताए हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात। ('चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च', निरुक्त १-१)

४. अर्थविज्ञान का आदि-स्रोत है। शब्दों के निर्वचन आदि में अर्थ के महत्त्व पर सर्वप्रथम यास्क ने बल दिया है। ('अर्थनित्य: परीक्षेत', निरुक्त २-१)

५. ध्वनि-विज्ञान की विविध विशेषताओं—वर्ण-विकार, वर्ण-लोप, वर्ण-विपर्यय, वर्णागम, आदि-लोप, अन्तलोप, उपधालोप, द्विवर्णलोप आदि का सर्वप्रथम निरुक्त में वर्णन हुआ है। (निरुक्त २-१)

६. संज्ञा-शब्दों को धातुज माना है। इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति धातुओं से मानी है। धातु या क्रियाओं में जब क्रिया या भाव की प्रधानता होती है, तब उसे क्रिया-वाचक शब्द कहते हैं। धातु में जब सत्त्व या द्रव्य की प्रधानता होती है तो उसे संज्ञा-शब्द कहते हैं। जैसे—गम् धातु से संज्ञा-शब्द गति, गमन आदि और क्रिया-शब्द गच्छति आदि। यास्क और प्राचीन निरुक्तकार सभी शब्दों को धातुज मानते हैं। (निरुक्त १-१२, १३)

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि निरुक्त व्युत्पत्तिशास्त्र (Etymology), भाषा-विज्ञान (Philology) और अर्थ-विज्ञान (Semantics) का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ है।

१३.२. पाणिनि एवं पाणिनीय वैयाकरण

(१) पाणिनि

आचार्य पाणिनि विश्व के सबसे बड़े वैयाकरण हैं। भाषा-शास्त्र के इतिहास में इनका नाम मूर्धन्य है। भारतीय एवं पाश्चात्त्य सभी भाषाशास्त्री इस विषय में एक मत हैं कि पाणिनि ने ही सर्वप्रथम भाषाशास्त्र की सर्वांगीण व्याख्या की है। उन्होंने संस्कृत भाषा का जितना सूक्ष्म विवेचन किया है, उतना विश्व की किसी भाषा का व्यापक अध्ययन नहीं हुआ है। पाणिनि का व्याकरण पाश्चात्त्य भाषाशास्त्रियों के लिए भी आदर्श ग्रन्थ रहा है। अतएव सभी मूर्धन्य भाषाशास्त्रियों ने पाणिनि के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है। पाणिनि ने भाषाशास्त्र के विभिन्न अंगों—ध्वनि-विज्ञान, पदविज्ञान, वाक्यविज्ञान, अर्थ-विज्ञान और तुलनात्मक व्याकरण को बहुत आगे बढ़ाया है।

जीवन-परिचय—पाणिनि के जीवन-चरित का प्रामाणिक विवरण अप्राप्य है। कुछ प्राप्त विवरणों के अनुसार इनकी माता का नाम 'दाक्षी' था। महाभाष्य (१-१-२०) में पाणिनि को दाक्षीपुत्र कहा गया है। कैयट के अनुसार पाणिनि के पिता का नाम 'पणिन्' था। पाणिनि का एक नाम 'शालातुरीय' है। इससे ज्ञात होता है कि इनके पूर्वज शलातुर ग्राम (पेशावर में अटक के समीप लाहुर ग्राम, प्राचीन नाम शलातुर) के निवासी थे। इनकी मृत्यु के विषय में पंचतंत्र के 'सिंहो व्याकरणस्य०' श्लोक के आधार पर किंवदन्ती है कि पाणिनि को एक शेर ने मारा था।

पाणिनि की रचनाएँ—अष्टाध्यायी—यह पाणिनि की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसमें लौकिक संस्कृत के साथ ही वैदिक व्याकरण भी दिया गया है। यह सूत्र-पद्धति से लिखा गया है। इसमें आठ अध्याय हैं, अतः ग्रन्थ का नाम 'अष्टाध्यायी' पड़ा। इसमें सूत्रों की संख्या ३९९७ है। इसके विभिन्न अध्यायों में इन विषयों का विवेचन है—संधि, कारक, कृत् और तद्धित प्रत्यय, समास, सुबन्त और तिङन्त प्रकरण, प्रक्रियाएँ, परिभाषाएँ, द्विरुक्त आदि कार्य तथा स्वर-प्रक्रिया।

इसके अतिरिक्त पाणिनि की अन्य रचनाएँ ये मानी जाती हैं—(१) धातु-पाठ, (२) गणपाठ, (३) उणादिसूत्र, (४) लिंगानुशासन। ये चारों अष्टाध्यायी के परिशिष्ट के रूप में हैं। (५) पाणिनीय शिक्षा। इनके अतिरिक्त दो अन्य ग्रन्थ पाणिनि के नाम से मिलते हैं, परन्तु इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। ये ग्रन्थ हैं—(१) जाम्बवती-विजय या पाताल-विजय (महाकाव्य), (२) द्विरूपकोष (कोषग्रन्थ)।

पाणिनि का समय—पाणिनि का समय विवादग्रस्त है। इनका समय विभिन्न विद्वान् सातवीं शती ई० पू० से चतुर्थ शती ई० पू० के मध्य मानते हैं। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' ग्रन्थ में सभी मतों की आलोचना करते हुए निष्कर्ष दिया है कि पाणिनि का समय ४५० ई० पू० से ४०० ई० पू० के मध्य है। पुष्ट प्रमाणों के कारण यह मत सर्वाधिक मान्य है।

पाणिनि का भाषाशास्त्र को योगदान

१. माहेश्वर सूत्र—१४ माहेश्वर सूत्रों में संस्कृत को पूरी वर्णमाला दी गई है।

इसमें क्रम है—स्वर, अन्तस्थ, पंचम, चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय और प्रथम स्पर्श वर्ण, ऊष्म ध्वनियाँ। ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से यह क्रम वैज्ञानिक है।

२. **प्रत्याहार**—१४ सूत्रों से अनेक प्रत्याहार बनते हैं। प्रत्याहार का अर्थ है—संक्षेप करने की विधि। इसके द्वारा प्रारम्भिक और अन्तिम संकेत लेने से बीच के वर्णों या प्रत्ययों आदि का संग्रह हो जाता है। जैसे—अच् = स्वर, अ से च् तक। हल् = व्यंजन, ह से ल् तक। संक्षेप की यह विधि अत्यन्त उपादेय मानी गई है।

३. **सन्धि-नियम**—इनके द्वारा ध्वनि-विज्ञान के वर्ण-परिवर्तन सम्बन्धी सिद्धान्तों का विशद ज्ञान होता है।

४. **पदविज्ञान**—अंगाधिकार प्रकरण में प्रकृति और प्रत्यय का सूक्ष्म विवेचन है। सुबन्त और तिङन्त रूपों में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का विशद विश्लेषण है।

५. **पदविभाजन**—पाणिनि ने पदों का दो भागों में विभाजन किया है—सुबन्त और तिङन्त। विश्व में पदों के जितने भी विभाजन हुए हैं, उनमें यह सबसे अधिक वैज्ञानिक है। यास्क ने पद के चार भेद माने थे और पश्चिमी विद्वान् पद के ८ भेद मानते हैं। पाश्चात्त्य विभाजन पाणिनि के समक्ष बहुत हीन सिद्ध होता है।

६. ध्वनियों का स्थान और प्रयत्न के अनुसार वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। यह ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

७. सभी शब्दों का आधार 'धातु' को माना है। उससे ही उपसर्ग या प्रत्यय लगने पर शब्द बनते हैं।

८. **अर्थविज्ञान**—कृत् और तद्धित प्रकरण तथा प्रक्रियाओं आदि में प्रत्येक प्रत्यय का अर्थ बताकर अर्थविज्ञान का आधार तैयार किया है।

९. **तुलनात्मक भाषाशास्त्र**—पाणिनि ने लौकिक और वैदिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन करके 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र' को जन्म दिया है। साथ ही प्राचाम्, उदीचाम् आदि भेदों के उल्लेख से प्रान्तीय विभाषाओं का भी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

१०. **पारिभाषिक शब्दों का निर्माण**—पाणिनि ने टि, घु, घि, इत्, घ आदि पारिभाषिक शब्दों से छोटे पारिभाषिक शब्दों के निर्माण की आधारशिला रखी है।

(२) कात्यायन

पाणिनि के परवर्ती वैयाकरणों में कात्यायन का स्थान प्रथम है। कात्यायन ने अष्टाध्यायी के सूत्रों पर वार्तिकों की रचना की है। अष्टाध्यायी के सूत्रों में आवश्यक संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन के लिए कात्यायन ने जो नियम बनाए हैं, उन्हें वार्तिक कहते हैं। वार्तिक का लक्षण है—

उक्तानुक्तदुरुक्त-चिन्ता वार्तिकम्। (काव्यमीमांसा, पृ० ५)

इसमें **उक्त** का अर्थ है—वर्णित नियमों के अपवाद नियमों का वर्णन, **अनुक्त** छूटे हुए नियमों का उल्लेख, **दुरुक्त**—भूलचूक का सुधार। इससे ज्ञात होता है कि कात्यायन ने पाणिनि के सूत्रों से छूटे हुए नियमों का उल्लेख किया है, अपवादों का वर्णन किया है

और भूलचूक का सुधार किया है। वार्तिक की दूसरी व्याख्या भी है---

'वृत्तेर्व्याख्यानं वार्तिकम्'। सूत्रों के तात्पर्य को बताने वाली व्याख्या को वृत्ति कहते हैं और वृत्ति के विशद विवेचन को वार्तिक कहते हैं। कात्यायन ने अपने वार्तिकों में इन लक्ष्यों की पूर्ति की है। अतएव कात्यायन को वार्तिककार भी कहा जाता है।

पतंजलि के अनुसार कात्यायन दाक्षिणात्य थे। इनका दूसरा नाम वररुचि भी है। कात्यायन का समय ३५० ई० पू० के लगभग माना जाता है। वार्तिकों के अतिरिक्त इनकी एक काव्य-रचना **'स्वर्गारोहण'** भी मानी जाती है।

भाषाशास्त्र को योगदान

१. भाषा में विकास—उपर्युक्त उक्त-अनुक्त से ज्ञात होता है कि कात्यायन ने भाषा-सम्बन्धी विकास का उल्लेख किया है। पाणिनि के बाद जो नये शब्द विकसित हुए, उनका विवेचन किया गया।

२. लोक-व्यवहार को महत्त्व—कात्यायन ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध आदि के विषय में लोक-व्यवहार को प्रधानता दी है (लोकतः, महा० १-१)। भाषा का नियामक लोकव्यवहार है, न कि व्याकरण।

३. विभाषाओं की सत्ता—कात्यायन ने 'सर्वे देशान्तरे' वार्तिक में विभाषाओं में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न शब्दों का उल्लेख किया है। साथ ही उल्लेख किया है कि एक ही शब्द विभिन्न भाषाओं में भिन्नार्थक हो जाता है। जैसे—संस्कृत में 'शव' का 'लाश' और कम्बोज में 'जाना' अर्थ है।

४. शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध—'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' से अपना मत व्यक्त किया है कि सार्थक शब्दों का प्रयोग होता है और उनका कुछ न कुछ अर्थ भी अवश्य होता है।

(३) पतंजलि

पाणिनीय व्याकरण में मुनित्रय का उल्लेख है। इसमें तीन मुनि आते हैं—पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि। इनमें भी पूर्व की अपेक्षा बाद वाला आचार्य अधिक प्रामाणिक है। **'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'**। पतंजलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी और कात्यायन के वार्तिकों का आश्रय लेते हुए अष्टाध्यायी पर महाभाष्य नाम की सर्वांगीण व्याख्या की है। भाषा की सरलता, विशदता, स्वाभाविकता और विषय-प्रतिपादन की उत्कृष्ट शैली के कारण महाभाष्य सारे संस्कृत वाङ्मय में आदर्श ग्रन्थ है। व्याकरण के दार्शनिक तत्त्वों को भी सरल और सुबोध भाषा में समझाया गया है। यह व्याकरण का ही ग्रन्थ न होकर एक विश्वकोष है। इसमें तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक, भौगोलिक, धार्मिक और सांस्कृतिक तथ्यों का भण्डार है। इसमें भाषाशास्त्र के सभी पक्षों पर विशद चिन्तन हुआ है।

पतंजलि पुष्यमित्र (१५० ई० पू०) के समय में हुए थे। ये पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ में ऋत्विज् थे। अतः इनका समय १५० ई० पू० के लगभग है। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं—

(१) अष्टाध्यायी की विस्तृत व्याख्या—महाभाष्य, (२) पातंजल योगसूत्र (योगदर्शन), (३) सामवेदीय निदान-सूत्र, (४) महानन्द-काव्य, (५) चरकसंहिता का परिष्कार।

भाषाशास्त्र को योगदान

१. व्याकरण के दार्शनिक पक्ष की स्थापना।

२. स्फोट और ध्वनि सिद्धान्तों की स्थापना।

३. शब्द और अर्थ के स्वरूप का निर्णय।

४. शब्द की नित्यता और अनित्यता का विशद विवेचन।

५. भाषाशास्त्र में विभाषाओं का सोदाहरण महत्त्व प्रस्तुत करना।

६. 'सर्वे देशान्तरे' (अ० १) के द्वारा संस्कृत को विश्वभाषा के रूप में प्रस्तुत करना। विश्व की विभिन्न भाषाओं में स्थानीय अर्थ-भेद का उल्लेख करना।

७. भाषा के विभिन्न रूप---विभाषा, अपभ्रंश आदि का उल्लेख करना। प्रान्तीय भेद से एक अर्थ में विभिन्न प्रान्तीय प्रयोगों का उल्लेख करना।

८. ध्वनिविज्ञान, निर्वचन, व्याकरण और दर्शनशास्त्र का एकत्र समन्वय प्रस्तुत करना।

९. 'लोकतः' के द्वारा लोकव्यवहार एवं लोक-प्रचलित भाषा के स्वरूप को साहित्यिक भाषा से अधिक प्रामाणिक मानना।

१०. ध्वनिविज्ञान, पदविज्ञान और अर्थविज्ञान के गूढ़ सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण।

१३.३. अष्टाध्यायी के व्याख्याकार

जयादित्य और वामन (६०० से ६६० ई० के लगभग)

जयादित्य और वामन ने अष्टाध्यायी की वृत्ति (टीका या व्याख्या) लिखी है। यह 'काशिका' नाम से प्रसिद्ध है। काशिका के दो अर्थ माने गए हैं—(१) सूत्रार्थ की प्रकाशक, (२) काशी में लिखी गई। अष्टाध्यायी के प्रथम ५ अध्यायों की व्याख्या जयादित्य ने की है और अन्तिम ३ अध्यायों की वामन ने। ईत्सिंग (६६३-६६६ ई०) ने अपनी भारत-यात्रा के विवरण में इसकी प्रसिद्धि का उल्लेख किया है। इसकी विशेषताएँ हैं—(१) प्राचीन मतों की आलोचना, (२) गणपाठ का समावेश, (३) कुछ स्थलों पर महाभाष्य के मन्तव्यों का खण्डन करके प्राचीन आचार्यों के मतों की पुष्टि, (४) अष्टाध्यायी की प्राचीन पद्धति को लोकप्रिय बनाना, (५) विषय की सूक्ष्मता के साथ ही सरल प्रतिपादन शैली।

इसकी प्रसिद्धि के कारण इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं। इनमें आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि (७२५-७५० ई०)-कृत 'काशिका-विवरणपंजिका' या 'न्यास' और हरदत्त मिश्र (१०५९ ई०)-कृत 'पदमंजरी' टीकाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं।

१३.४. महाभाष्य के व्याख्याकार

१. भर्तृहरि (३४० ई० के लगभग)

महाभाष्य के व्याख्याकारों में भर्तृहरि का नाम सर्वोत्कृष्ट है। इन्होंने महाभाष्य की

'महाभाष्य-दीपिका' नाम से टीका की है। इनका जीवन-चरित अप्राप्त है। इनके गुरु का नाम वसुरात था। ये विक्रमादित्य के भाई माने जाते हैं। इनका समय ३४० ई० के लगभग माना जाता है। वाक्यपदीय के टीकाकार हेलाराज ने इनको महाकवि, महायोगी, महाराज तथा अवन्ती का राजा माना है। इनकी दो कृतियाँ उपलब्ध हैं—(१) महाभाष्य-दीपिका—इसको ही 'त्रिपदी महाभाष्य' भी कहते हैं, (२) वाक्यपदीय।

१. महाभाष्य-दीपिका—यह महाभाष्य की व्याख्या है। ईत्सिंग ने इसमें २५ हजार श्लोक माने हैं। इसमें महाभाष्य के गूढ़ अंशों की विशद व्याख्या है।

२. वाक्यपदीय—यह व्याकरणदर्शन एवं भाषाशास्त्र का मूर्धन्य ग्रन्थ है। इसमें भाषा के दार्शनिक पक्ष का जितना सूक्ष्म और वैज्ञानिक विवेचन हुआ है, उतना विश्व के अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं। इसमें ३ काण्ड हैं—**(१) ब्रह्मकाण्ड**—इसमें शब्द-ब्रह्म की स्थापना है। स्फोट-सिद्धान्त और वाक्य को भाषा की सार्थक इकाई-विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। **(२) वाक्यकाण्ड**—इसमें पद-पदार्थ, वाक्य और वाक्यार्थ का विवेचन है। **(३) पदकाण्ड**—इसमें व्याकरण से संबद्ध विषयों का दार्शनिक विवेचन है। जैसे—शब्दार्थ जाति या व्यक्ति, द्रव्य-विचार, शब्दार्थ-संबन्ध, गुण, दिशा, काल, कारक, संख्या, परस्मैपद, आत्मनेपद, लिंग और समास।

यह इतना उच्चकोटि का प्रौढ़ ग्रन्थ है कि केवल विदेशों में ही नहीं, अपितु भारतवर्ष में भी सम्पूर्ण ग्रन्थ को समझने वाले व्यक्तियों का अभाव-सा है। इसमें सूत्र-रूप में भाषाविषयक सैकड़ों बातों का विवेचन है। इसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ दी जा रही हैं—

भाषाशास्त्र को योगदान

१. शब्दब्रह्म, स्फोटब्रह्म या वाक्यब्रह्म की स्थापना।

२. भाषाशास्त्र के दार्शनिक पक्ष की स्थापना।

३. भाषा की इकाई वाक्य है, इस सिद्धान्त की स्थापना।

४. वाणी का आधार वाक्य है और भाषा का आधार पद।

५. भाषाशास्त्र को नवीन, मौलिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण देना।

६. भाषा के भौतिक, रचनात्मक और दार्शनिक पक्ष का समन्वय।

७. लोक-भाषा और लोक-व्यवहार के महत्त्व का प्रबल समर्थन।

८. वक्ता और श्रोता के आदान-प्रदान का आद्यन्त विवेचन।

९. भाषा वक्ता और श्रोता के बीच माध्यम है, जिससे दोनों ओर भावों का आदान-प्रदान होता है।

१०. तुलनात्मक विवेचन के आधार पर सिद्धान्तों की स्थापना करना। पूर्वाग्रह का अभाव। सभी सिद्धान्तों को औचित्य के आधार पर अपनाना या छोड़ना।

इस प्रकार भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के तीन काण्डों में से प्रथम ब्रह्मकाण्ड या आगमकाण्ड में शब्द-ब्रह्म की स्थापना की है। द्वितीय काण्ड को 'वाक्य-काण्ड' भी कहते हैं। इसमें वाक्यब्रह्म और वाक्यार्थ प्रतिभा की स्थापना की है। तृतीय काण्ड को

'पद-काण्ड' या 'प्रकीर्ण-काण्ड' भी कहते हैं। इसमें व्याकरण से संबद्ध लिंग, काल, वचन, समास, कारक आदि का स्पष्टीकरण किया गया है।

२. कैयट (१०३५ ई० के लगभग)

कैयट ने महाभाष्य की 'प्रदीप' नाम से टीका की है। इसमें इन्होंने महाभाष्य के कठिन स्थलों का विद्वत्तापूर्ण स्पष्टीकरण किया है। इन्होंने वाक्यपदीय के तीनों काण्डों से सैकड़ों कारिकाएँ उद्‌धृत की हैं। पाणिनीय सम्प्रदाय में 'प्रदीप' का बहुत आदर है। विद्वानों का मत है कि प्रकाश-स्तम्भस्वरूप इस प्रदीप के आश्रय से महाभाष्य-रूपी अगाध सिन्धु को सरलता से पार किया जा सकता है। प्रदीप के महत्त्व के कारण इस पर १५ लेखकों ने टीकाएँ लिखी हैं। इनमें नागेश भट्ट-कृत 'उद्योत' टीका सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

कैयट के पिता का नाम जैयट था। ये काश्मीरी पण्डित थे। इनका समय १०३५ ई० के लगभग है।

१३.५. कौमुदी-परम्परा के वैयाकरण

१. भट्टोजि दीक्षित (१४५० ई० के लगभग)

भट्टोजि दीक्षित कौमुदी-परम्परा के जन्मदाताओं में हैं। इन्होंने सिद्धान्त-कौमुदी की रचना की। अष्टाध्यायी के सारे सूत्रों को प्रकरण के अनुसार विभाजित करके उन्हें १४ प्रकरणों में विभाजित किया गया है। इसमें एक प्रकरण से सम्बद्ध सारे सूत्र एक स्थान पर दिए गये हैं। यह पद्धति संस्कृत-व्याकरण-जगत् में सबसे अधिक प्रचलित हुई। आज भी इस पद्धति का प्रचार है। भट्टोजि दीक्षित उच्चकोटि के वैयाकरण थे। इन्होंने व्याकरण के गूढ़ अर्थों का कौस्तुभ और मनोरमा में सुन्दर शैली में स्पष्टीकरण किया है।

इनके तीन प्रमुख ग्रन्थ हैं—(१) शब्दकौस्तुभ (अष्टाध्यायी के सूत्रों पर टीका), (२) सिद्धान्तकौमुदी, (३) प्रौढमनोरमा (सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या)। ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था। इनका समय १४५० ई० के लगभग है।

२. नागेश भट्ट (१६७० से १७५० ई० के मध्य)

इनका दूसरा नाम नागोजी भट्ट भी है। पतंजलि और भर्तृहरि के पश्चात् भाषाशास्त्रीय मौलिक चिन्तकों में नागेश भट्ट का नाम आता है। ये व्याकरण, साहित्य, अलंकार, दर्शन आदि विषयों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनका समय १६७०-१७५० ई० के मध्य माना जाता है। ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शिवभट्ट और माता का नाम सतीदेवी था।

इन्होंने व्याकरण पर एक दर्जन से अधिक ग्रन्थ लिखे हैं। इनकी प्रमुख रचनाएँ ये हैं—(१) उद्योत (महाभाष्य पर कैयट की प्रदीप टीका की टीका), (२) लघु-शब्देन्दुशेखर (प्रौढमनोरमा की व्याख्या), (३) बृहत्शब्देन्दुशेखर (प्रौढमनोरमा की विस्तृत व्याख्या), (४) परिभाषेन्दुशेखर, (५) मंजूषा, (६) लघुमंजूषा, (७) परम-

लघु-मंजूषा (इन तीनों में व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का विवेचन है), (८) स्फोटवाद (इसमें स्फोटवाद का विवेचन है)। नागेश के ग्रन्थों में स्फोटवाद और मंजूषा में भाषाशास्त्रीय विवेचन उच्चकोटि का है।

३. वरदराज (१४७५ ई० के लगभग)

ये भट्टोजि दीक्षित के शिष्य हैं। इन्होंने सिद्धान्तकौमुदी के दो संक्षिप्त ग्रन्थ लिखे हैं—(१) मध्यसिद्धान्तकौमुदी, (२) लघुसिद्धान्तकौमुदी। इनमें बालोपयोगी दृष्टि से व्याकरण को प्रस्तुत किया गया है। इनका समय १४७५ ई० के लगभग है।

अन्य वैयाकरण

१. मण्डन मिश्र (६४० ई० से पूर्व)—स्फोटवाद पर 'स्फोटसिद्धि' नाम का प्रौढ ग्रन्थ लिखा है। इनका शंकराचार्य से शास्त्रार्थ भी हुआ था।

२. पुण्यराज और हेलाराज (११वीं शती ई०)—पुण्यराज ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड की तथा हेलाराज ने तृतीय काण्ड की टीका लिखी है। दोनों व्याकरण-दर्शन के अगाध पण्डित थे। इन दोनों के कठिन परिश्रम का ही फल है कि वाक्यपदीय बोधगम्य हो सका है।

३. कौण्ड भट्ट (१५००-१५५० ई०)—इनके दो ग्रन्थ हैं—'वैयाकरणभूषण' और 'वैयाकरणभूषणसार'। मंजूषा के तुल्य इसमें भी भाषाशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन हुआ है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है।

१३.६. पाणिनि-भिन्न व्याकरण-सम्प्रदाय

१. चान्द्र शाखा—इस शाखा के प्रसिद्ध वैयाकरण 'चन्द्रगोमिन्' हैं। इनका समय ५वीं शती ई० के लगभग है। पाणिनि आदि से इनका व्याकरण संक्षिप्त और सरल है। इसमें ३१०० सूत्र हैं। इनमें धातुपाठ, गणपाठ आदि भी हैं। चन्द्रगोमिन् बौद्ध थे। इस शाखा का प्रचार लंका और तिब्बत में विशेष रूप से हुआ। यह व्याकरण की बौद्ध शाखा मानी जाती है।

२. जैनेन्द्र शाखा—यह जैन वैयाकरणों की शाखा थी। इसके प्रथम वैयाकरण अन्तिम तीर्थंकर महावीर माने जाते हैं। पाणिनि और कात्यायन के नियम प्रायः उसी प्रकार दिए हैं। इसमें मौलिकता का अभाव है।

३. कातन्त्र शाखा—इसे 'कौमार' या 'कालाप व्याकरण' भी कहते हैं। इसमें १४०० सूत्र हैं। इसका प्रारम्भ दूसरी शती से हुआ है। सातवीं शती में इसका कश्मीर में प्रचार था। १४वीं शती से बंगाल में भी इसका प्रचार हो गया। अल्बरूनी ने कलाप का उल्लेख किया है, अतः यह प्राचीन व्याकरण है।

४. सारस्वत शाखा—'सारस्वत व्याकरण' के रचयिता अनुभूतिस्वरूपाचार्य हैं। ये संक्षेप और सरलता के लिए प्रसिद्ध हैं। इसमें पाणिनि के ४ हजार सूत्रों के स्थान पर केवल ७०० सूत्र हैं। इस पर 'चन्द्रिका' नाम की टीका है, अतः इसे 'सारस्वत-चन्द्रिका'

भी कहते हैं। इसका समय १३वीं शती है। पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में इसका अधिक प्रचलन था। १८वीं शती से यह शाखा पाणिनीय व्याकरण के कारण प्रायः लुप्त हो गई है।

५. वोपदेव शाखा—इसके प्रवर्तक वोपदेव (१३वीं शती ई०) हैं। इनका व्याकरण ग्रन्थ 'मुग्धबोध' है। यह भी सरलता और सुबोधता के लिए प्रसिद्ध है। इसका प्रचार बंगाल में ही अधिक रहा।

६. पालि-व्याकरण—पालिभाषा के दो व्याकरण-ग्रन्थ मुख्य रूप से प्राप्त होते हैं। **(१) कच्चायन (कात्यायन)**-लिखित 'कच्चायन-व्याकरण'। इस पर कई टीकाएँ लिखी गई हैं, जिनमें सबसे प्रसिद्ध विमलबुद्धि की 'न्यास टीका' है। ये संस्कृत वैयाकरण कात्यायन से भिन्न हैं। **(२) मोग्गलान** (मौद्गलायन)-इन्हें मोग्गलायन भी कहा जाता है। इनका प्रधान ग्रन्थ 'मोग्गलायन-व्याकरण' है। इन्होंने प्राचीन पालि-व्याकरण, पाणिनि और चन्द्रगोमिन् आदि से अधिक सहायता ली है।

१३.७. प्राकृत-व्याकरण

तुलनात्मक-अध्ययन का कार्य पुनः प्रारम्भ करने का श्रेय प्राकृत-वैयाकरणों को है। इन्होंने संस्कृत-भाषा को प्रकृति (आधार) मानकर विविध प्राकृतों का विवरण दिया है। इनमें विशेष उल्लेखनीय ३ व्याकरण ग्रन्थ हैं—

१. वररुचि-कृत प्राकृत-प्रकाश—वररुचि का दूसरा नाम वररुचि कात्यायन भी है। ये वार्तिककार कात्यायन से भिन्न हैं। इनका समय ५वीं शती ई० माना जाता है। यह प्राकृत-भाषा का सबसे प्राचीन व्याकरण है। प्राकृत-प्रकाश में १२ परिच्छेद (अध्याय) हैं। प्रथम ९ अध्यायों में संस्कृत को आधार मानकर महाराष्ट्री प्राकृत का विवरण दिया है। दशम अध्याय में शौरसेनी के आधार पर पैशाची का, ११वें में शौरसेनी के ही आधार पर मागधी का और १२वें में संस्कृत के आधार पर शौरसेनी प्राकृत का विवरण दिया है। शौरसेनी के केवल भेदक लक्षणों का वर्णन है, शेष के विषय में कहा गया है कि महाराष्ट्री के तुल्य समझें (शेषं महाराष्ट्रीवत्)।

२. हेमचन्द्र का शब्दानुशासन—इसका दूसरा नाम 'सिद्ध-हेमचन्द्र' या संक्षिप्त नाम 'सिद्ध-हैम' है। इसका समय १२वीं शती ई० है। हेमचन्द्र अनेक विषयों के ज्ञाता हैं और इन्होंने अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे हैं। शब्दानुशासन संस्कृत का व्याकरण है। इसके ७ अध्यायों में संस्कृत का व्याकरण है और ८वें अध्याय में प्राकृत-व्याकरण है। इसमें इन्होंने महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश का बहुत विस्तृत और सुन्दर विवेचन किया है। हेमचन्द्र के अपभ्रंश-सूत्र विशेष महत्त्व के हैं, क्योंकि उन्होंने समसामयिक साहित्य से उदाहरण लिये हैं। तुलनात्मक अध्ययन एवं अपभ्रंश के विकास के लिए यह व्याकरण अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। हेमचन्द्र ने सूत्र अपने लिखे हैं और उदाहरण दूसरों के ग्रन्थों से दिए हैं। अतः भाषावैज्ञानिक दृष्टि से ही नहीं अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है। अनेक कवियों के समय-निर्धारण में इससे विशेष सहायता मिलती है।

३. मार्कण्डेय-कृत 'प्राकृत-सर्वस्व'—इसका समय १७वीं शती ई० माना जाता है। मार्कण्डेय ने प्राकृत के ३ वर्ग स्थापित किए हैं—**(१) भाषा**—इसके अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, प्राच्या और अवन्ती की गणना की है। **(२) विभाषा**—इसके अन्तर्गत शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरिका और ढक्की प्राकृतों को लिया है। **(३) अपभ्रंश**—इसमें नागर, व्राचड और उपनागर को लिया है। इसके अतिरिक्त पैशाची का एक अलग वर्ग माना है और इसके केकय, शूरसेन और पांचाल प्रदेशों के आधार पर तीन प्रकार की पैशाची मानी है।

तुलनात्मक अध्ययन के लिए 'प्राकृत-व्याकरण' बहुत महत्त्व के हैं, क्योंकि इनसे भाषा के क्रमिक विकास का पूरा विवरण प्राप्त होता है।

१३.८. व्याकरणेतर शास्त्रों में भाषा-चिन्तन

वैयाकरणों के अतिरिक्त साहित्यशास्त्रियों, नैयायिकों और मीमांसकों ने अपने शास्त्रों में शब्द-अर्थ, शब्द-अर्थ-संबन्ध-विचार, शब्द-शक्ति, अर्थबोध की प्रक्रिया, अर्थ-निर्णय के साधन, अर्थ-भेद के कारण, पदों और वाक्यों के प्रकार एवं उनके अर्थों का विवेचन, अर्थ-विकास के प्रकार और उनके कारण आदि विषयों पर गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है। ये विवेचन इन शास्त्रों में प्रसंग के अनुसार प्राप्त होते हैं। भाषाशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ये हैं—

(क) साहित्यशास्त्री—(१) आनन्दवर्धन-कृत **'ध्वन्यालोक'**, (२) मम्मट कृत **'काव्यप्रकाश'**, (३) विश्वनाथ-कृत **'साहित्यदर्पण'**, (४) जगन्नाथ-कृत **'रस-गंगाधर'**, (५) दण्डी-कृत **'काव्यादर्श'**, (६) वामन-कृत **'काव्यालंकारसूत्र'**, (७) राजशेखर-कृत **'काव्यमीमांसा'**, (८) राजानकमहिमभट्ट-कृत **'व्यक्ति-विवेक'**, (९) भोज-कृत **'सरस्वती-कण्ठाभरण'**, (१०) अप्पयदीक्षित-कृत **'कुवलयानन्द'** (११) जयदेव-कृत **'कुवलयानन्द'**।

(ख) नैयायिक—(१) 'न्यायदर्शन' वात्स्यायनभाष्य, (२) विश्वनाथ-कृत 'न्यायसिद्धान्त-मुक्तावलि', (३) जयन्त भट्ट-कृत 'न्याय-मंजरी', (४) उदयनाचार्य-कृत 'न्यायकुसुमांजलि', (५) उद्योतकर-कृत 'न्याय-वार्तिक', (६) वाचस्पति मिश्र-कृत 'न्यायवार्तिक-तात्पर्य-टीका', (७) गंगेश-कृत 'तत्त्वचिन्तामणि', (८) रघुनाथ-शिरोमणि-कृत 'दीधिति', (९) जगदीश भट्ट-कृत 'शब्द-शक्ति-प्रकाशिका', (१०) गदाधर भट्ट-कृत 'शक्तिवाद', 'व्युत्पत्तिवाद', 'पदवाक्यरत्नाकर', (११) श्रीधर-कृत 'न्याय-कन्दली'। इनके अतिरिक्त बौद्ध और जैन दार्शनिक भी हैं। उनके उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं—धर्मकीर्ति-कृत 'प्रमाणवार्तिक', 'न्याय-बिन्दु', रत्नकीर्ति-कृत 'अपोह-सिद्धि', प्रभाचन्द्र-कृत 'प्रमेय-कमल-मार्तण्ड', मल्लिषेणसूरि-कृत 'स्याद्वादमंजरी'।

(ग) मीमांसक—मीमांसकों ने शब्द का स्वरूप, शब्दार्थ, वाक्य और वाक्यार्थ आदि पर विशेष विचार किया है। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं—(१) मीमांसादर्शन पर शाबर-भाष्य, (२) कुमारिल भट्ट-कृत 'मीमांसा-श्लोक-वार्तिक' और 'तंत्रवार्तिक', (३) प्रभाकर मिश्र-कृत मीमांसा-भाष्य पर 'बृहती-टीका'।

१३.९. आधुनिक युग के भाषाशास्त्री

यूरोप में भाषाशास्त्र का प्रारम्भ संस्कृत-भाषा की देन है। पाणिनीय-व्याकरण तथा अन्य ग्रन्थों ने तुलनात्मक भाषाशास्त्र को जन्म दिया। इस प्रकार आधुनिक भाषाशास्त्र संस्कृत के आधार पर चला है। भारतीय-भाषाशास्त्र और यूरोपीय भाषाशास्त्र में मौलिक अन्तर यह है कि भारतीय आचार्यों ने भाषा के आन्तरिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष को विशेष रूप से अपनाया है और बाह्य-पक्ष को गौण रखा है। पाश्चात्त्य विद्वानों ने भाषा के बाह्य-पक्ष को बहुत अधिक महत्त्व दिया है और उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष को कम लिया है। अतएव पाश्चात्त्य-भाषाशास्त्रियों में मौलिक चिन्तन का अभाव है। उनके कार्यों में विश्लेषण की प्रधानता है। नवयुग के भाषाशास्त्री पाश्चात्त्य शैली से प्रभावित होकर भाषाविश्लेषण में प्रवृत्त हुए हैं। इस प्रकार भाषाशास्त्र भारत से यूरोप में गया और यूरोप से अपनी मौलिक उद्‌भावनाओं को छोड़कर नवीन साजसज्जा के साथ भारत में आया। अतएव नवीन भाषाशास्त्रियों में मौलिक चिन्तन का अभाव है और विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति की प्रधानता है। नवयुग के भाषाशास्त्रियों में पाश्चात्त्य और भारतीय दोनों प्रकार के विद्वान् हैं। इन्होंने केवल संस्कृत और हिन्दी ही नहीं, अपितु भारत की विभिन्न भाषाओं पर भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इनमें केवल विशेष कार्यों का ही संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है—

(क) पाश्चात्त्य भाषाशास्त्री

१. **बिशप काल्डवेल** (Bishop Caldwell, १८१४-१८९१)—द्राविड भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन (Comparative Grammar of the Dravidian Languages)। यह आज भी प्रामाणिक ग्रन्थ है।

२. **जॉन बीम्स** (John Beames)—(क) 'भारतीय भाषाविज्ञान की रूपरेखा' (Outlines of Indian Philology), (ख) 'भारतीय आर्यभाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' (Comparative Grammar of the Aryan Languages of India)। यह तीन भागों में प्रकाशित हुआ। इसमें हिन्दी, बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, पंजाबी, सिन्धी आदि के व्याकरण की तुलना है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए यह प्रामाणिक ग्रन्थ है।

३. **डॉ० होर्नले** (Dr. Hoernle, १८४१-१९१८)—'पूर्वी हिन्दी के व्याकरण की गौड़ीय भाषाओं से तुलना' (Grammar of Eastern Hindi Compared with the other Gaudian Languages)। इसमें भोजपुरी का व्याकरण दिया है।

४. **डॉ० ट्रम्प** (Dr. Ernst Trumpp)—इनके दो ग्रन्थ हैं—'सिन्धी भाषा के व्याकरण की संस्कृत, प्राकृत एवं संबद्ध भारतीय भाषाओं से तुलना' (Grammar of the Sindhi Language Compared with the Sanskrit, Prakrit and the Cognate Indian Vernaculars)। 'पश्तो-व्याकरण' (Pashto-Grammar)।

५. **ज्यूल ब्लाख्** (Jules Bloch)—(१) भारतीय आर्य-भाषा (L' Indo-Aryan), (२) मराठी भाषा की रचना, (३) द्राविड भाषाओं का व्याकरणिक गठन।

६. **जार्ज ग्रियर्सन** (Sir George Abraham Grierson)—(१) ये भारतीय भाषाओं के महान् विद्वान् थे। इनका विश्वकोष के तुल्य महान् ग्रन्थ 'भारतीय-भाषाओं का सर्वेक्षण' (Linguistic Survey of India) इनकी उज्ज्वल कीर्ति का कारण है। यह ११ भागों में है। ३३ वर्ष के कठोर परिश्रम से लिखा गया है। इसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है। (२) 'बिहारी भाषाओं के सात-व्याकरण'। (३) दो भागों में पैशाची और काश्मीरी भाषा। (४) काश्मीरी कोष।

७. **टर्नर** (R.L. Turner)—इन्होंने प्रामाणिक ग्रन्थ (१) नेपाली कोश (Nepali Dictionary) लिखा है। यह इनके ३५ वर्षों के कठोर परिश्रम का फल है। इसमें तुलनात्मक और ऐतिहासिक विवरण भी है। (२) 'भारतीय आर्यभाषाओं का तुलनात्मक कोष' (Comparative Dictionary of the Aryan Languages)।

८. **केलॉग** (Rev. S.H. Kellogg)—इन्होंने 'हिन्दी भाषा का व्याकरण' (Grammar of Hindi Language) लिखा है। इसमें व्रज भाषा, अवधी, राजस्थानी, बिहारी आदि से तुलना भी प्रस्तुत की गई है। यह कई दृष्टि से आज भी उपादेय है।

९. **वुलनर** (A.C. Woolner)—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'प्राकृत-भाषा की रूपरेखा' (Introduction to Prakrit)। यह प्राकृत भाषा पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

(ख) भारतीय भाषाशास्त्री

१. **रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर**—इन्होंने भारतीय भाषाओं पर बम्बई विश्वविद्यालय में १८७७ ई० में सात व्याख्यान दिए थे। वे १९१४ ई० में 'विल्सन फिलोलोजिकल लेक्चर्स' के नाम से पुस्तक रूप में छपे। ये भारतीय और यूरोपीय भाषा-विज्ञान को समन्वित करने वालों में प्रमुख थे।

२. **तारापोरवाला** (I. J. S. Taraporewala)—इनके दो मुख्य ग्रन्थ हैं—(१) 'भाषाविज्ञान के मूलतत्त्व' (Elements of the Science of Language) १९३१ में प्रकाशित, (२) 'संस्कृत वाक्य-विज्ञान' (Sanskrit Syntax)।

३. **डॉ० पी०डी० गुणे** (डॉ० पाण्डुरंग दामोदर गुणे)—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है—'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान' (An Introduction to Comparative Philology)। यह १९१६-१७ ई० में बम्बई विश्वविद्यालय में दिए गए डॉ० गुणे के व्याख्यानों का संग्रह है।

(ग) संस्कृत भाषा पर कार्य करने वाले विद्वान्

१. **उलेनबेक** (Dr. C.C. Uhlenbeck)—इनकी प्रामाणिक रचना है, 'संस्कृत ध्वनि-विज्ञान' (A Manual of Sanskrit Phonetics)।

२. **डॉ० लक्ष्मणसरूप**—यास्क-कृत निरुक्त का आलोचनात्मक संस्करण, विस्तृत भूमिका और अंग्रेजी अनुवाद।

३. **डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा**—(१) 'भारतीय वैयाकरणों का ध्वनिशास्त्रीय चिन्तन'

(Phonetic Observations of Ancient Indian Grammarians), (२) भारतीय अर्थविज्ञान में अर्थविचार (Analysis of Meaning in Indian Semantics), (३) यास्क-कृत निर्वचनों का आलोचनात्मक अध्ययन (Etymologies of Yaska)।

४. श्री वी०के० राजवाड़े—यास्क के निरुक्त का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

५. श्री विश्वबन्धु शास्त्री—इनका महान् कार्य है—'वैदिक पदानुक्रम-कोश'। इसमें वेदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों के पदों की विस्तृत सूची दी है। यह अनेक विद्वानों के सहयोग से तैयार किया गया है।

६. डॉ० मंगलदेव शास्त्री—'तुलनात्मक भाषाशास्त्र'।

७. डॉ० सूर्यकान्त—'संस्कृत का व्याकरण-मूलक-कोश' (A Grammatical Dictionary of Sanskrit)।

८. डॉ० भोलाशंकर व्यास—(१) 'संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन', (२) 'संस्कृत-भाषा' (टी० बरो के 'संस्कृत लैंग्वेज' का हिन्दी अनुवाद)।

९. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी—(१) 'अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन', (२) 'संस्कृत व्याकरण', (३) 'अथर्ववेदकालीन संस्कृति'।

१०. डॉ० सत्यकाम वर्मा—(१) 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय', (२) 'व्याकरण की दार्शनिक भूमिका', (३) 'संस्कृत व्याकरण का उद्‌भव और विकास', (४) 'वैदिक व्याकरण कोश'।

११. टी० बरो (T. Burrow)—The Sanskrit Language (संस्कृत-भाषा)।

१२. जहागीरदार (R.V. Jahagirdar)—An Introduction to the Comparative Philology of Indo-Aryan Languages (भारतीय आर्यभाषाओं का तुलनात्मक भाषाविज्ञान)।

(घ) हिन्दी भाषा पर कार्य करने वाले विद्वान्

१. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी—(१) 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी', (२) 'राजस्थानी भाषा'।

२. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—(१) हिन्दी भाषा का इतिहास, (२) व्रजभाषा (फ्रेंच में)।

३. डॉ० बाबूराम सक्सेना—(१) अवधी का विकास (Evolution of Awadhi), (२) दक्खिनी हिन्दी, (३) अर्थविज्ञान।

४. डॉ० उदयनारायण तिवारी—(१) 'भोजपुरी भाषा और साहित्य', (२) 'हिन्दी भाषा का उद्‌भव और विकास'।

५. कामताप्रसाद गुरु—'हिन्दी-व्याकरण'।

६. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—'पुरानी-हिन्दी'।

७. पं० पद्मसिंह शर्मा—'हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी'।

८. **किशोरीदास वाजपेयी**—'हिन्दी निरुक्त', 'हिन्दी शब्दानुशासन', 'भारतीय भाषा-विज्ञान'।

९. **डॉ० हरदेव बाहरी**—'हिन्दी अर्थविज्ञान'।

१०. **विश्वनाथ प्रसाद**—'भोजपुरी का ध्वनि-विज्ञान और ध्वनि-प्रक्रिया'।

११. **डॉ० सुभद्र झा**—'मैथिली का उद्भव और विकास'।

१२. **डॉ० भोलानाथ तिवारी**—'हिन्दी ध्वनियाँ और उच्चारण', 'भाषाविज्ञान-कोश', 'हिन्दी-भाषा', 'भाषा-चिन्तन'।

१३. **डॉ० गोलोकबिहारी धल**—'ध्वनि-विज्ञान'।

(ख) यूरोप में भाषाशास्त्रीय चिन्तन

१३.१०. यूरोप में भाषाशास्त्रीय चिन्तन

यूरोप में भाषाशास्त्रीय चिन्तन का प्रारम्भ ग्रीस (यूनान) से हुआ है। यूरोप की समस्त संस्कृति, सभ्यता, लिपि, भाषाशास्त्रीय चिन्तन, साहित्य एवं विज्ञान की उत्पत्ति का स्थान यूनान ही रहा है। यूनान में भाषाशास्त्रीय चिन्तन का प्रारम्भ ५वीं शती ई० पू० से हुआ है। यह चिन्तन अधिकांश रूप में दार्शनिक या काल्पनिक है। भाषाशास्त्र का वास्तविक प्रारम्भ यूरोप में संस्कृत भाषा के प्रवेश के साथ १८वीं शती ई० से होता है। उस समय से वहाँ निरन्तर इसका विकास होता गया है। बाद में इसके विकास के साथ ही विभिन्न देशों में इसकी अलग-अलग शाखाएँ विकसित हुईं। जिनमें प्रमुख हैं—(१) रूसी स्कूल, (२) जिनेवा स्कूल, (३) फ्रेंच स्कूल, (४) ब्रिटिश स्कूल, (५) प्राग स्कूल, (६) कोपेनहेगन स्कूल, (७) अमेरिकी स्कूल। विशिष्ट विद्वानों या स्थानों के आधार पर इन स्कूलों के भी अनेक छोटे-छोटे स्कूल हो गए और वे उन्हीं विद्वानों या स्थानों के नाम से प्रसिद्ध हुए। जैसे—सपीर स्कूल, ब्लूम-फील्ड स्कूल, लेनिनग्राद स्कूल, मास्को स्कूल आदि।

विशिष्ट भाषाशास्त्रीय चिन्तकों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

(१) **सुकरात** (Socrates, ४६९-३९९ ई० पू०)—यूनानी विचारकों में सुकरात का नाम सर्वप्रथम आता है। इनका भाषाशास्त्रीय प्रमुख विचार है—'शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक न होकर यादृच्छिक है'।

(२) **प्लेटो** (Plato, ४२७-३४७ ई० पू०)—प्लेटो का ही दूसरा नाम 'अफ्लातून' है। ये सुकरात के शिष्य थे। प्लेटो भी दार्शनिक थे। इनकी भाषाशास्त्र को देन है—

(१) ग्रीक ध्वनियों का सर्वप्रथम वर्गीकरण। दो वर्ग—(१) सघोष (स्वर), (२) अघोष (व्यंजन)। अघोष के दो भेद—१. अन्तस्थ, २. शेष व्यंजन।

(२) विचार आत्मा की मूक अभिव्यक्ति है और भाषा ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति है।

(३) वाक्य-विश्लेषण। उद्देश्य, विधेय एवं शब्द-भेदों का सर्वप्रथम संकेत किया है।

(४) कुछ शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी हैं। परन्तु ये वैज्ञानिक नहीं हैं।

(३) **अरस्तू** (Aristotle, ३८४-३२२ ई० पू०)—ये मूलरूप में दार्शनिक थे, किन्तु प्रासंगिक रूप में कुछ भाषाशास्त्रीय तत्त्वों का भी उल्लेख किया है। ये हैं—

(१) शब्द और अर्थ का सम्बन्ध रूढ है।

(२) पद-विभाजन ८ प्रकार का माना है। यह पद-विभाजन (Parts of Speech) आज भी प्रचलित है।

(३) वर्ण अविभाज्य ध्वनि है। वर्ण के तीन भेद हैं—(क) स्वर, (ख) अन्तस्थ, (ग) स्पर्श। इनके भी ह्रस्व, दीर्घ, अल्पप्राण, महाप्राण भेद किए हैं। स्वर की परिभाषा दी है—जो जिह्वा या ओठ के बिना उच्चरित हो।

(४) वाक्य का उद्देश्य और विधेय के रूप में विभाजन। संज्ञा और क्रिया पर कुछ विशेष विचार। काल-विभाजन का संकेत करना।

(५) कारक एवं उसके संकेत-चिह्नों का सर्वप्रथम उल्लेख।

(६) लिंग-विवेचन में स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग के लक्षणों पर विचार।

४. **डियोनिसियस थ्रॉक्स** (Dionysius Thrax, द्वितीय शती ई० पू०)—ये ग्रीक भाषा के प्रथम वैयाकरण हैं। प्लेटो आदि से प्राप्त भाषाशास्त्रीय तत्त्वों का शास्त्रीय ढंग से संकलन किया है। इनकी शिष्य-परम्परा में अपोलोनियस डिसकोलुस (Apollonius Dyscolus, द्वितीय शती ई०) मुख्य हैं। अपोलोनियस ने वाक्य-विज्ञान पर कार्य किया था। थ्राक्स के मुख्य कार्य हैं—

(१) काल, पुरुष, लिंग, विभक्ति, वचन आदि पर प्रकाश डाला है। कर्ता और क्रिया के परस्पर अन्वय का विवेचन किया है।

(२) स्वर एवं व्यंजन की परिभाषा दी है। स्वर स्वयं उच्चरित होता है और व्यंजन स्वर की सहायता से उच्चरित होता है।

लगभग २००० वर्ष तक यूरोप में भाषाशास्त्रीय चिन्तन एवं कार्य प्रायः बन्द रहा। जब सभ्यता एवं प्रभुत्व का केन्द्र ग्रीस से हटकर रोम पहुँचा तो लैटिन और ग्रीक दोनों भाषाओं के अध्ययन पर बल दिया गया। ग्रीक-व्याकरण के आधार पर लैटिन में भी व्याकरणों का निर्माण हुआ। प्रथम लैटिन व्याकरण १५वीं शती में लोरेंशस वाल ने लिखा था। ईसाई धर्म के विस्तार के कारण हिब्रू भाषा का भी अध्ययन हुआ। फलस्वरूप ग्रीक, लैटिन और हिब्रू भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन हुआ। ध्वनि-साम्य और अर्थ-साम्य के आधार पर मिलते-जुलते शब्दों का अध्ययन भी हुआ। यूरोप में लैटिन के अध्ययन पर बहुत बल दिया गया। लैटिन व्याकरण का ज्ञान प्राप्त करन लेना उद्देश्य हो गया था। सामान्य व्याकरण का प्रयोजन केवल शुद्ध लिखना या बोलना रह गया था। विभिन्न देशों में लैटिन के उच्चारण में बहुत विषमता थी। फलस्वरूप लैटिन बोलने वाले भी विभिन्न देशों के व्यक्ति एक-दूसरे को नहीं समझ पाते थे। १८वीं शती के पूर्व यूरोपीय भाषाओं पर जो कुछ कार्य हुआ है, उस पर लैटिन भाषा के अध्ययन का प्रभाव स्पष्ट है। इस काल में भाषा के अध्ययन में ये मुख्य बातें घटित हुईं—(१) भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की ओर प्रवृत्ति। (२) इस बात का संकेत कि शब्द धातुओं पर आधारित है। (३) संकेत कि ग्रीक और लैटिन किसी एक मूल भाषा से निकली हैं।

१३.११. अठारहवीं शती के भाषाशास्त्री

यूरोप में भाषाशास्त्र का प्रारम्भ १८वीं शती ई० से नियमित रूप से होता है। भाषा की प्राचीन विच्छिन्न परम्परा को इस शती में पुनः विकसित किया गया। इस प्रकार वर्तमान भाषाशास्त्र के आदि-युग का निर्माण हुआ है। इस समय अनेक विचारकों ने भाषा की उत्पत्ति आदि मौलिक विषयों पर चिन्तन प्रारम्भ किया। इनमें विशेष उल्लेखनीय ये हैं—

१. रूसो (Rousseau, १७१२-७८ ई०)

इनका ग्रन्थ 'सामाजिक अनुबन्ध' (Contrat Social, कोंत्रा सोसिआल) है। इनका मत है कि भाषा का निर्माण मनुष्यों के पारस्परिक विचार-विनिमय से हुआ।

२. कोंदिलाक (Condillac)

कोंदिलाक ने १७४६ में अपने एक लेख में मानव-ज्ञान के उद्गम की मीमांसा करते हुए भाषा पर भी विचार प्रस्तुत किए हैं। इन्होंने भावावेग से भाषा की उत्पत्ति मानी है।

३. योहान गोटफ्रीड हेर्डेर (Johann Gottfried Herder)

हेर्डेर रूसो और कोंदिलाक की अपेक्षा अधिक गम्भीर चिन्तक थे। इन्होंने १७७२ ई० में 'भाषा की उत्पत्ति' विषयक अपना निबन्ध बर्लिन अकादमी में जर्मन भाषा में पढ़ा था, जो पुरस्कृत हुआ था। इस निबन्ध में हेर्डेर ने अपना मत दिया है कि—

(१) भाषा ईश्वर-निर्मित या ईश्वरीय देन नहीं है। मानवीय आवश्यकता के परिणामस्वरूप भाषा की उत्पत्ति हुई। केवल मनोभावाभिव्यंजक शब्द ही भाषा की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

(२) भाषा और विचार अन्योन्याश्रित हैं। विचारों का फल भाषा है और भाषा से विचार की अभिव्यक्ति होती है।

(३) भाषा की उत्पत्ति धातुओं से हुई।

(४) प्रारम्भ में भावाभिव्यक्ति के लिए रूपकों का अधिक आश्रय लिया गया।

४. येनिश (Jenisch)

येनिश ने बर्लिन अकादमी के पुरस्कारार्थ १७७६ ई० में अपना ग्रन्थ जर्मन भाषा में प्रकाशित किया, जिसका विषय था—'पूर्ण भाषा का आदर्श और यूरोप की प्रमुख भाषाओं का उस आदर्श की दृष्टि से तुलनात्मक परीक्षण'। येनिश को इस पर पुरस्कृत किया गया था। इनके महत्त्वपूर्ण विचार ये हैं—

१. भाषा मानव के बौद्धिक एवं नैतिक तत्त्व की अभिव्यक्ति है। भाषा से उसकी योग्यता का निर्धारण होता है।

२. भाषा मानव के भावों एवं विचारों की तात्कालिक अभिव्यक्ति का साधन है।

३. भाषा के ४ आवश्यक तत्त्व हैं—(१) सम्पन्नता, (२) सबलता या शक्तिमत्ता,

(३) सुस्पष्टता, (४) श्रवण-सुखदता या सुश्रव्यता।

५. पल्लस (P. S. Pallas, १७४१-१८११)

रूस की महारानी कैथरिन द्वितीय की भाषाशास्त्रीय अध्ययन में विशेष रुचि थी। उसके आदेशानुसार पल्लस ने विश्वभाषाओं की शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन १७८६ से १७८९ ई० में प्रकाशित किया। इसमें विश्व की दो सौ भाषाओं के २८५ शब्दों की तुलना की गई थी। १७९१ ई० में इसके द्वितीय संस्करण में ८० और भाषाओं का समावेश हुआ। पल्लस के कार्य को क्राउस (C. J. Kraus) ने १७८७ ई० में अग्रसर किया और इसमें विचार व्यक्त किया कि तुलनात्मक भाषाशास्त्र के लिए इन शाखाओं का भी अध्ययन अनिवार्य है—ध्वनि-विज्ञान, अर्थविज्ञान, व्याकरणिक पदरचना, भाषाओं का वर्गीकरण और उनका भौगोलिक स्थान-निर्धारण। क्राउस का लेख 'तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषाशास्त्र की भूमिका' के रूप में आज भी उपादेय है।

१३.१२. उन्नीसवीं शती के भाषाशास्त्री[1]

इस शताब्दी में भाषाशास्त्र की विशेष प्रगति हुई। अब तक भाषाशास्त्र अन्य विषयों की एक शाखा के रूप में जाना जाता था। अब उसका स्वतन्त्र अस्तित्व माना गया। भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र में अन्तर होने लगा। तुलनात्मक भाषाविज्ञान के लिए संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य समझा गया। संस्कृत, ग्रीक और लैटिन आदि की समताओं और विषमताओं का विशेष अनुसंधान हुआ। भाषाशास्त्रियों की दृष्टि प्राचीन भाषाओं तक सीमित थी। भाषाओं का लिखित रूप ही अध्ययन का विषय था। ध्वनि के स्थान पर अक्षर का उल्लेख किया जाने लगा।

१. कूर्दो (Coeurdoux)

ये फ्रेंच पादरी थे। इन्होंने १७६७ ई० में एक लेख तैयार किया था। इसमें लैटिन, ग्रीक और फ्रेंच आदि के शब्दों की संस्कृत के शब्दों से तथा 'अस्' धातु के रूपों की इन भाषाओं के रूपों से तुलना करके इनमें आश्चर्यजनक समानता दिखाई थी। यह लेख भारत से फ्रेंच इंस्टीच्यूट को प्रकाशनार्थ भेजा गया था, परन्तु ४० वर्ष तक अप्रकाशित रहा। इस बीच 'सर विलियम जोन्स' ने संस्कृत की अन्य भाषाओं से समानता प्रस्तुत की। जो श्रेय कूर्दो को मिलना था, वह सर जोन्स को मिला।

२. सर विलियम जोन्स (Sir William Jones, १७४६-१७९४)

1786

ये कलकत्ता हाईकोर्ट में चीफ जस्टिस थे। इन्होंने १७८६ ई० में 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना की थी। इसके उद्घाटन भाषण में आपने संस्कृत भाषा

---

१. विस्तृत अध्ययन के लिए देखें—(क) Otto Jespersen : *Language*, पृष्ठ २६ से ८८, (ख) R. H. Robins : *A Short History of Linguistics.*

का महत्त्व बताते हुए कहा था कि 'यह ग्रीक से अधिक पूर्ण, लैटिन से अधिक विस्तृत एवं दोनों से अधिक परिष्कृत है। ग्रीक और लैटिन से इसकी आश्चर्यजनक समानता है।'[1]

जोन्स की इस घोषणा के फलस्वरूप पाश्चात्त्य विद्वानों का तुलनात्मक भाषाशास्त्र की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। जोन्स ने अपने व्याख्यान में शब्द, धातु और व्याकरण की दृष्टि से संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, गाथिक, केल्टिक और प्राचीन फारसी को एक मूल भाषा से संबद्ध बताया। इन्होंने शाकुन्तलम्, गीतगोविन्द और मनुस्मृति का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया था। सर जोन्स तुलनात्मक भाषाविज्ञान के जन्मदाता के रूप में विख्यात हैं।

३. कोलब्रुक (Henry Thomas Colebrooke, १७६५-१८३७)

कोलब्रुक ने जोन्स के कार्य को आगे बढ़ाया। ये संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् थे। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, अरबी, फारसी के भी विद्वान् थे। इन्होंने वेद, दर्शन, धर्मशास्त्र, व्याकरण, विधि (कानून), गणित, ज्योतिष आदि विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। यूरोप में संस्कृत साहित्य के प्रचार और प्रसार का बहुत बड़ा श्रेय इन्हें है। संस्कृत-व्याकरण इनके प्रिय विषयों में एक था।

४. फ्रीड्रिश फोन श्लेगेल (Friedrich von Schlegel, १७७२-१८२९)

ये संस्कृत के विद्वान् थे। इन्होंने १८०३ ई० में एक युद्ध-बन्दी एलेक्जेन्डर हेमिल्टन से पेरिस में संस्कृत सीखी थी। १८०८ ई० में इन्होंने 'भाषा और भारतीय ज्ञान' विषय पर ग्रन्थ लिखा। तुलनात्मक व्याकरण की ओर ध्यान दिलाने वाले प्रथम विद्वान् थे। इन्होंने संस्कृत, ग्रीक, लैटिन और जर्मन में समान उच्चारण वाले तथा समानार्थक शब्दों का संग्रह किया। तुलना के आधार पर ध्वनि-नियमों की ओर भी संकेत किया। भाषाशास्त्र को इनकी मुख्य देन ये हैं—(१) संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि की तुलना करके इनकी समानता दिखाना। (२) तुलनात्मक व्याकरण की चर्चा करना। (३) जर्मनी में संस्कृत और भारतीय भाषाओं के प्रति उच्च प्रेम उत्पन्न करना। (४) संसार की भाषाओं को संस्कृत-वर्गीय और संस्कृतेतर वर्गीय, दो भागों में विभाजित करना।

५. आडोल्फ श्लेगेल (Adolf W. Schlegel, १७६७-१८४५)

ये फ्रीड्रिश फोन श्लेगेल के बड़े भाई थे। ये भी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनका भाषावैज्ञानिक विवेचन अधिक स्पष्ट है। इन्होंने भाषाओं के वर्गीकरण के तीन आधार माने

---

1. The Sanskrit language, whatever be its antiquity, is of a wonderful structure; more perfect than the Greek, more copious than the Latin and more exquisitely refined than either; yet bearing to both of them a stronger affinity, both in the roots of verbs and in the forms of grammar, than could possibly have been produced by accident,.....' Otto Jespersen : *Language*, p. 33.

हैं—(१) व्याकरण-रहित भाषाएँ—चीनी आदि, (२) प्रत्यययुक्त भाषाएँ, (३) विभक्ति-युक्त भाषाएँ। विभक्ति-युक्त भाषाओं के दो भेद हैं—संयोगात्मक और वियोगात्मक।

यह विभाजन कुछ परिवर्तन के साथ आज भी स्वीकृत किया जाता है।

६. विल्हेल्म फोन हुम्बोल्ट (Wilhelm Von Humboldt, १७६७-१८३५)

ये मुख्य रूप से राजनीति से संबद्ध थे। परन्तु भाषाविज्ञान के गम्भीर चिन्तक थे। इन्होंने भाषाशास्त्र के क्षेत्र में पर्याप्त योग दिया है। इनकी मान्यताएँ हैं—(१) भाषा अखण्ड प्रवाहशील है। (२) प्रत्येक भाषा अपने आप में पूर्ण होती है। (३) प्रत्येक भाषा का अपना स्वतन्त्र महत्त्व है। (४) बोलियाँ भी अपने आप में पूर्ण हैं। (५) भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण तात्त्विक दृष्टि से असंभव है। सामान्य रूप से अयोगात्मक और योगात्मक दो विभाजन हैं। योगात्मक के ३ वर्ग हैं—अश्लिष्ट, श्लिष्ट, प्रश्लिष्ट। (६) शब्दों का आधार धातुएँ हैं। (७) वक्ता के मानसिक स्तर में परिवर्तन से भाषा में परिवर्तन होता है। (८) प्रत्यय कभी स्वतंत्र शब्द थे।

भाषा के विषय में ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोण इनका विशेष योगदान है।

७. रास्मस रास्क (Rasmus K. Rask, १७८७-१८३२)

ये डेनिश विद्वान् थे। बचपन से ही वैयाकरण के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे। इन्होंने आइसलैण्ड की भाषा 'प्राचीन नार्स का व्याकरण' लिखा है, जो १८११ ई० में प्रकाशित हुआ। यह नार्स-भाषा का प्रामाणिक व्याकरण माना जाता है। इनकी दृष्टि वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक थी। इन्होंने भाषाओं का अध्ययन ग्रन्थों से न करके उस भाषा के बोलने वाले समुदाय में रहकर किया है। इसलिए इनके निष्कर्ष उत्कृष्ट एवं मान्य सिद्ध हुए। इनके उल्लेखनीय कार्य और मन्तव्य ये हैं—

१. आइसलैन्डी-व्याकरण। इसमें भाषा का शास्त्रीय और वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन किया है। भाषा के रूपों को नियमबद्ध किया है।

२. फीनी-उग्री परिवार की भाषाओं का वर्गीकरण किया है। यह अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है।

३. भारोपीय परिवार में अवेस्ता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाया।

४. जर्मन भाषाओं में ध्वनि-परिवर्तन का सिद्धान्त सर्वप्रथम रास्क ने दिया। ग्रिम ने अपने ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण में रास्क के मन्तव्य की विस्तृत व्याख्या की है।

५. भाषा के अध्ययन के लिए साहित्यिक भाषा की अपेक्षा बोलचाल की भाषा अधिक उपयोगी है।

६. किसी देश या जाति का इतिहास जानने के लिए धर्म, कला या रीजि-रिवाज की अपेक्षा भाषा अधिक उपयोगी है। भाषा में आकस्मिक परिवर्तन नहीं होता है।

७. भाषा के अध्ययन के लिए शब्दावली से अधिक व्याकरण पर ध्यान देना चाहिए। भाषाओं के सम्बन्ध की स्थापना के लिए रचना और व्याकरणिक ढाँचा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सर्वनाम और संख्यावाची शब्द भाषा के मौलिक अंश होते हैं। अतः विभिन्न भाषाओं के सम्बन्ध के लिए इन पर मुख्य रूप से विचार करना चाहिए।

८. रास्क ने सिद्ध किया है कि द्राविड (प्राचीन नाम मालाबारी) भाषाएँ संस्कृत से पूर्णतया पृथक् हैं।

८. याकोब ग्रिम (Jacob Grimm, १७८७-१८६३)

ये जर्मन विद्वान् थे। वकील परिवार में पैदा हुए थे। प्रारम्भ में लोक-कथा से संबद्ध रहे। इनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'German Grammar' (Deutsche Grammatik) है। इसमें केवल जर्मन भाषा ही नहीं, अपितु जर्मन-परिवार की भाषाओं का विवेचन है। इनकी भाषाविज्ञान-सम्बन्धी मीमांसाएँ महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं। ग्रिम पर रास्क का प्रभाव पड़ा और उन्होंने शब्दों की काल्पनिक निरुक्तियों के स्थान पर आलोचनात्मक निरुक्तियाँ दीं। ग्रिम के विशेष उल्लेखनीय कार्य ये हैं—

१. १८१९ में 'जर्मन-भाषा का व्याकरण' प्रकाशित किया। १८२२ में इसके द्वितीय संस्करण में 'वर्ण-परिवर्तन नियम' का उल्लेख किया।

२. भारोपीय भाषाओं में प्रथम वर्ण-परिवर्तन और जर्मन भाषाओं में द्वितीय वर्ण-परिवर्तन ग्रिम की देन है। ये दोनों नियम ग्रिम-नियम नाम से प्रसिद्ध हो गए हैं।

३. भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन पर बल दिया। वे ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के प्रवर्तकों में मुख्य हैं। ग्रिम ने प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक भाषा का स्वतंत्र अस्तित्व और महत्त्व है। छोटी से छोटी भाषा भी भाषाविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

४. ग्रिम ने अनेक भाषाशास्त्रीय पारिभाषिक शब्द दिए हैं, जो आज भी प्रचलित हैं। जैसे—Ablaut, Umlaut, Strong, Weak।

९. फ्रान्त्स बोप (Franz Bopp, १७९१-१८६७)

संस्कृत-व्याकरण के मुनित्रयी (पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि) के तुल्य भाषा-विज्ञान की **प्रवर्तक-त्रयी** (रास्क, ग्रिम, बोप) में बोप को सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। इनकी प्रथम पुस्तक 'संस्कृत-धातु-प्रक्रिया' १८१६ ई० में प्रकाशित हुई। इसमें संस्कृत धातु-रूपों की ग्रीक, लैटिन, जर्मानिक और फारसी धातु-रूपों से तुलना की गई थी। १८३३ ई० में इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'तुलनात्मक-व्याकरण' प्रकाशित हुई। इसमें संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता, गाथिक और जर्मन आदि भाषाओं का तुलनात्मक-व्याकरण दिया हुआ है। बोप के उल्लेखनीय कार्य और मत ये हैं—

१. बोप ने भाषा के तुलनात्मक पक्ष को महत्त्व दिया।

२. तुलनात्मक-अध्ययन के लिए संस्कृत को आधार माना। मूल भाषा की ध्वनियों को संस्कृत में अधिक सुरक्षित माना है।

३. संस्कृत और ग्रीक के स्वराघात पर कार्य किया है।

४. विश्व की भाषाओं को तीन वर्गों में बाँटा। श्लेगल के मत का सुधार किया। तीन वर्ग माने हैं—(१) बिना व्याकरण की भाषाएँ (चीनी आदि), (२) एकाक्षरीय धातु वाली भाषाएँ (भारोपीय आदि), (३) तीन या दो अक्षर की धातु वाली भाषाएँ (सामी आदि)।

५. संस्कृत, ग्रीक आदि की तुलना से मूल भारोपीय का अस्तित्व सिद्ध किया। समानता वाले रूपों के आधार मूल-भाषा के रूप हैं।

६. पर-प्रत्यय किसी समय स्वतंत्र सार्थक शब्द थे।

७. आर्य-धातुओं और सामी-धातुओं की भिन्नता प्रदर्शित की।

१०. पॉट (A. F. Pott, १८०२-१८८७)

ये वैज्ञानिक व्युत्पत्ति-शास्त्र के जनक माने जाते हैं। इन्होंने निर्वचन-शास्त्र पर एक विशाल ग्रन्थ लिखा है। इनके निर्वचन वैज्ञानिक हैं। इन्होंने भारोपीय भाषाओं की ध्वनियों की तुलनात्मक सारणी भी बनायी थी। इन्होंने बोप के व्याकरण का संशोधन किया।

११. रैप (K. M. Rapp)

ये ग्रिम के समकालीन थे। इन्होंने ध्वनि-शास्त्र पर १८३६ से १८४१ ई० तक चार भागों में एक बड़ी पुस्तक लिखी थी। कई देशों में भ्रमण करके जीवित भाषाओं का अध्ययन किया और डेनमार्क जाकर रास्क के शिष्य हुए। इनका मत था कि किसी भी भाषा का अध्ययन जीवित भाषा के अध्ययन के बिना अपूर्ण है। इन्होंने कुछ बातों के लिए ग्रिम की प्रशंसा की और कुछ बातों के लिए उसका घोर विरोध किया। ग्रिम के विरोध के कारण इनको उचित आदर नहीं मिला। इन्होंने ध्वनि और लिपि के शुद्ध सम्बन्ध की स्थापना करके ध्वन्यात्मक अनुलेखन (Phonetic Transcription) की पद्धति का प्रकाशन किया है।

१२. ब्रेड्सडोर्फ (J. H. Bredsdorff)

ये डेनिश विद्वान् थे। ग्रिम और बोप ने भाषा में परिवर्तन और विकास पर नाममात्र भी ध्यान नहीं दिया था। ब्रेड्सडोर्फ ने १८२१ ई० में एक पुस्तिका प्रकाशित की थी, जिसमें भाषाओं में परिवर्तन के कारणों का विवेचन किया गया था। इन्होंने भाषा में परिवर्तन के ये सात कारण बताए थे—(१) अस्पष्ट श्रवण और अशुद्ध अर्थबोध, (२) स्मृति-दोष, (३) शरीरावयवों (वागिन्द्रिय, कान आदि) में दोष, (४) आलस्य, (५) सादृश्य की प्रवृत्ति, (६) अधिक स्पष्टता का आग्रह, (७) नये भावों की अभिव्यक्ति की आवश्यकता। ब्रेड्सडोर्फ ने भाषा में परिवर्तन का मुख्य कारण मनोवैज्ञानिक विचारधारा को माना है। सादृश्य को सर्वप्रथम इन्होंने महत्त्व दिया है। ६० वर्ष बाद भाषाशास्त्रियों ने सादृश्य के महत्त्व को पूर्ण रूप से स्वीकार किया।

१३. रुडोल्फ रॉठ (Rudolf Roth, १८२१-१८९५) और ओटो बॉटलिंक (Otto Bohtlingk, १८१५-१९०४)

ये दोनों संस्कृत भाषा के बहुत बड़े विद्वान् और भाषाशास्त्री जर्मन पण्डित थे। इन्होंने २० वर्ष के घोर परिश्रम के बाद **'संस्कृत-जर्मन महाकोश'** (St. Petersburg Dictionary of Sanskrit) १० हजार पृष्ठों में ७ विशालकाय भागों में सेंट पीटर्सबर्ग नगर से १८५५-१८७५ ई० में प्रकाशित किया। इसे **'सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी'** भी कहते हैं। इसमें वैदिक और लौकिक संस्कृत के सभी शब्दों का संग्रह है। प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति भी दिखाई गई है। वैदिक अंश के संग्रह का श्रेय रोठ को है और लौकिक संस्कृत के अंश का श्रेय बाटलिंक को है। इससे बड़ा संस्कृत का

प्रामाणिक कोश विश्व में आज तक उपलब्ध नहीं है। इसमें संस्कृत शब्दों का जर्मन भाषा में अर्थ दिया गया है।

१४. आउगुस्ट श्लाइशर (August Schleicher, १८२३-१८६८)

ये प्राचीन और नवीन युग के सन्धिकाल के प्रतिनिधि थे। ये अनेक भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। अपने आपको भाषाविज्ञानी कहते थे। ये दर्शन और वनस्पति-विज्ञान के भी ज्ञाता थे। इनके भाषा-विज्ञान के विवेचन में हेगेल के दर्शन का और वनस्पतिशास्त्र की परिभाषाओं का पुट मिलता है। इनके द्वारा किए भाषाओं के वर्गीकरण को परवर्ती भाषाशास्त्रियों ने स्वीकार किया है। इनके उल्लेखनीय कार्य और मत ये हैं—

१. भाषाविज्ञान का स्वतंत्र अस्तित्व प्रमाणित किया और इसको प्राकृतिक विज्ञान की श्रेणी में रखने का आग्रह किया।

२. भाषाओं के आकृतिमूलक-वर्गीकरण को व्यवस्थित किया। उसके तीन वर्ग बनाए—(१) अयोगात्मक भाषाएँ (चीनी आदि), (२) अश्लिष्टयोगात्मक भाषाएँ (तुर्की आदि), (३) श्लिष्टयोगात्मक भाषाएँ (संस्कृत आदि)। इस वर्गीकरण को मैक्समूलर और ह्विटनी ने अपनाया। अतः यह वर्गीकरण अधिक प्रसिद्ध हुआ। येस्पर्सन आदि ने इसको अपूर्ण और अपर्याप्त बताया। इसमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष हैं।

३. ये भाषाओं के उक्त तीन वर्गों को भाषा के लिए विकास के तीन स्तर मानते हैं। पहले भाषा अयोगात्मक थी, फिर अश्लिष्ट-योगात्मक हुई और बाद में श्लिष्ट-योगात्मक।

४. इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन है, मूल भारोपीय भाषा का पुनर्निर्माण। इन्होंने इसके ध्वनि-समूह, पद, वाक्य आदि सभी कुछ सिद्ध किए हैं।

५. इनकी प्रवृत्ति मृत और जीवित दोनों प्रकार की भाषाओं की ओर थी।

६. बोप के कार्य को आगे बढ़ाया और पूर्ववर्ती अनुसंधानों को सुसंबद्ध किया।

१५. गेओर्ग कुर्टिअस (Georg Curtius, १८२०-१८८५)

ये प्राचीन और नवीन युग के संधिकाल में हुए थे। इन्होंने ग्रीक भाषा का विशेष अध्ययन किया था। ग्रीक-क्रिया और ग्रीक-शब्दों की व्युत्पत्ति-सम्बन्धी इनके ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनके मन्तव्य थे—

(१) इन्होंने नवीन भाषाशास्त्रियों के इस मत का खण्डन किया कि ध्वनि-नियम अपवाद-रहित होते हैं।

(२) नवीन भाषाशास्त्री पद-रचना में भी सादृश्य का महत्त्व स्वीकार करते थे, उसका इन्होंने खण्डन किया। नवीन भाषाशास्त्रियों की मान्यताओं का खण्डन करने के कारण कुर्टिअस की तीव्र आलोचना हुई।

१६. योहान निकोलाई मादविग (Johan Nikolai Madvig)

मादविग ने सामान्य भाषाशास्त्र में विशेष रुचि ली और भाषाशास्त्रीय समस्याओं का विवेचन किया। ये ग्रीक और लैटिन के विद्वान् थे। भाषा-सम्बन्धी विवेचन में अस्पष्टता, रहस्यवाद या दैवी-भावना के विरोधी थे। ये तर्कवाद के समर्थक थे। हुम्बोल्ट

के प्रतीकवाद को अस्वीकार किया है। इनका मत था कि सभी युगों की भाषा में एक जैसी क्षमता होती है। किसी को कम या अधिक कहना अनुचित है। इन्होंने केवल डेनिश भाषा में लिखा है, अतः इन्हें अधिक प्रसिद्धि नहीं मिली।

१७. मैक्समूलर (Friederich Max Muller, १८२३-१९००)

ये शर्मण्य (जर्मन)-देशीय विद्वान् थे। इन्होंने १८६१ ई० में भाषाविज्ञान विषय पर व्याख्यान दिए। ये व्याख्यान पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हुए। शैली की रोचकता और प्रसादगुण के कारण यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुआ। जर्मन होते हुए भी आजीवन इंग्लैंड में रहे। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक के रूप में इन्होंने बहुत कीर्ति प्राप्त की। भाषाविज्ञान के विषय में अब तक जो अनुसंधान हुआ था, उसको ये ही जनता के समक्ष लाए। भाषाविज्ञान को लोकप्रिय बनाने का श्रेय इनको है। ये संस्कृत-भाषा और भारत के परम प्रेमी थे। इन्होंने 'भारत हमें क्या सिखा सकता है' ग्रन्थ लिखा है। ऋग्वेद का सायण-भाष्य-युक्त संस्करण इनके सम्पादकत्व में इंग्लैण्ड से प्रकाशित हुआ। इसमें इन्होंने अपने आपको शर्मण्य-देशवासी मोक्षमूलर भट्ट कहा है। इनका यह नाम स्वामी दयानन्द ने रखा था। स्वामी दयानन्द ने मैक्समूलर को मोक्षमूलर नाम से संबोधित किया था। यह नाम उन्हें बहुत पसन्द आया और उन्होंने संस्कृत-ग्रन्थों में मोक्षमूलर ही नाम रखा। इनके उल्लेखनीय कार्य ये हैं—

(१) भाषाविज्ञान को लोकप्रिय बनाया।

(२) पूर्व आचार्यों के शोध-कार्यों का संकलन किया।

(३) 'Sacred Books of the East' सिरीज के अन्तर्गत संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया है।

(४) इन्होंने भाषा और विवेक, वैज्ञानिक-वर्णमाला, ध्वनिपरिवर्तन, ग्रिम-नियम, व्युत्पत्ति के सिद्धान्त, आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिए हैं। अर्थविचार को विशेष महत्त्व दिया है। आर्यों के उद्गम स्थान के विषय में विस्तृत कार्य किया है।

(५) यूरोप में भी संस्कृत भाषा के लिए नागरी लिपि का प्रचार इनका महत्त्वपूर्ण कार्य है।

(६) ये श्लाइशर के विचारों के समर्थक थे।

(७) इनके कार्यों में यद्यपि मौलिकता कम है, तथापि विषय का प्रस्तुतीकरण बहुत सुन्दर और रोचक है।

१८. विलियम ड्वाइट ह्विटनी (William Dwight Whitney, १८२७-१८९४)

ये अमेरिकी विद्वान् थे। ये संस्कृत भाषा के उच्चकोटि के विद्वान् थे। इन्होंने १८६७ ई० में 'भाषा और भाषा का अध्ययन' पुस्तक लिखी और १८७५ ई० में 'भाषा का जीवन और विकास' लिखा। इनका 'संस्कृत व्याकरण' १८७९ ई० में प्रकाशित हुआ। यह इनकी पूर्ण विद्वत्ता का परिचायक है। ये मैक्समूलर से अधिक योग्य माने जाते हैं, परन्तु इनका प्रचार कम हुआ। इनकी शैली मैक्समूलर के तुल्य अधिक रोचक नहीं थी। इनके भाषा-विषयक मत ये हैं— (१) भाषा एक संख्या है। इसका विकास धीरे-धीरे होता है। यह पारस्परिक बोध के लिए होती है। (२) भाषा-सम्बन्धी विवेचनों में रहस्यात्मकता नहीं

होनी चाहिए। (३) शब्द रूढ़िगत संकेत हैं।

१६. स्टाइनथाल (Hermann Steinthal, १८२३-१८९९)

ये नवयुग के प्रवर्तक हैं। नव्य वैयाकरण नाम से यह शाखा प्रसिद्ध है। १८५५ ई० में इनका प्रथम ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसमें इन्होंने व्याकरण, तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान के परस्पर सम्बन्ध की सुन्दर विवेचना की है। इन्होंने चीनी, नीग्रो आदि भाषाओं पर काम किया था। इनका मत था कि भाषाविज्ञान के अध्ययन में मनोविज्ञान को भी उचित महत्त्व दिया जाना चाहिए। मनोविज्ञान के बिना भाषाविज्ञान अधूरा है। इन्होंने भाषा को मानसिक प्रक्रिया माना है।

१३.१३. बीसवीं शती के भाषाशास्त्री (नव्य वैयाकरण–युग)

इस युग का प्रारम्भ स्टाइनथाल से होता है। प्राचीन भाषाशास्त्री नव्य वैयाकरणों को नौसिखिया वैयाकरण कहकर मजाक उड़ाते थे। इन वैयाकरणों ने कुछ नवीन मान्यताएँ दी हैं। इन्होंने प्राचीन भाषाशास्त्रियों के मतों का खण्डन किया है। अतः पुरानी पीढ़ी के भाषाशास्त्री इनसे अप्रसन्न रहते थे।

१. कार्ल ब्रुगमान (Karl Brugmann, १८४९-१९१९)

ये नवयुग के भाषाशास्त्रियों में प्रमुख हैं। इन्होंने हेर्मान ओस्तोफ (Hermann Osthoff) के साथ मिलकर 'रूप-विज्ञानात्मक अनुसंधान' नाम से ५ भागों में अपना शोधकार्य प्रकाशित किया। इसका प्रथम भाग १८७८ ई० में प्रकाशित हुआ। इन्होंने डेलब्रुक के सहयोग से ५ भागों में 'भारोपीय भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' ग्रन्थ लिखा। इसका प्रथम भाग १८८६ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके अन्तिम तीन खण्ड डेलब्रुक की सहायता से लिखे गये हैं। इनका विषय है 'तुलनात्मक वाक्यविज्ञान'। ब्रुगमान का अनुनासिक-सिद्धान्त (Sonant Nasal Theory) भाषाशास्त्र को महत्त्वपूर्ण देन है। इससे ग्रिम नियम के अनेक अपवादों का समाधान हुआ है।

२. डेलब्रुक (B. Delbruck, १८४२-१९२२)

ये नव्य वैयाकरण थे। इन्होंने ब्रुगमान के साथ मिलकर तुलनात्मक व्याकरण का विश्वकोश लिखा है। जिसमें अन्तिम ३ भाग इन्होंने वाक्य-विज्ञान पर लिखे हैं। ये तुलनात्मक वाक्य-विज्ञान के संस्थापक हैं। ये संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि के उच्चकोटि के विद्वान् थे।

३. हेर्मान पाउल (Hermann Paul, १८४६-१९२१)

ये भी नव्य वैयाकरणों में हैं और ब्रुगमान तथा ओस्तोफ के साथी हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'भाषाशास्त्रीय इतिहास के सिद्धान्त' (Principles of Linguistic History)। यह आज भी आदर्श ग्रन्थ माना जाता है।

४. ग्रासमान और वर्नर (Hermann Grassmann, Karl Verner)

ग्रासमान ने ग्रिम के ध्वनि-नियमों के कुछ अपवादों का निराकरण किया था। इन्होंने मूल भारोपीय धातुओं में दो महाप्राण ध्वनियों की कल्पना की थी। ग्रासमान के

समाधान से अवशिष्ट कुछ अपवादों का समाधान वर्नर ने किया। इन्होंने ध्वनि-परिवर्तन में स्वर का महत्त्व स्थापित किया।

नव्य वैयाकरणों के मौलिक विचार

१. भाषा की उत्पत्ति पर विचार करना अब अनावश्यक है।

२. भाषा के वर्गीकरण पर विशेष बल देना अनावश्यक है।

३. भाषा के अध्ययन के लिए व्याकरण को महत्त्व देना आवश्यक नहीं है। व्याकरण भाषा में अन्तर्निहित है। अन्य भाषाओं के ज्ञान के लिए व्याकरण की आवश्यकता है।

४. साहित्यिक या मृत भाषा की अपेक्षा जीवित भाषा का महत्त्व अधिक है।

५. वाक्य-विज्ञान शाखा के महत्त्व पर अधिक बल दिया।

६. भाषा के अध्ययन में शारीरिक और मानसिक दोनों तत्त्वों का अध्ययन अनिवार्य है।

७. भाषा के विकास में सादृश्य का बहुत महत्त्व है।

८. विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के सम्मिश्रण का भाषा के इतिहास पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

९. भाषा समाज से अर्जित वस्तु है।

१०. अपवादों को नियम-विरुद्ध बताना अनुचित है। ये कभी शुद्ध रूप थे, जो अब अप्रचलित हो गए हैं।

इस युग के भाषाशास्त्रियों में विशेष उल्लेखनीय ये हैं—ब्लूमफील्ड (L. Bloomfield), मिशेल ब्रेआल (Michel Bre'al), डेलब्रुक (B. Delbruck), मेइये (A. Meillet), पीटर्सन (W. Petersen), द सोस्यूर (De Saussure), स्वीट (Henry Sweet),. स्टुर्टवेंट (E.H. Sturtevant), ऊलेन बेक (Dr. C.C. Ulhenbeck), ओटो येस्पर्सन (Otto Jespersen)।

भाषाविज्ञान का प्रारम्भ जर्मनी में हुआ था। वह पश्चिम की ओर बढ़ता गया। जर्मनी से फ्रांस, फ्रांस से इंगलैण्ड, इंगलैण्ड से अमेरिका। इस समय अमेरिका भाषाशास्त्र की सभी शाखाओं में अग्रगण्य है। वहाँ सर्वाधिक कार्य हो रहा है।

१३.१४. भाषाशास्त्र की वर्तमान प्रवृत्तियाँ

वर्तमान समय में भाषाशास्त्र एक स्वतन्त्र विषय बन गया है। अन्य विज्ञानों के तुल्य इसकी भी प्रयोगशालाएँ हैं। इसका विस्तार अत्यन्त तीव्र गति से हो रहा है। निम्नलिखित शाखाओं पर विशेष प्रगति हो रही है—

१. वर्णनात्मक या संरचनात्मक भाषाशास्त्र। २. ध्वनिग्राम-विज्ञान (स्वनिम विज्ञान)।

३. रूपिम या रूपग्राम-विज्ञान। ४. भू-भाषाविज्ञान।

५. शैलीविज्ञान। ६. प्रायोगिक भाषाविज्ञान।

❋

अध्याय १४

लिपि का इतिहास
(Palaeography)

१. लिपि का प्रारम्भ
२. लिपि–विकास के तीन चरण
३. विश्व की प्राचीन लिपियों का संक्षिप्त परिचय
४. भारत में लिपि–ज्ञान एवं लेखन–कला
५. खरोष्ठी लिपि
६. ब्राह्मी लिपि
७. ब्राह्मी से भारतीय लिपियों का विकास
   (क) ब्राह्मी की उत्तरी शैली से विकसित लिपियाँ
   (ख) ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से विकसित लिपियाँ
८. देवनागरी लिपि
९. देवनागरी : आदर्श लिपि

अध्याय १४

लिपि का इतिहास
(Palaeography)

१४.१. लिपि का प्रारम्भ

लिपि की उपयोगिता

भाषा का सम्बन्ध ध्वनियों से है। ध्वन्यात्मक भाषा वक्ता के मुख से निकल कर श्रोता के कान तक पहुँचकर अपना प्रभाव प्रकट करती है। यह वाचिक भाषा है। वक्ता के मुख से निकलने के कुछ क्षणों बाद इसका स्वरूप नष्ट हो जाता है। मानव की प्रवृत्ति है कि वह अपने कार्यों और विचारों को स्थायित्व प्रदान करना चाहता है। इसके लिए वह ऐसे साधनों का उपयोग करता है, जिससे उसके विचार आगे की पीढ़ी तक पहुँच सकें। इन्हीं गूढ़ विचारों ने लिपि को जन्म दिया। इसका प्रारम्भिक रूप क्या था, यह आज बताना संभव नहीं है, परन्तु अनुमान है कि अपने भावों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए सर्वप्रथम चित्रात्मक लिपि का प्रयोग हुआ, तत्पश्चात् भावलिपि और अन्ततः ध्वनिलिपि।

भाषा और लिपि की अपूर्णता—यह अनुभव-सिद्ध है कि मानव के संवेदनात्मक भावों को भाषा पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं कर पाती है। हर्ष, शोक, मिठास, कड़वापन आदि भाव भाषा से पूर्णतया व्यक्त नहीं हो पाते हैं। लिपि भाषा का ही स्थूल रूप है। लिपि भी मनोभावों को व्यक्त करने में असमर्थ है। भाषा और लिपि में मुख्य अन्तर यह है कि—(१) भाषा सूक्ष्म है, लिपि स्थूल है। (२) भाषा की ध्वनियों में अस्थायित्व है, लिपि में अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व है। (३) भाषा में सुर, तान आदि के द्वारा बहुत कुछ मनोभावों को व्यक्त किया जा सकता है, लिपि में नहीं। (४) भाषा श्रव्य है, लिपि दृश्य एवं पाठ्य। (५) भाषा सद्यःप्रभावकारी है, लिपि विलम्ब से। दोनों में साम्य यह है कि—(१) दोनों मानव की भावाभिव्यक्ति के साधन हैं। (२) दोनों से भावाभिव्यक्ति अपूर्ण होती है। (३) दोनों देश-कालादि-भेद से भिन्न हैं। (४) दोनों सांस्कृतिक उन्नति के प्रतीक हैं। (५) दोनों का ज्ञान शिक्षण से प्राप्त होता है।

लिपि की उत्पत्ति—लिपि की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, यह इतना ही विवादग्रस्त है, जितना भाषा की उत्पत्ति। भाषा और लिपि की उत्पत्ति के विषय में अन्ततः अनुमान का ही आश्रय लेना पड़ता है। भाषा सूक्ष्म है, अतः उसकी उत्पत्ति बताना अधिक कठिन है। लिपि की उत्पत्ति भी बताना प्रायः उतना ही कठिन है, क्योंकि प्रारम्भ में जिन

वस्तुओं पर ये लिपियाँ लिखी गईं, वे काल-कवलित हो गई हैं। पाषाण, स्तम्भ, ताम्र आदि पर जो कुछ चीजें लिखी गईं, वे ६ हजार वर्ष तक का इतिहास बताती हैं। इनमें भी एकरूपता नहीं है। कहीं कुछ लकीरें, कहीं पशु आदि की आकृति, कहीं भावमुद्रा और कहीं लिपि है। इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि लिपि के विकास की मुख्यतया ३ अवस्थाएँ रही हैं—(१) चित्रलिपि, (२) भावलिपि, (३) ध्वनिलिपि।

१४.२. लिपि-विकास के तीन चरण

अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार विश्व के विभिन्न देशवासियों ने अपनी भाषा का जन्मदाता कोई देवता माना है। भारतीयों ने 'ब्राह्मी लिपि' का जन्मदाता ब्रह्मा को माना है। इसी प्रकार मिस्री लोगों ने 'थाथ' (Thoth) को, बेबिलोनियावालों ने 'नेबो' (Nebo) को, प्राचीन यहूदियों ने 'मूसा' (Moses) को और यूनानियों ने 'हर्मेस' (Hermes) को अपनी-अपनी लिपि का जन्मदाता माना है।

आज तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीनतम उपलब्ध सामग्री ४००० ई० पू० तक की है। इस प्रकार प्राचीनतम लिपि-चिह्न ६ हजार वर्ष पूर्व तक के मिलते हैं।

लिपि-विकास के मुख्यतया तीन चरण हैं—(१) चित्रलिपि, (२) भावलिपि, (३) ध्वनिलिपि। इनके अतिरिक्त तीन भेद और माने जाते हैं। ये गौण भेद हैं। इनका उल्लेखमात्र पर्याप्त है। जैसे—**(१) सूत्र-लिपि**—सूतों में गाँठ आदि देकर भाव व्यक्त करना। रस्सियों में गाँठ देना, रस्सी की लम्बाई-चौड़ाई, रस्सी का विभिन्न रंगों से रंगना आदि। इसका उल्लेख 'हेरोडोटस' ने किया है। इसका उदाहरण पेरू में प्राप्त 'क्वीपू' सूत्रलिपि है। **(२) प्रतीकात्मक लिपि**—विभिन्न रंगों की वस्तुओं से कुछ विशेष संवाद भेजना। लाल रंग से—युद्ध, सफेद से—युद्ध-विराम आदि। प्राचीन समय में कुछ आदिम जातियों में ऐसे संकेत प्रचलित थे। **(३) भाव-ध्वनि-मूलक लिपि**—यह कुछ अंश में भावात्मक और कुछ अंश में ध्वन्यात्मक थी। मिस्री, हित्ती, मेसोपोटामियन आदि लिपियाँ इसमें आती हैं। सिन्धु-घाटी-लिपि को भी कुछ विद्वानों ने इसी श्रेणी में रखा है।

१. चित्रलिपि (Pictography)—यह लिपि का प्राचीनतम रूप था। जिस वस्तु का वर्णन करना होता था, उसका चित्र बना देते थे। आदमी, स्त्री, आँख आदि के लिए उस जैसा छोटा चित्र बना देते थे। इससे संबद्ध व्यक्ति भाव समझ जाता था। ऐसे प्राचीन चित्र फ्रांस, स्पेन, यूनान, इटली, मिस्र आदि से मिले हैं। ये पत्थर, हड्डी, हाथी-दाँत, सींग, छाल, मिट्टी के पात्रों आदि पर होते थे।

समीक्षा—इसके **लाभ** ये थे—(१) वस्तु का तुरन्त बोध, (२) सर्वजन-सुबोधता, (३) शिक्षण की अनावश्यकता। इसके **दोष** अधिक हैं—(१) संकेत अनन्त बनाने पड़ते थे। प्रत्येक वस्तु के लिए पृथक् संकेत होता था। (२) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का बोध नहीं हो सकता था। (३) अमूर्त भाव एवं विचार प्रकट नहीं हो सकते थे। (४) चित्र बनाना श्रमसाध्य कार्य था। शीघ्रता में चित्र नहीं बन सकता था। (५) अधिक समय

की अपेक्षा होती थी। (६) ध्वनिलिपि की अपेक्षा स्थान अधिक लेता था। (७) स्थान, समय आदि का बोध स्पष्ट रूप से नहीं हो सकता था।

२. **भावलिपि** (Ideography)—यह लिपि विकास का द्वितीय चरण था। चित्रलिपि अधिक श्रम-साध्य थी, अतः लघुतर उपाय सोचने की प्रक्रिया भी जारी रही। फलस्वरूप भावलिपि का प्रादुर्भाव हुआ। चित्रलिपि और भावलिपि में अन्तर यह है कि चित्रलिपि में केवल वस्तु का चित्र बनाया जाता था। भावलिपि में चित्रों को सरल बनाया गया और साथ ही उनसे संबद्ध अर्थ भी लिए गए। जैसे—सूर्य के लिए एक गोला बनाना, उससे गर्मी, धूप, प्रकाश, दिन आदि का अर्थ बताना। रोने के लिए आँख का चित्र बनाकर उससे आँसू टपकती बूँदें दिखाना। इस प्रकार की लिपि के उदाहरण उत्तरी अमेरिका, चीन, अफ्रीका आदि में मिलते हैं। चीनी लिपि में आज भी अनेक ऐसे शब्द हैं, जो भाव-लिपि मूलक हैं। जैसे—मनुष्य के लिए 'जेन' में ऊपर खड़ी लकीर, नीचे दो तिरछी लकीरें। ऊपर धड़ हो गया, नीचे दो पैर।

समीक्षा—यह चित्र-लिपि का विकसित रूप है। चित्र बनाने की क्लिष्टता कुछ कम हुई। एक चित्र से अनेक अर्थ प्रकट होने लगे। यह चित्राभास लिपि हुई। इसमें भी पूर्ववत् दोष विद्यमान रहे। सूक्ष्म भावों को व्यक्त नहीं किया जा सकता था। किस चित्र से क्या भाव लिए जाएँगे, इसमें समरूपता नहीं थी।

३. **ध्वनिलिपि** (Phonetic Script)—यह लिपि-विकास का तृतीय चरण था। यह मानव की लिपि-सम्बन्धी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि थी। इसमें प्रत्येक ध्वनि के लिए कुछ संकेत निर्धारित किए गए। इनसे मुखोच्चरित प्रत्येक ध्वनि को लिपि-बद्ध किया जा सकता था। देश-काल के भेद से ये ध्वनिलिपियाँ अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग विकसित हुईं। इस प्रकार की लिपियाँ हैं—देवनागरी, रोमन, अरबी आदि।

कुछ विद्वानों ने ध्वनिलिपि के दो भेद किए हैं—(१) अक्षरात्मक (Syllabic), (२) वर्णात्मक (Alphabetic)। अक्षरात्मक में चिह्न किसी अक्षर (Syllable) को व्यक्त करता है, वर्ण को नहीं। वर्णात्मक में चिह्न वर्ण को व्यक्त करता है। इसमें 'देवनागरी' को अक्षरात्मक में और 'रोमन' को वर्णात्मक में रखा गया है। साथ ही रोमन लिपि की उत्कृष्टता सिद्ध की गई है। देवनागरी पूर्णतया वर्णात्मक लिपि है। प्रत्येक वर्ण के लिए स्वतन्त्र क् आदि चिह्न हैं। केवल लेखन की सुविधा के लिए वर्णमाला में व्यंजनों को हलन्त (क्, ख्, ग्) न लिखकर अकारान्त (क, ख, ग आदि) लिखा जाता है। रोमन में यान्त्रिक सुविधा अवश्य है, क को KA लिखा जाएगा, अ को अलग दिखाया जा सकता है, परन्तु सांकेतिक निर्देशों के बिना अ-आ, इ-ई आदि स्वरों का भेद नहीं दिखाया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए उसकी उपयोगिता अवश्य है, परन्तु देवनागरी या भारतीय लिपियों से उसे अधिक वैज्ञानिक या उत्कृष्ट कहना केवल प्रलाप है, रोमन में वैज्ञानिकता का नाम भी नहीं है।

१४.३. विश्व की प्राचीन लिपियों का संक्षिप्त परिचय

विश्व की प्राचीन लिपियों को वर्णमाला के आधार पर दो वर्गों में बाँटा जाता है—

(१) वर्णमाला-रहित, (२) वर्णमाला-युक्त। दोनों वर्गों की प्रमुख भाषाएँ ये हैं—

वर्णमाला-रहित लिपियाँ	**वर्णमाला-युक्त लिपियाँ**
१. क्यूनीफॉर्म (कीलाक्षर)	१. सामी, आर्मेइक, फोनीशियन, हिब्रू लिपियाँ
२. हीरोग्लाइफिक (गूढाक्षर)	२. अरबी लिपि
३. क्रीटी लिपि	३. ग्रीक (यूनानी) लिपि
४. सिन्धुघाटी लिपि	४. लैटिन (रोमन) लिपि
५. हिटाइट लिपि	५. खरोष्ठी लिपि
६. चीनी लिपि	६. ब्राह्मी लिपि

१. क्यूनीफॉर्म (Cuneiform) **लिपि**—इसको कीलाक्षर, कोणाक्षर, तिकोनी, बाणाक्षर आदि कहते हैं। यह लिपि चट्टानों और पक्की मिट्टी के टुकड़ों पर लिखी मिलती है। इस लिपि के अभिलेख इन स्थानों से मिले हैं—मेसोपोटामिया से (४ हजार ई० पू०), मितानी लेख (१४०० ई० पू०), वान से (९वीं सदी ई० पू०), बेबीलोनियन-असीरियन जाति के लेख (२५०० ई० पू०)। सर्वप्रथम १८०२ में जार्ज फ्रीड्रिश ग्रोतेफेन्ट (George Friedrich Grotefend) इस लिपि को पढ़ने में सफल हुए। तत्पश्चात् बेबिलोनिया के लेखों को पढ़ने का श्रेय मुख्यतया रालिन्सन (Rawlinson) को है।

इसमें रेखाएँ प्राय: कोण वाली हैं। खड़ी, पड़ी लकीरें हैं। यह भावमूलक लिपि थी। बाद में असीरिया, फारस आदि में अर्ध-अक्षरात्मक हो गई। यह ऊपर से नीचे और दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी। बाद में बाएँ से दाएँ भी लिखी जाने लगी।

२. हीरोग्लाइफिक (Hieroglyphic) **लिपि**—इसको गूढ़ाक्षर, बीजाक्षर, चित्राक्षर, पवित्राक्षर आदि कहते हैं। इस लिपि में मिस्री भाषा के अभिलेख ४ हजार ई० पू० के मिलते हैं। यूनानियों ने इसका यह नाम रखा था। इसका मूल अर्थ था—खुदे हुए पवित्र अक्षर। मन्दिरों की दीवारों आदि पर लेख खोदने में इसका प्रयोग होता था। यह पहले चित्रात्मक थी, फिर भावात्मक हुई और अन्त में अक्षरात्मक हुई। इसमें केवल व्यंजन थे, स्वर नहीं। यह दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी। बाद में बाएँ से दाएँ भी लिखी जाती थी। 'हंस' का चित्र ही बाद में हंस-बोधक शब्द हो गया। इसी प्रकार अन्य शब्द बने। इसका प्रयोग ४ हजार ई० पू० से छठी सदी ई० तक मिलता है।

३. क्रीटी (Cretan) **लिपियाँ**—ये आज तक नहीं पढ़ी जा सकी हैं। ये लिपियाँ क्रीट के अभिलेखों में मिलती हैं। ये दोनों प्रकार की हैं—चित्रात्मक और रेखात्मक। चित्रात्मक के अभिलेख ३ हजार ई० पू० से १७०० ई० पू० तक मिलते हैं और रेखात्मक लिपि के १७०० ई० पू० से। यह कुछ अंशों में भावात्मक है और कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक। इसमें बाएँ से दाएँ और कभी दोनों ओर से लिखा जाता था। चित्रात्मक में १३५ चित्र मिलते हैं, रेखात्मक में ९० चिह्न। रेखात्मक लिपि बाएँ से दाएँ लिखी जाती थी। यह १२०० ई० पू० में समाप्त हो गई।

४. सिन्धुघाटी लिपि (Indus Script)—यह भारतीय लिपि है। इसके प्राचीन

अवशेष सिन्धु-घाटी से मिले हैं। इसमें मोहनजोदड़ो (सिंध प्रान्त के लरकाना जिले में) और हरप्पा (पंजाब के मांटगोमरी जिले में) से प्राप्त सीलें हैं। इनमें विभिन्न प्रकार के चिह्न हैं। यह आज तक नहीं पढ़ी गई है। इसका समय ४००० ई० पू० से २५०० ई० पू० तक माना जाता है। इनमें कुछ चिह्न चित्रात्मक हैं और कुछ अक्षरात्मक। इस लिपि को भावलिपि और ध्वनिलिपि का संगम कह सकते हैं। इसमें प्राप्त चिह्नों की संख्या के विषय में भी मतभेद है। तीन मत प्रमुख हैं—चिह्नों की संख्या—(१) लैग्डन के अनुसार—२२८, (२) हंटर के अनुसार—२५३, (३) स्मिथ के अनुसार—३९६।

चित्रात्मक चिह्नों में कुछ त्रिकोण, चतुष्कोण, खंभा, गुणनचिह्न, डमरू आदि के तुल्य हैं। अक्षर-चिह्नों में कुछ ब्राह्मी के क, ख, ग आदि के तुल्य हैं, कुछ ब्राह्मी अंकों के तुल्य।

इस लिपि की उत्पत्ति के विषय में तीन मत हैं। ये मत अपुष्ट आधारों के कारण मान्य नहीं हैं। ये मत हैं—**(१) द्रविड उत्पत्ति**—प्रस्तावक जान मार्शल आदि। **(२) सुमेरियन उत्पत्ति**—प्रस्तावक एल० ए० बैडेल और डॉ० प्राणनाथ। **(३) आर्य या असुर उत्पत्ति**—सिन्धुघाटी में रहने वाले आर्यों या असुरों ने इस लिपि का निर्माण किया। एलामाइट, मिश्री और सुमेरी लिपि से साम्य का कारण है—भारत से इन देशों में इस लिपि का जाना।

५. हिटाइट (Hittite) **लिपि**—इसके हजारों कीलाक्षर और चित्रात्मक अभिलेख सीरिया और एशिया माइनर में बोगाजकोई से मिले हैं। इन अभिलेखों का समय २ हजार ई० पू० के लगभग माना जाता है। प्रो० ह्राज्नी और प्रो० स्टुर्टवेन्ट ने इस लिपि पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। ६०० ई० पू० के बाद इसका प्रयोग नहीं मिलता है। यह मूलतः चित्रात्मक थी, बाद में कुछ भावात्मक और कुछ ध्वन्यात्मक हो गई। इसमें ४१९ चिह्न हैं। इसे कभी दाएँ से बाएँ और कभी बाएँ से दाएँ लिखते थे। प्रो० डिरिंजर इसकी उत्पत्ति मिश्री या क्रीटी से न मानकर स्थानीय उत्पत्ति मानते हैं। वे इसे मिस्री से प्रभावित मानते हैं।

६. चीनी (Chinese) **लिपि**—चीनी किंवदन्ती के अनुसार फू-हे नामक एक व्यक्ति ने ३२०० ई० पू० में इस लिपि का आविष्कार किया था। चीनी भाषा के प्रसिद्ध विश्वकोश 'फा युआन चु लिन्' (६६८ ई०) में 'त्सं-की' को चीनी भाषा का आविष्कारक माना गया है। इसका जन्म २७०० ई० पू० के लगभग हुआ था। चीनी लिपि की उत्पत्ति के बारे में अनेक मत प्रस्तुत किए गए हैं। जैसे—(१) पीरू की लिपि के तुल्य किसी लिपि से, (२) क्यूनीफार्म लिपि से, (३) हीरोग्लाइफिक लिपि से, (४) सिन्धुघाटी आदि की चित्रलिपि से।

ये सभी मत पूर्णतया अनुमान पर आश्रित हैं। वस्तुतः भारतीय लिपियों के तुल्य चीनी लिपि का भी स्वतन्त्र रूप से चीन में ही उद्भव मानना अधिक उपयुक्त है। हर बात के लिए यूरोप की ओर खींचना शुद्ध धींगामस्ती है।

चीनी लिपि में अक्षर या वर्ण नहीं हैं। यह चित्रात्मक लिपि है। प्रत्येक शब्द के लिए अलग चिह्न हैं। इन चिह्नों को ४ भागों में बाँटा जा सकता है—(१) चित्रात्मक, (२) संयुक्त चित्रात्मक, (३) भावात्मक, (४) ध्वन्यर्थ-संयुक्त।

चीनी भाषा के प्रामाणिक शब्दकोश 'कांग-सि' (Kang-Hsi) में चीनी शब्दों की संख्या ४० हजार से अधिक है। प्रो० गाइल्स (Giles) के शब्दकोष में १०८५६ शब्द हैं। इसमें मूल-ध्वनियाँ ४०६ हैं। प्रो० सूथिल (Soothill) ने रेखाओं (Strokes) के अनुसार निकाला है कि इसमें १ से १७ रेखा वाले शब्द हैं। इसमें मूल शब्दों (Radicals) की संख्या २१४ है। विभिन्न अर्थों को स्पष्ट करने के लिए दो-दो शब्द मिला दिए जाते हैं। अब अधिक रेखाओं वाले शब्दों को सरल करके ५-७ रेखा वाला बनाया जा रहा है। अधिक प्रयुक्त ५०० शब्दों को सरल बनाया गया है।

७. सामी, आर्मेइक, फोनीशियन, हिब्रू लिपियाँ—सामी (Semitic) भाषा-परिवार की एक सामी लिपि थी। इसमें २२ वर्ण थे। इसकी दो शाखाएँ हुईं—उत्तरी सामी लिपि और दक्षिणी सामी लिपि। उत्तरी सामी लिपि से दो लिपियाँ विकसित हुईं—**आर्मेइक** (या अरमी, Armaic) और **फोनीशियन** (फोनीशी, Phoenician)। आर्मेइक में ८वीं सदी ई० पू० के अभिलेख सीरिया के सिन्दिली नामक स्थान से मिले हैं। यह उत्तरी सामी की सबसे मुख्य लिपि थी। इससे ही **हिब्रू** (Hebrew) लिपि निकली है। हिब्रू में पुरानी बाइबिल और कुछ अभिलेख १ हजार ई० पू० के लगभग मिलते हैं। **फोनीशियन** के सबसे पुराने अभिलेख ९वीं शताब्दी ई० पू० के मिलते हैं। यह फोनीशिया के व्यापारियों की लिपि थी। ईसवीय सन् के प्रारम्भ तक नष्ट हो गई।

दक्षिणी सामी लिपि से दक्षिणी अरबी और अरबी लिपि का विकास हुआ।

८. अरबी (Arabic) **लिपि**—इसका विकास सामी लिपि की दक्षिणी शाखा से हुआ है। इसके दो रूप हैं—दक्षिणी अरबी और अरबी। दक्षिणी अरबी अरब के दक्षिणी किनारे पर फैली है। इसके पुराने अभिलेख ८०० ई० पू० से लेकर छठी शताब्दी ई० तक के मिलते हैं। अरबी का प्राचीनतम अभिलेख ५१२ ई० पू० का है। ७वीं सदी ई० से इसका विशेष प्रचार हुआ। अरबी का विकास मक्का, मदीना, बसरा, कूफा आदि नगरों में हुआ। ७वीं-८वीं सदी ई० में इसके दो रूप हो गए—**(१) कूफी**—मेसोपोटामिया के कूफा नगर में विकसित हुई। यह कलात्मक लिपि है। स्थायी अभिलेखों के लिए इसका प्रयोग होता है। **(२) नस्खी**—यह लिपि मक्का-मदीना में विकसित हुई। इसका प्रयोग सामान्य कार्यों एवं घसीट लिखने के लिए हुआ। यह अधिक प्रचलित हो गई। इसका ही विकसित रूप वर्तमान अरबी लिपि है।

अरबी में कुल २८ अक्षर हैं। यह दाएँ से बाएँ लिखी जाती है। यह अरब, फारस, अफगानिस्तान आदि में प्रचलित है। तुर्की में अरबी को हटाकर रोमन को अपना लिया गया है। फारसी में ४ अक्षर और जोड़ देने से ३२ अक्षर हो गए हैं। उर्दू की लिपि अरबी ही है। इसमें फारसी के ३२ अक्षरों में ५ नए अक्षर और जोड़ देने से अक्षर-संख्या ३७ हो गई। उर्दू का प्रचार पाकिस्तान, भारत आदि में है। घसीट लिखने के लिए यह बहुत अच्छी पड़ती है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह नागरी से बहुत घटिया सिद्ध होती है।

९. ग्रीक (यूनानी, Greek) **लिपि**—इसको यूनानी लिपि भी कहते हैं। यूरोप की वर्तमान सभी लिपियाँ ग्रीक लिपि से ही विकसित हुई हैं। ग्रीक की उत्पत्ति उत्तरी

सामी से विकसित फोनीशियन (फोनीशी) भाषा से हुई। कुछ इसको आर्मेइक की पुत्री एशियानिक से उत्पन्न मानते हैं। फोनीशियन फोनीशी व्यापारियों की भाषा थी। ये सामी लिपि का प्रयोग करते थे। ग्रीक वालों ने इस लिपि को अपनाकर इसमें आवश्यक परिवर्तन किए। डॉ० डिरिंजर के अनुसार ग्रीक में सामी की ३ विशेषताएँ हैं—(१) ग्रीक अक्षरों के स्वरूप में साम्य, (२) सामी के तुल्य क्रम, (३) सामी के तुल्य अधिकांश अक्षरों के नाम। सामी में A, O, I (अ, ओ, इ) के लिए प्रयुक्त ध्वनियाँ (अलेफ, वाव, ये) व्यंजन और स्वर का बोध कराती थीं। इन्हें ग्रीक वालों ने स्वर बना लिया और व्यंजन के बाद जोड़कर TA, TO, TI (ता, तो, ति) आदि वर्ण बनाए। इस प्रकार त् + आ आदि के बोध से स्वनिम-सिद्धान्त का ज्ञान प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार 'हे' और 'ऐन' को भी उन्होंने स्वर बना लिया। सामी में अप्राप्त ध्वनियों के लिए नए वर्ण भी गढ़े गए। बाद में ह्रस्व, दीर्घ आदि स्वरों के भेद, स्वर-चिह्न और विराम-चिह्नों आदि के लिए संकेत-चिह्नों (Diacritical marks) का भी विकास किया गया।

ग्रीक से यूरोप की सभी लिपियों के विकास का क्रम प्रायः इस प्रकार था। ग्रीक लोगों से यह लिपि भूमध्य-सागर के लोगों ने सीखी। रोमन लोगों ने इसको एत्रुस्कन (Etruscan) भाषा के माध्यम से प्राप्त किया। इससे लैटिन का विकास हुआ और लैटिन से उत्तरी यूरोप में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सभी लिपियों का विकास हुआ। दूसरी ओर मध्य युग में ग्रीक लिपि बल्गेरिया, सर्बिया और रूस में पहुँची।

ग्रीक लिपि में २४ चिह्न हैं। यह बाएँ से दाएँ लिखी जाती है। इसके पुराने अभिलेख ९वीं सदी ई० पू० तक के मिलते हैं। ये थेरा द्वीप से मिले थे। इनमें कुछ दाएँ से बाएँ और कुछ बाएँ से दाएँ लिखे हुए हैं। तत्पश्चात् कुछ अभिलेख उत्तरी मिश्र के अबूसिम्बेल (७वीं सदी ई० पू०), कोरिन्थ और एथेन्स (छठी सदी ई० पू०) से मिले हैं।

यूरोप की भाषाओं में वर्णमाला के लिए अल्फाबेट (Alphabet) शब्द है। यह शब्द ग्रीक भाषा के दो प्रारम्भिक वर्ण अल्फा और बेटा से बना है। ग्रीक के अल्फा, बेटा, गम्मा, डेटा शब्द सामी भाषा के अलेफ, बेथ, गमेल और दामेथ के ही रूपान्तर हैं। ये शब्द सामी भाषा में सार्थक हैं। इनके क्रमशः अर्थ हैं—बैल, मकान, ऊँट और कनात का दरवाजा। ग्रीक में ये अक्षर निरर्थक हैं। इससे ज्ञात होता है कि सामी लिपि से ग्रीक लिपि का विकास हुआ है। ग्रीक के ही ये अक्षर लैटिन और अंग्रेजी में A, B, C, D हुए हैं।

सामी से ग्रीक लिपि की उत्पत्ति के विषय में एक आपत्ति उठाई गई है कि सामी दाएँ से बाएँ लिखी जाती है और ग्रीक बाएँ से दाएँ, यह कैसे हुआ? इसका समाधान यह है कि दक्षिणी सामी के कुछ अभिलेख छठी सदी ई० पू० के प्राप्त हुए हैं। ये हल की जुताई की तरह दाएँ से बाएँ और बाएँ से दाएँ चालू हैं। इस प्रकार दोनों ओर लिखने का भी सामी में प्रचलन था। सामी में आगे चलकर दाएँ से बाएँ लिखना ही शेष रह गया, ग्रीक आदि में बाएँ से दाएँ।

१०. लैटिन या रोमन (Latin, Roman) **लिपि**--लैटिन को ही रोमन लिपि भी कहते हैं। यह आज संसार की सबसे महत्त्वपूर्ण लिपि है। विश्व के अधिकांश देशों में

इसका प्रचलन है। ऊपर बताया गया है कि उत्तरी सामी से विकसित फोनीशियन लिपि से ग्रीक लिपि का जन्म हुआ। रोम वालों ने एत्रुस्कन (Etruscan) भाषा के माध्यम से ग्रीक लिपि प्राप्त की। उसका ही विकसित रूप लैटिन या रोमन लिपि है। एत्रुस्कन भाषा इटली और उसके समीपस्थ प्रदेशों में बोली जाती थी। यह ९वीं सदी ई० पू० में एशिया माइनर से इटली में आई थी। एशिया माइनर वालों ने इसे ग्रीस से प्राप्त किया था। लैटिन के पुराने लेख ४र्थ शताब्दी ई० पू० से मिलते हैं। ये रोम में मिट्टी के बर्तन पर खुदे हैं। ग्रीक-रोमन लिपि से ही जर्मन लिपि भी निकली है, पर इसकी लिपि में पर्याप्त अन्तर है। इसको **रूनी** (Runes) लिपि कहते हैं। ईसाई मिशन के प्रभाव से जर्मनी वालों ने ३०० ई० के बाद रूनी लिपि को छोड़कर रोमन लिपि को ही अपना लिया।

एत्रुस्कन भाषा से लैटिन में २१ अक्षर लिए गए। सिसरो के समय में ग्रीक से २ अक्षर y और z लिए गए। बाद में ध्वनियों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ३ अक्षर J, U, W और बढ़ाए गए। इस प्रकार लैटिन में २६ अक्षर हो गए। यह बाएँ से दाएँ लिखी जाती है।

रोमन लिपि यान्त्रिक टंकण आदि के लिए बहुत सुविधाजनक पड़ती है। व्यंजन और स्वर की मात्राएँ अलग-अलग लिखी जाने से प्रत्येक ध्वनि को अलग दिखाया जा सकता है। उपयोगिता की दृष्टि से इसे सर्वोत्तम लिपि माना जाता है। अतएव इसका प्रचार यूरोप के अतिरिक्त अन्य देशों में भी हो गया है। इसमें कुछ मौलिक त्रुटियाँ हैं। जैसे—(१) कुछ अक्षर व्यर्थ हैं—c, q, x। (२) कुछ ध्वनियों के लिए चिह्न नहीं हैं। जैसे—श्, थ्, ङ्, च् आदि। इनके लिए दो ध्वनियों को मिलाकर काम चलाया जाता है, sh, th, ng, ch आदि। (३) एक ध्वनि के लिए अनेक चिह्न हैं। अ के लिए a, i, u, o, जैसे—a, bird, but, come। (४) एक ध्वनि के अनेक उच्चारण हैं। जैसे—Put (पुट)—But (बट) में u का उ और अ, child (चाइल्ड)-chemistry (केमिस्ट्री) में ch का च् और क्। (५) ह्रस्व और दीर्घ के अन्तर के लिए अक्षर नहीं हैं।

१४.४. भारत में लिपिज्ञान एवं लेखनकला

भारत में प्राचीन समय से लेखनकला प्रचलित थी। ऋग्वेद में 'लिख्' धातु के कई रूपों का प्रयोग है। अथर्ववेद में चार स्थानों पर लिखने की कला का उल्लेख है। इसमें सुलेख, ऋण-सम्बन्धी लेख और आकृतिमूलक लेख का उल्लेख है।

(क) अजैषं त्वा संलिखितम्। (अथर्ववेद ७-५०-५) (सुलेख)
(ख) यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन। (अथर्व० १२-३-२२) (लेन-देन का लेख)
(ग) अप शीर्षण्यं लिखात्। (अथर्व० १४-२-६८) (ऊपर की रेखाएँ)
(घ) क एषां कर्करी लिखत्। (अथर्व० २०-१३२-८) (चित्रात्मक लेख)

ब्राह्मण ग्रन्थों में लिख् धातु के ये प्रयोग मिलते हैं—लिखति-लिखते, लिलेख, अलीलिखत्, लेखी:, लिखित, लिख्य। इनसे यह स्पष्ट नहीं है कि लेखनकला का क्या स्वरूप था? लिपि क्या थी? लिख् धातु से इतना स्पष्ट है कि लिखने का काम होता था और किसी नोकीली धातु से अक्षर लिखे या खोदे जाते थे।

ऋग्वेद में 'अष्टकर्णी' हजार गायों के दान देने का उल्लेख है।[1] इसमें अष्टकर्णी से यह स्पष्ट है कि गायों के कान पर ८ अंक लिखा होता था। यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता और अथर्ववेद में १ से १०० तक की गिनती, पहाड़ा, एक से दश शंख तक की संख्याओं के नाम—एक, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त, परार्ध (दश शंख) मिलते हैं।[2] इन संख्याओं का ज्ञान लेखन-कला के बिना संभव नहीं है। वेदों आदि में काल के सूक्ष्म भेदों का उल्लेख है। यह भी बिना लिखे समझना संभव नहीं है।

अथर्ववेद में 'अक्षर' शब्द का छोटी इकाई के रूप में उल्लेख है। इसंसे ही विभिन्न छन्दों की मात्राएँ और वर्ण गिने जाते थे।

अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः। (अथर्व० ६-१०-२)

'सहस्राक्षर' (अथर्व० ६-१०-२१) से ज्ञात होता है कि १ हजार वर्णों वाले मन्त्रादि होते थे। अथर्ववेद (१६-२१-१) में ७ छन्दों का उल्लेख है। यजुर्वेद में ११, १४ और २२ छन्दों तक का उल्लेख है।[3] साथ ही उनके पादों आदि का भी उल्लेख है। तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक आदि संहिताओं में छन्दों के पाद और अक्षरों की गणना भी दी गई है।

ग्रन्थों का साक्ष्य—(१) बौद्ध-ग्रन्थ 'ब्रह्मजाल-सुत्त' (६ठी सदी ई० पू०) में 'अक्खरिका' (अक्षरिका) का उल्लेख है। इसमें बच्चों को पीठ पर लिखे अक्षरों को पहचानना होता था। (२) 'सुत्तान्त' (सूत्रान्त, ६ठी सदी ई० पू०) में भिक्षुओं को अक्खरिका खेल न खेलने का आदेश है। (३) 'विनयपिटक' (४०० ई० पू० से पूर्व) में लेखन-कला की प्रशंसा की गई है। (४) 'महावग्ग' और जातकों में लेखन-कला के अध्यापन और लेखन-सामग्री का उल्लेख है। (५) 'ललितविस्तर' में उल्लेख है कि गुरु विश्वामित्र ने गौतम बुद्ध को तख्ती पर स्वर्ण-कलम से लिखना सिखाया। (६) जातकों में नियमों को सुवर्णपत्रों पर खुदवाने, सरकारी लेख एवं ऋणपत्रों को लिखवाने का उल्लेख है। (७) रामायण (६०० ई० पू०), महाभारत (५०० ई० पू०), अर्थशास्त्र (४र्थ सदी ई० पू०) में अनेक स्थलों पर लेखन-कला का उल्लेख है। लेख, लेखक, लेखन आदि शब्दों का प्रयोग है।

आचार्य पाणिनि (५वीं सदी ई० पू०) ने स्पष्ट रूप से लिपि, लिबि, लिपिकर, ग्रन्थ, यवनानी (यूनानी लिपि), स्वरित चिह्न आदि का उल्लेख किया है।[4] पशुओं के कानों पर पहचान के लिए ५, ८ आदि अंक लिखने का उल्लेख पाणिनि ने किया है।[5] लिपि को लिबि भी कहते थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र (१-५) में लिपि का उल्लेख है।

---

१. सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः। (ऋग्वेद १०-६२-७)

२. यजुर्वेद १७-२, तैत्तिरीय संहिता ४-४-११-३ और ४, अथर्ववेद ८-८-७; १०-८-२४।

३. यजुर्वेद २१.१२ से २२; २३.३३ से ३४; २८.२४ से ४५।

४. दिवाविभा⋯लिपिलिबि० (अष्टा० ३-२-२१), इन्द्रवरुण० (अष्टा० ४-१-४६), यवनाल्लिप्याम् (वार्तिक, ४-१-४६), अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (अष्टा० ४-३-८७)।

५. विस्तृत विवरण के लिए देखें—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल-कृत 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष', पृष्ठ ३०६-३०७।

कौटिल्य ने (अर्थ० १-१२) सांकेतिक लिपि (Short Hand Writing) के लिए 'संज्ञालिपि' नाम दिया है।

बौद्ध और जैन ग्रन्थों में अनेक लिपियों का उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर' में ६४ लिपियों के नाम हैं। जैन ग्रन्थ 'पन्नवणा-सूत्र' तथा 'समवायांग सूत्र' में १८ लिपियों के नाम हैं। इनमें विशेष महत्त्वपूर्ण लिपियाँ हैं—(१) बंभी, ब्राह्मी (ब्राह्मी), (२) खरोट्ठी (खरोष्ठी), (३) जवणाणिया (यवनानी), (४) अंकलिवि (अंकलिपि), (५) गणितलिवि (गणितलिपि), (६) माहेसरी (माहेश्वरी), (७) हूण-लिपि, (८) चीनलिपि, (९) दरदलिपि, (१०) द्राविड़ी लिपि।

विदेशी लेखों का साक्ष्य—(१) सिकन्दर के सेनापति निआर्कस (३२६ ई० पू०) ने भारत का वृत्तान्त लिखा था। एरिअन ने अपनी पुस्तक 'इंडिका' में इसका सारांश दिया है। इससे भारत में कागज आदि के उपयोग का ज्ञान होता है। (२) मेगस्थनीज (३०५ ई० पू०) ने अपने ग्रन्थ 'इण्डिका' में भारत में सड़कों पर मील के पत्थर गड़े होने का उल्लेख किया है। 'जन्मकुण्डली' का भी उल्लेख किया है। (३) चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने भारत में लिपिज्ञान की प्राचीनता का उल्लेख किया है। (४) चीनी विश्वकोष 'फा युआन चु लिन्' (६६८ ई०) में ब्राह्मी का उल्लेख है। इसका आविष्कारक ब्रह्मा को माना है।

अभिलेख साक्ष्य—प्राचीन शिलालेखों आदि से भारत में प्राचीन समय से लेखनकला का ज्ञान होता है। (१) ईरानी सम्राट् दारा प्रथम (५८१-४८५ ई० पू०) के बहिस्तून (सं० भगस्थान) अभिलेख में उत्कीर्ण लेखन को 'दिपि' (लिपि) कहा है। (२) मोहनजोदड़ो और हरप्पा के अभिलेखों का समय ४ हजार ई० पू० के लगभग माना जाता है। (३) अशोक के शिलालेखों से पूर्व के २ छोटे अभिलेख मिले हैं—(क) अजमेर जिले के 'बड़ली' गाँव से, (ख) नेपाल की तराई में 'पिपरावा' स्थान से। बड़ली वाला अभिलेख एक स्तम्भ के टुकड़े पर है। इसमें प्रथम पंक्ति में—'वीराय भगवते', द्वितीय पंक्ति में—'चतुरासिति वस' अर्थात् वीरस्य भगवतः चतुरशीतिवर्षे (भगवान् वीर या महावीर के निर्वाण के ८४वें वर्ष में)। इससे इसका समय (५२७ ई० पू०-८४) ४४३ ई० पू० होगा। पिपरावा वाले लेख का समय श्री गौ० ही० ओझा ने 'प्राचीन लिपिमाला' (पृष्ठ २-३) में ४८७ ई० पू० के कुछ बाद का माना है।

इससे स्पष्ट होता है कि ई० पू० ६ठी या ७वीं सदी में भारत में लेखनकला एवं लिपि का विस्तृत प्रचार था। स्थायी लेख के लिए शिला, स्तम्भ, सुवर्ण-रजत-ताम्र आदि के पत्र, पकी मिट्टी के सिक्के आदि प्रयुक्त होते थे। प्रारम्भ में ग्रन्थों आदि के लेखन के लिए पर्ण (ताड़पत्र आदि) का प्रयोग होता था। बाद में भूर्ज (भोजपत्र), लकड़ी, वस्त्र, चमड़ा आदि का प्रयोग हुआ। कागज का प्रयोग बहुत बाद में हुआ।

पाश्चात्य विद्वानों ने 'श्रुति' (श्रवण-परंपरा, वेद) शब्द को लेकर बहुत वितण्डा खड़ा किया है और निर्णय दिया है कि भारत में केवल मौखिक परंपरा श्रवण-श्रावण (श्रुति) की थी। वे लेखनकला से अनभिज्ञ थे। यह बात सर्वथा असंगत है। आज भी वेद आदि के लिए श्रवण-परंपरा को ही महत्त्व दिया जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है

कि आज भी लिपि, लेखन, कागज आदि नहीं हैं। यह केवल प्राथमिकता की बात थी। गुरु-शिष्य-परंपरा से श्रवण-पठन अधिक प्रामाणिक होता था। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सिन्धुघाटी लिपि लगभग ४ हजार वर्ष ई० पू० से तथा अन्य लिपियाँ ७वीं या ६ठी सदी ई० पू० से पहले से ही प्रचलित थीं।[1]

१४.५. खरोष्ठी लिपि (Kharosthi Script)

यह भारतीय लिपि है। इसका प्रचलन पश्चिमोत्तर भारत में था। इसमें सबसे प्राचीन अभिलेख सम्राट् अशोक के मिलते हैं। इससे प्राचीन कोई अभिलेख खरोष्ठी में नहीं मिलता है। अशोक के खरोष्ठी अभिलेख शाहबाजगढ़ी (जिला यूसुफजई, पंजाब) और मानसेरा (जिला हजारा, पंजाब) में प्राप्त हुए हैं। प्रो० ब्यूलर (G. Buhler) के मतानुसार खरोष्ठी के अभिलेख ३५० ई० पू० से २०० ई० तक के मिलते हैं। अशोक के शिलालेखों के अतिरिक्त भारत-यूनानी सिक्के, शक और कुषाणों के अभिलेख भी खरोष्ठी लिपि में हैं।

खरोष्ठी का नामकरण—इसके नामकरण के विषय में पर्याप्त विवाद है। इस विषय में अनेक आनुमानिक मत प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें कोई भी मत पुष्ट प्रमाणों पर आश्रित नहीं है। अतः इन मतों को आनुमानिक मानते हुए विचार किया जाता है। इनमें उल्लेखनीय मत ये हैं---

१. खरोष्ठ नामक व्यक्ति या आचार्य ने इसका आविष्कार किया। इसका समर्थन चीनी विश्वकोष 'फा युआन चु लिन' द्वारा होता है। खरोष्ठ (गधे के तुल्य ओठ) नाम संभवतः वैदिक शुनःशेप नाम के तुल्य उपहास-मूलक नाम था।

२. गधे की खाल पर लिखी जाने से ईरानी में इसको 'खरपोश्त' कहते थे। उसका अपभ्रंश खरोष्ठ है। इससे खरोष्ठी बनी।

३. डॉ० राजबली पाण्डेय के मतानुसार इस लिपि के अक्षर खर (गधा) के ओष्ठ के समान बेढंगे होते थे, अतः खरोष्ठी नाम पड़ा।

४. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार हिब्रू में लेख-वाचक खरोशेथ (Kharosheth) शब्द है। उससे खरोष्ठी बना।

खरोष्ठी की उत्पत्ति—इस विषय में मुख्यतया दो मत हैं—(१) यह आर्मेइक (Armaic) लिपि से निकली है। (२) यह भारतीय लिपि है। इस विषय में प्रसिद्ध लिपिवेत्ता प्रो० ब्यूलर का मत अधिक प्रामाणिक माना जाता है। उन्होंने प्रथम मत के समर्थन के लिए चार तर्क दिए हैं—

१. खरोष्ठी लिपि आर्मेइक लिपि के तुल्य दाएँ से बाएँ लिखी जाती है।

२. खरोष्ठी के ११ अक्षर बनावट की दृष्टि से आर्मेइक लिपि के अक्षरों से बहुत

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखें : गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ २ से १६।

मिलते हैं। दोनों की इन ध्वनियों में भी साम्य है। ये ११ अक्षर हैं—क, ज, द, न, ब, य, र, व, ष, स, ह।

३. आर्मेइक लिपि खरोष्ठी से प्राचीन है।

४. तक्षशिला में आर्मेइक लिपि के शिलालेख भी मिले हैं। यह खरोष्ठी का क्षेत्र है।

श्री राजबली पाण्डेय का मत (यह भारतीय लिपि है) केवल तर्कों पर आश्रित है, अतः ग्राह्य नहीं हुआ है। इसकी उत्पत्ति किसी भारतीय भाषा से नहीं हुई है।

खरोष्ठी की विशेषताएँ तथा न्यूनताएँ

१. यह दाएँ से बाएँ लिखी जाती है। बाद में संभवतः ब्राह्मी के प्रभाव से बाएँ से दाएँ भी लिखी जाने लगी।

२. इसमें ३७ वर्ण हैं—५ स्वर और ३२ व्यंजन। स्वर—अ, इ, उ, ए, ओ। व्यंजन—क, ख, ग, घ। च, छ, ज, झ, ञ। ट, ठ, ड, ढ, ण। त, थ, द, ध, न। प, फ, ब, भ, म। य, र, ल, व। श, ष, स, ह। इसमें दीर्घ स्वर—आ, ई, ऊ, ऐ, औ और ङ व्यंजन नहीं हैं।

३. आर्मेइक लिपि में केवल २२ अक्षर थे। उनको ३७ बनाना खरोष्ठ मुनि या आचार्य का काम है।

४. खरोष्ठी में ह्रस्व और दीर्घ मात्राओं का अन्तर नहीं है। इसमें संयुक्त अक्षरों को लिखने की भी स्पष्ट सुविधा नहीं है। अतः यह भारत में २०० ई० के बाद नहीं चल सकी।

१४.६. ब्राह्मी लिपि (Brahmi Script)

यह पूर्णतया भारतीय लिपि है। इसके प्राचीनतम लेख ३५० ई० पू० से लेकर ३०० ई० तक मिलते हैं। सबसे प्राचीन लेख 'एरण' से प्राप्त सिक्का है, जो ३५० ई० पू० का है। इसके पश्चात् अशोक के शिलालेख और स्तम्भ-लेख आदि हैं। इनका समय २५० ई० पू० है। ये कालसी, दिल्ली, जौगड़, गिरनार, शिद्दापुर से प्राप्त हुए हैं। तत्पश्चात् ईसा-पूर्व तक ब्राह्मी लिपि में ये अभिलेख मिले हैं—घसुन्दी (२५० ई० पू०), दशरथ (२०० ई० पू०), भरहुत (१५० ई० पू०), मथुरा (१५० ई० पू० से १०० ई० पू०), हाथीगुम्फा (१६० ई० पू०), नानघाट (१५० ई० पू०)। ईसा के पश्चात् ३५० ई० तक ब्राह्मी लिपि में विशेष उल्लेखनीय अभिलेख ये हैं—मथुरा, कुषाण, रुद्रदामन्, सातकर्णि, नासिक, पुलुमायी, जगय्यपेट्ट। प्रो० ब्यूलर ने विशेष अध्ययन के बाद प्रस्तुत किया है कि ब्राह्मी लिपि में ४१ अक्षर थे—९ स्वर और ३२ व्यंजन।

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ (९)।

व्यंजन—क, ख, ग, घ। च, छ, ज, झ, ञ। ट, ठ, ड, ढ, ण। त, थ, द, ध, न। प, फ, ब, भ, म। य, र, ल, व। श, ष, स, ह (३२)।

इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मी में खरोष्ठी से ४ ध्वनियाँ अधिक हैं—आ, ई, ऊ, ऐ। दोनों में ङ अक्षर नहीं है।

ब्राह्मी का नामकरण—ब्राह्मी नाम के लिए ३ व्युत्पत्तियाँ बताई गई हैं—

१. ब्रह्म या ब्रह्मा से उत्पन्न हुई है।

२. ब्रह्म (वेद या ज्ञान) की रक्षा के लिए इसे बनाया गया।

३. ब्राह्मणों ने इसे बनाया या प्रयुक्त किया।

उपर्युक्त तीनों मतों में प्रथम मत अधिक उचित प्रतीत होता है। ब्रह्म से सम्बद्ध ज्ञान आदि को ब्राह्म या ब्राह्मी कहा जाता था। यजुर्वेद (अ० ३१ मन्त्र २०, २१) में ब्रह्म से सम्बद्ध अर्थ में ब्राह्म और ब्राह्मी का प्रयोग मिलता है।[1] चीनी विश्वकोष 'फा युआन चु लिन्' में ब्राह्मी लिपि का निर्माता ब्रह्म या ब्रह्मा नामक आचार्य माना गया है। अमरकोषकार अमरसिंह ने संस्कृत को ब्राह्मी एवं भारती अर्थात् भारतीय भाषा कहा है।[2] इस भाषा का प्रयोग वेद-ज्ञान की रक्षा के लिए किया गया। भारतीय विद्वानों और ब्राह्मणों ने इसका प्रयोग किया। अत: पूर्वोक्त तीनों व्युत्पत्तियाँ कुछ हद तक ठीक बैठती हैं।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति—ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में बहुत विवाद है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति फोनीशी लिपि, सामी लिपि या चीनी लिपि से माना है। भारतीय विद्वानों ने इसकी भारतीय उत्पत्ति मानी है। विचार करने से ज्ञात होता है कि पाश्चात्य विद्वानों के मत अत्यन्त अपुष्ट आधारों पर हैं। कुछ केवल मनोरंजक कल्पना-मात्र रह गए हैं। संक्षेप में इनका विवेचन प्रस्तुत है—

१. चीनी लिपि से—फ्रेंच विद्वान् कुपेरी ने चीनी से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानी है। चीनी और ब्राह्मी पूर्णतया भिन्न हैं। चीनी चित्रलिपि है और ब्राह्मी ध्वनि-लिपि है। दोनों के वर्णों और ध्वनियों में कोई साम्य नहीं है। यह मत अब केवल मनोरंजन के लिए उद्धृत किया जाता है।

२. ग्रीक या फोनीशी लिपि से—इस मत के समर्थक हैं—विल्सन, प्रिंसेप, अल्फ्रेड मूलर, सेनार्ट आदि। इनका मत है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय से यूनानियों से सम्पर्क हुआ और उनसे यह लिपि सीखी। इस विषय में उल्लेखनीय है कि सिकन्दर का आक्रमण ३२७ ई० पू० में हुआ था। इससे पूर्व भारत में लेखन-कला का प्रचार था। ब्यूलर और डिरिंजर का भी यही मत है। सिकन्दर से पूर्व भारत में भारतीय लिपि प्रचलित थी, अत: उसके बाद लिपि का प्रारम्भ मानना असंगत है।

३. सामी से उत्पत्ति—ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति सेमिटिक (सामी) भाषाओं से हुई है। इस मत के समर्थक ब्यूलर, विलियम जोन्स, वेबर, टेलर आदि हैं। डॉ० डेविड डिरिंजर ने भी 'द अल्फाबेट' पुस्तक में ब्यूलर का समर्थन किया है। डिरिंजर ने अपने समर्थन में ४ तर्क दिए हैं—

१. सामी और ब्राह्मी लिपियों में साम्य है। २. सिन्धुघाटी लिपि चित्रात्मक लिपि है। उससे वर्णात्मक लिपि नहीं निकल सकती है। ३. ब्राह्मी लिपि पहले दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी। ४. भारत में पाँचवीं शती ई० पू० से पहले के लेख नहीं मिलते हैं।

---

१. रुचाय ब्राह्मये। (यजु० ३१-२०), रुचं ब्राह्मम्०। (यजु० ३१-२१)

२. ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती। (अमरकोष काण्ड-१ शब्दादिवर्ग)

समीक्षा—(१) सामी और ब्राह्मी में लिपि का साम्य नाममात्र को है। जो समता है, वह भी क्लिष्ट-कल्पना है। सामी दाएँ से बाएँ लिखी जाती है, ब्राह्मी बाएँ से दाएँ। सामी के संकेत अपूर्ण और अपर्याप्त हैं। सामी में केवल २२ वर्ण हैं, ब्राह्मी में ४१। सामी में स्वर और व्यंजनों का कोई क्रम नहीं है। आदि से अन्त तक स्वर और व्यंजनों की खिचड़ी है। ब्राह्मी में स्वर और व्यंजन पृथक्-पृथक् हैं। स्वरों में भी मूल स्वर, बाद में संयुक्त स्वर। व्यंजन भी स्थान और प्रयत्न के अनुसार क्रमबद्ध हैं। (२) प्रारम्भ में दिखाया जा चुका है कि चित्रात्मक और भावात्मक लिपि से ही ध्वनि-लिपि का विकास हुआ है। इसी प्रकार मोहनजोदड़ो की लिपि से ब्राह्मी का विकास भारतीय रूप में पूर्ण संभव है। (३) आज तक ब्राह्मी के तीन अभिलेखों में ही कुछ अंश दाएँ से बाएँ लिखे मिलते हैं। इसका कारण ज्ञात होता है कि इन पर खरोष्ठी का कुछ प्रभाव था। अशोक आदि के सारे अभिलेख बाएँ से दाएँ ही लिखे हुए हैं। इनकी संख्या बहुत बड़ी है। (४) सिन्धुघाटी के अभिलेख ५०० ई० पू० से पहले के हैं। अन्य अभिलेख भावी खुदाइयों आदि पर निर्भर हैं।

ब्राह्मी लिपि की भारतीयता के कारण—(१) विश्व की किसी भाषा में स्वरों और व्यंजनों का इस प्रकार का क्रम नहीं है। (२) इसमें केवल भारतीय ध्वनियों का समावेश है। (३) संयुक्त वर्णों को स्पष्ट रूप में सूचित करना ब्राह्मी की विशेषता है। (४) स्वर की मात्राओं को व्यंजन के साथ जोड़ने की विशेषता केवल ब्राह्मी में है। (५) स्वर और व्यंजन के इतने पूर्ण संकेत अन्य किसी भाषा में नहीं हैं। (६) कोई भारतीय परम्परा इस लिपि को बाहरी नहीं मानती। (७) अंक-प्रणाली और दशमलव की पद्धति भारतीयों की वैज्ञानिकता के प्रतीक हैं। जो ऋषि अंक-प्रणाली का आविष्कार कर सकते हैं, वे वर्ण-लिपि का भी आविष्कार कर सकते हैं। (८) ब्राह्मी में वर्णों की जो गोल-रचना या वृत्तात्मकता है, वह अन्य किसी लिपि में नहीं है।

१४.७. ब्राह्मी से भारतीय लिपियों का विकास

ईसा पूर्व ३५० से लेकर ३५० ई० तक प्रयुक्त लिपि का नाम ब्राह्मी रहा। इसके पश्चात् ब्राह्मी लिपि के लिखने के दो प्रकार मिलते हैं, जिनके आधार पर ब्राह्मी की दो श्रेणियाँ मानी जाती हैं—(१) उत्तरी, (२) दक्षिणी। उत्तरी शैली का प्रचार विन्ध्य पर्वत के उत्तर में रहा और दक्षिणी का प्रचार उसके दक्षिण में। इस प्रकार उत्तरी भारत की लिपियों का विकास ब्राह्मी की उत्तरी शैली से हुआ और दक्षिणी भारत की लिपियों का विकास दक्षिणी शैली से हुआ।

१४.७. (क) ब्राह्मी की उत्तरी शैली से विकसित लिपियाँ

उत्तरी शैली से पाँच लिपियों का विकास हुआ। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

१. गुप्त-लिपि—गुप्तवंशी राजाओं के अभिलेख इसी लिपि में हैं। अतः इसे गुप्त-

लिपि कहा जाता है। इसका प्रचार चौथी और पाँचवीं शती ई० में रहा। इस लिपि के मुख्य अभिलेख हैं—प्रयाग-प्रशस्ति (३७५ ई०), बिलसद (४१४ ई०), इन्दौर (४६५ ई०)।

२. कुटिल लिपि—यह लिपि गुप्त-लिपि से विकसित हुई है। इसमें स्वरों की मात्राओं की आकृति कुटिल अर्थात् टेढ़ी है। अतः इसे कुटिल लिपि कहा गया है। इससे ही नागरी और शारदा लिपियों का विकास हुआ है।

३. प्राचीन नागरी लिपि—उत्तर भारत में इसका प्रचार ९वीं ई० के अन्तिम चरण से मिलता है। यह मूलतः उत्तरी लिपि है, परन्तु इसके प्राचीन अभिलेख ८वीं शती ई० से प्रारम्भ होकर १९वीं शती ई० के अन्तिम भाग तक दक्षिण में मिलते हैं। नागरी लिपि को ही **'देवनागरी'** लिपि भी कहते हैं। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से बंगला लिपि का विकास हुआ। पश्चिम शाखा से राजस्थानी, गुजराती, महाराष्ट्री और महाजनी आदि लिपियाँ विकसित हुईं। दक्षिण में इसको 'नन्दी नागरी' कहते हैं।

४. शारदा लिपि—इस लिपि का प्रचार पश्चिमोत्तर भारत के कश्मीर और पंजाब में हुआ। ८वीं शती ई० तक वहाँ कुटिल लिपि थी। उसी से शारदा लिपि निकली। शारदा का सबसे प्राचीन लेख १०वीं शती ई० का माना जाता है। वर्तमान समय की कश्मीरी, टाकरी, गुरुमुखी, डोगरी आदि लिपियाँ इसी से निकली हैं।

५. बंगला-लिपि—इसकी उत्पत्ति प्राचीन नागरी से १०वीं शती ई० के लगभग हुई। इससे नेपाली, वर्तमान बंगला, मैथिली और उड़िया लिपियाँ निकली हैं।

१४.७. (ख) ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से विकसित लिपियाँ

ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से ६ लिपियाँ विकसित हुई हैं। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

१. पश्चिमी लिपि—इसके लेख पाँचवीं शती ई० से ९वीं शती ई० तक मिलते हैं। यह लिपि गुजरात, काठियावाड़, नासिक, खानदेश, हैदराबाद, कोंकण, मैसूर आदि के लेखों में मिलती है। पाँचवीं शती ई० के लगभग इसका प्रवेश राजपूताना और मध्य-भारत में भी पाया जाता है। पश्चिमी प्रदेशों में मिलने के कारण इसको पश्चिमी लिपि कहते हैं।

२. मध्यप्रदेशी लिपि—यह लिपि मध्यप्रदेश, हैदाराबाद के उत्तरी भाग और बुन्देलखण्ड में ५वीं से ८वीं शती ई० तक मिलती है। इस लिपि के अक्षरों के सिर चौखूँटे या सन्दूक की आकृति के होते हैं। इनका भीतरी भाग कभी खाली और कभी भरा हुआ है। अक्षरों की आकृति समकोणों वाली है।

३. तेलुगु-कन्नड़ लिपि—ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से इस लिपि का विकास हुआ है। इससे ही वर्तमान तेलुगु और कन्नड़ लिपियाँ निकली हैं। यह लिपि ५वीं शती ई० से १४वीं शती ई० तक बम्बई (वर्तमान महाराष्ट्र) प्रांत के दक्षिणी भाग में, आंध्र प्रांत के दक्षिणी भाग में, मद्रास के उत्तर-पूर्वी भाग में तथा मैसूर के कुछ भागों में प्रचलित थी। पाँचवीं से १४वीं शती ई० तक इसके कई रूप-भेद हुए।

४. ग्रन्थ लिपि—यह लिपि मद्रास में प्रचलित रही। ७वीं शती ई० से १५वीं शती

ई० तक इसके कई रूपांतर हुए। इससे वर्तमान ग्रन्थ लिपि निकली है। इससे ही मलयालम और तेलुगु लिपियाँ विकसित हुई हैं। इस क्षेत्र में तमिल लिपि का प्रचार रहा था, परन्तु वह अपूर्ण थी। अतएव संस्कृत के ग्रन्थों को लिखने के लिए इस लिपि का प्रयोग होता था। इसलिए इसका नाम 'ग्रन्थ' पड़ा।

५. कलिंग लिपि—कलिंग के आस-पास ७वीं से ११वीं शती ई० तक इसका प्रचार रहा। इसके प्राचीन लेख मध्यप्रदेशी लिपि में हैं और बाद के लेख नागरी, तेलुगु, कन्नड़ और ग्रन्थ लिपि में मिलते हैं।

६. तमिल लिपि—यह भी दक्षिणी ब्राह्मी से निकली है। इससे वर्तमान तमिल लिपि का विकास हुआ है। ७वीं सदी ई० से आज तक तमिल ग्रन्थ इसी लिपि में मिलते हैं। इसके अधिकांश अक्षर ग्रन्थ लिपि से मिलते-जुलते हैं। तमिल का ही घसीट रूप 'वट्टलुत्तु' लिपि है। इसके अक्षर प्रायः गोलाई लिए हुए होते हैं। यह ७वीं से १४वीं शती ई० तक मद्रास के पश्चिमी और दक्षिणी भाग में प्रचलित रही।

१४.८. देवनागरी लिपि

वर्तमान देवनागरी लिपि प्राचीन नागरी लिपि के पश्चिमी रूप से विकसित हुई है। नागरी लिपि को 'नागरी' और 'देवनागरी' दोनों नामों से सम्बोधित किया जाता है। नागरी लिपि का समुचित विकास १०वीं शताब्दी ई० से माना जाता है। प्राचीन अभिलेखों की लिखावट के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भीमदेव प्रथम (१०२६ ई०) और भीमदेव द्वितीय (१२०० ई०) तथा उदयवर्मन् (१२०० ई०) के अभिलेखों में प्रयुक्त लिपि वर्तमान हिन्दी के बहुत समीप आ गई है। इनमें स्वरों और व्यंजनों की बनावट, वर्णों के ऊपर शिरोरेखा तथा मात्राओं के चिह्न बहुत कुछ वर्तमान हिन्दी के तुल्य हो गए हैं। इस प्रकार वर्तमान देवनागरी लिपि का प्रारम्भ १००० से १२०० ई० तक मानना उचित है। बाद में आवश्यक संशोधन परिवर्तन होते रहे हैं। १८वीं शती ई० की नागरी लिपि प्रायः वर्तमान नागरी के तुल्य पूर्ण विकसित हो गई थी। केवल कुछ मात्राओं में अन्तर पाया जाता है।

देवनागरी नामकरण—नागरी या देवनागरी नाम के विषय में पर्याप्त मतभेद है। इस विषय में आज तक कोई अन्तिम निर्णय नहीं हुआ है। इस विषय में ये सुझाव दिये गए हैं—१. यह लिपि नगरों में प्रचलित थी, अतः नागरी नाम पड़ा। २. गुजरात के नागर ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त होने से इसका नाम नागरी पड़ा। ३. श्री शाम शास्त्री का कथन है कि देवमूर्तियों के सांकेतिक त्रिकोण या चक्र आदि चिह्नों को 'देवनगर' कहते थे। उसके मध्य में लिखे जाने के कारण इन अक्षरों को देवनागरी कहा गया। ४. देवनगर स्थान से उत्पन्न होने के कारण देवनागरी नाम पड़ा। पुष्ट प्रमाणों के अभाव में कोई भी मत प्रामाणिक नहीं है।

१४.९. देवनागरी : आदर्श लिपि

किसी भी आदर्श लिपि में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है। देवनागरी में ये सभी गुण प्राप्त होते हैं—

१. ध्वनि और लिपि में एकरूपता—जो बोला जाए वही लिखा जाए तथा जो लिखा जाए, वही बोला जाए। यह गुण देवनागरी लिपि में है।

२. एक ध्वनि के लिए एक चिह्न—प्रत्येक ध्वनि के लिए स्वतंत्र चिह्न होना चाहिए। एक के लिए अनेक चिह्न या अनेक के लिए एक चिह्न भाषा की अवैज्ञानिकता के सूचक हैं। हिन्दी में प्रत्येक ध्वनि के लिए स्वतन्त्र एक-एक चिह्न है। इसके विपरीत रोमन लिपि में एक ही ध्वनि के लिए अनेक स्वरों और व्यंजनों का प्रयोग होता है। दूसरी ओर अनेक स्वरों के लिए एक ही स्वर का प्रयोग किया जाता है।

३. समग्र ध्वनियों की अभिव्यक्ति—आदर्श लिपि में समस्त ध्वनियों को अंकित करने की क्षमता होनी चाहिए। आज संसार की जितनी लिपियाँ हैं, उनमें देवनागरी लिपि ही समस्त ध्वनियों को अंकित करने की सबसे अधिक क्षमता रखती है। रोमन और उर्दू लिपि इस विषय में बहुत अपूर्ण सिद्ध होती हैं। सूक्ष्मतम संकेत-निर्देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि-चिह्नों का आविष्कार किया गया है। इसका माध्यम कुछ अंश तक रोमन लिपि को रखा गया है।

४. असंदेह—आदर्श लिपि की विशेषता है कि वह सुपाठ्य हो और किसी प्रकार का संदेह न हो। एक संकेत से दूसरे संकेत का भ्रम न हो। स्पष्टता और असन्देह की दृष्टि से देवनागरी लिपि रोमन और उर्दू से अधिक उत्कृष्ट सिद्ध होती है।

५. लेखन में एकरूपता—आदर्श लिपि वही है, जिसमें प्रत्येक वर्ण एक ही रूप में रहे। देवनागरी में यह विशेषता है।

६. लिपि-सौन्दर्य—आदर्श लिपि में सुन्दरता गुण का समावेश होना चाहिए।

७. यांत्रिक सुविधा—मुद्रण और टंकण की दृष्टि से सुविधा एवं सरलता हो।

८. आशुलेखन—वर्तमान वैज्ञानिक युग की आवश्यकता है कि आदर्श लिपि में आशुलेखन की अधिक क्षमता होनी चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आदर्श लिपि के सभी गुण देवनागरी लिपि में प्राप्य हैं। कुछ न्यूनताएँ भी हैं, जिनका परिमार्जन आवश्यक है। जैसे—(१) इ की मात्रा वर्ण से पूर्व लगना अवैज्ञानिक है। प्राचीन ब्राह्मी में यह वर्ण के बाद में लगती थी। (२) हलन्त र् को अनेक प्रकार से लिखना। (३) अ ण ल आदि का दो प्रकार से लिखा जाना। (४) ख-रव, ध-घ, भ-म आदि में स्पष्ट अन्तर का न होना। (५) संयुक्त व्यंजनों का एकरूप में न लिखा जाना। (६) अंग्रेजी, उर्दू आदि की क़, ख़, ग़, ज़ आदि ध्वनियों का देवनागरी लिपि में अभाव। इनमें से कुछ न्यूनताओं का निराकरण किया गया है। शेष न्यूनताओं का भी निराकरण अपेक्षित है।

*

सन्दर्भ-ग्रन्थ

संस्कृत

१. ऋग्वेद-संहिता	संपादक-सातवलेकर, १६४०
२. यजुर्वेद-संहिता	संपादक-सातवलेकर, १६२७
३. अथर्ववेद-संहिता	संपादक-सातवलेकर, १६४३
४. आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक
५. जगदीशभट्ट	शब्दशक्ति-प्रकाशिका
६. दण्डी	काव्यादर्श
७. पतंजलि	महाभाष्य
८. पाणिनि	अष्टाध्यायी, पाणिनीय शिक्षा
९. भट्टोजि दीक्षित	सिद्धान्तकौमुदी
१०. भर्तृहरि	वाक्यपदीय, चौखंबा, १६०५
११. मनु	मनुस्मृति, निर्णयसागर, बम्बई
१२. मम्मट	काव्यप्रकाश, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, १६७०
१३. यास्क	निरुक्त, सं० लक्ष्मणस्वरूप, लाहौर, १६२७
१४. विश्वनाथ	साहित्यदर्पण, निर्णयसागर, बम्बई, १६३१
१५. हंसराज	वैदिक-कोष, लाहौर, १६२६

हिन्दी

१. उदयनारायण तिवारी	हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास
२. कपिलदेव द्विवेदी	अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन, १६५१
३. कपिलदेव द्विवेदी	संस्कृत व्याकरण, १६६७
४. कपिलदेव द्विवेदी	संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, १६७६
५. कर्णसिंह	भाषाविज्ञान, १६७८
६. कामताप्रसाद गुरु	हिन्दी व्याकरण
७. गुणे, पी०डी०	तुलनात्मक भाषाविज्ञान (हिन्दी अनुवाद), १६६३
८. गोलोकविहारी धल	ध्वनिविज्ञान, १६७५
९. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	प्राचीन लिपिमाला, १६५६
१०. ग्रियर्सन, जार्ज अ०	भारत का भाषा सर्वेक्षण (हिन्दी अनुवाद), १६६७
११. जोन लियोन्स	सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान (हिन्दी अनुवाद), १६७२
१२. ज्यूल ब्लॉख	भारतीय आर्यभाषा (हिन्दी अनुवाद), १६६३
१३. देवदत्त कौशिक	भाषाविज्ञान, १६७२

१४. देवीशंकर द्विवेदी — भाषा और भाषिकी, १६७४
१५. देवेन्द्रकुमार शास्त्री — भाषाशास्त्र तथा हिन्दीभाषा की रूपरेखा, १६७३
१६. देवेन्द्रनाथ शर्मा — भाषाविज्ञान की भूमिका, १६७२
१७. देवेन्द्रनाथ शर्मा — हिन्दी भाषा का विकास, १६७१
१८. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना — भाषाविज्ञान के सिद्धान्त और हिन्दी भाषा, १६७२
१६. धीरेन्द्र वर्मा — हिन्दी भाषा का इतिहास, १६४०
२०. नोअम चोम्स्की — वाक्यविन्यास का सैद्धान्तिक पक्ष (हि०अ०), १६७५
२१. बरो, टी० — संस्कृतभाषा (हिन्दी अनुवाद), १६६५
२२. बाबूराम सक्सेना — सामान्य भाषाविज्ञान, १६६५
२३. ब्लूमफील्ड — भाषा (हिन्दी अनुवाद), १६६८
२४. भोलानाथ तिवारी — भाषाविज्ञान, १६७३
२५. भोलानाथ तिवारी — हिन्दी ध्वनियाँ और उनका उच्चारण, १६७३
२६. भोलाशंकर व्यास — संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, १६६६
२७. मंगलदेव शास्त्री — तुलनात्मक भाषाशास्त्र, १६६२
२८. मैक्समूलर, एफ० — भाषाविज्ञान पर भाषण, १६६८
२६. मोतीलाल गुप्त — आधुनिक भाषाविज्ञान की भूमिका, १६७४
३०. वान्द्रियैज़, जो० — भाषा (हिन्दी अनु०), डॉ० ज०कि० बलवीर, १६६६
३१. वासुदेवशरण अग्रवाल — पाणिनिकालीन भारतवर्ष, १६५५
३२. श्यामसुन्दरदास — भाषाविज्ञान, भाषा-रहस्य
३३. सत्यकाम वर्मा — भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, १६६८
३४. सरजूप्रसाद अग्रवाल — भाषाविज्ञान और हिन्दी, १६७०
३५. सुनीतिकुमार चटर्जी — भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १६५४

अंग्रेजी

1. Allen, W.S. - Phonetics in Ancient India, 1953
2. Armfield, G.N. - General Phonetics, 1931
3. Bloch, B. and Trager G.L. - Outlines of Linguistic Analysis, 1972
4. Bloomfield, L. - Language, 1950
5. Bre'al, M. - Semantics, Eng. Trans., 1900
6. Burrow, T. - The Sanskrit Language, 1965
7. De Saussure, F. - Cours de Linguistique Ge'ne'rale, 1949
8. Ghatage, A.M. - Historical Linguistics and Indo-Aryan Languages, 1962
9. Gleason, H.A., Jr. - An Introduction to Descriptive Linguistics, 1973
10. Gray, L.H. - Foundations of Languages, 1939

11. Grierson, G.A. - Linguistic Survey of India.
12. Gune, P.D. - An Introduction to Comparative Philology, 1918
13. Hall, R.A., Jr. - Introductory Linguistics, 1969
14. Halliday, M.A.K. - The Linguistic Sciences and Language Teaching, Longmans, 1965
15. Harris, Z.S. - Structural Linguistics, Chicago, 1963
16. Heffner, R.M.S. - General Phonetics, 1949
17. Hockett, C.F. - A Course in Modern Linguistics, 1973
18. Hoenigswald, H.M. - Language Change and Linguistic Reconstruction, Chicago, 1965
19. Jacobson, R. - Fundamentals of Language, 1956
20. Jahagirdar, R.V. - Indo-Aryan Languages, Poona, 1932
21. Jespersen, Otto - Language, London, 1954
22. Jones, D. - The Pronunciation of English, 1966
23. Jones, D. - The Phoneme, Its Nature and Use, 1962
24. Martinet, Andre - Elements of General Linguistics, 1964
25. Pei, M. & Gaynor, F. - Dictionary of Linguistics, N. Y., 1954
26. Pike, K.L. - Phonetics, Michigan P. U., 1961
27. Robins, R.H. - General Linguistics, An Introductory Survey, Longmans, London, 1967
28. Robins, R.H. - A Short History of Linguistics, London, 1967
29. Sapir, E. - Language, New York, 1921
30. Schlauch, Margaret - The Gift of Tongues, London, 1960
31. Steible, D. - Concise handbook of Linguistics, London, 1967
32. Stork & Widdowson - Learning About Linguistics, London, 1977
33. Sturtevant, E.H. - An Introduction to Linguistic Science, Yale U., 1960
34. Sturtevant, E.H. - Linguistic Change, Chicago, 1965
35. Sweet, H. - The History of Language, 1930
36. Taraporewala, I.J.S. - Elements of the Science of Language, 1962
37. Taraporewala, I.J.S. - Sanskrit Syntax, Delhi, 1967
38. Ulhenbeck, C.C. - A Manual of Sanskrit Phonetics, 1960
39. Vendryes, J. - Language, 1959
40. Verma, Siddheshwar - Critical Studies in the Phonetic Observation of the Indian Grammarians, London, 1929

*

निर्देशिका (Index)

(विषय, व्यक्ति-नाम एवं ग्रन्थ-नाम आदि)

अ

फ

ब

य

र

ल

*

अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

पृष्ठ : 374

अर्थविज्ञान भाषाशास्त्र का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। भारतीय वैयाकरणों ने इसको दार्शनिक रूप दिया है। मूर्धन्य वैयाकरण पतंजलि ने महाभाष्य में और भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ग्रन्थ में इस विषय का बहुत सूक्ष्म विवेचन किया है। भर्तृहरि का वाक्यपदीय अर्थविज्ञान का प्रौढ़ ग्रन्थ है। यह भाव-गाम्भीर्य के कारण अति दुरूह माना जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में शब्द, अर्थ, शब्दार्थ-सम्बन्ध, शब्दशक्ति, पद और पदार्थ, वाक्य और वाक्यार्थ, अर्थ विकास तथा स्फोट-सिद्धान्त का सरल और सुबोध भाषा में गूढ़ार्थ स्पष्ट किया गया है।
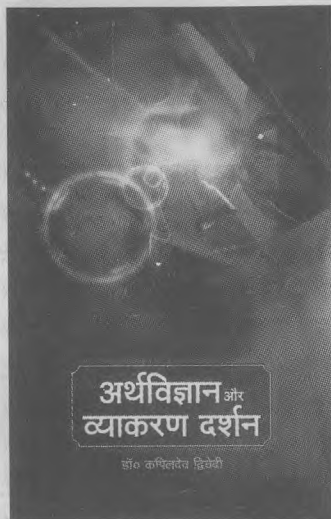
भारतीय काव्यशास्त्रियों, दार्शनिकों और वैयाकरणों के शब्दार्थ-सम्बन्ध, शब्दशक्ति और स्फोट-सिद्धान्त पर अपने मन्तव्यों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रयत्न किया गया है कि सभी साहित्यशास्त्रियों और दार्शनिकों के विचारों को उचित स्थान दिया जाय। साथ ही उनका आलोचनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया जाय। इस तुलनात्मक अध्ययन के कारण ग्रन्थ का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है।

भाषा की सरलता, सुबोधता, गूढ़ार्थ का स्पष्टीकरण और तात्त्विक विवेचन ग्रन्थ की उपादेयता सिद्ध करता है। अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन विषय पर यह सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है।

डॉ० द्विवेदी भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र के मूर्धन्य विद्वानों में एक हैं। डॉ० द्विवेदी ने इस ग्रन्थ के द्वारा अपनी शास्त्रीय सूक्ष्म दृष्टि और गाम्भीर्य चिन्तन का मूर्तरूप प्रस्तुत किया है। आशा है यह ग्रन्थ भाषाविज्ञान-प्रेमी सभी विद्वानों का उचित आदर प्राप्त करेगा।